शरीरक्रिया-विज्ञान

॥ श्रीः ॥

वि० आयुर्वेद ग्रन्थमाला
२

शरीरक्रिया-विज्ञान

आचार्य प्रियव्रत शर्मा

ए. एम. एस.; एम. ए. (संस्कृत-हिन्दी), साहित्याचार्य
वरिष्ठ प्राध्यापक एवं अध्यक्ष, द्रव्यगुणविभाग,
भूतपूर्व निदेशक, स्नातकोत्तर आयुर्वेद संस्थान,
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

चौखम्भा भारती अकादमी
आकर ग्रन्थों के प्रकाशक एवं वितरक
गोकुल भवन, के. ३७/१०९, गोपाल मन्दिर लेन
वाराणसी-२२१००१ (भारत)

THE

V. AYURVEDA SERIES

2

*****

SARĪRAKRIYĀ-VIJÑĀNA

(A TEXT BOOK OF PHYSIOLOGY)

By

Dr. P. V. SHARMA

A. M. S., M. A. (Sanskrit-Hindi). Sahityacharya

Senior Professor & Head, Department of Dravya-guna,

Formerly Director, Postgraduate Institute of Indian Medicine,

Banaras Hindu University, Varanasi

CHAUKHAMBHA BHARATI ACADEMY

Publisher and Distributor of Monumental Treatises of the East

Gokul Bhawan, K. 37/109, Gopal Mandir Lane

VARANASI (INDIA)

प्राक्कथन

डा० मुकुन्दस्वरूप वर्मा

भूतपूर्व प्रिंसिपल, आयुर्वेदिक कालेज, हिन्दू विश्वविद्यालय, काशी

शरीरक्रियाविज्ञान चिकित्सा-शास्त्र का एक मुख्य आधार है। शरीररचना-शास्त्र तथा विकृति-शास्त्र के साथ वह एक त्रिभुज आधार बनता है जिस पर चिकित्सा-शास्त्र आश्रित है। इन तीन विज्ञानों का पूर्ण ज्ञान न होने से चिकित्सा का पूर्ण ज्ञान होना ही असंभव है शारीरिक अंगों में विकृति आ जाने तथा उनकी क्रियाओं का स्वाभाविक रूप में न होने का ही नाम रोग है। अतः अंगों की रचना और स्वाभाविक क्रिया का समुचित ज्ञान हुए बिना उनकी वैकृत दशा का अनुमान ही नहीं किया जा सकता। यही शरीरक्रियाविज्ञान का महत्त्व है।

दो-तीन दशकों से आयुर्वेदिक कालेजों के पाठ्यक्रम में अर्वाचीन शरीरक्रिया-विज्ञान पाठ्यक्रम में नियत है जिसका पठन-पाठन अंगरेजी पुस्तकों के आधार पर ही किया जाता है जिससे हिन्दी-भाषी छात्रों और जिज्ञासुओं को विषय समझने में बड़ी कठिनाई का अनुभव करना पड़ता है। हिन्दी में अभी तक इस विषय पर कोई मान्य पुस्तक नहीं प्रकाशित हुई जिसमें विषय का पूर्णरूप से विवेचन उपस्थित किया गया हो। भारत की स्वतन्त्रता के पश्चात् देशवासी विद्वानों पर दायित्व और बढ़ गया है। यद्यपि विगत सात वर्षों की अवधि में राष्ट्रभाषा में

अनेक विषयों पर पुस्तकें प्रकाशित हुई हैं और अभी भी हो रही हैं किन्तु विषय के मर्मज्ञ मनीषियों, जिन्होंने उसी विषय को अपना जीवन-ध्येय बनाया हो तथा उसीके अनुसंधान एवं शोध में संलग्न हों, द्वारा जो पुस्तकें लिखी गई हैं उनकी संख्या अत्यल्प है।

पं० प्रियव्रत शर्मा ने इस ग्रन्थ की रचना कर वैज्ञानिक एवं साहित्यिक जगत् की इस बहुत बड़ी त्रुटि की पूर्ति की है। उनका विषय का अध्ययन गंभीर है तथा वे एक प्रतिभाशाली लेखक हैं। उन्होंने इस विषय के अनेक ग्रन्थों का मन्थन कर अपने अध्यापनजन्य अनुभवों के आधार पर प्रस्तुत पुस्तक का निर्माण किया है। अतः उनकी यह अभिनव कृति 'शरीरक्रिया-विज्ञान' विद्यार्थियों एवं विषय के जिज्ञासुओं के लिए अतीव उपयोगी सिद्ध होगी, इसमें कोई सन्देह नहीं।

काशी
५-६-५४

मुकुन्दस्वरूप वर्मा

तृतीय संस्करण

केन्द्रीय भारतीय चिकित्सा-परिषद् ने आयुर्वेद का जो स्नातकीय पाठ्यक्रम निर्धारित किया है उसमें आधुनिक विज्ञान का अंश पृथक् न रखकर आयुर्वेद के सिद्धान्तों के अनुरूप उसे अन्तर्भूत कर लिया है। अब तक की जो प्राच्य तथा पाश्चात्य दोनों विषयों के शिक्षण की पृथक्-पृथक् परम्परा रही है उससे आयुर्वेद का कुछ लाभ नहीं हुआ और दो अध्यापकों द्वारा भिन्न-भिन्न विषय दो भिन्न दृष्टिकोणों से पढ़ाने पर छात्रों के लिए भी बोधगम्य नहीं होता, अधिकतर बुद्धिभेद ही उत्पन्न करता है। अतएव परिषद् ने यह नीति स्थिर की है कि प्रत्येक विषय एक ही अध्यापक पढ़ावे और आयुर्वेदीय सिद्धान्तों की व्याख्या एवं विशदीकरण के लिए आधुनिक तथ्यों का उपयोग किया जाय जिससे कहीं असंगति या विरोध न आने पावे और विषय समरूप में छात्रों के लिए सुबोध हो, साथ ही आयुर्वेदीय सिद्धान्तों में उनकी आस्था और दृढ़ हो।

'अभिनव शरीर-क्रिया-विज्ञान' का प्रथम संस्करण पूर्णतः आधुनिक विज्ञान का ही विवरण था, द्वितीय संस्करण में कुछ आयुर्वेदीय तथ्यों का भी यथास्थल समावेश किया गया। अब तृतीय संस्करण में 'शरीर-क्रिया-विज्ञान' प्राचीन परिवेष में नूतन तथ्यों को प्रस्तुत कर रहा है, ऐसा प्राचीन जो अमृत के समान नित-नूतन जीवनी शक्ति से ओतप्रोत रहता है जैसे मौलसिरी के फूलों की महक सूखने पर भी दिग्दिगन्त को आकुल किये रहती है। इस प्रकार यह केन्द्रीय परिषद् की नीति को अग्रसर करने में सफल होगा, ऐसी आशा है।

आयुर्वेदीय शरीर की अपनी विशिष्ट मान्यताएं हैं जिन पर आयुर्वेद के अष्टांगों का अस्तित्व आधारित है। ये मान्यतायें हैं—पञ्चमहाभूतवाद, त्रिदोषवाद,

1

सप्तधातुवाद, ओजःस्वरूप तथा प्रकृतिनिर्धारण। अन्न एवं धातुपाक के क्रम में अग्नि तथा स्रोतों का महत्त्व तो है ही। क्रियाशरीर की दृष्टि से शरीर को 'दोषधातुमलमूलं' कहा गया है। आहार करने पर धातुयें बनती हैं और मल का निर्हरण हो जाता है और इन दोनों क्रियाओं का संचालन-नियमन दोषों से होता है। अतः सूत्ररूप में दोष, धातु और मल शरीरक्रिया के प्रतीक हैं और इसी कारण कुछ लोग आयुर्वेदीय क्रियाशरीर को 'दोषधातुमलविज्ञान' कहना अधिक पसन्द करते हैं।

पाञ्चभौतिक शरीर में जब चेतना का संयोग होता है तो उसमें जैविक क्रियाओं के संचालन के लिए त्रिदोष का आविर्भाव होता है। जड़ पदार्थों का काम तो पञ्चमहाभूत से चल जाता है किन्तु चेतन पुरुष के व्यापारों का संपादन उससे नहीं हो पाता। यही जड़ और चेतन में अन्तर है। जड़ केवल पञ्चमहाभूत है, चेतन षड्धात्वात्मक पुरुष है। चेतन पुरुष में त्रिदोष हैं, जड़ पदार्थ में नहीं। अतः जीवन की दृष्टि से त्रिदोष का सर्वोपरि महत्त्व है। इसकी सम्यक् स्थिति से जीवन के व्यापार ठीक-ठीक चलते हैं अन्यथा पुरुष अस्वस्थ हो जाता है।

त्रिदोष क्या हैं? इस सम्बन्ध में विचार करने पर ऐसा प्रतीत होता है कि ये कल्पना-कुसुम नहीं हैं अपितु गुणकर्माश्रय द्रव्य हैं जिनका प्रत्यक्ष-अनुमान के द्वारा परीक्षण भी किया जा सकता है। कुछ विद्वान् यह भी मानना चाहते हैं कि ये तीन द्रव्य न होकर अनेक द्रव्यों के तीन वर्ग हैं। आचार्य यादव जी का ध्यान 'कफवर्गे भवेच्छुक्रं पित्तवर्गे च शोणितम्' इस प्राचीन उक्ति को देखकर इस ओर गया था। यदि ऐसा भी मान लें तो इष्टापत्ति ही है क्योंकि शरीर में जहाँ सैकड़ों प्रकार के द्रव्य हैं ऐसी स्थिति में यह कहना कि तीन ही द्रव्य हैं असंगत-सा प्रतीत होगा। यह दूसरी बात है कि इन अनेकविध द्रव्यों को त्रिदोष के प्रकार

मान कर समाधान कर लें। संभवतः इसी आधार पर चरक, सुश्रुत और वाग्भट ने वात, पित्त और कफ के पाँच प्रकारों का नामकरण एवं कर्मनिर्धारण किया। इसी प्रकार अन्य प्रकारों का भी निरूपण किया जा सकता है। जहाँ तक परीक्षण का प्रश्न है, वात के प्राण, उदान, अपान आदि; पित्त के पाचक, रंजक, भ्राजक आदि तथा कफ के क्लेदक, श्लेषक, बोधक आदि प्रकारों का परीक्षण आधुनिक वैज्ञानिक उपकरणों एवं विधियों से सरलता से किया जा सकता है। शारीर प्रक्रियाओं की व्याख्या में आधुनिक विज्ञान जहाँ विश्लेषणात्मक दृष्टिकोण अपनाता है, आयुर्वेद समस्त पुरुष की संश्लेषणात्मक दृष्टि से प्राकृत-वैकृत भावों की व्याख्या करता है। इस कार्य में त्रिदोषवाद से ही सहायता मिलती है क्योंकि त्रिदोष सर्वशरीरचर हैं और समस्त पुरुष को वे प्रभावित करते हैं। इस प्रकार व्यस्त एवं समस्त दोनों दृष्टियों का सामञ्जस्य त्रिदोषवाद से हो जाता है।

पाचन (अन्नपाक एवं धातुपाक) की दृष्टि से अग्नि और स्रोत का विशेष महत्त्व है। अग्नि से परिणमन होता है तथा स्रोत से परिणत या परिणामी द्रव्यों का संवहन होता है। अग्नि के मन्द होने तथा स्रोतों में अवरोध होने पर ये कार्य नहीं हो पाते, फलस्वरूप शरीर का पोषण नहीं होता और शोष की स्थिति उत्पन्न हो जाती है। एक और महत्त्व की बात यह है कि अग्नि की मन्दता से आमदोष उत्पन्न होता है जो शरीर में विषाक्त लक्षण उत्पन्न कर अनेक विकारों का जनक होता है। आम की दृष्टि से दोषों, धातुओं और मलों को साम और निराम इन दो वर्गों में विभक्त किया जाता है जिससे चिकित्सा के लिए दिशा-निर्धारण होता है। आयुर्वेदीय रोगविज्ञान में आम का विशेष महत्त्व है।

आयुर्वेद में प्रत्येक पुरुष की अपनी विशेषता है जिसे 'प्रकृति' कहा गया है। चिकित्सा तथा आहार-विहार में प्रकृति का ध्यान रखने का उपदेश किया गया है। चरक और सुश्रुत ने प्रकृति का विशेषरूप से वर्णन किया है, वहीं इसका विवरण देखें।

इस प्रकार आयुर्वेदीय शारीर को अधिकाधिक सुव्यवस्थित कर सुचारु बनाने का प्रयत्न प्रस्तुत ग्रन्थ में किया गया है। आगामी संस्करण में इसे और भी परिमार्जित रूप दिया जा सकेगा। विचारों का समन्वय एक कठिन, श्रमसाध्य एवं कालसापेक्ष कार्य है, इस दिशा में यह एक प्रयत्नमात्र है।

आशा है, यह कृति छात्रों तथा अध्यापकों के लिए अपनी उपादेयता सिद्ध कर कृतार्थ होगी।

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय
२ अक्टूबर १९७५

प्रियव्रत शर्मा

द्वितीय संस्करण

प्रथम संस्करण में केवल आधुनिक शरीरक्रियाविज्ञान का ही विवरण दिया गया था किन्तु आयुर्वेदिक छात्रों की सुविधा तथा प्राचीन एवं अर्वाचीन विज्ञान के तुलनात्मक अध्ययन एवं मूल्यांकन के लिए इस संस्करण में प्रसंगानुसार आयुर्वेदीय वचन यथास्थल उद्धृत किये गये हैं। इससे मूल संहिताग्रन्थों के अवलोकन तथा विषय के अवगाहन में प्रेरणा एवं सहायता प्राप्त होगी।

मूलविषय के स्पष्टीकरण के लिए कुछ अंश यथास्थान जोड़े गये हैं। इस प्रकार इस संस्करण में यह ग्रन्थ पूर्णतः परिवर्धित एवं परिमार्जित कलेवर लेकर अवतीर्ण हो रहा है।

आशा है, जिस प्रकार सहृदय पाठकों तथा विद्वज्जनों ने प्रथम संस्करण को अपनाकर लोकप्रिय बनाया उसी प्रकार इसे भी अपनावेंगे।

देवोत्थान ११,
वि० सं० २०१९

प्रियव्रत शर्मा

प्रामुख

सन् १९४६ की बात है। जब मैं संयोग से बेगूसराय के आयुर्वेदिक कालेज में एक अध्यापक के रूप में प्रविष्ट हुआ तब मुझे अन्य विषयों के साथ शरीरक्रिया-विज्ञान भी अध्यापन के लिए मिला। आधुनिक विज्ञान के साथ-साथ आयुर्वेदीय शारीर भी मुझे ही पूरा करना पड़ता था। इस विषय की कौन-सी पुस्तक पाठ्यक्रम में निर्धारित थी यह मुझे आज तक पता नहीं, किन्तु यह अवश्य अनुभव करता हूँ कि उस समय अपना रास्ता मुझे आप ही बनाना पड़ा। हिन्दी माध्यम से इस विषय की ऊँची शिक्षा दी जाय, इसके लिए मुझे कोई पुस्तक उपयुक्त नहीं प्रतीत हुई। फलतः मैंने अंगरेजी में प्रकाशित शरीरक्रियाविज्ञान की अनेक प्रचलित पुस्तकों का अवलोकन कर उनके आधार पर एक अपना नोट बनाना प्रारम्भ किया और वही ३-४ वर्षों में पुस्तक के आकार में परिणत हो गया। अध्ययन-अध्यापन की कठिनाइयों तथा छात्रों के विशेष आग्रह को देखते हुए मैंने इसे प्रकाशित करा देना अच्छा समझा और इस निमित्त सन् १९५० में इसकी पाण्डुलिपि मुद्रण के लिये प्रेस में दे दी गई। किन्तु कुछ कठिनाइयाँ बीच में आने से मुद्रण का कार्य स्थगित कर देना पड़ा। गत वर्ष जब मैं यहाँ आया तब मेरे अन्तरंग मित्रों तथा छात्रों ने इस पुस्तक को शीघ्र प्रकाशित कर देने के लिये मुझे विशेष प्रोत्साहित किया। उसी के फलस्वरूप आज यह पुस्तक आप लोगों के हाथों में है।

यह पुस्तक पूर्णतः आधुनिक शरीरक्रियाविज्ञान का प्रतिपादक है, आयुर्वेदीय मन्तव्यों का इसमें समावेश नहीं किया गया है। उनके लिए एक स्वतन्त्र ग्रन्थ लिखने का विचार है। आधुनिक विचारों को हिन्दी माध्यम से अभिव्यक्त करना ही इसका एक मात्र उद्देश्य है जिससे हिन्दीभाषी इस महत्त्वपूर्ण विषय से लाभ उठा सकें। भारत के आयुर्वेदिक कॉलेजों में पठन-पाठन का माध्यम हिन्दी है और भविष्य में मेडिकल कॉलेजों में भी हिन्दी का प्रवेश होने की आशा है, इसलिए आवश्यक था कि इस विषय में उच्च कोटि का एक ग्रन्थ वैज्ञानिक शैली से लिखा जाय। प्राचीन और नवीन विषयों का समन्वयात्मक अध्ययन करने के लिए समन्वयात्मक प्रणाली से ग्रन्थ लिखे जाँय, यह भी कुछ लोगों का विचार है किन्तु व्यवहारतः अभी यह आदर्शमात्र है। मेरे विचार से, समन्वय का उपयुक्त समय अभी नहीं आया है। परस्पर समान वस्तुओं का सम्बन्ध (अन्वय) ही समन्वय कहलाता है (परस्परसमानानामन्वयः समन्वयः—वाचस्पति मिश्र) और तभी दोनों के तत्त्व एक सूत्र में मणिमाला के समान पदार्थों का प्रकाश कर सकते हैं। इसके

विपरीत, यदि दो असमान वस्तुओं को एकत्र करने की असमय चेष्टा की गई तो एक की कब्र पर ही दूसरे का महल खड़ा हो सकता है अथवा दोनों मिलकर 'दाढ़ी-चोटी-सम्मेलन' के समान एक हास्यास्पद स्वरूप का विधान कर सकते हैं। अतः वर्त्तमान के लिए आवश्यक यह है कि नवीन विषयों को अपने रूप में सुलभ-माध्यम से सार्वजनीन और हृदयंगम बनाया जाय तथा दूसरी ओर सहस्राब्दियों से उपेक्षित आयुर्वेद के विभिन्न अङ्गों का पर्याप्त अध्ययन और मनन किया जाय तथा विभिन्न संहिताओं का मन्थन कर उनके सूत्ररूप सैद्धान्तिक रहस्यों को विशद रूप में प्राञ्जल शैली से अभिव्यक्त किया जाय। आधुनिक चिकित्साविज्ञान का जितना बड़ा साहित्य है उसको देखते हुए आयुर्वेदीय जगत में अभी स्वतन्त्र साहित्य के निर्माण की बड़ी आवश्यकता है। विषय तथा साहित्य, तथ्य और परिमाण दोनों दृष्टियों से जब दोनों समकक्ष हो जाँय तभी समन्वय होगा। अभी तो अपने ही शास्त्र को पूर्णरूप में हम नहीं समझते। समन्वय अत्यन्त उच्च लक्ष्य और कठिनतम कार्य है तथा यह उच्चस्तर पर ही सम्भव है। अभी उसके अनुरूप हमारी शिक्षा और साहित्य का स्तर नहीं है।

आधुनिक और प्राचीन विज्ञान के दृष्टिकोण में महान् अन्तर है। आधुनिक विज्ञान की दृष्टि विश्लेषणात्मक तथा प्राचीन विज्ञान की दृष्टि संश्लेषणात्मक रही है। शरीरक्रियाविज्ञान के क्षेत्र में भी यही बात दृष्टिगोचर होती है। प्राचीनों ने शरीर के मौलिक तत्त्वों पर विशेष ध्यान दिया है इसलिये शरीर के सूक्ष्म नियामक तत्त्वों का स्पष्टीकरण इससे होता है। 'दोषधातुमलमूलं हि शरीरम्' इस वाक्य में संपूर्ण शरीरक्रियाविज्ञान का सार निहित है। इन्हीं तीन उपादानों से शरीर के विविध व्यापार सञ्चालित होते हैं। इन तीनों के स्वरूप का भी विशदीकरण प्राचीन संहिताओं में किया गया है। आधुनिक विज्ञान ने शरीर के स्थूल अधिष्ठानों में उन सूक्ष्म मौलिक तत्त्वों के जो कर्म प्रकट होते हैं उन्हीं का वर्णन उपस्थित किया है। अतः आधुनिक शरीरक्रियाविज्ञान में शरीर के अङ्ग-प्रत्यङ्ग का कार्य स्वतन्त्र रूप से प्रतिपादित किया गया है। स्थूल का ऐसा विस्तार प्राचीन में नहीं मिलता। इस प्रकार सूक्ष्म-स्थूल अपने स्वतन्त्र और विकसित रूप में एक दूसरे के उत्तम पूरक हो सकते हैं। स्वतन्त्र शैली होने के कारण प्रतिपाद्य विषयों के प्रति दोनों का अपना-अपना विशिष्ट दृष्टिकोण है, उसे उसी रूप में समझना होगा। उदाहरणार्थ, शुक्र की स्थिति समस्त शरीर में ईख के रस की तरह या दूध में मक्खन की तरह आयुर्वेद ने प्रतिपादित की है। आधुनिक विज्ञान से यह तथ्य प्रमाणित नहीं होता, अतः समन्वय की चेष्टा में कई विद्वानों ने यह बतलाया कि शुक्र दो प्रकार का होता है—जो बाहर निकलता है वह तो वृषण का बहिःस्राव है और जो सर्वशरीरव्यापी है वह उसका अन्तःस्राव है जिससे पुंस्त्व के अन्य लक्षण श्मश्रुप्रादुर्भाव आदि प्रकट

होते हैं। यह विचारने का विषय है कि क्या यह मन्तव्य प्राचीन महर्षियों के भाव को यथार्थ रूप में प्रकट करता है ? प्राचीन आचार्यों ने तो उसी शुक्र को सर्वशरीरव्यापी बतलाया है जो संकल्प आदि कामजन्य मानस विकारों से द्रवित और निःस्यन्दित होकर बाहर निकलता है :—

'रस इक्षौ यथा दध्नि सर्पिस्तैलं तिले यथा ।
सर्वत्रानुगतं देहे शुक्रं संस्पर्शने तथा ॥
तत्स्त्रीपुरुषसंयोगे चेष्टासंकल्पपीडनात् ।
शुक्रं प्रच्यवते स्थानाज्जलमार्द्रात् पटादिव ॥' (च. चि. अ. २)

'यथा पयसि सर्पिस्तु गूढश्चेक्षौ रसो यथा ।
शरीरेषु तथा शुक्रं नृणां विद्याद् भिषग्वरः ॥
द्व्यङ्गुले दक्षिणे पार्श्वे बस्तिद्वारस्य चाप्यधः ।
मूत्रस्रोतःपथाच्छुक्रं पुरुषस्य प्रवर्तते ॥
कृत्स्नदेहाश्रितं शुक्रं प्रसन्नमनसस्तथा ।
स्त्रीषु व्यायच्छतश्चापि हर्षात् तत् संप्रवर्त्तते ॥' (सु. शा. अ. ४)

'विशस्तेष्वपि देहेषु यथा शुक्रं न दृश्यते ।
सर्वदेहाश्रितत्वाच्च शुक्रलक्षणमुच्यते ॥
तदेव चेष्टयुवतेर्दर्शनात् स्मरणादपि ।
शब्दसंश्रवणात् स्पर्शात् संहर्षाच्च प्रवर्त्तते ॥' (सु. नि. अ. ११)

इसी प्रकार मूत्रनिर्माण की प्रक्रिया है जिसमें आयुर्वेद वृक्कों को महत्त्व नहीं देता। आयुर्वेद हृदय में चेतना का स्थान मानता है और मस्तिष्क का वह महत्त्व वहाँ नहीं है जो आधुनिक विज्ञान में है। अतः शारीर प्रक्रियाओं की व्याख्या करते समय हमें विज्ञान के मौलिक दृष्टिकोण को शुद्धरूप में समझना आवश्यक है। प्रस्तुत ग्रन्थ इस दिशा में सहायक होगा, ऐसी आशा करना मेरे लिए स्वाभाविक है।

यह ग्रन्थ मेरा मौलिक अनुसन्धान नहीं, अपितु अनेक ग्रन्थों का सार लेकर यहाँ संकलित किया गया है। इस क्रम में जिन-जिन पुस्तकों का आधार लिया गया है उनका मैं आभारी हूँ, विशेषतः मैं वजीफदार साहब का अत्यन्त कृतज्ञ हूँ जिनकी हृदयंगम शैली से आकर्षित होकर मैंने उनकी कृति 'ए हैंडबुक ऑफ फिजियालॉजी' से पर्याप्त सहायता ली है। अनेक कठिनाइयों के कारण चाहते हुए भी चित्रों की संख्या मनोनुकूल नहीं हो सकी। आशा है, इसकी पूर्ति अगले संस्करण में हो जायगी।

इस ग्रन्थ में जो पारिभाषिक शब्द प्रयुक्त किये गये हैं उनमें अधिकांश स्वनिर्मित हैं। जो शब्द पाठक-जगत में अधिक प्रचलित हैं उन्हें ले लिया गया है। शब्दों के

निर्माण में अर्थ-साम्य और शब्द-साम्य दोनों पर ध्यान रक्खा गया है। आजकल जो नये-नये शब्द आधुनिक विद्वानों द्वारा निर्मित हुए हैं उनका उपयोग मैं जानबूझ कर इस ग्रन्थ में नहीं कर सका, इसके लिए क्षम्य हूँ। इसका कारण मेरी अहम्मन्यता या अज्ञानता नहीं है बल्कि पाठकों की सुविधा का ध्यान है। इसी कारण हिन्दी पारिभाषिक शब्दों के आगे कोष्ठक में अंगरेजी प्रति-शब्द भी दिये गये हैं। संभव है, अगले संस्करण में नये शब्दों का उपयोग कर सकूँ। कुछ शब्द 'प्रत्यक्ष-शारीर' से भी लिये गये हैं, इसके लिए मैं उनका कृतज्ञ हूँ।

इस पुस्तक के प्रणयन में मेरे सहकर्मी बन्धुवर श्री गौरीशंकर मिश्र ए०एम०एस० प्रोफेसर, आयुर्वेदिक कॉलेज, बेगूसराय ने अपनी बहुमूल्य सम्मतियों से अत्यधिक सहायता पहुँचाई है। वह तो इतने निकट हैं कि धन्यवाद की रूक्ष विधि से मैं उन्हें कष्ट पहुँचाना नहीं चाहता। इसकी पाण्डुलिपि प्रस्तुत करने में मेरे तत्कालीन छात्र श्री गोकुलानन्द मिश्र जी० ए० एम० एस० (आनर्स) ने पर्याप्त परिश्रम किया, इसके लिए मैं उन्हें शुभवाद देता हूँ। इसके प्रकाशक महोदय भी परम धन्यवाद और बधाई के पात्र हैं जिन्होंने विगत चार वर्षों की लम्बी अवधि में समापन्न अनेक बाह्य और आभ्यन्तर बाधाओं पर विजय प्राप्त कर अन्त में ग्रन्थ का प्रकाशन कर ही लिया।

अब, यह पुस्तक आपके हाथ में है। यदि इससे विद्वानों का कुछ मनोरञ्जन और छात्रों का कुछ उपकार हो सका तो मैं अपना परिश्रम सार्थक मानूँगा।

हिन्दू विश्वविद्यालय, काशी
नागपञ्चमी, सं० २०११

प्रियव्रत शर्मा

ग्रन्थ-निर्देश

1. Starling's—Physiology.
2. Halliburton's—Physiology.
3. Vazifdar's—A Handbook of Physiology.
4. Wright—Applied Physiology.
5. Best & Taylor—Physiological Basis of Medical Practice.
6. Majumdar's—Modern pharmacology & Therapeutic Guide.
7. Morgan & Gililand—An Introduction to Psychology.

८. चरकसंहिता

९. सुश्रुतसंहिता

१०. अष्टांगहृदय

११. ऐतरेय ब्राह्मण

१२. श्वेताश्वतरोपनिषद्

१३. माधवनिदान

१४. भावप्रकाश

१५. राजनिघण्टु

१६. धन्वन्तरिनिघण्टु

१७. रसतरंगिणी

१८. शार्ङ्गधर

१९. मानवशरीररचनाविज्ञान : डा० मुकुन्दस्वरूप वर्मा

२०. सुश्रुतशारीर की व्याख्या : डा० घाणेकर

२१. प्रारम्भिक भौतिकी : डा० सेठी

विषयावलि

षष्ठ अध्याय : मांस

सप्तम अध्याय : मेद–अस्थि–मज्जा

अष्टम अध्याय : शुक्र

नवम अध्याय : ओज

दशम अध्याय : उपधातु

एकादश अध्याय : प्रजनन

द्वितीय खण्ड–दोषविज्ञानीय

प्रथम अध्याय : त्रिदोष-परिचय

वात-खण्ड

द्वितीय अध्याय : श्वसन

तृतीय अध्याय : नाडीसंस्थान

चतुर्थ अध्याय : संज्ञा

पञ्चम अध्याय : श्रोत्र

षष्ठ अध्याय : वाक्

पित्त-खण्ड

प्रथम अध्याय : आहार

591

चित्र-सूची

शरीरक्रिया-विज्ञान

विषय-प्रवेश

पुरुष

'पुरुष' शब्द दार्शनिक क्षेत्र में विशुद्ध चेतना-तत्त्व का प्रतीक होने पर भी आयुर्वेद में विशिष्ट अर्थ रखता है। चिकित्सा-शास्त्र की दृष्टि से सजीव शरीर को 'पुरुष' कहा गया है क्योंकि सजीव शरीर में उत्पन्न विकारों के ही निवारण की आवश्यकता पड़ती है। चिकित्सा-कर्म का अधिकरण होने के कारण इसे कर्मपुरुष भी कहते हैं।[1]

शरीर और चेतना का संयोग ही आयु या जीवन कहा गया है।[2] वस्तुतः आयुर्वेद में 'शरीर' चेतनाधिष्ठित पाञ्चभौतिक विकार का ही वाचक है[3] क्योंकि वहाँ मृत शरीर का कोई प्रयोजन नहीं।

जीवन के लक्षण निम्नांकित कहे गये हैं।—

१. उत्तेजनीयता (Excitabitity)—बाह्य वातावरण के प्रति शरीर की प्रतिक्रिया इसी गुण के कारण होती है जिससे प्राणी का सन्तुलन बना रहता है। दुखद वस्तुओं से द्वेष इसी का परिणाम है। उदाहरण के लिए, यदि अमीबा के शरीर से अम्ल का सम्पर्क कराया जाय तो वह इसी गुण के कारण शीघ्र दूसरी ओर भागने लगेगा। इसके विपरीत, यदि कोई इष्ट खाद्य पदार्थ आवे तो यह अपने मिथ्या पादों के द्वारा उसका ग्रहण कर लेगा। अनुकूल और प्रतिकूल वेदना (सुख-दुख) प्राणी का सहज धर्म है और इसी के अनुसार उसकी चेष्टायें होती हैं।

२. आहरण तथा धातुपाक (Assimilation and Metabolism)—पोषक पदार्थों का ग्रहण तथा धातुपाक प्राणियों का विशिष्ट गुणधर्म है।

---

१. अस्मिन् शास्त्रे पञ्चमहाभूतशरीरिसमवायः पुरुष इत्युच्यते, तस्मिन् क्रिया, सोऽधिष्ठानम्। सु. सू. १।१८

स एव कर्मपुरुषश्चिकित्साधिकृतः सु. शा. १।१२

'तत्र पुरुषग्रहणात् तत्संभवद्रव्यसमूहो भूतादिरुक्तस्तदंगप्रत्यंगविकल्पाश्च' सु. सू. १।२८

२. शरीरेन्द्रियसत्त्वात्मसंयोगो धारि जीवितम्।
नित्यगश्चानुबन्धश्च पर्यायैरायुरुच्यते॥ च. सू. १।४२

३. 'तत्र शरीरं नाम चेतनाधिष्ठानभूतं पञ्चमहाभूतविकारसमुदायात्मकम्' च. शा. ६।४, सु. शा. ५।१

व्यक्त एवं अव्यक्त चेष्टाओं के द्वारा निरन्तर शक्ति का व्यय होता रहता है जिसकी पूर्त्ति पोषक आहार से की जाती है। यदि आहार उपलब्ध न हो तो शक्ति क्षीण होने लगेगी, शरीर कृश एवं दुर्बल होने लगेगा और अन्त में प्राणी की मृत्यु हो जायगी। विविध विजातीय पदार्थों का ग्रहण कर तथा उसे रूपान्तरित कर आत्मसात् कर लेने का विशिष्ट गुण प्राणियों के शरीर में होता है जिससे उसकी स्थिति और वृद्धि नियन्त्रित रहती है। 'काय'[1] शब्द इसी चयनात्मक क्रिया का द्योतक है।

३. वृद्धि (Growth)—पोषक पदार्थ के आहरण तथा धातुपाक के द्वारा जीवित शरीर की वृद्धि होती है। इसके अतिरिक्त, निरन्तर शीर्यमाण कोषाणुओं के पुनरुद्भव के द्वारा धातुओं का उपचय भी होता रहता है[2] जिससे शरीर की स्थिति बनी रहती है।

४. उत्पादन (Reproduction)—इस क्रिया के द्वारा प्रत्येक जीव अपने वंश की रक्षा एवं वृद्धि करता है। कोषाणुओं के विभजन द्वारा यह सम्भव होता है तथा कुछ काल बाद प्राणी अपनी विशाल सन्तति के साथ सहस्रशीर्षा पुरुष का रूप धारण करता है।

५. मलोत्सर्ग (Excretion)—शरीर की स्वाभाविक चेष्टाओं के कारण अनेक मलों की उत्पत्ति होती रहती है। इनका निःसरण आवश्यक होता है। वायव्य मलों में 'कार्बन डाइ ऑक्साइड'; जलीय मलों में मूत्र तथा स्वेद और पार्थिव मलों में पुरीष प्रमुख हैं। धातुओं में भी अपचयात्मक क्रिया के फलस्वरूप ये विभिन्न मलों की उत्पत्ति होती है जिनका निःसरण होता रहता है।

६. अनुकूलन (Adaptation)—बाह्य परिस्थितियों के अनुकूल अपने को बनाये रखना प्राणियों का एक विशिष्ट गुण है। देशकाल की विभिन्नताओं एवं उतार-चढ़ाव में भी धातुसाम्य (Homeostasis) की स्थिति बनाये रखना जीवन के लिए आवश्यक है। उदाहरण के लिए, बाह्य वातावरण का तापक्रम शीत ऋतु में अत्यल्प तथा ग्रीष्म ऋतु में अत्यधिक होने पर भी मानव-शरीर का तापक्रम समान एवं प्राकृत रहता है।

---

१. चीयतेऽन्नादिभिः इति कायः—व्याख्यासुधा (अमरकोष)

२. 'शरीर' और 'देह' शब्द क्रमशः अपचय और उपचय क्रियाओं के द्योतक हैं—

'शृणाति शीर्यते वा शरीरम्' (प्रतिक्षणं शीर्यमाणं शरीरमिति तत् स्मृतम्—स्व०)

'दिह्यते उपचीयते इति देहः।'—व्याख्यासुधा (अमरकोष)

७. व्यक्ति वैशिष्ट्य (Organisation)—क्षय-वृद्धि की निरन्तर क्रियाओं के बावजूद भी प्राणी का व्यक्तिवैशिष्ट्य बना रहता है जिससे उसकी प्रकृतिगत विशेषतायें सुरक्षित रहती हैं तथा उनके अनुसार शरीर की क्रियाओं का सञ्चालन होता रहता है। प्राणी का 'स्व' उसका सहज धर्म है।

चरकसंहिता में जीवन के लक्षण निम्नांकित कहे गये हैं :—प्राणापान (श्वसनक्रिया), निमेषादि चेष्टायें, अन्य जैव व्यापार, मनोगति, इन्द्रियान्तर-सञ्चार, प्रेरण, धारण, स्वप्न, सुखदुखादि[1]।

जीवन के तत्त्व—

शरीर के ऐसे तत्त्वों को 'प्राण' कहा गया है जिनसे जीवन-क्रियाओं का सञ्चालन एवं नियमन होता है, यथा—अग्नि, सोम, वायु, सत्त्व, रज, तम, पञ्चेन्द्रियां और भूतात्मा।[2] प्रथम तीन से मुख्यतः शारीरिक क्रियाओं का, दूसरे तीन से मुख्यतः मानसिक क्रियाओं का सम्बन्ध है। पञ्चेन्द्रियों के माध्यम से पुरुष का सम्बन्ध बाह्य जगत् से रहता है और सबके ऊपर चेतना-धातु है जो सबको एक उद्देश्य की ओर केन्द्रित करता है।

शरीर-ज्ञान का महत्त्व

चिकित्साकर्म का अधिकरण होने के कारण चिकित्सा-शास्त्र में शरीर का समुचित महत्त्व प्रतिपादित किया गया है। समस्त शरीर का सर्वांगीण ज्ञान प्राप्त करने वाला वैद्य ही अपने कर्म में सफलता प्राप्त करता है, अन्यथा नहीं[3]।

---

१. प्राणापानौ निमेषाद्या जीवनं मनसो गतिः।
इन्द्रियान्तरसंचारः प्रेरणं धारणं च यत्॥
देशान्तरगतिः स्वप्ने पञ्चत्वग्रहणं तथा।
दृष्टस्य दक्षिणेनाक्ष्णा सव्येनावगमस्तथा॥
इच्छा द्वेषः सुखं दुःखं प्रयत्नश्चेतना धृतिः।
बुद्धिः स्मृतिरहंकारो लिंगानि परमात्मनः॥
यस्मात् समुपलभ्यन्ते लिंगान्येतानि जीवतः।
न मृतस्यात्मलिंगानि तस्मादाहुर्महर्षयः॥
च. शा. १।७०-७२

२. अग्निः सोमो वायुः सत्त्वं रजस्तमः पञ्चेन्द्रियाणि भूतात्मेति प्राणाः।
सु. शा. ४।३

३. शरीरं सर्वथा सर्वं सर्वदा वेद यो भिषक्।
आयुर्वेदं स कार्त्स्न्येन वेद लोकसुखप्रदम्॥ च. सं. ६।१६
'शरीरविचयः शरीरोपकारार्थमिष्यते।
ज्ञात्वा हि शरीरतत्त्वं शरीरोपकारकेषु भावेषु ज्ञानमुत्पद्यते॥ च.शा. ६।३

शारीर-शास्त्र चिकित्सा-शास्त्र का द्वारभूत कहा गया है[1]। शरीरसंबन्धी ज्ञान मुख्यतः दो भागों में विभक्त है :—

१. रचना-शरीर (Anatomy)—जिसमें शरीर के अङ्ग-प्रत्यङ्गों की स्थूल एवं सूक्ष्म रचना का अध्ययन किया जाता है। २. क्रियाशारीर (Physiology) जिसमें इन अङ्ग-प्रत्यङ्गों की प्राकृत क्रिया का वर्णन किया जाता है।

क्रियाशारीर—

'फिजिआलोजी' शब्द ग्रीक शब्द 'फिजिआलोजिकस' (Physiologikos), जिसका समानान्तर लैटिन शब्द 'फिजिआलोजिया' (Physiologia) है, से निष्पन्न हुआ है जिसका अर्थ प्रकृति-विज्ञान है। इस शब्द का प्रयोग फ्रांसीसी चिकित्सक फर्नेल द्वारा १५४२ ई० में सर्वप्रथम किया गया था, किन्तु १९ वीं शती के बाद ही यह विद्वत्समाज में प्रचलित हुआ। इस विज्ञान के अन्तर्गत अब प्राणियों के अंग-प्रत्यंगों की प्राकृत क्रिया के अध्ययन के अतिरिक्त, इन क्रियाओं का वर्गीकरण, क्रम, आपेक्षिक महत्त्व, कर्मवैशिष्ट्य तथा कारणभूत परिस्थितियों का अध्ययन किया जाता है। संक्षेप में, शरीरक्रियाविज्ञान के द्वारा शरीर में कहाँ, क्या, कैसे हो रहा है, इसका अध्ययन किया जाता है।

क्रिया-शारीर का रचना-शारीर के साथ वही सम्बन्ध है जो इतिहास का भूगोल से है। जैसे-जैसे रचनाशारीर सूक्ष्मता में जा रहा है, वैसे-वैसे क्रिया-शारीर के क्षेत्र का भी विस्तार होता जा रहा है। इसके अतिरिक्त वर्तमान युग में भौतिकी, रसायनशास्त्र, जीवविज्ञान आदि संबद्ध ज्ञान-शाखाओं में विकास के साथ-साथ क्रियाशारीर का भी स्वभावतः विकास होता जा रहा है। विशेषतः भौतिकी एवं रसायनशास्त्र की भाषा में ही इस विज्ञान के द्वारा शरीरक्रिया-सम्बन्धी तथ्यों के उद्घाटन का प्रयास किया जाता है। वैज्ञानिक विकास के परिणामस्वरूप शरीरक्रियाविज्ञान की अनेक शाखायें विकसित हुई हैं यथा—

१. सामान्य क्रियाशारीर (General Physiology)
२. तुलनात्मक क्रियाशारीर (Comparative Physiology)
३. धात्वीय क्रियाशारीर (Histology)
४. प्रायोगिक क्रियाशारीर (Experimental Physiology)

---

१. शारीरं नाम सकलनरशरीरबाह्याभ्यान्तरवस्तुविवरणपरायणं द्वारभूतं चिकित्साविद्यायाः—प्रत्यक्षशारीरम्

५. जीवरसायन (Biochemistry)

६. जीवभौतिकी (Biophysics)

शारीरशास्त्र का केवल सैद्धान्तिक ही नहीं अपितु क्रियात्मक ज्ञान भी आवश्यक होता है[1]।

क्रियाशारीर का महत्त्व—

चिकित्साशास्त्र का उद्देश्य विकृति का ज्ञान प्राप्त कर उसके निवारण का उपाय करना है किन्तु विकृति का ज्ञान करने के पूर्व प्राकृत क्रिया का ज्ञान होना आवश्यक है।[2] अत एव चिकित्सा-शास्त्र में क्रियाशारीर का अध्ययन महत्त्वपूर्ण है ।

शरीर क्रिया के मौलिक तत्त्व—

जीवन के व्यापारों का यदि हम वर्गीकरण करें तो इनके तीन वर्ग होते हैं—१. आहरण एवं धातुपाक के द्वारा शरीर की वृद्धि, २. मलों का निःसरण ३. इन दोनों का नियमन करनेवाले तत्त्व। आयुर्वेदीय परिभाषा में इन तीनों को क्रमशः धातु, मल तथा दोष कहा गया है। आहृत पदार्थों के पचन-विभजन से गति उत्पन्न होती है जिससे अनेक शारीरिक व्यापार होते हैं। इस प्रक्रिया के परिणामस्वरूप अनेक मल उत्पन्न होते रहते हैं जिनका निःसरण होता रहता है। इन दोनों क्रियाओं का संतुलन तथा नियमन आवश्यक होता है जिससे शरीर प्राकृत स्थिति में रहे और उसकी अपेक्षित वृद्धि होती रहे। अतएव आयुर्वेद में इन्हीं तीन तत्त्वों दोष, धातु, मलों को शरीर का मूल कहा गया है[3] क्योंकि शरीर इन्हीं पर निर्भर है। प्रत्येक कोषाणु में ये स्थित होकर उसकी क्रियाओं का सञ्चालन करते हैं।

शरीर का संघटन

मानव शरीर पाञ्चभौतिक है। पृथिवी, अप् , तेज, वायु और आकाश इन पांच भूतों से शरीर का निर्माण होता है। आधुनिक विज्ञान-सम्मत तत्त्वों के अणुओं का विश्लेषण होने से गुरुत्व, संश्लेषण, शक्ति, गति और अवकाश

---

१. शरीरे चैव शास्त्रे च दृष्टार्थः स्याद् विशारदः।
दृष्टश्रुताभ्यां सन्देहमवापोह्याचरेत् क्रियाः ॥ सु. शा. ५।४८

२. प्रकृतिज्ञानानन्तरत्वाद् विकृतिज्ञानस्य—चक्रपाणि (च.चि. १५।२-४)
'प्रकृतिज्ञानानान्तरीयकं विकृतिज्ञानम्'—विजयरक्षित
(मा. नि. अग्निमांद्य १)

३. दोषधातुमलमूलं हि शरीरम्—सु० सू० १५।१

इन पाँच गुणों का अस्तित्व उनमें पाया गया है। इससे प्रत्येक तत्त्व पाञ्च-भौतिक सिद्ध होता है। अतः आधुनिक दृष्टि से भी प्राचीन पाञ्चभौतिक सिद्धान्त में कोई व्याघात नहीं होता।

आयुर्वेदीय संहिताओं में शारीरिक भावों का पाञ्चभौतिक विवरण निम्नां-कित रूप में दिया गया है :—

१. आकाशीय—शब्द, श्रोत्रेन्द्रिय, सर्वच्छिद्रसमूह, विविक्तता, सौक्ष्म्य।

२. वायव्य—स्पर्श, स्पर्शेन्द्रिय, सर्वचेष्टासमूह, सर्वशरीरस्पन्दन, लघुता, रौक्ष्य, प्रेरण, धातुव्यूहन।

३. तैजस—रूप, रूपेन्द्रिय, वर्ण, सन्ताप, भ्राजिष्णुता, पाचन, अमर्ष, तैक्ष्ण्य, शौर्य।

४. आप्य—रस, रसेन्द्रिय, सर्वद्रवसमूह, मार्दव, शैत्य, स्नेह, शुक्र।

५. पार्थिव—गन्ध, घ्राणेन्द्रिय, गौरव, सर्वमूर्त्तिसमूह, गुरुता, स्थैर्य।[1]

सारांश में—शरीर में जितना अवकाश भाग (स्रोतोगत, आशयगत आदि) है वह आकाश; जो आग्नेय अंश (पाचन, सन्ताप आदि) है वह तेज; जो चेष्टा है वह वायु, जो द्रव भाग है वह आप्य तथा जो ठोस भाग है वह पृथिवी का अंश है।[2]

रासायनिक दृष्टि से मानव शरीर का निर्माण विभिन्न कार्बनिक तथा अकार्ब-निक यौगिकों से होता है जिन्हें घनिष्ठ तत्त्व (Proximate Principles) कहते हैं। कार्बनिक यौगिकों में मांसतत्त्व (प्रोटीन), स्नेहद्रव्य (फैट) तथा शाकतत्त्व (कार्बोहाइड्रेट) हैं तथा अकार्बनिक यौगिकों में जल, सुधा, सोडि-यम, पोटाशियम आदि के लवण और कुछ स्वतंत्र अम्ल यथा उदहरिताम्ल (Hcl) आते हैं।

---

१. 'आन्तरीक्षास्तु शब्दः शब्देन्द्रियं सर्वच्छिद्रसमूहो विविक्तता च। वायव्यास्तु स्पर्शः स्पर्शेन्द्रियं सर्वचेष्टासमूहः सर्वशरीरस्पन्दनं लघुता च। तैजसास्तु रूपं रूपेन्द्रियं वर्णः सन्तापो भ्राजिष्णुता पक्तिरमर्षस्तैक्ष्ण्यं शौर्यं च। आप्यास्तु रसो रसनेन्द्रियं सर्वद्रवसमूहो गुरुता शैत्यं स्नेहो रेतश्च। पार्थिवास्तु गन्धो गन्धेन्द्रियं सर्वमूर्त्तिसमूहो गुरुता चेति।' —सु. शा. १।१३.

'तत्राकाशात्मकं शब्दः श्रोत्रं लाघवं सौक्ष्म्यं विवेकश्च; वाय्वात्मकं—स्पर्शः स्पर्शनं रौक्ष्यं प्रेरणं धातुव्यूहनं चेष्टाश्च शारीर्यः, अग्न्यात्मकं रूपं दर्शनं प्रकाशः पक्तिरौष्ण्यं च, अबात्मकं रसो रसनं शैत्यं मार्दवं स्नेहः क्लेदश्च, पृथिव्यात्मकं गन्धो घ्राणं गौरवं स्थैर्यं मूर्त्तिश्च'—च० शा० ४।१२

२. तस्य पुरुषस्य पृथिवी मूर्त्तिः, आपः क्लेदः, तेजोऽभिसन्तापो, वायुः प्राणो, वियच्छिद्राणि' —च० शा० ५।६

शरीर को बनाने वाले मौलिक तत्वों में कुछ मुख्य हैं जो प्रत्येक प्राणी के शरीर में अनिवार्य रूप से पाये जाते हैं; ये हैं कार्बन, उदजन, ओषजन, नत्रजन, गन्धक, स्फुरक, सोडियम, पोटाशियम, सुधा, मैगनेशियम और लौह। इनके अतिरिक्त कुछ तत्व, यथा–सिलिका, आयोडिन, फ्लोरिन, ब्रोमिन, अल्युमुनियम, मैंगनीज तथा ताम्र कुछ प्राणियों में पाये जाते हैं।

ये तत्व सम्पूर्ण शरीर में सम रूप से विभक्त नहीं रहते। प्रायः सब सुधा तथा ३/४ स्फुरक अस्थियों में पाया जाता है। प्रायः ७५ प्रतिशत लौह रक्तकणों में, सब आयोडिन, अवटुग्रन्थि में तथा मैंगनीज और ताम्र मुख्यतः यकृत् में रहते हैं।

उदजन, ओषजन, कार्बन तथा नत्रजन ये चार तत्व शरीर का मुख्यांश बनाते हैं और प्रायः संपूर्ण शरीर का ९६ प्रतिशत इनसे बनता है। सुधा से २ प्रतिशत, स्फुरक से १ प्रतिशत तथा अन्य तत्वों से १ प्रतिशत बनता है। ये तत्व शरीर में विभिन्न कार्यों का संपादन करते हैं। सोडियम, पोटाशियम, सुधा, मैगनेशियम और क्लोरीन विद्युद्विश्लेषक के रूप में कार्य करते हैं तथा लौह, ताम्र और मैंगनीज प्रवर्तक का कार्य करते हैं।

इनमें केवल तीन तत्व स्वतन्त्र रूप में शरीर में पाये जाते हैं यथा रक्त में नत्रजन और ओषजन तथा आंत्र में किण्वीकरण के फलस्वरूप उदजन प्राप्त होते हैं। इनके अतिरिक्त अन्य तत्व उपर्युक्त कार्बनिक एवं अकार्बनिक यौगिकों के रूप में ही मिलते हैं।

संक्षेप में, मुख्य रासायनिक तत्वों की शरीर में उपस्थिति निम्नांकित मात्रा में हैं:—

ओषजन—६५ प्रतिशत	स्फुरक —१ प्रतिशत
कार्बन— १८ ,,	पोटाशियम–०.३५ ,,
उदजन—१० ,,	गंधक—०.२५ ,,
नत्रजन—३ ,,	सोडियम—०.१५ ,,
सुधा—१.२५ ,,	क्लोरीन—०.१५ ,,
आयोडिन–०.००००४%	मैगनीशियम–०.०५ ,,
	लौह—०.००४ ,,

शाकतत्त्व (Carbohydrate)

सजीव ओजःसार के घन अवयवों का अधिक भाग कार्बन से बनता है। शरीर में पाये जाने वाले कार्बन के यौगिक ज्वलनशील होते हैं अर्थात् वे ओषजन से मिलकर कार्बनद्विओषिद् बनाते हैं और इस रासायनिक परिवर्तन के क्रम में ताप उत्पन्न करते हैं। वनस्पतियों में प्रायः सब कार्बन कार्बनद्विओ-

षिद् के रूप में रहता है। पौधों की हरी पत्तियों में कार्बनद्विओषिद् तथा जल के मिलने से श्वेतसार (स्टार्च) का निर्माण होता है :—

$$6Co_2 + 5H_2o = C_6H_{10}o_5 + 6o_2$$
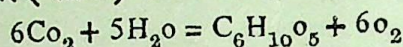
कार्बनद्विओषिद् तथा जल का यह संयोग सूर्यकिरणों द्वारा प्राप्त शक्ति के सहारे होता है और यही शक्ति श्वेतसार में स्थायी शक्ति के रूप में रहती है। जब शरीर में श्वेतसार का ओषजनीकरण होता है और उससे जल तथा कार्बनद्विओषिद् बनते हैं तब यह स्थायी शक्ति मुक्त होती है। यह देखा गया है कि १ ग्राम श्वेतसार ज्वलन होने पर ०.४ कैलोरी ताप उत्पन्न करता है।

शाकतत्त्व मुख्यतः वनस्पतियों में पाया जाता है जिनका आहार में प्रमुख भाग रहता है। कुछ शाकतत्त्व प्राणियों के शरीर में भी बनते और पाये जाते हैं। श्वेतसार, सत्त्वशर्करा, फलशर्करा एवं दुग्धशर्करा शाकतत्त्वों में प्रधान माने जाते हैं। रासायनिक दृष्टि से शर्कराओं का सम्बन्ध मद्यसार से होता है। प्राथमिक मद्यसार का ओषजनीकरण होने पर अल्डीहाइड और उसका पुनः ओषजनीकरण होने पर अम्ल की उत्पत्ति होती है। यथाः—

$$CH_3\ CH_2\ oH + o = CH_3\ CHo + H_2o$$

(एथिल अलकोहल) (एसिटैल्डिहाइड)

$$CH_3\ CHo + o = CH_3\ CooH$$

(एसिटिक एसिड)
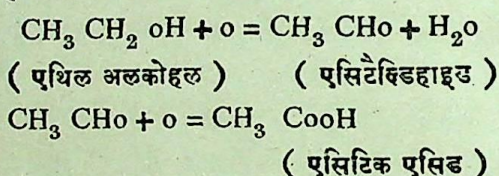
रासायनिक संघटन की दृष्टि से शर्कराओं के तीन वर्ग किये गये हैं :—

१. एकशर्करिक (Mono—Sachharide)

२. द्विशर्करिक (Di—Sachharide)

३. बहुशर्करिक (Poly—Sachharide)

एकशर्करिक $C_6\ H_{12}\ O_6$	द्विशर्करिक $C_{12}H_{22}O_{11}$	बहुशर्करिक $(C_6H_{10}\ O_5)n$
सत्त्वशर्करा (Glucose)	इक्षुशर्करा	श्वेतसार
फलशर्करा	दुग्धशर्करा	शर्कराजन (ग्लाइकोजन)
	यवशर्करा	द्राक्षीन
		इन्युलीन
		कोषावरण (सेल्युलोज)

शाकतत्त्व के गुणधर्म—

एकशर्करिक—१. ये वर्णहीन, मधुर, स्फटिकीय यौगिक होते हैं।

२. अम्ल के साथ मिलकर ईस्टर बनाते हैं।

३. क्षारीय ताम्र, बिस्मथ या रजतविलयन को शीघ्र प्रभावित करते हैं।

४. फेनोल, मद्यसार आदि के साथ मिलकर ग्लाइकोसाइड बनाते हैं।
५. जीवाणुओं के द्वारा इनमें किण्वीकरण होता है।

द्विशर्करिक—इनमें उपर्युक्त गुणधर्म कम या अनुपस्थित होते हैं।

बहुशर्करिक—श्वेतसार, स्वादहीन तथा शीत जल में अविलेय होता है। जल में उबालने पर गाढ़ा पिच्छिल विलयन बनता है। आयोडिन के साथ नीला रंग देता है।

स्नेह (Fat)

वनस्पतियों में श्वेतसार का कुछ अंश निरोषजनीकृत होने से स्नेह की उत्पत्ति होती है :—

$$3\ C_6\ H_{12}\ O_6 - 8O_2 = C_{18}\ H_{66}\ O_2$$
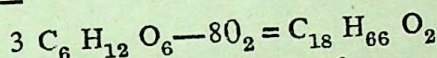
इसीलिए बीजों के परिपाककाल में स्नेह का परिमाण बढ़ जाता है तथा शाकतत्त्व का परिमाण घट जाता है। श्वेतसार के समान बहुत सी शक्ति स्नेह में सञ्चित रहती है जो शरीर में उसका ज्वलन होने पर उत्पन्न होती है। १ ग्राम स्नेह ९·० कैलोरी ताप उत्पन्न करता है।

स्नेह शरीर के अनेक धातुओं में पाया जाता है; विशेषतः मज्जा, मेदोधातु तथा स्तनग्रंथियों (स्तन्यकाल में) पाया जाता है। मेदोधातु में वर्तमान स्नेह जीवनकाल में तरल होता है। शरीर में मिलने वाले स्नेहों में पामीटिन, स्टीयरिन तथा ओलीन मुख्य हैं जो रासायनिक संघटन और भौतिक स्वरूप में एक दूसरे से नितान्त भिन्न हैं।

स्नेह स्नेहाम्ल एवं ग्लिसरीन के मिश्रण से बनता है। तापाधिक्य, खनिज अम्लों एवं शारीर किण्वतत्त्वों के प्रभाव से स्नेह विश्लेषित होकर स्नेहाम्ल एवं ग्लिसरीन में परिणत हो जाता है। सफेनीकरण की प्रक्रिया में लगभग इसी प्रकार का परिवर्तन होता है। शरीर में स्नेह का एक और भौतिक परिवर्तन होता है जिसे पयसीभवन कहते हैं।

स्नेह का स्वरूप

(१) वर्णहीन। (२) गन्धहीन।
(३) जल में अविलेय और तैरने वाले। (४) मद्यसार में विलेय।
(५) ईथर, क्लोरोफार्म, बेञ्जीन और कार्बन डाइसल्फाइड में विलेय।
(६) पोटाशियम बाइसल्फेट ($KHSO_4$) के साथ खूब गरम करने पर ग्लिसरीन का विघटन होने से एक्रोलीन के कटु वाष्प की उत्पत्ति।
(७) जल, वाष्प या किण्वतत्त्वों के साथ गरम करने पर जलीय विश्लेषण।
(८) सफेनीकरण (Saponification)

(९) पयसीभवन (Emulsification)

स्नेह में निम्नांकित वर्ण-प्रतिक्रियायें होती हैं :—

(१०) औस्मिक अम्ल के साथ—कृष्णवर्ण

(११) स्कार्लेट रेड के साथ—रक्तवर्ण

(१२) सूडन III के साथ—गहरा पीला

(१३) पोटाशियम हाइड्रौक्साइड विलयन के साथ फेनोलथैलीन के रक्त वर्ण को दूर करता है।

विशिष्ट प्रतिक्रियायें—

१. आयोडिन मूल्य (Iodine Value)—असंतृप्त स्नेह आयोडिन का ग्रहण करते हैं। १०० ग्राम स्नेह के द्वारा गृहीत आयोडिन की मात्रा (ग्राम में) उस स्नेह का आयोडिन मूल्य कहलाता है। इसके द्वारा स्नेह की असंतृप्तता का निर्धारण किया जा सकता है।

२. उदजनीकरण (Hydrogenation)—असंतृप्त स्नेह उदजन का भी ग्रहण करते हैं। इस विधि से असंतृप्त स्नेह द्रव्यों से भोज्य संतृप्त स्नेह द्रव्य बनाये जाते हैं।

उपस्नेह (Lipoids)

ये तत्त्व मांसतत्त्व के साथ ओजःसार में विशेषतः कोषाणु के बाह्यावरण में पाये जाते हैं। यद्यपि इनका परिमाण मांसतत्त्व की अपेक्षा स्वल्प होता है, तथापि ओजःसार के ये प्रधान और आवश्यक घटक हैं। ये विशेषतः नाडीतन्तु में अधिक परिमाण में पाये जाते हैं। शरीरक्रिया की दृष्टि से सर्वप्रधान उपस्नेह कोलेष्टरोल ($C_{27}H_{45}OH$) है जो धातुओं में स्वतन्त्र रूप में तथा स्नेहाम्लों के साथ पाया जाता है।

कोलेष्टरोल

गुणधर्म—यह जल में अविलेय है तथा ईथर, क्लोरोफार्म, एसिटोन, क्वथित मद्यसार एवं पित्त में घुलनशील है।

स्रोत—यह नाडीतन्तु का प्रमुख उपादान है और उसमें भी विशेष कर श्वेत मेदस कोष में पाया जाता है। भोज्यपदार्थों में यह मुख्यतः अंडे, स्नेह, मक्खन, मस्तिष्क, यकृत् और वृक्क में पाया जाता है। यह रक्तकणों, प्लीहा, पित्त और थोड़ी मात्रा में प्रत्येक प्रकार के ओजःसार में पाया जाता है। सभी तन्तुओं में इसकी अधिकता से यह प्रमाणित होता है कि यह विषाक्त पदार्थों से शरीर की रक्षा करता है। यह केवल मल-पदार्थ ही नहीं है जैसा कि पहले लोगों का विश्वास था। जीवनीय द्रव्य 'ए' तथा 'डी' से इसका घनिष्ठ संबन्ध है।

सर्पविष रक्तविलायक होता है, किन्तु रक्तकणों के बाह्यावरण में स्थित

कोलेष्टरोल उसको रक्तकणों के भीतर नहीं घुसने देता और इस प्रकार शरीर की उससे नैसर्गिक रक्षा करने का प्रबन्ध है।

मांसतत्त्व (Protein)

मांसतत्त्व ऐसे पदार्थों का वर्ग है जो आमिषाम्लों एवं तद्भव द्रव्यों के संयोग से बनते हैं। आमिषाम्ल (Amino-Acid) एक कार्बनिक अम्ल है जिसके अणु में एक उदजन परमाणु को हटाकर उसके स्थान पर आमिषवर्ग (NH_2) आ जाता है।

प्राणियों तथा वनस्पतियों के ओजःसार में पाये जाने वाले यौगिकों में मांसतत्त्व सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है। प्रोटीन शब्द एक ग्रीक शब्द से निष्पन्न हुआ है जिसका अर्थ होता है 'सर्वप्रथम' और इसी से यह सूचित होता है कि यह प्रत्येक जीवित कोषाणु का आवश्यक घटक है। ये जटिल नत्रजनयुक्त कार्बनिक यौगिक हैं जिनमें कार्बन, उदजन, ओषजन और नत्रजन होते हैं। अधिकांश मांसतत्त्वों में गन्धक का अंश भी होता है। अधिक मांसतत्त्वों में स्फुरक भी स्वल्प मात्रा में (०.४ से ०.८ प्रतिशत) होता है। कुछ मांसतत्त्वों में लौह, मैंगनीज, ताम्र और यशद भी होते हैं।

मांसतत्त्वों का सामान्य संघटन निम्नांकित होता है:—

कार्बन—५०-५५	प्रतिशत	उदजन—६-७.३	प्रतिशत
ओषजन—१९-२४	,,	नत्रजन—१५-१८	,,
गन्धक—०.३-२.५		स्फुरक—०.४२-०.८५	,,

मांसतत्त्व में संचित शक्ति शरीर में ज्वलन होने पर मुक्त होती है। १ ग्राम मांसतत्त्व से ४.० कैलोरी ताप उत्पन्न होता है।

आहारगत मांसतत्त्वों से ही शारीरधातुगत मांसतत्त्व बनते हैं, किन्तु दोनों के संघटन में अन्तर होता है। आहारगत मांसतत्त्व पाचन की प्रक्रिया से सरल पदार्थों में विश्लेषित हो जाते हैं जिन्हें 'सारपदार्थ' कहते हैं। इन्हीं सारपदार्थों से शरीर कोषाणु अपने मांसतत्त्वों का निर्माण कर लेते हैं।

मांसतत्त्वों का वर्गीकरण

मांसतत्त्व तीन वर्गों में विभक्त किये गये हैं:—

(१) सरल (Simple)—प्रोटेमिन, हिस्टोन, अलब्यूमिन, ग्लोब्यूलिन ग्लुटेलिन, प्रोलेमिन, स्क्लीरोप्रोटीन, फास्फोप्रोटीन।

(२) संयुक्त (Conjugated)—ग्लुकोप्रोटीन, न्युक्लिओप्रोटीन, क्रोमोप्रोटीन।

(३) उद्भूत (Derived)—मेटाप्रोटीन, प्रोटीओज (मांसतत्त्वौज), पेपटोन (मांसतत्त्वसार), पौलिपेपटाइड (मांसतत्त्वसार)।

मांसतत्त्व के भौतिक गुणधर्म

(१) विलेयता—प्रायः सभी मांसतत्त्व मद्यसार और ईथर में अविलेय होते हैं। कुछ जल में घुल जाते हैं और कुछ जल में अविलेय होते हैं, किन्तु लवण विलयन में घुल जाते हैं।

(२) अधिकांश मांसतत्त्व उष्णता या अम्ल से जम जाते हैं।

(३) प्रसार्यता—मांसतत्त्वौज और मांसतत्त्वसार के अतिरिक्त सभी मांसतत्त्व घन होते हैं।

(४) स्फटिकीकरण—रक्तरञ्जक आदि कुछ मांसतत्त्वों का आसानी से स्फटिकीकरण हो जाता है; अन्य मांसतत्त्वों का स्फटिकीकरण विलम्ब और कठिनाई से होत है।

(५) प्रतिक्रिया—इनकी प्रतिक्रिया अम्ल होती है।

(६) केन्द्रित प्रकाश का प्रभाव—कुछ मांसतत्त्व वामावर्तक और कुछ दक्षिणावर्तक होते हैं।

इसका परीक्षण वर्ण, स्कन्दन तथा अवक्षेपण प्रतिक्रिया पर आधारित है।

जीवभौतिकी और क्रियाशारीर में उसका उपयोग

भौतिक रसायनशास्त्र के क्षेत्र में अनुसन्धानों से विलयनों के स्वरूप के सम्बन्ध में अनेक नवीन तथ्यों का पता चला है जिनसे जीवन की प्रक्रियाओं की व्याख्या करने में महत्त्वपूर्ण सहायता मिलती है।

जल एक ऐसा द्रव पदार्थ है जिसमें विलेय वस्तु स्वभावतः विलीन रहती है। साधारण तापक्रम पर इसके अणु निरन्तर गतिशील होते हैं और तापक्रम जितना बढ़ता है अणुओं की गति भी उतनी ही बढ़ जाती है यहाँ तक कि अंत में जब जल उबलने लगता है, इसके अणु विलयन को छोड़कर बाहर निकल आते हैं। पूर्ण विशुद्ध जल H_2O सूत्र के अनुसार अणुओं से बना होता है और इन अणुओं का विश्लेषण विद्युदणुओं में बहुत कम होता है। यही कारण है कि शुद्ध जल विद्युत् का चालक नहीं होता।

यदि जल में शर्करा घोल दी जाय, तब भी वह विलयन विद्युद्धारा का चालक नहीं होता, क्योंकि शर्करा के अणुओं का विश्लेषण नहीं होता। किन्तु यदि जल में नमक का विलयन बनाया जाय, तो वह विद्युद्धारा का चालक हो जाता है। इसका कारण यह है कि जल में उसका प्राथमिक उपादानों में विश्लेषण हो जाता है जिन्हें विद्युदणु (Ions) कहते हैं। यथा, जब जल में सोडियम क्लोराइड का विलयन बनाया गया तो उसके कुछ अणु सोडियम विद्युदणुओं में विभक्त हो जाते हैं जो धन विद्युत् से युक्त होते हैं और कुछ अणु क्लोरीन विद्युदणुओं में पृथक् हो जाते हैं जो ऋण विद्युत् से युक्त होते हैं।

इसी प्रकार उदहरिताम्ल के जलीय विलयन में स्वतन्त्र उदजन तथा क्लोरीन के विद्युदणु होते हैं। गन्धकाम्ल भी उदजन और सल्फेट के विद्युदणुओं में विभक्त हो जाता है। इससे स्पष्ट है कि विद्युदणु परमाणु या परमाणुओं का समूह हो सकता है।

ऋण और धन विद्युत् के संयोग में भी अन्तर होता है। उदहरिताम्ल के दोनों विश्लेषित विद्युदणुओं में धन और ऋण विद्युत् समान होती है, किन्तु गन्धकाम्ल में सल्फेट विद्युदणु की ऋण विद्युत् दो उदजन विद्युदणुओं की धन-विद्युत् के समान होती है। इसी आधार पर विद्युदणुओं को एकशक्तिक, द्विशक्तिक, त्रिशक्तिक प्रभृति संज्ञा दी गई है। धन विद्युत् से युक्त विद्युदणुओं को धनविद्युदणु (Cat–ions) कहते हैं और वह ऋण विद्युद्ध्रुव की ओर गति करते हैं। इसी प्रकार ऋण विद्युत् से युक्त विद्युदणुओं को ऋणविद्युदणु (An–ions) कहते हैं और वह धनविद्युद्ध्रुव की ओर गति करते हैं। नीचे कुछ विद्युदणुओं के नाम दिये जाते हैं :—

धनविद्युदणु—एकशक्तिक—H. Na, K, Nh_4 आदि
द्विशक्तिक—Ca, Ba, Fe ,,
त्रिशक्तिक—Ae, Bi, Sb, Fe ,,

ऋणविद्युदणु—एकशक्तिक—Cl, Br, I, Oh, No_3 आदि।
द्विशक्तिक—S, Se, So_4

विलयन जितना अधिक होगा, विश्लेषण की क्रिया उतनी ही पूर्ण होगी। विश्लेषण के द्वारा मुक्त विद्युदणु विद्युद्धारा से युक्त हो जाते हैं, इसलिए ऐसे विलयन में जब विद्युधारा प्रवाहित की जायगी तो विद्युदणुओं की गति के सहारे विलयन में उसका चालन होगा। ऐसे पदार्थ जिनमें विश्लेषण का गुण होता है विद्युद्विश्लेषक (Elecrolytes) कहलाते हैं।

शरीरगत द्रव पदार्थों के विलयन में विद्युत्विश्लेषक होते हैं, इसी कारण वे विद्युद्धारा का चालन करने में समर्थ होते हैं। विद्युद्विश्लेषक वस्तुओं के द्वारा विश्लेषण का विचार एरीनियस (Arrhenius) नामक विद्वान् के द्वारा व्यक्त किया गया था। यह व्यापन-भार के संबन्ध में अत्यधिक महत्वपूर्ण है, क्योंकि विश्लेषण की क्रिया से विलयन में कणों की संख्या बढ़ जाती है, फलतः व्यापन-भार भी बढ़ जाता है। इस प्रकार इस दृष्टिकोण से विद्युदणु तथा अणु की क्रिया में कोई अन्तर नहीं होता। इसके अतिरिक्त सजीव धातु अपने पार्श्ववर्ती प्रदेशों में विद्युदणुओं के स्वरूप और सान्द्रता के प्रति अत्यधिक संवेदनाशील होते हैं।

ग्राम-अणुविलयन (Gram—molecular solution)—व्यापनभार के दृष्टिकोण से ग्रामपरमाणु सुविधाजनक इकाई है। किसी वस्तु की ग्रामों में

मात्रा जो परमाणुभार के समान होती है, 'ग्रामपरमाणु' कहलाती है। जिस विलयन में प्रति लिटर वस्तु का एक ग्राम परमाणु हो, उसे 'ग्रामपरमाणुविलयन' कहते हैं। यथा–सोडियम क्लोराइड के ग्रामपरमाणुविलयनमें १ लिटरमें सोडियम क्लोराइड ५८.४६ ग्राम (सोडियम=२३.००, क्लोराइड = ३५.४६) होता है। सत्त्वशर्करा के ग्रामपरमाणुविलयन में प्रतिलिटर १८० ग्राम सत्त्वशर्करा होती है।

प्रसरण (Diffusion)

यदि दो गैसों को एक बन्द स्थान में रक्खा जाय तो थोड़ी देर में दोनों मिलकर एक हो जाते हैं। यह गैस के अणुओं की गति के कारण होता है। इसे प्रसरण कहते हैं। यही क्रिया फुफ्फुसों में रक्त से गैसों के आवागमन में होती है। इसी प्रकार प्रसरण की क्रिया से दो द्रव पदार्थों का समान मिश्रण हो जाता है। यदि लवणविलयन में ऊपर से और जल दिया जाय तो शीघ्र ही वह संपूर्ण विलयन में मिलकर एकाकार हो जाता है। इसी प्रकार यदि अलब्यूमिन के विलयन पर प्रयोग किया जाय तो यह क्रिया धीरे-धीरे होती है।

कलाओं द्वारा वस्तुओं की गति

यदि लवण–विलयन के ऊपर जल न डालकर दोनों को एक सूक्ष्म कला से पृथक् कर दिया जाय, तो वहाँ भी प्रसरण की क्रिया होगी, यद्यपि मन्द-मन्द। थोड़े समय में कला के दोनों ओर जल में लवण की मात्रा समान हो जायगी। जो पदार्थ इन कलाओं से उस पार चले जाते हैं, उन्हें विशद (Crystalloids) तथा जो बृहत् अणुओं के कारण उस पार नहीं जा पाते उन्हें पिच्छिल (Colloids) कहते हैं यथा श्वेतसार, मांसतत्त्व आदि। पिच्छिल द्रव्य पयसीभूत (Emulsion) तथा प्रक्षिप्त (Suspention) दो प्रकार के तथा ठोस (Sol) और द्रव (Gel) दो अवस्थाओं में मिलते हैं। बहुत कम ऐसी कलायें हैं जिनसे जल तथा उसमें विलीन वस्तुओंकी गति समान रूप से होती है।

चित्र १

इस चित्र में कोष्ठ 'क' में शुद्ध जल भरा है और कोष्ठ 'ख' में सोडियम क्लोराइड (लवण) विलयन। दोनों को एक मध्यवर्ती कला से पृथक् कर दिया गया है। थोड़ी देर में दोनों कोष्ठों का विलयन समान हो जायगा और प्रारम्भ में कोष्ठ 'ख' लवण की जितनी सान्द्रता थी उससे आधी सान्द्रता का विलयन दोनों में तैयार हो जायगा। इस क्रिया में सर्वप्रथम कोष्ठ 'ख' के द्रव का आयतन बढ़ता है, क्योंकि कोष्ठ 'क' से जल के अधिक अणु कोष्ठ 'ख' में चले जाते हैं और कोष्ठ 'ख' से लवण के अणु कोष्ठ
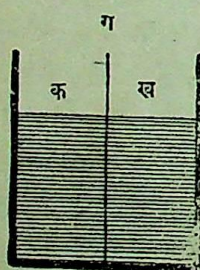
'क' में उतनी शीघ्रता से नहीं आ पाते। कला के द्वारा जल के अणुओं के प्रवाह को व्यापन (Osmosis) कहते हैं। कला के द्वारा प्रवेश्य और अप्रवेश्य दोनों प्रकार के पदार्थों को पृथक् करने की क्रिया को द्विविभाजन (Dialysis) कहते हैं। प्रारम्भ में, चूंकि व्यापन (जल का प्रसरण) द्विविभाजन (लवण अणुओं का प्रसरण) की अपेक्षा शीघ्रतर होता है, अतः कोष्ठ 'ख' का द्रव कोष्ठ 'क' की अपेक्षा अधिक हो जाता है। द्रवों का यह अन्तर सूचित करता है कि लवण विलयन का व्यापनभार अधिक है, अर्थात् जल को शोषित करने की शक्ति उसमें अधिक है। यदि एक अर्धप्रवेश्य कोष में सान्द्र लवण-विलयन रक्खा जाय और उसे परिस्रुत जल के एक पात्र में रख दिया जाय, तो व्यापन की क्रिया से जल कोष में प्रविष्ट हो जाता है और कोष फूल जाता है तथा उससे संबद्ध भारमापकयन्त्र भार (व्यापनभार) की वृद्धि सूचित करता है।
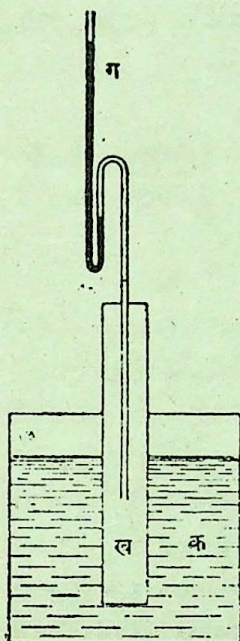
चित्र २

क—परिस्रुत-जलयुक्त बाह्य पात्र
ख—लवण-विलयनयुक्त अन्तः पात्र
ग—भारमापक (पारदीय)

इससे ठीक-ठीक व्यापनभार का पता नहीं चलता। इसके लिए ऐसी कला आवश्यक है जिससे जल तो पार कर जाय, किन्तु लवण पार नहीं करे। ऐसी कलाओं को अर्धप्रवेश्य (Semipermeable) कहते हैं और इनमें कौपर फेरोसाइनाइड की बनी सर्वोत्तम होती है। फिर भी व्यवहारतः व्यापनभार का मापन अतीव कठिन कार्य है।

विलयनों के व्यापनभार का तुलनात्मक अध्ययन रक्तकणों या वनस्पति-कोषाणुओं पर उनके प्रभाव को देखकर किया जाता है। इस दृष्टिकोण से विलयनों के तीन वर्ग किये गये हैं :—

१. अतिभारिक (Hypertonic)
२. अल्पभारिक (Hypotonic)
३. समभारिक (Isotonic)

यदि अतिभारिक विलयनों के सम्पर्क में रक्तकण आवें तो उनका द्रवभाग आकर्षित होकर बाहर निकल जाता है और वे सूख जाते हैं। यदि विलयन

अल्पभारिक होता है तो रक्तकण जल को आकर्षित कर फूल जाते और फट जाते हैं। सम‍भारिक विलयन यथा सामान्य लवण-विलयन से उपर्युक्त कोई प्रभाव नहीं होता।

निःस्यन्दन (Filtration)

द्रव पदार्थ कलाओं के द्वारा यान्त्रिक या जलीय दबाव के अन्तर से भी गति करते हैं। इसमें कला के द्वारा विलीन पदार्थ पार कर निकल जाता है और दोनों ओर विलयन की सान्द्रता समान ही होती है।

शरीरक्रियासम्बन्धी उपयोगः—

उपर्युक्त विचार शरीरक्रिया-विज्ञान की दृष्टि से अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं। शरीर में विविध वस्तुओं के जलीय विलयन स्थित हैं जो एक दूसरे से कलाओं के द्वारा पृथक् हैं यथा केशिकाओं का अन्तःस्तर जो रक्त को लसीका से पृथक् करता है, वृक्कनलिकाओं का आवरक स्तर रक्त और लसीका को मूत्र से पृथक् करता है। इसी प्रकार की आवरक कला स्रावक ग्रंथियों में है। ऐसी ही पाचन नलिका की भीतरी दीवाल है जो पाचित आहार को रक्तवह स्रोत एवं पयस्विनी नलिकाओं से पृथक् करती है। अतः लसीकानिर्माण, मूत्र आदि मलों एवं स्रावों का निर्माण, रस का शोषण इन महत्वपूर्ण विषयों के सम्बंध में उन नियमों पर अवश्य ध्यान रखना चाहिये जो जल तथा उसमें विलीन पदार्थों की गति को नियंत्रित करते हैं। शरीर में व्यापन और निःस्यंदन दोनों क्रियायें होती हैं। इनके अतिरिक्त, जिन सजीव कोषाणुओं से कलायें बनती हैं उनकी अपनी विशिष्ट स्रावक या चयनात्मक क्रिया होती है। इसे 'जीवनक्रिया' भी कहते हैं। निःस्यंदन, व्यापन प्रभृति के नियम सुविज्ञात हैं और उनकी प्रयोगों द्वारा परीक्षा भी हो चुकी है; किन्तु सजीव कलाओं में इनके अतिरिक्त एक अन्य शक्ति होती है। संभवतः यह सजीव वस्तुओं का कोई भौतिक या रासायनिक गुण है जो अभी तक निर्जीव जगत् में कार्य करने वाले रासायनिक या भौतिक नियमों के समकक्ष नहीं लाया जा सका है। इसका अस्तित्व भी अस्वीकृत नहीं किया जा सकता, क्योंकि कभी कभी यह व्यापन एवं निःस्यंदन की सुविदित शक्तियों को भी बाधित कर देता है।

ज्यों-ज्यों लसीका-निर्माण और ग्रन्थिगत स्राव का अध्ययन किया जाता है त्यों त्यों यह प्रकट होता जाता है कि केवल व्यापन और निःस्यन्दन उन क्रियाओं को पूर्ण रूप से स्पष्ट नहीं कर सकते। यद्यपि क्रिया का आधार भौतिक ही है, तथापि सजीव कोषाणुओं का यह कार्य निर्जीव कला के समान नहीं होता बल्कि उनमें एक विशिष्ट चयनात्मक क्रिया होती है जिससे वे कुछ पदार्थों को चुन लेते हैं और उन्हें पार जाने देते हैं और शेष को नहीं जाने

देते। कुछ अंशों में इसका कारण यह भी है कि कुछ विद्युदणुओं के लिए प्रवेश्यता अपेक्षाकृत अधिक होती है। इस विषय की विस्तृत गवेषणा हेम्बर्गर नामक विद्वान् ने की है।

वस्तुतः वस्तुओं के यातायात के संबंध में चुनाव करने की यथार्थ क्षमता कोषाणुओं में होती है या नहीं यह विवादास्पद विषय है। यह देखा गया है कि विभिन्न विद्युदणुओं के प्रभाव से कोषाणु की प्रवेश्यता में अनेक परिवर्तन हो जाते हैं। विद्युदणुओं की विद्युच्छक्ति कोषाणुओं से वस्तुओं के यातायात के सम्बन्ध में एक प्रमुख कारण हो सकती है। रोग की अवस्थाओं में विद्युदणुओं के प्राकृत सम्बन्धों में अन्तर हो जाने के कारण कोषाणु की प्रवेश्यता में भी परिवर्तन हो जाता है और कोषाणु की क्रिया विकृत हो जाती है। इस प्रकार कोषाणु की प्रवेश्यता को प्रभावित करने वाले कारणों में विद्युच्छक्ति प्रमुख है। इसके अतिरिक्त अणुओं का आकार, विलयनशक्ति, पृष्ठभार आदि कारणों का भी इस पर प्रभाव पड़ता है। उदाहरणार्थ, सत्वशर्करा प्राकृत अवस्था में मनुष्य के रक्त में रहती है, किन्तु पूर्णतः वह रक्तरस में ही स्थित होती है क्योंकि रक्तकण उसके लिये अप्रवेश्य होते हैं। मधुमेह रोग में रक्तकण प्रवेश्य हो जाते हैं।

कोषाणवीय कलाओं के द्वारा विलीन द्रव्यों के प्रसरण के सिद्धान्त में कोषाणु के आवरण की रचना के अनुसंधानों से पर्याप्त सहायता मिली है। पहले यह समझा जाता था कि कला के द्वारा पिच्छिल द्रव्यों का प्रसरण नहीं होता क्योंकि उन द्रव्यों के अणु बड़े होते हैं और वे कला से छोटे छिद्रों को पार नहीं कर सकते। इस प्रकार कला चलनी के सदृश काम करती है। किन्तु इससे रहस्य का पूर्ण उद्घाटन नहीं होता। अब यह माना जाता है कि इसमें विलयन शक्ति का प्रमुख भाग होता है। कला उन्हीं द्रव्यों के लिए प्रवेश्य होती है जो कला की वस्तु में विलेय होते हैं। इस प्रकार की विलेयता में रासायनिक संयोग हो सकता है या अधिशोषण (Adsorption) की क्रिया हो सकती है। अधिशोषण की क्रिया विशेषतः वहीं होती है जहाँ पोषक पदार्थों का कोषाणुओं के द्वारा ग्रहण मांसतत्व-विलयन के माध्यम से होता है जो कला के स्नेहाणुओं के मध्यवर्ती अवकाश में होकर आता है। मद्यसार, ईथर, क्लोरोफार्म प्रभृति द्रव्यों की प्रवेश्यता मुख्यतः इस बात पर निर्भर होती है कि वे कला के स्नेहयुक्त पदार्थों में कहां तक विलेय हैं। इन संज्ञाहर द्रव्यों का कोषाणुओं पर मादक प्रभाव कैसे पड़ता है, इसके संबंध में स्थापित मेयर-ओवर्टन सिद्धान्त (Meyer-overton theory) का आधार भी यही है।

शोषण की प्रक्रिया पूर्णतः नहीं तो अधिकांश भौतिक सिद्धान्तों पर निर्भर करती है। परिस्रुत जल और शीघ्र प्रसरणशील द्रव्य रक्त और लसीका में शीघ्र पहुँच जाते हैं किन्तु यदि अतिभारिक लवण-विलयन अन्त्र में दिया जाय तो रक्त से जल निकल कर अन्त्र में आने लगता है। कुछ रेचन पदार्थों यथा सलफेट का प्रभाव इसी प्रकार होता है जिनका शोषण क्लोराइड के समान शीघ्र नहीं होता। यह देखा गया है कि यदि अन्त्र की सजीव आवरक कला पृथक् कर दी जाय तो शोषण की क्रिया लगभग बन्द हो जाती है।

विशद द्रव्यों का व्यापनभार पर्याप्त होता है। किन्तु शीघ्र प्रसरणशील होने के कारण शरीर में जल के प्रवाह पर उनका प्रभाव सीमित होता है। उदाहरणार्थ, यदि लवण का तीव्र विलयन रक्त में दिया जाय तो शीघ्र धातुओं से रक्त की ओर व्यापन प्रवाह प्रारम्भ हो जायगा। उसके बाद जब लवण धातुओं में चला जायगा तो वह विपरीत दिशा में व्यापन भार उत्पन्न करेगा। किन्तु ये दोनों प्रभाव अस्थायी होंगे, क्योंकि लवण का आधिक्य शीघ्र ही मलोत्सर्जक अंगों द्वारा दूर हो जायगा।

मांसतत्त्वों का व्यापनभार

रक्त के संबन्ध में मांसतत्त्वों का व्यापनभार महत्त्वपूर्ण है जो ३० मिलीमीटर होता है। यही कारण है कि उदरावरणगुहा से प्रसरणशील विशद द्रव्य का समभारिक या अतिभारिक विलयन पूर्णतः रक्त में शोषित हो जाता है। इस व्यापनभार में कुछ लवण पदार्थों का भी भाग होता है जो मांसतत्त्वों के साथ मिले होते हैं।

धातुओं की प्राकृत क्रिया के परिणामस्वरूप मांसतत्त्व यूरिया, सलफेट और फास्फेट प्रभृति सरल घटकों में विश्लेषित होते रहते हैं। ये पदार्थ लसीका में जाकर उसकी आणविक सान्द्रता और व्यापनभार बढ़ा देते हैं, इसलिए जल रक्त से लसीका की ओर आकर्षित होता है और लसीका का आयतन एवं प्रवाह बढ़ जाते हैं। दूसरी ओर, जब इन द्रव्यों का लसीका में अधिक सञ्चय हो जाता है और रक्त की अपेक्षा उसकी सान्द्रता बढ़ जाती है, तब वह रक्त की ओर जाने लगते हैं जिसके द्वारा वे मलोत्सर्जक अंगों में चले जाते हैं।

किन्तु मांसतत्त्वों के संबन्ध में एक और कठिनाई है। वे धातुओं के पोषण के लिए अत्यावश्यक हैं, किन्तु उनमें प्रसरण का गुण एकदम नहीं होता। अतः यह मानना पड़ेगा कि लसीका में उनकी उपस्थिति रक्त से निःस्यन्दन के कारण होती है। यह मांसतत्त्वों के व्यापनभार का ही प्रभाव है कि रक्तगत द्रवांश रक्तवह स्रोतों को छोड़ कर बाहर नहीं चला आता।

केशिकाओं में इस दबाव का सन्तुलन होता है। एक ओर, रक्त का भार तथा धातुगत द्रव पदार्थों का भार होता है जो रक्तवह स्रोतों से द्रवपदार्थों का वहन करते हैं तथा दूसरी ओर, इसके विरोध में रक्त का व्यापनभार होता है जो लवणों और मांसतत्वों के कारण होता है। सन्तुलन बड़ा नाजुक होता है क्योंकि केशिकाभार में वृद्धि होने से अधिक द्रव पदार्थ धातुओं में पहुंच जाता है और शोथ उत्पन्न हो जाता है। इसके विपरीत, रक्तस्राव आदि अवस्थाओं में जब केशिकाभार कम हो जाता है तब धातुओं से द्रव पदार्थ रक्त में चला आता है। वृक्करोगों में जब मूत्र में अधिक मांसतत्व जाने लगता है, विशेषतः सीरम अलब्यूमिन जिसके अणु छोटे तथा व्यापनभार अधिक होता है, तब भी शोथ हो जाता है जिसका कारण कुछ अंशों में पिच्छिले द्रव्य की कमी है।

सामूहिक क्रिया का नियम (The lawof mass action)

यह नियम पाचन-प्रक्रियाओं के सम्बन्ध में विशेष महत्वपूर्ण है जिनसे आहारद्रव्यों का विश्लेषण होता है और नये-नये धातुओं का निर्माण होता है।

इस नियम का स्वरूप यह है कि किसी प्रतिक्रिया का क्रम एक निश्चित आयतन में क्रियाशील द्रव्यसमूह के अनुपात से होता है अर्थात् प्रतिक्रिया का क्रम क्रियाशील द्रव्यसमूह की सान्द्रता पर निर्भर करता है।

पृष्ठभार (Surface tension)

द्रव पदार्थ के पृष्ठभाग में कुछ ऐसे गुणधर्म होते हैं जो उसके अवशिष्ट भाग में नहीं होते, क्योंकि उसके भीतरी भाग में वस्तु की व्यवस्था चारों ओर एक निश्चित क्रम से होती है किन्तु पृष्ठभाग में द्रव पदार्थ एक ही ओर होता है। गैस में, उसके अणु एक दूसरे के आकर्षक प्रभाव से रहित होते हैं और तीव्र वेग से इधर-उधर दौड़ते रहते हैं जिससे उसके आधारभूत पात्र की दीवाल पर दबाव पड़ता है। द्रव पदार्थ में, अणुओं का पारस्परिक आकर्षण अधिक होता है, इसलिए वह एक निश्चित आयतन में बना रहता है। उसके अणुओं को पृथक् करने तथा द्रव को गैस में परिणत करने के लिए अधिक शक्ति की आवश्यकता होती है जो वाष्पीभवन से अव्यक्त ताप के रूप में मिलती है। इस प्रकार द्रव पदार्थ में आणविक आकर्षण अधिक होता है जिसके कारण पृष्ठ भाग का अणु भीतर की ओर खिंचा रहता है। इस खिंचाव के फलस्वरूप पृष्ठ भाग एक विस्तृत स्थितिस्थापक त्वचा का कार्य करता है। पृष्ठ भाग के इस दबाव को पृष्ठभार कहते हैं। पृष्ठभार का प्रभाव जलबिन्दु में स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है। इसके पृष्ठभाग में कोई दबाव नहीं होने के कारण वह अधिक कुंचित होकर गोलाकार हो जाता और बिन्दु का आकार ग्रहण करता है।

प्राणिकोषाणु भी द्रव हैं और विश्राम-काल में वे गोलाकार होते हैं। इसकी आवरक कला भी पृष्ठभारयुक्त होती है। यह कला शारीर क्रियाओं में महत्त्वपूर्ण योग देती है। उदाहरणार्थ, अमीबा में मिथ्यापाद का निःसरण कोषाणुप्रान्त के विभिन्न भागों में पृष्ठभार के अन्तर के कारण ही होता है। ओजःसार एक सामान्य द्रव नहीं है, बल्कि उसमें विविध रासायनिक संघटन-वाले द्रव्य होते हैं। अतः ऐसे द्रव्य जो पृष्ठभार को कम करते हैं सदैव पृष्ठ भाग पर ही संचित होते हैं। स्नेह और उपस्नेह पृष्ठभार को कम करने वालों में मुख्य हैं, इसीलिए वे कोषाणु में अन्य भागों की अपेक्षा आवरक कला में अधिक परिमाण में होते हैं।

अधिशोषण (Adsorption) :—

द्रव पदार्थ में विलीन कोई द्रव यदि किसी पृष्ठ के संपर्क में आवे, तो वह उस पृष्ठ पर केन्द्रित हो जाता है इसी को अधिशोषण कहते हैं। किण्वतत्त्वों द्वारा पाचन में यह प्रक्रिया अधिक सहायक होती है। किण्वतत्त्व पिच्छिल होते हैं और उनके पृष्ठभाग विस्तृत होते हैं अतः तनु अम्ल और क्षार उनके संपर्क में केन्द्रित हो जाते हैं और उनकी क्रिया तीव्र हो जाती है।

जलविलायन (Hydrotrophy)

जल में अविलेय द्रव्यों को जल में घुलाने को जलविलायन कहते हैं। इस वर्ग में पित्तलवण, लेसिथिन आदि आते हैं।

—

प्रथम खण्ड

धातुविज्ञानीय

प्रथम अध्याय

कोषाणु (Cell)

सृष्टिके अन्य पदार्थों के समान मानवशरीर भी विश्वकलाकार की एक रहस्यमय रचना है। जिस प्रकार ईंटों के समूह से बड़ी-बड़ी अट्टालिकायें खड़ी हो जाती हैं, उसी प्रकार प्राणियों का शरीर भी ऐसे ही सूक्ष्म अवयवों के संयोग से निर्मित होता है। शरीर के इन सूक्ष्म आरम्भक भागों को 'कोषाणु' कहते हैं।[1] छोटे शरीरवाले प्राणियों में इनकी संख्या कम तथा बड़े शरीरवाले प्राणियों में इनकी संख्या अधिक होती है। कुछ प्राणी ऐसे भी होते हैं जिनका शरीर केवल एक कोषाणु से ही बना होता है। इस प्रकार कोषाणुओं की संख्या के अनुसार प्राणियों के दो विभाग किये जा सकते हैं :—

(१) एककोषाणुधारी-(Unicellular)–यथा अमीबा, ऐल्गी आदि।

(२) बहुकोषाणुधारी- (Multicellular)–यथा मनुष्य, घोड़ा आदि।

एककोषाणुधारी प्राणियों में जीवन की सारी क्रियायें एक ही कोषाणु के द्वारा संपादित होती हैं। यथा अमीबा एक ही कोषाणु से भोजन भी ग्रहण करता, श्वसन का कार्य भी करता और मलोंको भी बाहर निकालता है। इस प्रकार कोषाणु (शरीरपरमाणु) में दोष, धातु और मल तीनों की क्रिया स्पष्ट रूप से मिलती है। विकासक्रम से जब कोषाणुओं की संख्या बढ़ती जाती है, तब इनका कार्य भी विभाजित होता जाता है। इस प्रकार 'जब समान कार्य करनेवाले कोषाणु एकत्रित होकर क निश्चित शरीर रचनाओं का निर्माण करते हैं, तब उन्हें यन्त्र या अंग (Organs) कहते हैं। ये यन्त्र अपने-अपने विशिष्ट कार्य का सम्पादन करते हैं, किन्तु इनके कार्य निरपेक्ष रूप से न होकर अन्य यन्त्रों के सहयोग के आधार पर ही होते हैं। ऐसे समान क्रियावाले सहयोगी अङ्गों के समूह को 'तन्त्र' या 'संस्थान' (System) कहते हैं। वायु को तन्त्र और यन्त्र का धारण करनेवाला कहा गया है।[2] शरीर में विभिन्न कार्यों के सम्पादन के लिए निम्नलिखित तन्त्र हैं :—

(१) पाचनतन्त्र (Digestive system) :—इसका कार्य आहार का पाचन करना है जिससे उसका सात्मीकरण शरीर में हो सके।

---

१. 'शरीरावयवास्तु परमाणुभेदेनापरिसंख्येयाः भवन्त्यतिबहुत्वादतिसौक्ष्म्यादतीन्द्रियत्वाच्च; —च० शा० ७।१९

२. वायुस्तन्त्रयन्त्रधरः —च. सू. १२।८

(२) श्वसनतन्त्र (Respiratory system) :—इसका कार्य बाह्य वायुमंडल से ऑक्सिजन (विष्णुपदामृत) ग्रहण करना तथा कार्बन डाइऑक्साइड को बाहर निकालना है।

(३) रक्तवहतन्त्र (Circulatory system) :—इसका कार्य पोषक पदार्थ को शरीर के धातुओं तक पहुँचाना है।

(४) मलोत्सर्गतन्त्र (Excretory system) :—इसका कार्य शरीर की प्राकृत क्रियाओं के परिणामस्वरूप उत्पन्न मलों को शरीर से बाहर निकालना है।

(५) पेशीतन्त्र (Muscular system) :—अङ्गों में गति (चेष्टा) उत्पन्न करना इसका कार्य है।

(६) अस्थितन्त्र (Skeletal system) :—यह शरीर को स्थिर करता है तथा उसके कोमल अवयवों की रक्षा करता है।

(७) नाडीतन्त्र (Nervous system) :—यह अन्य तन्त्रों की क्रियाओं का संचालन, नियन्त्रण एवं नियमन करता है।

(८) प्रजननतन्त्र (Reproductive system)—यह सन्तति उत्पन्न करने का कार्य करता है।

(९) ग्रन्थितन्त्र (Glandular system) :—यह विभिन्न स्रावों के द्वारा शरीर की क्रियाओं में सहायता पहुँचाता है।

आयुर्वेदिक दृष्टि से वात, पित्त और कफ (त्रिदोष) सर्वशरीरचर होते हुये भी कुछ तन्त्रों में इनकी क्रिया विशेष रूप से दृष्टिगोचर होती है यथा—

वात—मलोत्सर्गतन्त्र, पेशीतन्त्र, अस्थितन्त्र तथा नाडीतन्त्र में

पित्त—पाचनतन्त्र आदि में

कफ—श्वसनतन्त्र, ग्रन्थितन्त्र आदि में

आयुर्वेद में स्रोतों की दृष्टि से भी वर्गीकरण किया गया है। प्राण उदक और अन्न, सप्तधातु तथा तीन मुख्य मल (मूत्र, पुरीष और स्वेद) इनके लिए पृथक्-पृथक् स्रोत माने गए हैं। स्रोत और उसके मूलों को मिलाकर आधुनिक दृष्टि से एक तन्त्र बन जाता है। इस प्रकार यदि विचार करें तो निम्नांकित तेरह तन्त्र होते हैं :—

१. प्राणवह तन्त्र
२. उदकवह तन्त्र
३. अन्नवह तन्त्र
४. रसवह तन्त्र
५. रक्तवह तन्त्र
६. मांसवह तन्त्र
७. मेदोवह तन्त्र
८. अस्थिवह तन्त्र
९. मज्जवह तन्त्र
१०. शुक्रवह तन्त्र
११. मूत्रवह तन्त्र
१२. पुरीषवह तन्त्र
१३. स्वेदवह तन्त्र

जिस प्रकार शरीर का आरंभक भाग कोषाणु माना गया है उसी प्रकार शरीर को स्रोतों का समुदय मानते हैं[1] बिना इनके कोई क्रिया संभव नहीं।

कोषाणु की रचना

वस्तुतः जीवकोषाणु ओजःसार का 'केन्द्रकयुक्त समूह'[2] है। इसकी रचना अतीव सूक्ष्म होती है और अणुवीक्षण यन्त्र से ही देखी जा सकती है। आज-कल इलेक्ट्रोन माइक्रोस्कोप (परमाणुवीक्षणयंत्र) के द्वारा इसी रचना का स्पष्ट एक विस्तृत अध्ययन किया गया है। मनुष्य शरीर में इसका व्यास $\frac{१}{३०००}$ से $\frac{१}{३००}$ इंच तक होता है। इसमें निम्नलिखित अवयव होते हैं :—

(१) कोषाणु-आवरण (cell-Membrane)

(२) ओजःसार (Protoplasm)—यह कोषाणु का मुख्य भाग होता है, जो समूचे कोषाणु में भरा रहता है।

(३) केन्द्रक (Nucleus)—यह कोषाणु के केन्द्र में पाया जाता है।

(४) आकर्षक-मण्डल और आकर्षक-बिन्दु (Centrosome and Centriole)—यह ओजःसार में केन्द्रक के निकट स्थित रहते हैं।

(५) मितकेन्द्र (Mitochondria)

(६) सूक्ष्मकण (Microsomes)

(७) गॉल्गी समूह (Goigi apparatus)

(८) जालकसार (Endoplasmic reticulum and Ergastoplasm)

(९) आकाश-देश (Vacuoles)

कोषाणु-आवरण

यह एक अत्यन्त पतली विभाजक कला है जो कोषाणु को बाह्य वातावरण से पृथक् करती है। चूंकि कोषाणु के बाह्य तथा आभ्यन्तर संघटन में पर्याप्त अन्तर होता है अतः पहले भी इसके अस्तित्व का अनुमान किया जाता था किन्तु इलेक्ट्रोन माइक्रोस्कोप के आविष्कार के बाद उसके सहारे इसकी रचना का स्पष्ट ज्ञान हुआ और इसके संबन्ध में विस्तृत प्रकाश पड़ा। रासायनिक दृष्टि से इसमें प्रोटीन तथा स्नेहद्रव्य १:७० के आणविक अनुपात में रहते हैं। इस कला के द्वारा जल तथा जल में विलेय द्रव्य पार कर कोषाणु के भीतर आते हैं और वहाँ से बाहर निकलते हैं। इस प्रकार ओषजन, कार्बन डाइआक्साइड, ग्लुकोज तथा एमिनो-एसिड का कोषाणु में

---

१. स्रोतसामेव समुदयं पुरुषमिच्छन्ति—च. वि. ५।४

२. ओजःसारसमाहार आवृतश्च सकेन्द्रकः।
देहस्यारम्भको भागो भवनस्येष्टकं यथा॥
ओजः प्राणाश्रयः सूक्ष्मो जीवकोषाणुरुच्यते। स्व.

आवागमन होता है। किन्तु कोषाणु की यह प्रवेश्यता सामान्यतः सभी के लिए न होकर विशिष्ट द्रव्यों के लिए होती है। यह क्रिया कोषाणवीय, किण्व द्रव्यों (enzymes) से नियन्त्रित होती है जो आवरण के पृष्ठ भाग में स्थित होकर कुछ द्रव्यों को कोषाणु के भीतर आने देते, कुछ को नहीं आने देते और कुछ को कोषाणु के भीतर से बाहर निकाल देते हैं। इसके अतिरिक्त, कोषाणु-आवरण के पृष्ठभाग में विशिष्ट ग्राहक केन्द्र होते हैं जहाँ विशिष्ट हार्मोन या औषधद्रव्य संयुक्त होकर अपनी क्रिया करता है।

ओजःसार

यह एक अर्धद्रव पिच्छिल[1] पदार्थ है, जो संपूर्ण कोषाणु में भरा रहता है। बाहर की अपेक्षा भीतर का भाग अधिक द्रव होता है। परिस्थितियों के अनुसार इसकी अवस्था में परिवर्तन होते रहते हैं और तदनुसार इसकी रचना में
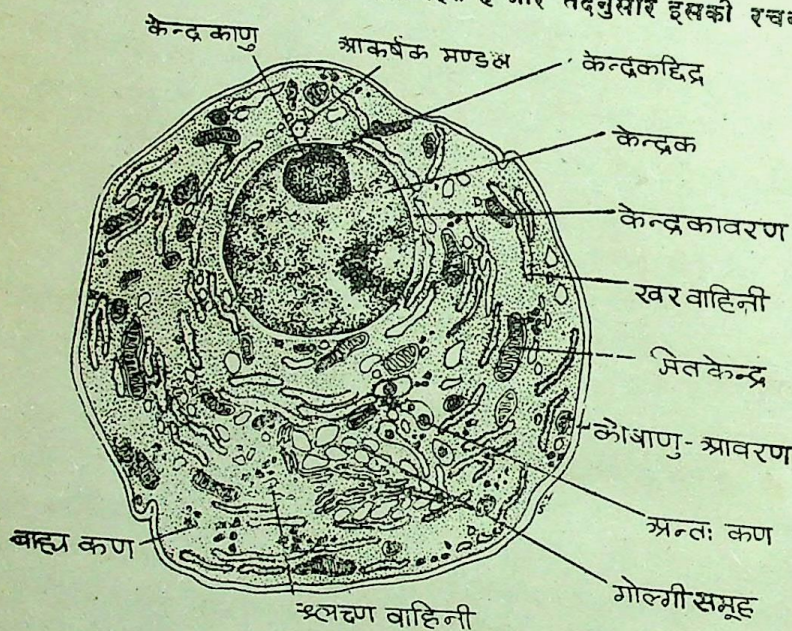
चित्र ३—जीवकोषाणु

विभिन्नता दिखलाई देती है। अवस्थाओं के अनुसार यह कभी स्वच्छ, कभी कणयुक्त, कभी फेनिल,-कभी जलाकार और कभी सूत्रमय दिखलाई देता है। रचना की परिवर्तनशीलता के कारण इसके स्वरूप के सम्बन्ध में विद्वानों में अनेक मत प्रचलित हैं, किन्तु अधिकांश जालाकार रचना के ही पक्ष में हैं। इसके अनुसार ओजःसार के दो भाग होते हैं :—जालकसार और स्वच्छसार।

१. प्रथमे जायते ह्योजः शरीरेऽस्मिन् शरीरिणाम्।
सर्पिर्वर्णं मधुरसं लाजगन्धि प्रजायते॥
—च० सू० १७।६

भिन्न भिन्न कोषाणुओं में दोनों के अनुपात में भेद होता है। नवजात कोषाणुओं में प्रायः स्वच्छसार अधिक और जालकसार बहुत कम होता है, किन्तु ज्यों ज्यों कोषाणुओं के आकार में वृद्धि होती जाती है, त्यों त्यों जालकसार की मात्रा बढ़ती जाती है। स्वच्छसार में कुछ अन्य वस्तुओं के कण भी पाये जाते हैं, जिनमें स्नेहद्रव्य, प्रोटीन, प्रभाकण, रंगकण, शर्कराजनक, खनिज तथा जीवनीय द्रव्य मुख्य हैं।

ओजःसार का रासायनिक संघटन

परिवर्तनशीलता तथा कोमलता के कारण जीवित अवस्था में कुछ भी इसके सम्बन्ध में पता लगाना असम्भव है। ओजःसार का रासायनिक संघटन निम्नलिखित है :—

(१) जल—$\frac{3}{4}$ (२) ठोस पदार्थ—$\frac{1}{4}$

ठोस पदार्थों में निम्नलिखित उल्लेखनीय हैं :—

(क) खनिज लवण—विशेषतः सोडियम, पोटाशियम और कैलसियम के फास्फेट और क्लोराइड।

(ख) मांसतत्त्व। (ग) स्नेह।

(घ) शाकतत्त्व—श्वेतसार और शर्करा।

इससे स्पष्ट है कि यह सभी धातुओं का साररूप है तथा इसमें शरीर के लिए उपादेय सभी तत्त्व पाये जाते हैं।[1]

ओजःसार के गुणकर्म

ओजःसार जीवन का मूल तत्त्व है। उसके जीवित रहने पर ही शरीर में जीवन के लक्षण पाये जाते हैं और उसके निर्जीव हो जाने पर शरीर का जीवन भी नष्ट हो जाता है।[2] जीवन के लक्षण पहले कहे गये हैं जिनमें उत्तेजनीयता, आहरण, वृद्धि, मलोत्सर्ग तथा उत्पादन प्रमुख है[3]।

आयुर्वेदिक दृष्टि से वात, पित्त और कफ ये त्रिदोष सर्वशरीरचर हैं और प्रत्येक कोषाणु में स्थित हैं। इन्हींके कारण कोषाणुओं की विभिन्न क्रियायें होती हैं। इस दृष्टि से उत्तेजनीयता और मलोत्सर्ग वात के द्वारा,

---

१. 'रसादीनां शुक्रान्तानां यत् परं तेजस्तत् खल्वोजः। सु० सू० १५।१९

२. हृदि तिष्ठति यच्छुद्धं रक्तमीषत्सपीतकम्।
ओजः शरीरे संख्यातं तन्नाशान्ना विनश्यति॥ —च० सू० १७।७५

३. उत्तेजनीयताहारो वृद्धिरुत्पादनं तथा।
मलोत्सर्गश्च विज्ञेयमोजःसारस्य लक्षणम्॥—स्व०

आहरण (आदान) पित्त के द्वारा तथा वर्धन और उत्पादन (विसर्ग) कफ के द्वारा होते हैं।[1]

केन्द्रक

स्वरूप—यह गोल या अंडाकार होता है और प्रायः कोषाणु के बीच में पाया जाता है। कभी कभी इसका आकार अनियमित होता है और कुछ कोषाणुओं में एक से अधिक केन्द्रक मिलते हैं।

रचना—सबसे बाहर की ओर दोहरा केन्द्रकावरण (Nuclear membrane) होता है। इसमें अत्यन्त सूक्ष्म छिद्र होते हैं जिनके द्वारा कोषाणवीय ओजःसार से इसका संबन्ध बना रहता है। इसके भीतर दो भाग होते हैं। एक कोषसार की भाँति स्वच्छ, पिच्छिल और अर्धद्रव पदार्थ होता है जो केन्द्रक में भरा रहता है, इसको केन्द्रकसार (Karyoplasm) कहते हैं। दूसरा भाग सूत्रों का बना होता है जो केन्द्रकसार में जाल की भाँति फैले रहते हैं यह केन्द्रकसूत्र (Chromoplasm या Chromatin Threads) कहलाते हैं। इन सूत्रों को रंजित करने से इन पर गहरे रंग की सूक्ष्म ग्रन्थियाँ दिखाई देती हैं, जो क्रोमेटिन नामक वस्तु की बनी होती हैं। केन्द्रक के भीतर एक बड़ा गोल कण पाया जाता है, जिसको केन्द्रकाणु (Nucleous) कहते हैं। कभी कभी इसकी संख्या अनेक होती।

उपादानतत्त्व—केन्द्रक में डी-ऑक्सिराइबोन्यूक्लिक अम्ल (DNA) नामक विशिष्ट केन्द्रकाम्ल (Nucleic acid) होता है जो कुलज गुणों का संवहन करता है तथा जिसके द्वारा कोषाणवीय संघटन कार्य नियंत्रित होता है।

कार्य—कोषाणु के पोषण और विभजन का नियन्त्रण केन्द्रक के द्वारा होता है। अतः कोषाणु की वृद्धि, उत्पादन सब क्रियायें केन्द्रक पर ही अवलम्बित रहती हैं। कोषाणु के क से दो होने के समय केन्द्रक दो में विभक्त हो जाता है तथा उसके अन्तर्गत क्रोमोजोम भी द्विविभक्त होकर दोनों कोषाणुओं के केन्द्रक में अवस्थित होते हैं जिससे प्रत्येक कोषाणु में इनकी संख्या समान होती है। यदि कोषाणु से केन्द्रक को पृथक् कर दिया जाय, तो इसकी मृत्यु हो जायगी। कुलज गुणों का संवहन भी इसका मुख्य कार्य है।

केन्द्रकाणु के कार्य के सम्बन्ध में अभी तक कोई सिद्धान्त स्थिर नहीं हुआ है। कुछ विद्वान् इसका कार्य कोषाणुविभजन के समय क्रोमोजोमों के

---

१. 'विसर्गादानविक्षेपैः सोमसूर्यानिला यथा।
धारयन्ति जगद्देहं कफपित्तानिलास्तथा॥' —सु० सू० २१।८

निर्माण के लिए आवश्यक वस्तुओं का संग्रह मानते हैं। दूसरे लोग यह मानते हैं कि यह केन्द्रक के त्याज्य भाग हैं, जो उससे पृथक् हो कोषसार में जाने पर वहाँ नष्ट हो जाते हैं।

आकर्षक मण्डल

यह सब कोषाणुओं में नहीं पाया जाता। जिनमें विभजन और उत्पत्ति होती है, उनमें यह अवश्य पाया जाता है। इसके बीच में एक बिन्दु होता है, जिसे 'आकर्षक बिन्दु' कहते हैं। इसमें ओजःसार को अपनी ओर आकर्षित करने की शक्ति होती है, जिससे इसके चारों ओर सूर्य या चन्द्रमा के समान रश्मियों का एक मण्डल निकलता हुआ दिखलाई देता है। कोषाणुओं के विभजन के पूर्व ही इसका दो भागों में विभाग हो जाता है।

कार्य—आकर्षक बिन्दु कोषाणुओं के विभजन में प्राथमिक प्रेरणा प्रदान करता है।

मितकेन्द्र

इसका आकार कोषाणुओं के अनुसार होता है किन्तु सामान्यतः यह दण्डाकार होता है। इसका बाह्य आवरण दोहरा होता है। भीतरी आवरण से अन्दर की ओर अंकुरवत् प्रवर्धन निकले रहते हैं जिनके द्वारा यह अनेक खण्डों में बिभक्त सा हो जाता है।

कर्म—यह कोषाणु का शक्ति-केन्द्र है। यहाँ पर आहार के मौलिक तत्वों का ओषजनीकरण होता है जिससे शक्ति उत्पन्न होती है। इस शक्ति के द्वारा ऐडिनोसिन ट्राइफास्फेट (A. T. P.) का निर्माण होता है जो कोषाणु के अन्य भागों को शक्ति प्रदान करता है।

सूक्ष्म कण

वस्तुतः यह जालकसार का ही भाग है। इसमें स्नेह द्रव्य तथा प्रोटीन का आधिक्य होता है। कोषाणु में स्थित कुल राइबोन्यूक्लिक अम्ल (R. N. A.) का आधा इसमें स्थित होता है जो सघन कण रूप में इसके पृष्ठ भाग पर स्थित होता है।

कार्य—कोषाणु के अन्तर्गत प्रोटीन-संघटन का कार्य इनके द्वारा नियन्त्रित होता है।

गॉल्गी-समूह

यह केन्द्रक के निकट स्थित होता है। इसमें स्नेह-प्रोटीन का आधिक्य होता है किन्तु राइबोन्यूक्लिक अम्ल नहीं होता।

कार्य :—यह कोषाणु के भीतर किण्व तत्व आदि के संघटन में भाग लेता

है। विषों का प्रभाव सर्वप्रथम इसी पर होता है अतः विष, औषधद्रव्य आदि के प्रभाव का मूल्यांकन करने का यह एक महत्त्वपूर्ण माध्यम है।

जालकसार

इसमें स्रोतस् तथा वाहिनियाँ जालक की रचना बनाती हैं जिनमें राइबोजोम नामक कण पाये जाते हैं। इनमें राइबोन्यूक्लिक अम्ल होता है जो प्रोटीन के संघटन में सहायक होता है। इसका छेदन करने पर इसमे आकाश देश दिखाई देते हैं जो नलिकाओं के संकेत हैं।

आकाश-देश

कोषाणु के भीतर आकाश-देश पाचनयन्त्र का कार्य करता है जिसमें बाह्य तथा आभ्यन्तर वस्तुओं का विघटन होता है। इसके बाद ही नये अवयवों का संघटन संभव होता है।

शरीर-परमाणुओं के संयोग और विभाग में कारणभूत वायु तथा कर्मस्वभाव होता है[1]।

---

१. तेषां संयोगविभागे परमाणूनां कारणं वायुः कर्मस्वभावश्च।

—च. शा. ७।१७

द्वितीय अध्याय

मूलधातु (Tissues)

'धातु' शब्द धा धारणपोषणयोः' धातु से निष्पन्न हुआ है। इससे धातु का कर्म धारण और पोषण सिद्ध होता है। आहाररस से इनका उत्तरोत्तर पोषण भी होता रहता है। अतः पोष्य और पोषक रूप में भी इनका विभाग किया है। आधुनिक विज्ञान में समान आकार तथा कार्यवाले कोषाणुओं के अंग निर्मापक एवं धारक समुदाय को मूलधातु[1] (Tissues) कहते हैं। ये धारक एवं पोष्य धातु हैं। ये पांच प्रकार के बतलाये गये हैं[2] :—

१. आवरक (Epithelial)
२. संयोजक (Connective)
३. कठिन (Sclerous & Skeletal)
४. पेशी (Muscular)
५. नाडी (Nervous)

आवरक मूलधातु

कार्यः—इसका कार्य शरीर के बाह्य एवं आभ्यन्तर पृष्ठों को आच्छादित कर उनकी रक्षा करना है।[3] यह निम्नलिखित स्थानों में पाया जाता है :—

अधिष्ठानः—(१) त्वचा का बाह्य स्तर—इसका कार्य त्वचा को आघात से बचाना है।

(२) श्वासप्रणाली, नासिका और मुखकुहर के अन्तःपृष्ठ—यहाँ इसका कार्य तापक्रम को समान रखना तथा निरन्तर स्राव के द्वारा सारे पृष्ठ को आर्द्र रखना है।

(३) पाचनप्रणाली, आमाशय, अन्त्र, गुदा इत्यादि का अन्तःपृष्ठ—यहाँ उसका कार्य पाचकरसों को बनाना तथा आहाररस का शोषण है।

---

१. कोषाणूनां समाहारः समन्यञ्जनकर्मणाम् ।
कायांगनिर्माणकरो मूलधातुरिति स्मृतः ॥—स्व०

२. संयोजक आवरकः पेशी नाडी तथैव च ।
कठिनः पञ्चधा धातुर्यन्त्रनिर्माणकारकः ॥—स्व०

३. शरीरपृष्ठभागेषु बाह्येष्वाभ्यन्तरेषु च ।
समाच्छादकरूपोऽसौ दृश्यते रक्षणक्रियः ॥—स्व०

(४) शरीर की स्नैहिक गुहायें:—यहाँ उनका कार्य अपने स्निग्ध स्राव द्वारा कला के पृष्ठों को आर्द्र और स्निग्ध रखना है।

(५) जननेन्द्रियों और मूत्रमार्ग का अन्तःपृष्ठ।

(६) शरीर की सब ग्रन्थियों और उनकी नलिकाओं का अन्तःपृष्ठ।

(७) रक्त तथा रसवाहिनी नलिकाओं का अन्तःपृष्ठ।

(८) मस्तिष्क के कोष्ठों का भीतरी आवरण।

(९) सुषुम्ना की मध्य नलिका और उसका अन्तःस्तर।

(१०) ज्ञानेन्द्रियों के अन्तिम सूक्ष्म भाग।

प्रकार:—आवरक मूलधातु कोषाणुओं की एक या अधिक पंक्तियों से बना होता है। इसी आधार पर पहले इसके दो प्रकार किये गये हैं :—

(१) सामान्य (Simple)

(२) स्तरित (Stratified)

कोषाणुओं की एक पंक्ति से बने हुए इस धातु को सामान्य तथा अनेक पंक्तियों से निर्मित इस धातु को स्तरित कहते हैं।

सामान्य आवरक मूलधातु पुनः तीन प्रकार का होता है :—

१. शल्की (Squamous)

२. स्तम्भाकार (Columnar)

३. रोमिकामय (Ciliated)

(१) शल्की :—यह चपटे प्रायः पञ्च या षट्कोणाकार कोषाणुओं से बना होता है। इससे निर्मित कला देखने में 'मोजेक' फर्श के समान दिखलाई देती है। ऐसी कला फुफ्फुस के वायुकोषों में पाई जाती है।
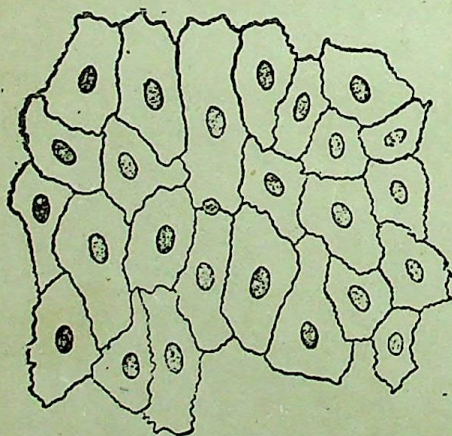
चित्र ४—शल्की आवरक मूलधातु

(२) स्तम्भाकार :—यह लम्बे-लम्बे स्तम्भ के आकार के कोषाणुओं से बना होता है। इस कला से पाचनसंस्थान का श्लैष्मिक स्तर तथा उसकी ग्रंथियों का अन्तःपृष्ठ, मूत्रमार्ग, शुक्रवहनलिका, पौरुषग्रंथिनलिका तथा कुछ अन्य ग्रंथियाँ भी आच्छादित हैं।

कभी कभी इस कला के ऊपरी पृष्ठ के कुछ कोषाणुओं की चौड़ाई अधिक हो जाने से वे मद्यपात्र के समान दिखलाई देने लगते हैं। उनके भीतर 'म्यूसिनोजन' नामक श्लेष्मल पदार्थ भर जाता है। इन्हें 'पिटक कोषाणु, (Goblet Cells) कहते हैं। ये आमाशय, आमाशय की श्लैष्मिक कला, बृहदन्त्र की ग्रंथियों, श्वासमार्ग तथा क्षुद्रान्त्र के अंकुरों को आच्छादित करने वाली उपकलामें अधिक पाये जाते हैं।
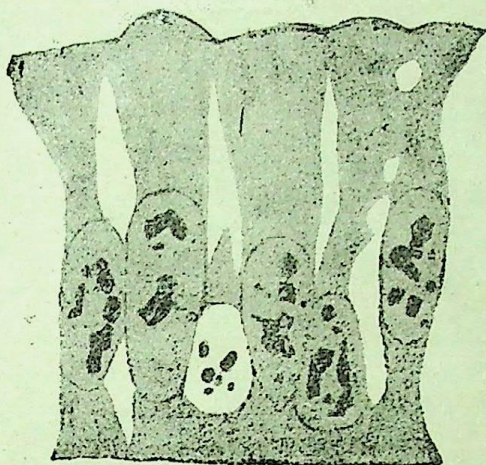
चित्र ५—स्तम्भाकार आवरक मूलधातु

(३) रोमिकामय :—इसके कोषाणुओं के ऊपरी पृष्ठ से अत्यन्त सूक्ष्म गतिसंपन्न सूत्र निकले रहते हैं, जिन्हें 'रोमिका'[1] (Cilia) कहते हैं। रोमिकाओं की संख्या के संबंध में मतभेद है, तथापि इनकी संख्या १ से २४ तक हो सकती है। इन रोमिकाओं से अत्यंत सूक्ष्म धातु कोषाणु के दूसरे सिरे तक जाते हुये दिखाई देते है। संपूर्ण श्वासमार्ग, श्रोत्रगुहा, श्रोत्रनलिका, शुक्रवाहिनी, गर्भाशय का गात्र और उसकी गुहा, डिम्बवह नलिकायें, मस्तिष्क के कोष्ठ और सुषुम्नाकाण्ड की मध्यनलिका इसी से आच्छादित है।
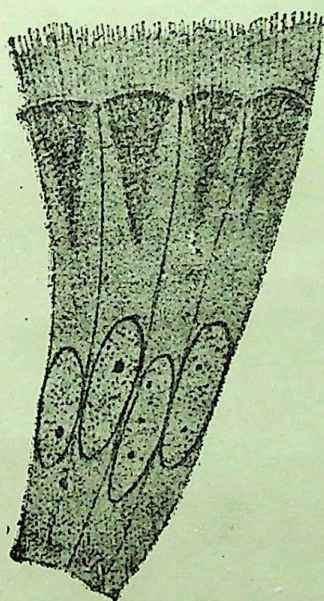
चित्र ६—रोमिकामय आवरक धातु

स्तरित आवरक मूलधातु कोषाणुओं की कई पंक्तियों का बना होता। इसमें नीचे के कोषाणु स्तम्भाकार और ऊपर के चपटे होते हैं। यह त्वचा, नेत्रा·

---

१. रोमिकाः गतिसंपन्ना ओजःसार-विनिर्मिताः।
दृश्यन्ते तृणधान्यान्नपवनेरितवृन्तवत् ॥—स्व०

च्छादनी, नासिका, मुखकुहर, ग्रसनिका के अधोभाग और पाचनप्रणाली में पाया जाता है।
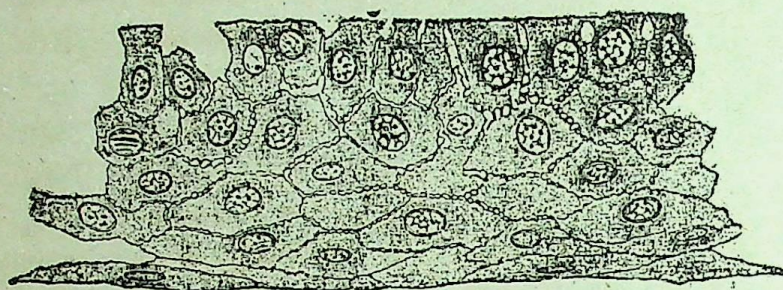
चित्र ७—स्तरितर आवरक मूलधातु

आवरक मूलधातु का आयुर्वेदोक्त त्वचा और कला[1] में समावेश होता है।

संयोजक मूलधातु (Connective tissue)

इस मूलधातु का कार्य विभिन्न मूलधातुओं एवं भागों को परस्पर जोड़ना है[2]। शरीर में अन्य मूलधातुओं की अपेक्षा इसका परिमाण अधिक पाया जाता है। इसमें कोषान्तरिक पदार्थ अधिक होता है। इसमें भूमिवस्तु (Ground Substance) और सूत्रों (Fibres) की अधिकता होती है। कोषाणु दूर-दूर पर होते हैं। भूमि पदार्थ मधु के सदृश अर्धद्रव होता है। कोषान्तरिक पदार्थों में भिन्न-भिन्न अवयवों में आधिक्य से इनके आकार में बहुत भिन्नता आ जाती है। तदनुसार ही उनके गुणकर्म में भी अन्तर आ जाता है।

संयोजक धातु के कोषाणु छः प्रकार के होते हैं :—

१. सूत्रयोनि (Fibroblast)
२. भक्षक कोषाणु (Histiocytes)
३. रसकोषाणु (Plasma cell)
४. शीर्ष कोषाणु (Mast cell)
५. मेद कोषाणु (Fat cell)
६. रंग कोषाणु (Pigment cell)

---

१. स्नायुभिश्च प्रतिच्छन्नान् सन्ततांश्च जरायुणा।
श्लेष्मणा वेष्टितांश्चापि कलाभागांस्तान् विन्दुः॥
कलाः…धात्वाशयान्तरमर्यादाः—सु० शा० ४।२

२. संयोजयति योऽन्योन्यं धातूनंगानि च इदम्।
असौ संयोजको मूलधातुः समभिधीयते॥—स्व०

इनके अतिरिक्त, जालकमय धातु में जालक कोषाणु (Reticular cell) भी होते हैं।

सूत्र तीन प्रकार के होते हैं—

१. श्वेतसूत्र (White fibres or collagen)
२. जालक सूत्र (Reticular fibres)
३. पीत स्थितिस्थापक सूत्र (Yellow elastic fibres)

श्वेत सूत्र सबसे अधिक होते हैं। वृद्धावस्था में ये मोटे हो जाते हैं। स्वभावत: ये मृदु, पारदर्शी तथा अस्थितिस्थापक होते हैं: जालक सूत्र जालक मूल धातु में विशेष रूप से पाये जाते हैं। पीत सूत्र बहुत कम होते हैं।

संयोजक मूलधातु सात प्रकार का होता है—

१. श्लेष्माभ (Mucoid)
२. श्वेत सौत्रिक (White fibrous)
३. पीत स्थितिस्थापक (Yellow elastic)
४. अवकाशी (Areole)
५. मेदस (Adipose)
६. जालकीय (Reticular)
७. नाडीबन्ध (Neuroglia)

अन्तिम प्रकार केवल नाड़ी तन्तु में पाया जाता है।

(१) श्लेष्माभ (Mucoid) :—इसमें भूमिवस्तु का भाग अधिक होता है और सूत्रों की न्यूनता होती है। यह नवजात शिशु के नाल में, संयोजक धातु के विकास के समय भ्रूण में, नेत्र के सान्द्रजाल तथा दन्तमज्जा में पाया जाता है।

(२) श्वेत सौत्रिक (White fibrous) :—यह श्लेष्मल धातु के कोषाणुओं से बना है। इसमें श्वेत सूत्रों की प्रधानता होती है किन्तु कुछ पीत सूत्र भी होते हैं। भूमिवस्तु बहुत थोड़ी होती है। सूत्र सूक्ष्म, पारदर्शी, समानान्तर तरंगवत् गुच्छों के रूप में पाये जाते हैं। यह धातु अत्यन्त चमकीला श्वेत, दृढ और स्थितिस्थापकतारहित होता है।[1] कण्डराओं में इस धातु के विशेष आकार के कोषाणु पाये जाते हैं, जिन्हें 'कण्डरा-कोषाणु'

---

१. शणसूत्रसमाकारसूत्रगुच्छैर्विनिर्मितः ।
अर्धद्रवपदार्थेन समासक्तः परस्परम् ॥
स्नायुधातुस्वरूपश्च श्वेतः सौत्रिकधातुकः ॥—स्व०

कहते हैं। इस मूलधातु से कण्डरा, स्नायु[1], प्रावरणी और पेश्यान्तरिक फलक नाड्यावरण, अस्थ्यावरण आदि बनते हैं।
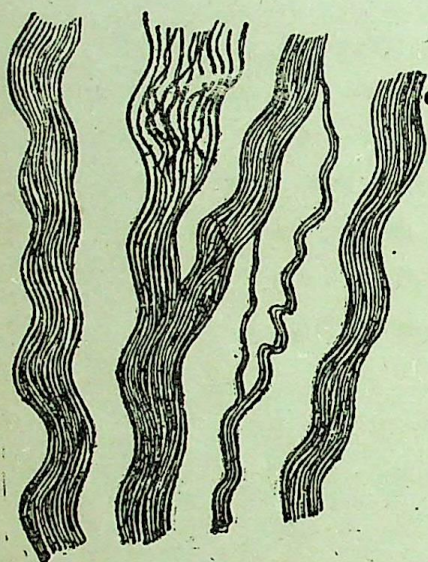
चित्र ८—श्वेत सौत्रिक मूलधातु

(३) पीत स्थितिस्थापक (Yellow elastic) :—इस धातु में पीत स्थितिस्थापक सूत्रों की अधिकता होती है, जिनके कारण इसमें स्थितिस्थापकता का गुण आ जाता है। यह पीत स्नायु, स्वरपुटक श्वासपथ एवं श्वासनलिका, फुफ्फुस के वायुकोष, रक्तनलिकाओं की भित्ति और स्वरयन्त्र से सम्बद्ध स्नायु में पाया जाता है।

(४) अवकाशी (Areolar) :—इस मूलधातु का विशेष गुण स्थितिस्थापकता और विस्तार हैं। यह त्वचा के नीचे, पाचनप्रणाली में श्लैष्मिक कला के नीचे, पेशी, रक्तनलिकाओं तथा नाड़ियों के पिधानरूप होता है तथा उन्हें निकटस्थ अंगों के साथ जोड़ता है। इसके अतिरिक्त शरीर के विभिन्न अंगों को परस्पर जोड़ने तथा उनके आवरणों के स्तर बनाने का कार्य करता है।

(५) मेदस (Adipose) :—शरीर के किसी-किसी भाग में यह मूलधातु मेद कोषाणुओं से युक्त होता है और तब उसे मेदस मूलधातु कहते हैं। प्रत्येक कोषाणु के चारों ओर एक कोमल कला चढ़ी रहती है और उसके भीतर स्नेह पदार्थ भरा रहता है। मेदोद्रव्य जीवन में तरलरूप में रहता है, किन्तु मृत्यु के बाद जम जाता है।

---

१. नौर्यथा फलकास्तीर्णा बंधनैर्बहुभिर्युता।
भारक्षमा भवेदप्सु नृयुक्ता सुसमाहिता॥
एवमेव शरीरेऽस्मिन् यावन्तः सन्धयः स्मृताः।
स्नायुभिर्बहुभिर्बद्धास्तेन भारसहा नराः॥—सु० शा० ५।२९-३०

चित्र ९—अवकाशी मूलधातु

उदर के अधस्त्वग्भाग, वृक्क के चारों ओर तथा अस्थियों की मज्जा में मेद की मात्रा अधिक होती है। नेत्रपटल, शिश्न, अंडकोष, लघुभगोष्ठ के अधस्त्वग्भाग, करोटिगुहा तथा फुस्फुसों में इस मूलधातु का अभाव होता है।
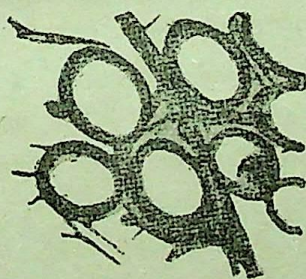
चित्र १०—मेदस मूलधातु

(६) जालकमूलधातु (Reticular)—इस मूलधातु की भूमिवस्तु तरल होती है जिसके भीतर संयोजक धातु के अत्यन्त सूक्ष्मसूत्रों का जाल सा फैला रहता है[1]। कुछ स्थानों में जाल में रक्त तथा लसीका के समान कण पाये

---

१. द्रवभूमिपदार्थे तु विस्तृतैः सूत्रजालकैः।
निर्मितो जालकाख्योऽसौ धातुः समभिधीयते ॥—स्व०

जाने के कारण इसे 'लसीका' या 'ग्रन्थिधातु' (Lymphoid tissue) कहते हैं। यह धातु शरीर की लसीकाग्रन्थियों, अन्त्र की ग्रन्थियों, तथा गलग्रन्थियों में अधिक पाया जाता है।

रंग कोषाणु (Pigment cells)

यह कोषाणु बड़े और शाखामय होते हैं। इनमें स्थित रंजक कणों का रंग भूरा, काला या कभी-कभी पीला होता है। यह नेत्र के अन्तःपटल के बाह्य स्तर, तारामण्डल के पश्चिम पृष्ठ, नासा के गन्धग्राहक प्रान्त, अन्तःकर्ण के कलामय भाग, बाह्य त्वचा के भीतरी स्तर तथा बालों में पाये जाते हैं। कृष्ण-वर्ण जातियों की त्वचा में इसकी अधिकता होती है। इनका कार्य नीचे के अंगों को तीव्र सूर्यप्रकाश से बचाना है।

संयोजक मूलधातु की रक्तनलिकायें और नाड़ियाँ

संयोजक मूलधातु में रक्तवाहिनियों की न्यूनता तथा रसायनिकों की प्रधानता होती है, तथापि श्वेतसौत्रिक मूलधातु में अपेक्षाकृत रक्त का संचार अधिक होता है। इसमें नाड़ियाँ भी पाई जाती हैं, किन्तु अवकाशी प्रकार में नाड़ियों का अभाव होने से वह चेतनारहित होता है।

कठिन मूलधातु (Sclerous or Skeletal tissue)

इस मूलधातु का विशिष्ट गुण काठिन्य है जो शरीर का ढाँचा बनाने में सहायक होता है। इसमें अस्थि और तरुणास्थि का समावेश होता है।

तरुणास्थि (Cartilage)

इस धातु में रक्त का संचार नहीं होता तथा कोषान्तरिक पदार्थ अत्यन्त सघन और सूत्ररहित रहता है। तरुणास्थि कठिन और स्थितिस्थापक होती है। किन्तु तीव्र धार के चाकू से कट जाती है तथा उसका टुकड़ा अपारदर्शी सीप के समान नीलिमामय श्वेत और कहीं-कहीं पीला भी दिखाई देता है। शरीर के अनेक भागों, सन्धियों, वक्ष, श्वासनलिका, नासिका और नेत्र में यह पाई जाती है[1]। भ्रूणावस्था में कंकाल तरुणास्थियों का ही बना होता है जो क्रमशः अस्थि में परिणत हो जाती हैं।[2]

प्रकार—रचना के अनुसार इसके चार प्रकार किये गये हैं :—

(१) कोषमय (Cellular) (२) शुभ्र (Hyaline)
(३) श्वेतसौत्रिक (White fibro-cartilage)
(४) पीत सौत्रिक (Yellow fibro-cartilage)

---

१. घ्राणकर्णग्रीवाक्षिकोषेषु तरुणानि।—सु० शा० ५।१७
२. 'अस्थि तरुणास्थना'—च० शा० ६।९

स्थिति के अनुसार भी इसके भेद किये गये हैं। यथा—

(१) सन्धिक (Articular) (२) सन्धिकान्तरिक (Inter articular)

(३) पर्शुकीय (Costal) (४) कलावत् (Membraneform)

(१) कोषमय तरुणास्थि—यह केवल कोषों से ही बनी होती है तथा चूहे और कुछ स्तनधारी जन्तुओं की कर्णपाली में पाई जाती है। मानवभ्रूण के पृष्ठदण्ड में भी यह पाई जाती है।

(२) शुभ्र तरुणास्थि—शरीर में इस प्रकार की तरुणास्थि अधिक पाई जाती है। इसकी भूमिवस्तु स्वच्छ, सूत्ररहित और तरुणास्थिकोषाणुओं से युक्त होती है। कोषाणु कोणयुक्त दो या अधिक के समूह में स्थित होते हैं। ओजःसार अपारदर्शी और कणयुक्त होता है। इसकी भूमिवस्तु में एक प्रकार के गढ़े उत्पन्न हो जाते हैं जिन्हें 'गर्त्तिका' (Lacunae) कहते हैं। कुछ लोग यह मानते हैं कि तरुणास्थि में अत्यन्त सूक्ष्म नलिकायें होती हैं जो गर्त्तिकाओं को परस्पर संबन्धित करती हैं और ऊपर की ओर आवरक कला से मिली रहती हैं। इस प्रकार इन नलिकाओं द्वारा तरुणास्थि में पोषण पहुँचता रहता है। यह तरुणास्थ्यावरक कला (Perichondrium) से ढँकी रहती है, किन्तु सन्धिक तरुणास्थियों का अधिकांश भाग स्नैहिक कला से ढँका रहता है।

चित्र ११—शुभ्र तरुणास्थि

(३) श्वेत सौत्रिक तरुणास्थि—यह श्वेतसूत्रों के गुच्छों और कोषाणुओं से बनी है। इसमें स्थितिस्थापकता और दृढता दोनों गुण होते हैं। यह चार समूहों में विभक्त है :—

(क) सन्ध्यन्तरिकः—यह चपटे गोल या त्रिकोण पट्ट के समान होती है और हनुशंखिका, उरोऽसक, अंसाक्षक, मणिबन्ध तथा जानुसन्धियों में पाई जाती है। इसका कार्य सन्धि की गति में सहायता प्रदान करना है।

(ख) संयोजक सौत्रिक (Connnecting fibrocartilage) :— यह कशेरुकासन्धि और भगसंधानिका जैसी अत्यल्पचेष्टाशील संधियों में पाई जाती है।

(ग) परिधिस्थ सौत्रिक (Marginal fibrocartilage) :—कुछ सन्धियों में अस्थि के सिरों की परिधि पर यह एक कुण्डल के रूप में लगा रहता है, जिसके कारण सन्धि की गहराई अधिक हो जाती है। स्कन्ध और वंक्षणसन्धि में ऐसी ही तरुणास्थि रहती है।

(घ) स्तराकार सौत्रिकः—(Stratiform fibrocartilage) :— यह कण्डरा की परिखाओं और नलिकाओं पर लगी रहती है, जिससे अस्थि के साथ कण्डरा का संघर्ष नहीं होने पाता। कुछ पेशियों की कण्डराओं में तरुणास्थि के छोटे-छोटे टुकड़े इसी कार्य के लिए होते हैं, उन्हें चणकतरुणास्थि (Sesamoid fibrocartilage) कहते हैं।

(४) पीत या स्थितिस्थापक सौत्रिक :—इसकी भूमिवस्तु में कोषाणु और पीत वर्ण के स्थितिस्थापक सूत्र फैले रहते हैं। यह कर्णपाली, श्रवण-नलिका, स्वरयन्त्र और स्वरयन्त्रच्छद में पाई जाती है।

तरुणास्थियों में रक्तनलिकायें और नाड़ियाँ

तरुणास्थयों में रक्तवाहिनियों और नाड़ियों का अभाव रहता है। इनका पोषण पार्श्ववर्त्ती धातुओं, विशेषतः अस्थि से होता है।

अस्थि

स्वरूप :—अस्थि कठिन और दृढ होती है,[1] किन्तु उसमें कुछ स्थितिस्थापकता भी होती है। उसके भीतर मज्जा भरी रहती है और अस्थियों के पोषण के लिए रक्तनलिकायें भी होती हैं।

वर्ण :—अस्थि का वर्ण बाहर की ओर श्वेत होता है, जिसमें नीले और गुलाबी रंग की आभा मिली रहती है। काटने पर वह भीतर से गहरी लाल दिखाई देती है।[2]

रचनाः—अस्थि को काटकर सूक्ष्मदर्शक यंत्र से देखने से उसमें दो भाग स्पष्टतः दिखाई पड़ते हैं। एक की रचना अत्यन्त सघन होती है, उसे संहत भाग (Compact layer) कहते हैं तथा दूसरे की रचना विच्छिन्न एवं

१. अंगानामाश्रयः सन्धिगत्याधारः सपेशिकम्।
दृढं कठिनमस्थि स्यात् शरीराकृतिधारकम्॥

२, ईषन्नीलं बहिःश्वेतं पाटलाभं च कुत्रचित्।
छिन्नेऽन्तर्लोहितं विद्यादस्थिवर्णं भिषग्वरैः॥—स्व०

सच्छिद्र होती है, उसे सुषिर भाग (Spongy layer) कहते हैं। अस्थि के बाहर की ओर संहत भाग तथा भीतर की ओर सुषिर भाग होता है। भिन्न भिन्न अस्थियों में इन दोनों भागों की मात्रा में अन्तर होता है। छोटी कोमल अस्थियों में सुषिर भाग तथा दृढ अस्थियों में संहत भाग अधिक रहता है। रक्तनलिकायें अस्थ्यावरण होकर अस्थि में पहुँचती हैं। अस्थि के भीतर एक लम्बी नलिका होती है जो मज्जधरा कला से वेष्टित रहती है।
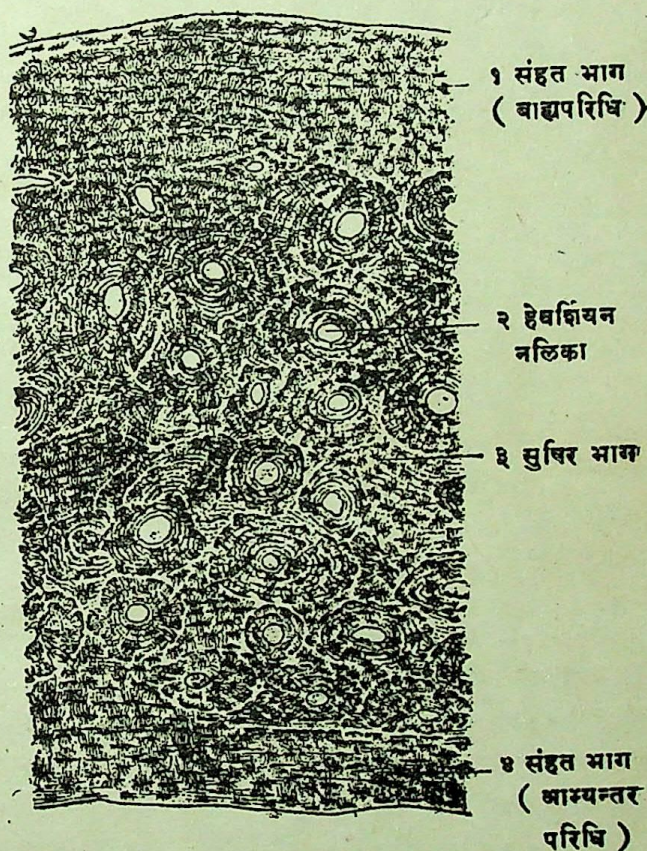
चित्र १२—अस्थि का अनुप्रस्थ परिच्छेद

रासायनिक संघठन :—

(१) कार्बनिक पदार्थ $\frac{1}{3}$ (२) अकार्बनिक पदार्थ $\frac{2}{3}$

कार्बनिक पदार्थ के कारण अस्थि में स्थितिस्थापकता तथा अकार्बनिक पदार्थ के कारण कठिनता और दृढ़ता उत्पन्न होती है। यदि अस्थि को किसी क्षारीय अम्ल में डाला जाय तो अकार्बनिक लवण घुल जाते हैं। और केवल

एक लचीली वस्तु रह जाती है। कार्बनिक पदार्थ कोलेजन नामक वस्तु का बना होता है। अकार्बनिक भाग में चूने के लवण होते हैं, जिनमें विशेषतः सुधा (Calcium) के फास्फेट, फ्लोराइड, क्लोराइड और कार्बोनेट लवणों का भाग रहता है। कुछ मेगनेशियम के लवण भी पाये जाते हैं।

अस्थ्यावरक कला (Periosteum)
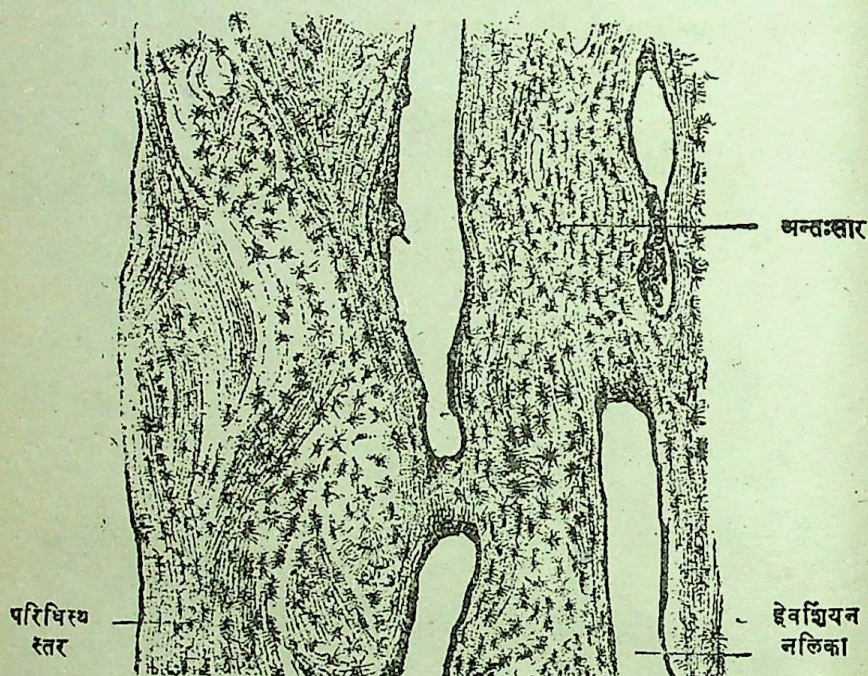
चित्र १३—अस्थि का अनुलम्ब परिच्छेद

कुछ भागों को छोडकर सारी अस्थि अस्थ्यावरक कला से आच्छादित रहती है। इसके दो स्तर होते हैं जो परस्पर जुटे रहते हैं। बाह्य स्तर संयोजक तन्तु का बना होता है और भीतरी स्तर में सूक्ष्म स्थितिस्थापक सूत्रों का जाल-सा फैला रहता है।

नवजात तथा तरुण अस्थियों में यह कला दृढ़ और मोटी होती है तथा रक्त से परिपूर्ण रहती है। इस कला के नीचे अस्थिजनक धातु (Osteogenetic tissue) का एक स्तर रहता है, जिसमें अस्थ्युत्पादक कण (Osteoblast) होते हैं। इन्हीं कणों से अस्थि का विकास होता है। आयु अधिक होने पर यह धातु नष्ट हो जाता और कला भी पतली हो जाती है। वस्तुतः अस्थि के जीवन और विकास का स्रोत यही कला है और इसलिए इसे 'अस्थिधरा कला' कहते हैं। इस कला के क्षत या नष्ट होने से अस्थि में

क्षय उत्पन्न हो जाता है। कला में रक्तनलिकाओं के साथ-साथ नाड़ियाँ और रसायनियाँ भी पाई जाती हैं।

मज्जा

अस्थि के भीतर लम्बी नलिकाओं, सुषिर धातु के छिद्रों तथा हेवर्शियन नलिकाओं में मज्जा भरी रहती है। लम्बी नलिकाओं में पीत वर्ण की मज्जा होती है, जिसमें अधिकांश वसा होती है। सुषिर अस्थि में रक्त वर्ण की मज्जा होती है जिसमें वसा की अत्यल्प मात्रा होती[1] है। यह मज्जा रक्त को उत्पन्न करने का विशेष अङ्ग है, अतः इसमें भिन्न भिन्न अवस्थाओं में रक्तकणों की उपस्थिति देखी जाती है।

अस्थि की सूक्ष्म रचना

ऊपर कहा जा चुका है कि अस्थि में दो भाग होते हैं, संहत और सुषिर। अस्थि का व्यतस्त परिच्छेद कर उसकी परीक्षा करने से उसमें अनेक गोल-गोल प्रान्त दिखाई देते हैं, जिनके बीच में एक बड़ा छिद्र होता है और उसके चारों ओर केन्द्रीय रेखायें स्थित होती हैं। बीच का छिद्र वास्तव में एक नलिका का मुख है, जिसको 'हेवर्शियन नलिका' कहते हैं। अनुलम्ब परिच्छेद करने पर ये नलिकायें चारों ओर फैली हुई स्पष्टतः दिखाई पड़ती हैं। इस नलिका के चारों ओर जो रेखायें हैं, वे अस्थि तन्तु की स्तरांशी (Lamellae) हैं जो मध्य नलिका के चारो ओर एक केन्द्रिक क्रम में स्थित हैं। इन स्तरांशियों के बीच अथवा उन्हीं की रेखाओं पर गर्तिकायें (Lacunae) स्थित हैं, जो परस्पर तथा हेवर्शियन नलिकाओं से अत्यन्त सूक्ष्म स्रोतों (Canaliculi) द्वारा सम्बन्धित हैं। इस प्रकार का प्रत्येक प्रान्त 'हेवर्शियन मण्डल' कहलाता है जो वास्तव में अस्थिवह स्रोतों का समुदाय है। प्रत्येक गर्तिका में एक अस्थिकोषाणु स्थित होता है।

अस्थि में रक्तसंवहन

अस्थिधरा कला के नीचे रक्तवाहिनियों का जाल-सा फैला रहता है जिससे शाखायें निकल सम्पूर्ण अस्थि का पोषण करती हैं।[2] रसायनियाँ हेवर्शियन

---

१. स्थूलास्थिषु विशेषेण मज्जा त्वभ्यन्तराश्रितः।
अथेतरेषु सर्वेषु सरक्तं मेद उच्यते॥—सु० शा० ४।१०

२. कलाया अस्थिधारिण्या अधस्ताद् रक्तवाहिनाम्।
विस्तृतं जालकं यस्य शाखा गच्छन्ति सर्वतः॥
रसायन्यस्तथा नाड्यः संबद्धा रक्तवाहिभिः।
पोषयन्त्यस्थि सततं रसमूलेन धातुना॥—स्व०

नलिका में स्थित होती हैं और अस्थिधरा कला की नलिकाओं से संबन्धित रहती हैं। नाड़ियाँ भी अस्थिधरा कला में फैली रहती हैं और धमनियों के साथ भीतर चली जाती हैं। अस्थियों के संधायक पृष्ठ, बड़ी चपटी अस्थियों और कशेरुकाओं में इनकी संख्या पर्याप्त रहती है।

अस्थियों का विकासक्रम

भ्रूणावस्था में सर्वप्रथम अस्थियों का कोई चिह्न नहीं होता और सारे शरीर की रचना एक समान होती है । कुछ समय के बाद क्रमशः अस्थियों के स्थान पर तरुणास्थियाँ उत्पन्न होती हैं और फिर धीरे-धीरे इन्हीं से अस्थि का विकास होता है।

सामान्यतः इसी प्रकार तरुणास्थि से ही अस्थि का विकास होता है, किन्तु बहुत-सी अस्थियों का निर्माण भ्रूणावस्था के कलारूप संयोजक धातु से होता है, यथा—करोटि की अस्थियाँ। इस प्रकार अस्थिविकास दो प्रकार से होता है—

१. कलान्तरिक (Intramembranous)

२. तरुणास्थ्यन्तरिक (Intra Cartilaginous)

(१) कलान्तरिक विकास :—अस्थिजनक कला की भूमिवस्तु में कण-युक्त कोषाणु और सूत्र स्थित होते हैं तथा वहाँ रक्त का भी पर्याप्त वितरण होता है। ये कोषाणु 'अस्थिजनक कोषाणु' (Osteogentic Cells) कहलाते हैं। अस्थिविकास प्रारंभ होने पर किसी केन्द्रस्थान से चारों ओर सूत्र निकलने लगते हैं और संपूर्ण कला में फैलकर जाल-सा बना देते हैं। इन सूत्रों को 'अस्थिजनक सूत्र' (Osteogenetic fibres) कहते हैं । इसी समय इन सूत्रों के बीच-बीच से सुधा-द्रव्य एकत्र होने लगता है। कुछ समय में सुधा के कण परस्पर मिलकर एक समान हो जाते हैं और इस समय सूत्र भी नहीं दिखाई देते। अस्थिजनक कोषाणु ही अस्थिकोषाणु हो जाते हैं और सुधा द्रव्य में उनका स्थान ही गर्तिका का रूप धारण कर लेता है । इस प्रकार क्रमशः अस्थिधातु का एक जाल-सा बन जाता है जिसमें रक्तवाहिनियाँ: अस्थिजनक कोषाणु और संयोजक धातु स्थित होते हैं। अस्थिजनक कोषाणुओं से नवीन अस्थिधरा कला के नीचे के स्तर से नया धातु बना रहता है जो रक्तवाहिनियों के चारों ओर स्थित हो जाता है। ये रक्तनलिकायें 'हेवर्शियन नलिका' बन जाती है।

(२) तरुणास्थ्यन्तरिक विकास :—अधिकांश अस्थियों का विकास तरु-णास्थि से ही होता है। प्रारंभ में लम्बी अस्थियों के स्थान में उन्हीं के आकार का तरुणास्थि का टुकड़ा होता है। अस्थिविकास इसी के मध्यभाग से प्रारंभ

होता है जिसे प्राथमिक विकासकेन्द्र कहते हैं। यहाँ से प्रान्त की ओर अस्थि-निर्माण का कार्य बढ़ता है। कुछ समय के बाद सिरों में भी इसी प्रकार के केन्द्र बन जाते हैं और अस्थिनिर्माण का कार्य प्रारम्भ हो जाता है, किन्तु बहुत समय तक सिरों पर तरुणास्थि का एक स्तर चढ़ा रहता है जो 'परिसरीय तरुणास्थि' (Epiphysial Cartilage) कहलाता है।

अस्थिविकास का कार्य इस प्रकार होता है

प्रथम अवस्था :—अस्थिविकास के केन्द्रस्थान पर तरुणास्थि-कोषाणु आकार में बड़े हो जाते हैं और पहिये के अरों की भाँति क्रमबद्ध हो जाते हैं। भूमिवस्तु की मात्रा बढ़ जाती है, जिसमें कुछ समय में सुधाद्रव्य एकत्र होने लगता है। तरुणास्थि-कोषाणुओं के चारों ओर कोटर बन जाते हैं, जिनके भीतर तरुणास्थि-कोषाणु स्थित होते हैं। इन कोटरों की भित्ति सुधायुक्त होने के कारण उनके भीतर पोषण नहीं पहुँच पाता, जिससे कोषाणु नष्ट होने लगते हैं। इनके नाश से वहाँ जो रिक्त स्थान उत्पन्न होता है, वह 'प्राथमिक प्रान्त' (Primary areola) कहलाता है। इसी समय बाहर की ओर आवरक कला के अस्थिजनक कोषाणुयुक्त निचले स्तर से भी अस्थिनिर्माण होने लगता है और परिणामस्वरूप तरुणास्थि के बाहरी पृष्ठ पर अस्थि का अत्यन्त सूक्ष्म स्तर बन जाता है जिसकी उत्पत्ति कलान्तरिक विकास के समान होती है। इस प्रकार इस अवस्था में दो क्रियायें होती हैं—तरुणास्थि के भीतर नष्टप्राय तरुणास्थि—कोषाणुयुक्त कोटरों की रचना तथा तरुणास्थि के बाह्य पृष्ठ पर कलान्तरिक अस्थि की उत्पत्ति।

द्वितीय अवस्था :—इस अवस्था में तरुणास्थि की आवरक कला के प्रवर्धन तथा अस्थिधरा कला के निचले पृष्ठ के प्रवर्धन, जिनमें अस्थिभञ्जक (Osteoclasts) तथा अस्थिजनक दोनों प्रकार के कोषाणु होते हैं, तरुणास्थि के भीतर प्रवेश करते हैं। अस्थिभञ्जक कोषाणुओं का काम अस्थिशोषण होता है और इस गुण के कारण वह प्राथमिक प्रान्त की सुधामय भित्तियों का शोषण करते हुये सुधामय भूमिपदार्थ तक पहुँच जाते हैं। कोटरों की भित्तियों के टूट जाने से बड़े बड़े कोटर बन जाते हैं, जो द्वितीयक प्रान्त (Secondary areola) या मज्जावकाश (Medullary Space) कहलाते हैं। इनमें भ्रूणावस्था की मज्जा भरी रहती है, जिसमें अस्थिजनक कोषाणु और रक्तनलिकायें होती हैं।

द्वितीयक प्रांत के कोटरों की भित्ति दृढ़ और स्थूल होने लगती है तथा मज्जा के अस्थिजनक कोषाणुओं की संख्या में वृद्धि होती है। इसके बाद कोटरों

की भित्तियों में स्थित पूर्वजात अस्थि के कणों का शोषण होता है। इस प्रकार नवीन अस्थि का निर्माण होता है तथा प्रथम उत्पन्न हुए अस्थि के कणों का अस्थिभञ्जक कोषाणुओं द्वारा नाश भी होता जाता है।

बीच के भाग में तो अस्थि बनती रहती है, किन्तु सिरों पर तरुणास्थि की मात्रा बढ़ती जाती है। कुछ काल में उसमें भी एक या इससे अधिक विकासकेन्द्र उत्पन्न हो जाते हैं और क्रमशः तरुणास्थि अस्थि में परिणत हो जाती है।

भिन्न-भिन्न अस्थियों में अस्थिविकास-केन्द्रों की संख्या में भिन्नता पाई जाती है। प्रायः छोटी अस्थियों में उनके मध्य में एक केन्द्र तथा लम्बी अस्थियों में एक मध्यभाग में तथा एक-एक प्रान्तभागों में होता है। यह केन्द्र भिन्न-भिन्न समय पर उदित होते हैं। सर्वप्रथम केन्द्र का उदय मध्यभाग में होता है।

अस्थि का कार्य

अस्थि के निम्नलिखित कार्य हैं :—[1]

१. शरीर के अङ्गों को आश्रय देना।
२. सन्धियों की गति का आधार।
३. मांसपेशियों का आधार।
४. शरीर की आकृति का धारक।

मांस-धातु (Muscular tissue)

मांसधातु की शरीरधारक विशिष्ट रचना को पेशी (Muscle) कहते हैं। शरीर में त्वचा के नीचे वसा[2] और प्रावरणी से आच्छादित मांसपेशियों का स्तर होता है। यह धातु लाल वर्ण के लम्बे सूत्रों के गुच्छों से बना है[3] जिनमें संकोच का गुण होता है तथा जो बाहर की ओर संयोजक धातु द्वारा परस्पर आबद्ध होते हैं।[4]

---

१. अभ्यन्तरगतैः सारैर्यथा तिष्ठन्ति भूरुहाः।
अस्थिसारैस्तथा देहा ध्रियन्ते देहिनां ध्रुवम् ॥
तस्माच्चिरविनष्टेषु त्वङ्मांसेषु शरीरिणाम्।
अस्थीनि न विनश्यन्ति साराण्येतानि देहिनाम् ॥
मांसान्यत्र निबद्धानि सिराभिः स्नायुभिस्तथा।
अस्थीन्यालम्बनं कृत्वा न शीर्यन्ते पतन्ति वा ॥—सु० शा० ५।१४-२०

२. शुद्धमांसस्य यः स्नेहः सा वसा परिकीर्तिता।—सु० शा० ४।१०

३. यथा हि सारः काष्ठेषु छिद्यमानेषु दृश्यते।
तथा धातुर्हि मांसेषु छिद्यमानेषु दृश्यते ॥—सु० शा० ४।३

४. शरीरे त्वगधोमेदः प्रावरणीसमावृताः।
मांसपेशयः स्थिताः सर्वाः पेशीधातुविनिर्मिताः ॥—स्व०

मांस धातु का वर्गीकरण कई दृष्टिकोणों से किया गया है। क्रियाविज्ञान की दृष्टि से पेशियाँ दो प्रकार की होती हैं :—

१. स्वतन्त्र (Involuntary)
२. परतन्त्र (Voluntary)

सूक्ष्म रचना की दृष्टि से पेशियाँ तीन प्रकार की होती हैं :—

१. रेखांकित (Striated)
२. अरेखांकित (Unstriated) या स्वच्छ (Plain)
३. हार्दिक (Cardiac)

प्रथम वर्ग में परतन्त्र या अस्थिबद्ध (Skeletal) पेशियाँ तथा द्वितीय वर्ग में विभिन्न आशयों की अनैच्छिक पेशियाँ आती हैं। हार्दिक पेशी रेखांकित होती हुई भी विशिष्ट स्वरूप की है[1] अतः इसे एक पृथक् वर्ग में रक्खा गया है।

परतन्त्र पेशी

यह पेशीसूत्र-गुच्छों (Fasciculi) के सान्तर धातु से निर्मित आवरण द्वारा परस्पर आबद्ध होने से बनती है। इस आवरण को बहिःमांसावरण (Epimysium) कहते हैं। प्रत्येक गुच्छ पर भी पृथक्-पृथक् आवरण होता है, उसे परिमांसावरण (Perimysium) कहते हैं। गुच्छ भी कला द्वारा अनेक पेशीसूत्रों में विभक्त है तथा अन्तःमांसावरण (Endomysium) से आच्छादित है। इस आवरण में पेशीसूत्र की रक्तवाहिनियाँ तथा नाड़ियाँ होती हैं। प्रत्येक सूत्र पुनः सूत्रावरण (Sarco-lemma) नामक स्थितिस्थापक कोष से समाच्छन्न है, जो अन्तःमांसावरण के समान सान्तर धातु से निर्मित नहीं होता।

चित्र १४—परतन्त्र पेशी का अनुलम्ब परिच्छेद

---

१. पेशीधातुस्त्रिधा ज्ञेय आद्यो रेखांकितस्तथा।
अनंकितो द्वितीयः स्यात्तृतीयो हार्दिको मतः॥

पेशीसूत्र

ये आकार में त्रिपार्श्व या वृत्ताकार हैं और इनकी लम्बाई लगभग १ इंच तथा व्यास $\frac{1}{500}$ इंच होता है। जिह्वा और मुख की कुछ पेशियों को छोड़कर इनमें शाखायें या विभाग नहीं होते।

पेशीसूत्र की सूक्ष्म रचना

सूत्रावरण नामक स्थितिस्थापक कोष में तात्त्विक संकोचशील द्रव्य (Essential Contractile Substance) स्थित होता है जिससे पेशीसूत्र का कलेवर निर्मित है। स्तनधारी जीवों में, इसके अन्तःपृष्ठ पर अण्डाकार केन्द्रक देखे जाते हैं, जिन्हें पेशीकण (Muscle Corpuscle) कहते हैं। जीवनकाल में सूत्रावरण आभ्यन्तर संकोचशील द्रव्य से संसक्त होता है।

संकोचशील द्रव्य अनेक क्रमिक शुक्ल तथा कृष्ण खण्डों (Light and dark bands) में विभक्त है। प्रकाशपर्यवेक्षण के बाद अणुवीक्षण यन्त्र द्वारा यह स्पष्ट प्रतीत होता है। ध्यान से देखने पर प्रत्येक शुक्ल खण्ड की सीमा पर अनेक कणों की पंक्ति स्थित मिलती है। यह कण कृष्णखण्ड के आरपार जाती हुई अनुलम्ब रेखाओं द्वारा परस्पर सम्बद्ध हैं तथा पार्श्विक दिशा में अनुप्रस्थ रेखाओं से संबद्ध हैं। अनुलम्ब रेखायें पेशीसूत्र के अनेक अनुलम्ब विभागों को सूचित करती हैं जिन्हें 'सूत्रिका' (Fibrils or Sarcostyles) कहते हैं। इस प्रकार अनुलम्ब तथा अनुप्रस्थ रेखाओं से निर्मित जाल के भीतर सूत्रिकाओं के बीच में विद्यमान द्रव्य को 'सूत्रसार' (Sarcoplasm) कहते हैं। शुक्ल तथा कृष्ण खण्ड पुनः दो में विभक्त होते हैं। कृष्णखण्ड एक स्वच्छ रेखा (Hensen's line) के द्वारा दो में विभक्त है। शुक्लखण्ड एक बिन्दुमय रेखा के द्वारा, जिसे 'बिन्दुरेखा' (Dobie line or krause's membrane) कहते हैं, दो में विभक्त है।

यदि पेशीसूत्र के अनुप्रस्थ परिच्छेद की परीक्षा की जाय तो वह अनेक कोणीय भागों में विभक्त प्रतीत होता है। इन भागों को 'कोणीय क्षेत्र' (Areas of Cohnhein) कहते हैं। ये भाग पुनः सूक्ष्मबिन्दुवत् क्षेत्रों में विभक्त हैं। बृहत् क्षेत्र सूत्रिकासमूहों तथा सूक्ष्म क्षेत्र सूत्रिकाओं का प्रतिनिधित्व करते हैं।

परतन्त्राः सरेखाः स्युस्तथा चास्थिनिबन्धनाः।
अनंकिताः स्वतंत्राश्चामाशयान्त्रसिरादिषु॥
सरेखोऽपि स्वतंत्रो यः पेशीधातुः स हार्दिकः।—स्व०
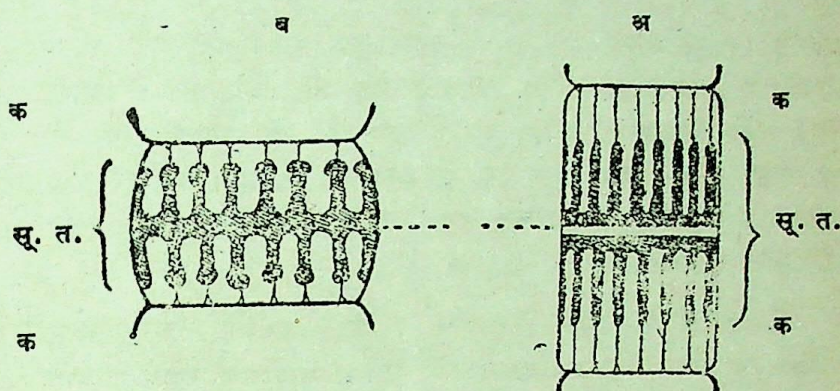
चित्र १५—पेशी की सूक्ष्म रचना

सू. त. सूत्रतत्त्व क. बिन्दुरेखा ब. संकुचित दशा में अ. प्रलम्बित दशा में

सूत्रिका के एक बिन्दुरेखा से दूसरी बिन्दुरेखा तक के भाग को सूत्रकाणु (Sarcomeres) कहते हैं। इसमें एक पूर्ण कृष्ण खण्ड तथा उसके दोनों ओर आधा शुक्लखण्ड आ जाते हैं। इसमें स्थित कृष्णखण्ड को 'सूत्रतत्त्व' (Sarcous clement) कहते हैं। यह सूत्रतत्त्व सूत्रकाणु में स्वतन्त्र नहीं रहते, बल्कि दोनों ओर सूक्ष्म रेखाओं या कलाओं द्वारा बिन्दुरेखा से संबद्ध हैं। प्रत्येक सूत्रकाणु पेशीसूत्र का क्रियात्मक आद्य भाग माना जाता है :

पेशी के संकोचप्रसार के समय सूत्रकाणु में परिवर्तन और उसके कारण

जब पेशी संकुचित होती है तब सूत्रतत्त्व और बिन्दुरेखा के मध्य का अवकाश बहुत छोटा हो जाता है तथा सूत्रतत्त्व फूल जाता है। इसके विपरीत, जब पेशी का प्रसार होता है, तब सूत्रतत्त्व स्वच्छ रेखा के पास स्पष्टतः अपने दो विभागों में विभक्त हो जाता है।

उपर्युक्त परिवर्तनों के कारण की विवेचना शेफर नामक विद्वान् ने युक्तिपूर्वक की है। उनके मत के अनुसार सूत्रतत्त्व अनेक अनुलम्ब नलिकाओं से बना है। ये नलिकायें बिन्दुमय रेखा की ओर स्वच्छ अवकाश में खुलती हैं और स्वच्छ रेखा की ओर बन्द रहती हैं। पेशी के

संकोचकाल में स्वच्छ अवकाश का पदार्थ इन नलिकाओं में चला जाता है जिससे सूत्रतत्त्व फूल जाता है तथा सूत्रकाणु चौड़ा और छोटा हो जाता है। इसके विपरीत, पेशी के प्रसार काल में उक्त पदार्थ नलिकाओं से बाहर आकर स्वच्छ अवकाश में चला जाता है और दृष्टिगोचर होने लगता है। सूत्रतत्त्व भी सिकुड़ जाता है तथा सूत्रकाणु फलस्वरूप लम्बा और छोटा हो जाता है।

पेशीसंकोच के कारणों के सम्बन्ध में शेफर का यह मत अमीबिक, रोमिकामय तथा पेशीजन्य चेष्टाओं में परस्पर सामञ्जस्य स्थापित करने में सहायक होता है। अमीबिक गति में कोषावरण अनियमित रूप से होने के कारण कोषसार का किसी भी दिशा में प्रवाह हो सकता है। रोमिकामय गति में, कोषावरण एक निश्चित दिशा में व्यवस्थित होने के कारण कोषसार का आवागमन एक निश्चित दिशा में ही सम्भव है। इसी प्रकार पेशीजन्य गति में पेशीसार सूत्रतत्त्व की अनुलम्ब नलिकाओं में व्यवस्थित होने के कारण कोषसार (स्वच्छ पदार्थ) का उसी अनुलम्ब दिशा में यातायात होता है। इस प्रकार मांसपेशी का संकोच विभिन्न सूत्रकाणुओं के पृथक् पृथक् संकोच का संयुक्त रूप है।

परतन्त्र पेशी का पोषण

पेशी के भीतर उसके अन्तःमांसावरण में केशिकाओं का जाल फैला रहता है। बड़ी-बड़ी धमनियाँ और सिरायें केवल परिमांसावरण तक रहती हैं, उसके भीतर नहीं जा सकतीं। नाड़ियाँ भी बहुत सूक्ष्म रूप में फैली रहती हैं। रसायनियों का प्रवेश पेशीतन्तु में नहीं होता, केवल उसके बाह्य आवरण में ही पाई जाती हैं।

स्वतन्त्र पेशी :—स्वतन्त्र पेशी अरेखांकित होती है और वेमाकार कोषाणुओं से बनी होती है। ये कोषाणु समूहों में स्थित रहते तथा संयोजक द्रव्य द्वारा परस्पर संबद्ध रहते हैं। ये समूह पुनः बड़े-बड़े गुच्छों में एकत्रित हो जाते हैं जो सामान्य संयोजक धातु द्वारा परस्पर आबद्ध रहते हैं। इस धातु की तुलना परतंत्र पेशी के बहिर्मांसावरण से की जा सकती है। इसी प्रकार पृथक् पृथक् कोषाणु-समूहों को आबद्ध करने वाला धातु परिमांसावरण तथा कोषाणुओं के बीच में स्थित संयोजक पदार्थ अन्तर्मांसावरण का प्रतिनिधित्व करता है।
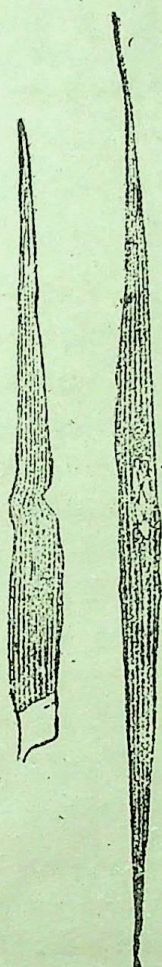
चित्र १४—स्वतन्त्र पेशी सूत्र

स्वतन्त्र पेशी के सूत्र लम्बे, वेमाकार केन्द्रक युक्त कोषाणुओं के रूप में होते हैं जिनकी लम्बाई लगभग १/६०० से १/३०० इञ्च तक तथा चौड़ाई १/४००० इञ्च होती है। इसकी रचना सामान्य होती है और इसके कोषावरण में संकोचशील द्रव्य भरा रहता है। संकोचशील द्रव्य में बहुत हलकी लम्बी रेखायें होती हैं जो उस द्रव्य के सूत्रकाणुओं में विभाग को सूचित करती हैं। इसके भीतर एक अण्डाकार या दण्डाकार केन्द्रक होता है। स्वतन्त्र पेशियों का संकोच परतन्त्र पेशियों की अपेक्षा नियमित तथा मन्द होता है, यथा अन्त्रपरिसरण-गति। स्वतन्त्र पेशी शरीर के निम्नलिखित भागों में पाई जाती है :—

१. ग्रसनिका के मध्यभाग से आभ्यन्तर गुद-संकोचनी तक
२. श्वासनलिका, श्वासप्रणालिकायें तथा फुफ्फुस के वायुकोष।
३. पित्तकोष तथा साधारणी पित्तनलिका।
४. लालिक तथा अग्न्याशयिक ग्रंथियों की बड़ी नलिकायें।
५. श्रोणिगुहा, वृक्क की उत्सिकायें, गवीनी, वस्ति तथा मूत्रमार्ग।
६. डिम्बग्रन्थि, डिम्बवह नलिकायें, गर्भाशय, योनि, पृथु स्नायु और भगांकुर।
७. वृषण, शुक्रवह नलिकायें, उपाण्ड, शुक्रकोष, पौरुषग्रंथि, मूत्रदण्डिका तथा मूत्रप्रसेकिनी।
८. प्लीहा के कोष तथा अन्तर्वस्तु।
९. श्लेष्मल कला।
१०. त्वचा की स्वेदग्रन्थियाँ तथा रोमहर्षिणी पेशियाँ।
११. धमनियाँ, सिरायें तथा रसायनियाँ।
१२. तारामण्डल तथा नेत्रसन्धान की पेशियाँ।

हृत्पेशी

हृत्पेशी दो प्रकार के विशिष्ट सूत्रों के समूहों से बनी होती है :—

(१) हृत्पेशीसूत्र (शाखावान्)

(२) प्रकिञ्जय सूत्र (शाखारहित)

हृत्पेशीसूत्र (Cardiac fibres)

चित्र १७—हार्दिक पेशीधातु

यह चतुष्कोणाकार कोषाणु हैं जो परतंत्र पेशीसूत्रों से ⅓ छोटे रहते हैं। इनमें अनुलंब तथा हलकी अनुप्रस्थ रेखायें होती हैं। सूत्र अपने प्रान्त भागों के द्वारा परस्पर सम्बद्ध हैं। उनके प्रान्त भागों से शाखायें निकली रहती हैं जो परस्पर मिल कर सूत्रों की सन्धि बनाती हैं। वह इस प्रकार संबद्ध रहती हैं कि संपूर्ण हृत्पेशी की क्रिया में कहीं कोई व्यवधान नहीं आता। केन्द्रभाग के पास एक अण्डाकार स्वच्छ केन्द्रक होता है। इसमें कोई विशिष्ट मांसावरण नहीं होता।

प्रकिञ्जय सूत्र (Purkinje fibres)

हृदय के कुछ प्रदेशों में उसके अंतःस्तर तथा सामान्य हृद्धातु के मध्य में यह कोषाणु पाये जाते हैं। मनुष्य के हृदय में यह मध्यविभाजक कला के साथ-साथ जाते हुये दिखलाई देते हैं तथा अलिन्दों और निलयों के बीच में संबंध स्थापन का कार्य करते हैं। इन कोषाणुओं के समूह जो 'अलिन्दनिलय-गुच्छ' (Bundle of His) कहते हैं। वह हृत्पेशी-सूत्रों की अपेक्षा बहुत बड़े होते हैं तथा उनकी आकृति चतुर्भुजी होती है। केन्द्र में एक या अधिक केन्द्रक होते हैं। ओजःसार का केन्द्रीय भाग कणयुक्त तथा रेखाहीन भाग तथा प्रांतीय भाग अनुप्रस्थ रीति से रेखायुक्त होता है। सूत्र परस्पर घनिष्ठ रूप से संबद्ध होते हैं, उनमें मांसावरण नहीं होता और शाखायें भी नहीं होतीं।

हृत्पेशी तथा प्रकिञ्जय सूत्रों का तुलनात्मक स्वरूप

	हृत्पेशीसूत्र	प्रकिञ्जय सूत्र
१. अधिष्ठान	संपूर्ण हृदय	अलिन्दनिलय गुच्छक
२. परिमाण	स्वल्प	बृहत्
३. आकृति	चतुष्कोणाकार	चतुर्भुजी

४. केन्द्रक	एक, स्वच्छ और अंडाकार	दो, गोल तथा अस्वच्छ रंगयुक्त
५. ओजःसार	अनुलम्ब तथा हलकी अनुप्रस्थ रेखाओं से युक्त	केन्द्रीय भाग कणयुक्त तथा प्रांतीय भाग अनुप्रस्थ रीति से रेखायुक्त
६. संबन्ध	शाखाओं तथा संयोजक द्रव्य के द्वारा	घनिष्ठरूप से संबद्ध
७. शाखायें	विद्यमान	अनुपस्थित

हृत्पेशी का पोषण तथा नाड़ियाँ

इन पेशियों में रक्तवह स्रोतों तथा रसायनियों की अधिकता पाई जाती है। नाड़ियाँ भी दोनों प्रकार की होती हैं। मेदस नाड़ी के सूत्र प्राणदा नाड़ी की शाखाओं तथा अमेदस नाड़ी के सूत्र सांवेदनिक नाड़ियों की शाखाओं के रूप में पहुँचती हैं।

मांसधातु का कार्य

मांसधातु का कार्य शरीर में गति उत्पन्न करना है। शरीर में जितनी भी चेष्टायें होती हैं, वह पेशियों के आधार पर ही होती हैं।[1]

नाडी-धातु (Nervous tissue)

सूक्ष्म रचना की दृष्टि से नाडीधातु के मुख्यतः चार भाग होते हैं :—[2]

१. नाडीकोषाणु (Nerve cells)

२. नाडीसूत्र (Nerve fibres)

३. नाड्याधारकोषाणु (Neuroglia cells)

४. नाड्याधार सूत्र (Neuroglia fibrelets)

नाडीकोषाणु नाडी-धातु के विशिष्ट अवयव हैं जो मस्तिष्क, सुषुम्नाशीर्षक तथा सुषुम्नाकाण्ड के धूसर भाग में एकत्र पाये जाते हैं। नाडियों पर जो गण्ड होते हैं, उनमें भी कुछ कोषाणु पाये जाते हैं। इन कोषाणुओं से निकलनेवाले लम्बे-लम्बे प्रसर भागों को नाडीसूत्र कहते हैं। मस्तिष्क और सुषुम्ना का श्वेतभाग विशेषतः इन्हीं का बना हुआ है। नाड्याधारवस्तु केवल मस्तिष्क और सुषुम्नाशीर्षक में नाडीकोषाणुओं के बीच में स्थित पाई जाती है।

नाडीकोषाणु

ऊपर बतलाया जा चुका है कि यह मस्तिष्क के केन्द्रों तथा गण्डों में

---

१. सिरास्नाय्वस्थिपर्वाणि सन्धयश्च शरीरिणाम् ।
पेशीभिः संवृतान्यत्र बलवन्ति भवन्त्यतः ॥'—सु० शा० ५।३५

२. कोषाणुकैश्च मूलैश्च नाड्याधारैश्च वस्तुभिः ।
मस्तिष्कादिप्रदेशस्थैः नाडीधातुर्विनिर्मितः ॥—स्व०

पाये जाते हैं। इन कोषाणुओं से एक लम्बा प्रसर निकलता है जो नाडीसूत्र का अक्ष (Axon) कहलाता है। यद्यपि कुछ कोषाणुओं से केवल एक ही सूत्र निकलता है, तथापि अधिकतर कोषाणुओं में उनके कोणों से कई सूत्र निकलते हैं। इनमें से केवल एक नाडीसूत्र का अक्ष बन जाता है। शेष सूत्र अनेक शाखाओं में विभक्त हो जाते हैं। इन शाखायुक्त सूत्रों को 'दन्द्र' (Dendron) कहते हैं। वह समीपवर्ती कोषाणु के चारों ओर फैले रहते हैं।

कोषाणु का गात्र, दन्द्र और अक्ष सब मिलकर नाडयणु (Neurone) कहलाते हैं। नाडयणु के दन्द्र वृक्ष की शाखाओं के समान फैले रहते हैं। इनके द्वारा कोषाणु में उत्तेजना आती हैं और अक्ष के द्वारा बाहर जाती है।

नाडी-कोषाणुओं के सम्बन्ध में निम्नलिखित बातें देखी जाती हैं :—

(१) मान—नाडी-कोषाणुओं के मान में अत्यधिक विभिन्नता देखी जाती है। कुछ बहुत छोटे होते हैं तथा कुछ इतने स्थूल होते हैं कि साधारणतः दृष्टिगोचर हो जाते हैं। इनका मान साधारणतः ५ से १५० म्यू तक होता है।

कोषाणुओं के मान तथा उनकी क्रिया में घनिष्ठ सम्बन्ध है। बात यह है कि नाडी-कोषाणु के भीतर स्थित जीवद्रव्य-समूह निरन्तर विश्लेषित तथा रासायनिक रीति से संश्लेषित होता रहता है। यह समझा जाता है कि जितना ही बड़ा कोषाणु होता है उतना ही अधिक उसमें ओजःसार की मात्रा होती है, फलतः संचित शक्ति का परिमाण भी उतना ही अधिक होता है। संचित शक्ति के आधिक्य के अतिरिक्त बृहत् नाडीकोषाणुओं का पार्श्ववर्ती रचनाओं से व्यापक संबन्ध भी होता है। अतः यह माना जाता है कि नाडी कोषाणु की क्रिया उसके मान के अनुपात से ही होती है।

(२) आकार—नाडीकोषाणुओं के आकार में भी अत्यधिक विभिन्नता होती है। यह विभिन्नता कोषाणु के प्रसरभागों की संख्या तथा उनके उद्‌गमप्रकार पर निर्भर करती है। निम्नांकित आकार के कोषाणु सामान्यतः मिलते हैं :—

(क) वृत्ताकार (Spherical)

(ख) वेमाकार (Spindle shaped)

(ग) अनियमित कोणयुक्त (Irregularly angular)

(३) केन्द्रक :—यह सामान्यतः बड़ा, स्वच्छ तथा वृत्ताकार होता है और कोषाणु के केन्द्र में स्थित होता है। आकर्षकमंडल की अनुपस्थिति नाडी कोषाणुओं का विशिष्ट चिह्न है और इस प्रकार उन्हें अन्य कोषाणुओं से पृथक् किया जाता है।

(४) केन्द्रकाणु :—यह साधारणतः बड़ा और स्पष्ट होता है तथा इसमें एक वर्णरहित स्फटिकीय पदार्थ रहता है।

(५) कोषसार :—इसमें भस्मक कण तथा नाडीसूत्रक विद्यमान रहते हैं।

(६) नाडीसूत्रक :—(Neurofibrils) :—ये कोमल सूत्र हैं जो कोषसार से प्रत्येक दिशा में जाते हैं और अक्ष तथा दन्द्र में पहुँच जाते हैं। यह समझा जाता है कि ये सूत्रक नाडीगत उत्तेजना के यथार्थ वाहक हैं, किन्तु कुछ विद्वान् यह भी समझते हैं कि यह केवल आधारभूत रचना है और उसके मध्यवर्ती पदार्थ में ही वस्तुतः वाहकता का गुण है। ये सूत्रक समूचे कोषसार में शाखायें देते हैं और इन्हें दन्द्र से अक्ष तक स्पष्टतः देखा जा सकता है। इस प्रकार अक्ष प्रत्येक दन्द्र से इनके द्वारा संबद्ध रहता है। अनुमानतः इनका स्वरूप सूक्ष्म रिक्त नलिका के समान है, जिसका समर्थन नाडियों के कुछ परिच्छेदों के देखने से होता है।
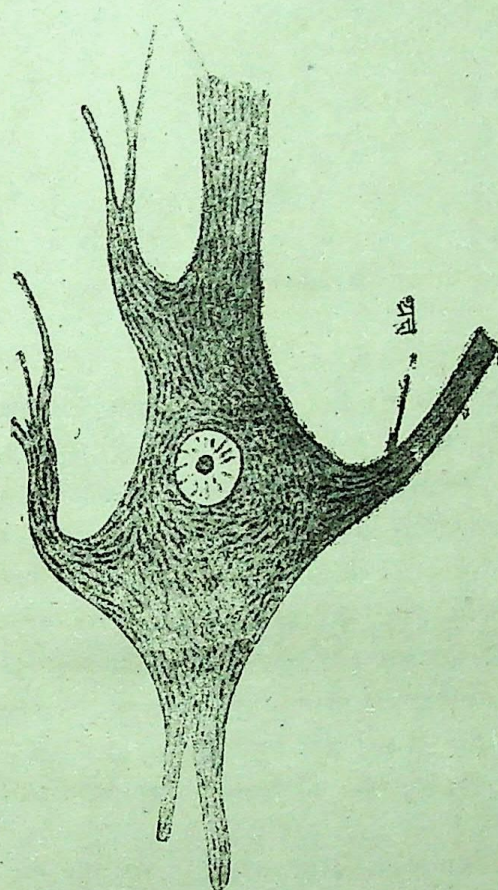
चित्र १८—शक्तिकण से युक्त एक नाडी-कोषाणु

नाडीसूत्रक तथा शक्तिकण ये दो नाडीकोषाणुओं के विशिष्ट उपादान हैं जो अन्य धातुओं के कोषाणुओं में नहीं मिलते।

(७) शक्तिकण (Nissl's granules) :—सम्पूर्ण कोषाणु के शरीर में नाडीसूत्रकों के बीच बीच में अनियमित आकार के कुछ कण होते हैं जिन्हें शक्तिकण' (Nissl's granules) कहते हैं। यह कण मेथिलिन द्रव्य से

अत्यधिक रञ्जित होते हैं। यह दन्द्रों में कुछ दूरी तक चले जाते हैं, किन्तु अक्ष या उद्भवकोण में नहीं होते। विभिन्न कोषाणुओं में इनकी संख्या और आकृति में विभिन्नता होती है तथा एक ही कोषाणु में विभिन्न परिस्थितियों में भी इनमें भिन्नता होती है। उदाहरणतः, यह निम्नलिखित अवस्थाओं में बहुत सूक्ष्म कणों में विभक्त हो जाते हैं तथा केवल कोषाणुगात्र से ही नहीं, अपितु दन्द्रों से भी लुप्त हो जाते हैं :—

(क) अत्यधिक क्रिया से कोषाणुगात्र का श्रम—यथा अपस्मार में
(ख) अक्ष से विच्छिन्न कोषाणु में
(ग) अनेक विषों की क्रिया से
(घ) अनेक मानसरोगों में
(च) पश्चिम नाडीमूलों का विच्छेद

ये कण 'रंगसार' (Chromatoplasm) नामक द्रव्य से बने हैं जो एक प्रकार का केन्द्रकमांसतत्त्व (Nucleoprotein) है जिसमें लौह का भी अंश रहता है। इसे 'शक्तिसार' भी कहते हैं क्योंकि यह नाडीगत शक्तिकोष का द्योतक है।

नाडी–कोषाणु के जीवन में इन कणों का विशेष महत्त्व है। ये कण कोषाणु की सात्मीकरण तथा पोषण की क्रिया से घनिष्ठ रूप से सम्बद्ध हैं। नाडीशक्ति के आविर्भाव के बाद ये कण लुप्त हो जाते हैं, अतः इनकी तुलना स्रावक कोषाणुओं के कणों से की जा सकती है। शक्तिप्रादुर्भावकाल में इनके लोप तथा विश्रामकाल में नये कणों के निर्माण से यह सिद्ध है कि यह नाडीकोषाणु की क्रिया के लिए सञ्चित शक्तिप्रद पदार्थों के समूहरूप हैं। कोषाणु तथा सूत्रों के पोषण पर भी यह प्रभाव डालते हैं, क्योंकि यह देखा गया है कि नाडीसूत्र का विच्छेद करने पर उसका केन्द्रीय भाग कोषाणु से संबद्ध रहने के कारण बिना परिवर्तन के चिरकाल तक बना रहता है, किन्तु प्रान्तीय भाग शीघ्र ही क्षीण होने लगता है। रक्त के द्वारा इन कणों का निर्माण होता है, इसलिए कोषाणुओं के चारों ओर रक्तवह स्रोत अत्यधिक सघन रूप में स्थित हैं।

(८) उत्तान जालक (Superficial reticulum) :—यह कोषाणुओं के पृष्ठ पर सूत्रों का एक जालक है। यह कोषाणु के बाह्य पृष्ठ पर स्थित रहता है और उसके बाह्यावरण को पूर्णतः आच्छादित किये रहता है।

(९) गंभीर जालक (Deep reticulum of golgi) :—यह उपर्युक्त जालक के समान होता है, किन्तु कोषाणु के गंभीर भागों में स्थित होता है।

इन जालकों के वास्तविक स्वरूप का ज्ञान अब तक नहीं हुआ है। कुछ

विद्वानों के मत में इनका निर्माण नाडी-सूत्रकों से है तथा कुछ विद्वान् इनकी रचना नाडयाधारवस्तु से मानते हैं।

(१०) पोषणछिद्र (Trophospongium) :—कोषाणुगात्र के कोषसार में प्रविष्ट अनेक शाखायुक्त नलिकायें हैं जो कोषाणुओं के पोषण के लिए रस पहुँचाती हैं।

(११) अक्ष (Axon or Axis Cylinder process) :—यह कोषाणु का मुख्य प्रसर भाग है। इसका उत्पत्तिस्थान उद्भवकोण (Cone of origin) कहलाता है, जहाँ शक्तिकणों का अभाव तथा नाडीसूत्रकों का बाहुल्य होता है। यह कोषाणुगात्र से शक्ति को बाहर ले जाने का स्रोत है।

यह अनेक प्रारंभिक सूत्राणुओं के मिलने से बनता है। इसके चारों ओर ओजःसार भरा रहता है। यह सूत्र के प्रारंभ से अन्त तक समान रूप से उपस्थित रहता है। सामान्यतः इससे शाखायें नहीं निकलतीं, किन्तु मस्तिष्क और सुषुम्ना में उससे समकोण पर कुछ शाखायें निकलती हैं जो सहायक शाखायें (Collaterals) कहलाती हैं। ये अक्ष से निकलकर धूसर वस्तु में पहुँचकर दन्द्र की भाँति समाप्त हो जाती हैं।

अक्ष की लम्बाई लगभग १ मिलीमीटर से १ मीटर तक या उससे कुछ अधिक होती है। अन्तिम स्थान पर पहुँच कर यह अत्यन्त सूक्ष्म सूत्रों में विभक्त हो जाता है।

(१२) दन्द्र (Dendrons) :—यह नाडीकोषाणुओं के दूसरे प्रसर भाग हैं। यह अनेक होते हैं तथा कोषाणु से निकलते ही वृक्ष के समान अनेक शाखा-प्रशाखायें देते हुये नाडीधातु के अन्य भागों में विलीन हो जाते हैं और इस प्रकार कोषाणु अनेक अन्य कोषाणुओं से क्रिया संबन्ध रखता है।

दन्द्र स्वरूपतः कोषसार के ही प्रवर्धित भाग हैं, अतः गौल्गी नामक विद्वान् ने इन्हें 'ओजःसार प्रवर्धन' की संज्ञा दी है तथा इनका कार्य पोषण माना है। कुछ कोषाणुओं में दन्द्र नहीं होते उन्हें 'दन्द्रहीन' (Adendritic) कहते हैं। ऐसे कोषाणुओं में यान्त्रिक, रासायनिक या तापसम्बन्धी उत्तेजना होने से अमीबिक गति होती है। ये उत्तेजना को ग्रहण करके कोषाणुगात्र तक पहुँचाने का कार्य करते हैं।

अक्ष और दन्द्र में अन्तर

अक्ष	दन्द्र
१. बहुत दूर जाने के बाद इसकी अन्तिम शाखायें होती हैं, जिन्हें 'अन्तर्दन्द्र' कहते हैं।	१. इसकी शाखायें बहुत होती हैं।
२. यह चिकने होते हैं तथा इनके मान में बहुत कम अन्तर होता है।	२. यह रूक्ष होते हैं तथा अतिशीघ्र मान में घटने लगते हैं।

३. आवरणयुक्त हैं।　　　　३. आवरणरहित हैं।

४. सामान्यतः शाखायें नहीं, कहीं कहीं सहायक शाखायें।　　　　४. अनियमित शाखायें।

५. शक्तिक्षेपक　　　　५. शक्तिग्राहक

(१३) रञ्जक कण (Pigment):—कुछ नाडीकोषाणुओं में केन्द्रक के निकट में रञ्जक कणों के समूह होते हैं, जिससे उनमें एक विशिष्ट रंग आ जाता है।

(१४) कला-कोष (Membranous sheath):—प्रत्येक नाडी कोषाणु कला-कोष से आवृत रहता है। यही कोष नाडीसूत्रों पर नाड्यावरण के रूप में चला जाता है।

नाडी-कोषाणुओं का वर्गीकरण

रचनात्मक दृष्टिकोण से अक्ष की उपस्थिति एवं संख्या के अनुसार नाडी कोषाणु के निम्नांकित प्रकार किये गये हैं:—

१. अनक्षक (Apolar)　　　　२. एकाक्षक (Unipolar)
३. द्व्यक्षक (Bipolar)
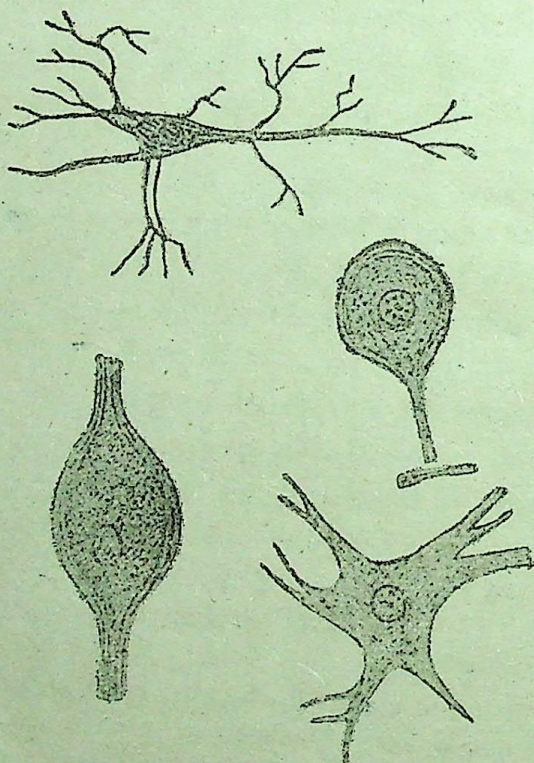
चित्र १९—विभिन्न आकार के नाडी-कोषाणु

१ सूच्याकार (बहुध्रुवीय)। २ एकध्रुवीय। ३ द्विध्रुवीय। ४ बहुध्रुवीय।

४. लघु बहुध्रुवक (Multipolar or Type I of Golgi.)
५. स्तूपाकार (Pyramidal)
६. प्रकिञ्जय कोषाणु (Purkinje cells)
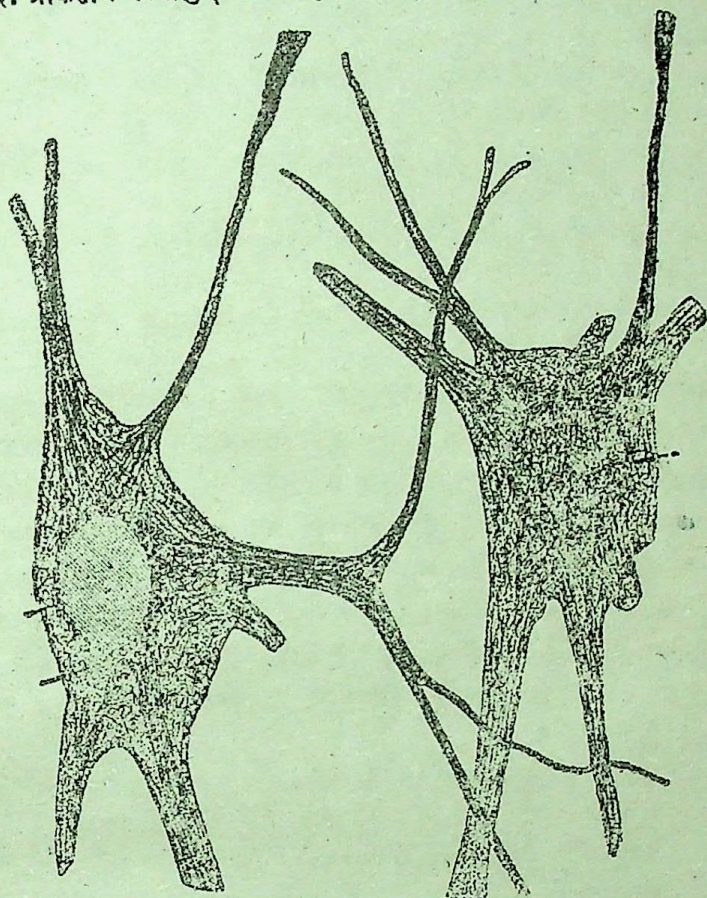
चित्र २०—नाडी-कोषाणु में सूक्ष्म सूत्रिकायें

७. दीर्घ बहुध्रुवक (Cells type II of Golgi)

क्रियात्मक दृष्टिकोण से नाडीकोषाणु के निम्नांकित विभाग किये गये हैं—

१. संज्ञावह मूलकोषाणु (Afferent root cells)
२. चेष्टावह मूलकोषाणु (Efferent root cells)
३. मध्यस्थ कोषाणु (Intermediary cells)
४. वितरक कोषाणु (Distributing cells)

नाडीसूत्र (Nerve Fibres)

ये सूत्र नाडीकोषाणुओं से ही निकलते हैं और कोषाणु से निकला हुआ अक्ष सूत्र का अक्ष बन जाता है। ये सूत्र प्रान्तीय नाडियों तथा मस्तिष्क और सुषुम्ना के श्वेत भाग में पाये जाते हैं।

नाडीसूत्रों का वर्गीकरण

रचना की दृष्टि से—ये सूत्र प्रथम दो प्रकार के किये गये हैं और पुनः प्रत्येक के दो भाग किये गये हैं। इस प्रकार चार प्रकार के नाडी-सूत्र होते हैं :—

१. आवृत मेदस नाडीसूत्र (MedullatedNerve fibres withNeurilemma Sheath)
२. अनावृत मेदस नाडी सूत्र (Medullated Nerve fibres without N. Sheath)
३. आवृत अमेदस नाडीसूत्र (Non-Medullated N. fibres with thin N. Sheath)
४. अनावृत अमेदस नाडीसूत्र (Non-medullated fibres without N. Sheath)

प्रथम प्रकार के सूत्र मस्तिष्क-सौषुम्निक नाडियों में तथा द्वितीय प्रकार के सूत्र मस्तिष्क एवं सुषुम्ना के श्वेत भाग में पाये जाते हैं। ये सूत्र श्वेतवर्ण के होने के कारण श्वेत सूत्र भी कहे जाते हैं। तृतीय प्रकार को 'रेमक के सूत्र' (Remak's Fibres) भी कहते हैं और वह सांवेदनिक नाडीतन्त्र में अधिक संख्या में पाये जाते हैं। चतुर्थ प्रकार में कोई आवरण नहीं होता अतः उसे 'नग्न सूत्र' (Naked fibres) भी कहते हैं और वह विशेषतः मस्तिष्क तथा सुषुम्ना के धूसर भाग में पाये जाते हैं। यह सूत्र धूसर वर्ण होने के कारण धूसर सूत्र भी कहे जाते हैं। क्रिया के दृष्टिकोण से भी इसके चार विभाग किये गये हैं[1] :—

१. अन्तर्मुखी या संज्ञावह—(Afferent or Sensory)—प्रान्तीय धातुओं से।
२. बहिर्मुखी या चेष्टावह—(Efferent or Motor)—मस्तिष्क और सुषुम्ना से।

---

१. आयुर्वेदिक दृष्टि से 'नाडी' वातवह स्रोत है। चरकोक्त वातकलाकलीय अध्याय में निर्दिष्ट वात के कार्यों से नाडी के कार्यों पर प्रकाश पड़ सकता है यथा :—

वायुस्तन्त्रयन्त्रधरः, प्राणोदानसमानव्यानापानात्मा, प्रवर्तकश्चेष्टानामुच्चावचानाम्, नियन्ता प्रणेता च मनसः, सर्वेन्द्रियाणामुद्योजकः सर्वेन्द्रियार्थानामभिवोढा, सर्वशरीरधातुव्यूहकरः, सन्धानकरः शरीरस्य, प्रवर्तको वाचः, प्रकृतिः स्पर्शशब्दयोः, श्रोत्रस्पर्शनयोर्मूलं, हर्षोत्साहयोर्योनिः, समीरणोऽग्नेः, संशोषणो दोषाणां, क्षेप्ता बहिर्मलानां, स्थूलाणुस्रोतसां भेत्ता, कर्ता गर्भाकृतीनां आयुषोऽनुवृत्तिप्रत्ययभूतो भवत्यकुपितः।'—च० सू० १२

३. संयोजक—(Association fibres)—सुषुम्नाकाण्ड के समानान्तर
४. स्वस्तिक—(Commisural)—स्वस्तिकाकार स्थित।

नाडीसूत्रों की लम्बाई में बहुत भिन्नता होती है। कंकाल पर लगी पेशियों को जाने वाले सूत्र बहुत लम्बे होते हैं। सब से छोटे सूत्र स्वतन्त्र नाडीमण्डल में मिलते हैं, जो आशयों को जाते हैं।

मेदस सूत्र

चित्र २१—मेदस नाडीसूत्र
अ—नाडीसूत्रावरण
क—सूत्रावरण का केन्द्रक जिसके भीतर की ओर गहरे कालेरङ्ग का मेदस पिधान स्थित है।
च—नाडीपर्व।
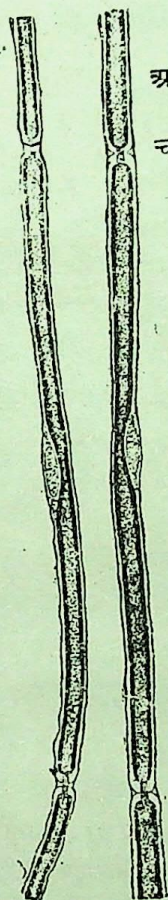
इस नाडीसूत्र के बीच में अक्ष रहता है और उसके चारों ओर वसानिर्मित आवरण चढ़ा रहता है जिसे 'मेदस पिधान' (Medullary Sheath) कहते हैं। इन सब को बाहर से आच्छादित किये हुये एक सूक्ष्म आवरण होता है, जिसे 'नाड्यावरण' (Neurilemma) कहते हैं।

मेदस पिधान वसामय वस्तु का बना होता है, जो तरल अवस्था में रहती है और अक्ष की चारों ओर से रक्षा करती है। सूत्र में लगभग आधा भाग इस पिधान का होता है। यह सूत्र की लंबाई में निरंतर नहीं होता। स्थान-स्थान पर वह अनुपस्थित हो जाता है जिससे पिधान के दो भागों के बीच में अन्तर दिखाई देने लगता है। इससे सूत्र के बीच में ग्रन्थि के समान रचना दिखलाई देती है। इसे 'नाडीपर्व' (Ranvier's nodcs) कहते हैं। इन ग्रन्थियों का नाडीसूत्र के पोषण में महत्त्वपूर्ण स्थान है। दो ग्रन्थियों के बीच का भाग अन्तःपर्व (Internode) कहलाता है। प्रत्येक अन्तः पर्व के मध्य में एक केन्द्रक होता है। यद्यपि ये केंद्रक मेदस पिधान में स्थित प्रतीत होते हैं, तथापि वस्तुतः इनका संबन्ध नाड्यावरण से ही पाया जाता है। जिन सूत्रों में यह आवरण नहीं होता, उनमें ये केन्द्रक नहीं पाये जाते। मेदस पिधान जिस वस्तु का बना होता है उसे 'मायलिन (Myelin) कहते हैं। सूत्र को कोषाणु से विच्छिन्न करने पर सर्वप्रथम इसी पिधान में क्षय की क्रिया प्रारम्भ होती है।

नाड्यावरण का स्तर सूत्र निरन्तर चढ़ा रहता है। कुछ विद्वानों का जो विचार है कि यह आवरण वस्तुतः निरन्तर नहीं होता, किन्तु ग्रन्थि-भाग पर दो भागों में आवरण परस्पर संयोजक धातु द्वारा जुड़े रहते हैं। यदि सूत्र पर सिलवर नाइट्रेट का विलयन डाला जाय, तो ग्रन्थि पर विलयन आवरण में प्रविष्ट हो जाता है और प्रकाश डालने पर यह स्थान काला दिखाई देता है। इसके कारण अक्ष में इन इन स्थानों पर काले रंग की स्वस्तिकायें बन जाती हैं, जिन्हें 'रेनवियर की स्वस्तिकायें' (Ranvier's Crosses) कहते हैं।

अमेदस सूत्र
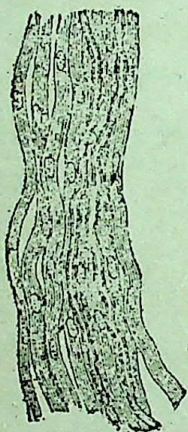
ये सूत्र स्वतन्त्र नाडीमण्डल के गण्डकाषाणुओं से संबद्ध रहते हैं और उनके अक्ष बनाते हैं। प्रत्येक सूत्र केवल अक्ष का बना होता है जिसमें स्थान स्थान पर केन्द्रक पाये जाते हैं। इस प्रकार के सूत्र स्वतन्त्र पेशियों तथा उद्रेचक ग्रंथियों के कोषाणुओं में मिलते हैं।

चित्र २२—अमेदस नाडीसूत्र

नाड्याधार वस्तु

यह नाडीतन्त्र की आधारवस्तु है जो कोषाणुओं और सूत्रों से बनी होती है। इसके सूक्ष्म सूत्रों के जालक नाडी-कोषाणुओं और सूत्रों के बीच में फैले रहते तथा उनको आश्रय प्रदान करते हैं। सुषुम्नाकाण्ड की मध्यनलिका में इसका अधिक परिमाण पाया जाता है। धूसरवस्तु में इसके सूत्रों के जालक विरल एवं श्वेतवस्तु में सघन होते हैं।

नाडी

एक सामान्य नाडी अनेक नाडीसूत्र—गुच्छों से बनती है। नाडी का सबसे बाहरी आवरण बहिःसूत्रावरण (Epineurium), गुच्छों के ऊपर का आवरण परिसूत्रावरण (Porineurium) तथा गुच्छगत प्रत्येक सूत्र का आवरण अन्तःसूत्रावरण (Endoneurium) कहलाता है।

नाडीसन्धि (Synapse)

दो नाड्यणुओं की परस्पर सन्धि को 'नाडीसन्धि' कहते हैं। नाडी की क्रियाओं में इसका अत्यन्त महत्त्वपूर्ण भाग होता है।

नाडीसन्धि की विशेषतायें

(१) इसमें अक्ष और दन्द्र की शाखाओं में परस्पर साक्षात् संबन्ध नहीं होता, बल्कि उनकी शाखायें एक दूसरे के ऊपर और नीचे (दन्द्र की शाखायें ऊपर और अक्ष की नीचे) रहती हैं जिससे वहाँ पर उन शाखाओं का जाल सा बन जाता है।

(२) इस सन्धितल में नाडीगत उत्तेजना की दिशा निश्चित होती है। अक्ष के द्वारा जो उत्तेजना आती है, उसे दूसरे केन्द्र के दन्द्र ग्रहण कर लेते हैं। इस प्रकार उत्तेजना के प्रवाह की दिशा अक्ष से दन्द्र की ओर रहती है। विपरीत दिशा में उत्तेजना की गति नहीं हो सकती।

(३) नाडीसूत्र में स्वतन्त्र रूप से जो उत्तेजना की गति होती है, संधिस्थल में उससे कम होती है। इसका कारण यह है कि यहाँ पर उत्तेजना के प्रवाह में एक प्रकार की बाधा होती है, जिससे उसको दूसरे कोषाणु तक पहुँचने में अधिक समय लगता है।

चेष्टावह नाडियों का पेशियों में वितरण

परतन्त्र पेशियों में चेष्टावह नाडियों का अन्त विशिष्ट रचनाओं में होता है, जिन्हें 'अन्त्य भाग' (Endplates) कहते हैं। पेशियों में जाने पर नाडीसूत्रों का विभाग होने लगता है, जिससे प्रत्येक पेशीसूत्र में एक-एक नाडीसूत्र पहुँच जाता है। मेदस पिधान समाप्त हो जाता है, किन्तु नाड्यावरण निरन्तर बढ़ता जाता है और मांसावरण में परिणत हो जाता है। चेष्टावह नाडियों के अतिरिक्त संज्ञावह नाडियों के अन्त्य भाग भी पेशी में होते हैं।

स्वतन्त्र पेशियों में नाडीसूत्र जो अधिकांश अमेदस होते हैं, चक्रों और जालकों के रूप में पहुंचते हैं।

नाडीसूत्र का कार्य

नाडीसूत्र के अक्ष का कार्य नाडीजन्य उत्तेजना का वहन करना है। मेदस कोष का कार्य सूत्र की रक्षा और पोषण करना है। यह नाडीगत उत्तेजना को निश्चित दिशा में रखने का भी कार्य करता है। नाड्यावरण आधारभूत एवं रक्षक कला होने के अतिरिक्त नाडी की पुनरुत्पत्ति में भी महत्त्वपूर्ण योग देता है।

नाडी में संज्ञावह नाडीसूत्र

नाडियों में छोटे-छोटे संज्ञावह सूत्र होते हैं जिन्हें 'सूत्रगत नाडी (Nervi Nervosum) कहते हैं। यह बाह्य नाड्यावरण में समाप्त हो जाते हैं।

जीवरसायन का क्रियाशारीर में उपयोग

सभी प्राणियों के शरीर में निरन्तर रासायनिक परिवर्तन होते रहते हैं जिनसे प्राणी को शक्ति प्राप्त होती रहती है। शरीर में आहार-द्रव्यों के ओषजनीभवन से यह शक्ति उत्पन्न होती है। यह शक्ति अधिकांश ताप के रूप में व्यक्त होती है जो शरीर का तापक्रम बाह्य वातावरण की अपेक्षा अधिक रखता है और जिसके कारण शक्ति तीव्रतर गति से उपलब्ध होती रहती है। थोड़ी शक्ति का उपयोग कार्य में होता है। यह कार्य अनेक प्रकार का हो सकता है यथा—

१. यान्त्रिक कार्य—अङ्गचेष्टा, हृदयगति आदि।

२. व्यापनीय कार्य—रक्त की अपेक्षा अधिक व्यापन भार से पूयोत्पत्ति।

३. वैद्युत कार्य—अवयवों में विद्युत की उत्पत्ति।

४. रासायनिक कार्य—ग्लुकोज के द्वारा ग्लाइकोजन की उत्पत्ति।

५. जैव कार्य—कोषाणुओं तथा मूलधातुओं की साम्यस्थिति।

ताप की उत्पत्ति तथा कार्य प्राणी की मृत्यु होने पर समाप्त हो जाते हैं अतः ये जीवित प्राणी के प्रमुख चिह्न हैं।

जीवित शरीर में एक विशिष्ट शक्ति होती है कि वह अनेक द्रव्यों का ओषजनीकरण कम तापक्रम पर तथा उदासीन विलयन में कर सकता है। इसके अतिरिक्त द्रव्यों के ओषजनीकरण के लिए विशिष्ट परिस्थितियाँ अपेक्षित होती हैं। इस प्रकार उत्पन्न शक्ति का उपयोग अपनी समस्थिति तथा वृद्धि के लिए भी मूलधातु करते हैं।

ताप-विज्ञान (Thermodynamics)

शक्ति-विनिमय से संबद्ध विज्ञान ताप-विज्ञान कहलाता है। प्रस्तुत प्रकरण में सजीव मूलधातुओं के विषय में प्रयुक्त ताप-विज्ञान के कुछ नियमों का उल्लेख यहाँ किया जा रहा है :—

प्रथम नियम

पहला नियम शक्ति-अभिरक्षण (Conservation of energy) का है। इसका अर्थ है कि कोई शक्ति न तो उत्पन्न हो सकती है और न विनष्ट; उसका केवल रूपान्तरमात्र होता है। उदाहरण के लिए, हृदयस्पन्दन के समय सञ्चित रासायनिक शक्ति यान्त्रिक शक्ति तथा ताप शक्ति में परिणत होती है। रासायनिक परिवर्त्तनों के फलस्वरूप उन्मुक्त शक्ति, यान्त्रिक शक्ति तथा ताप शक्ति के समान होगी। उन्मुक्त शक्ति कार्य करने में उपयुक्त होती है। जब कोई काम किया जाता है तब उसमें कुछ शक्ति क्षीण होती है और यह ताप के रूप में प्रकट होती है। यदि किसी रासायनिक प्रतिक्रिया से उन्मुक्त शक्ति

का क्षय होता है तो उसे बहिर्मुखी (Exergonic) और जब इसमें वृद्धि होती है तो उसे अन्तर्मुखी (Endergonic) कहते हैं। बहिर्मुखी प्रतिक्रिया से ताप अधिक उत्पन्न होता है और उन्मुक्त शक्ति कम होती है। इसके विपरीत, अन्तर्मुखी प्रतिक्रिया से ताप कम उत्पन्न होता है तथा कार्य के लिए उन्मुक्त शक्ति अधिक उपलब्ध होती है। उदाहरणार्थ, ग्लुकोज के ओषजनीभवन में अधिक ताप उत्पन्न होता है फलतः उन्मुक्त शक्ति कम होती है अतः यह प्रक्रिया बहिर्मुखी है।

द्वितीय नियम

शारीरिक संस्थान में परिवर्तनों से ताप की उत्पत्ति होती है। किसी संस्थान में अन्तर्मुखी प्रक्रियाओं के साथ साथ बहिर्मुखी प्रक्रियायें भी चलती रहती हैं क्योंकि अन्तर्मुखी प्रक्रियाओं के लिए बाह्य शक्ति की आवश्यकता पड़ती है। अन्तर्मुखी प्रतिक्रियायें घड़ी में चाभी देने के समान हैं जिसमें बाह्य शक्ति का उपयोग होता है। बहिर्मुखी प्रतिक्रियायें उसके बाद अपने आप घड़ी चलते रहने के समान हैं।

धातुपाक की प्रक्रियाओं में इन नियमों का उपयोग महत्वपूर्ण है। प्राणियों के शरीर में शक्ति आहार-द्रव्यों से प्राप्त होती है। इनके ओषजनीभवन से ताप की उत्पत्ति होती है अतः ये प्रक्रियायें बहिर्मुखी हैं। यह प्रक्रियायें विभिन्न किण्वतत्वों तथा सह-किण्वतत्वों की सहायता से होती हैं क्योंकि आहार-द्रव्य स्वतः सौम्य हैं और इनका ज्वलन सामान्य परिस्थितियों में संभव नहीं है। दूसरी ओर, शरीर के धातुनिर्माण की प्रक्रिया होती रहती है जो अन्तर्मुखी है। यह तभी संभव है जब कि बाह्य शक्ति प्राप्त होती रहे। यह शक्ति बहिर्मुखी प्रक्रियाओं द्वारा प्राप्त होती रहती है। इस प्रकार बहिर्मुखी तथा अन्तर्मुखी दोनों प्रक्रियाओं के समन्वयात्मक संचालन से धातुपाक की क्रियायें स्वाभाविक रूप में होती रहती हैं।

उच्च प्राणियों के लिए आहार-द्रव्य शक्ति के एकमात्र साधन हैं। अतः आहार द्रव्य ऐसे रासायनिक यौगिक होने चाहिए जो उन्मुक्त शक्ति की आपूर्ति कर सकें। यह शक्ति आहार-द्रव्यों के कार्बन द्विओषिद्, जल तथा अन्य मलों के रूप में परिणत होने से उपलब्ध होती है। ऐसे यौगिक, मांसतत्व, स्नेह तथा शाकतत्व हैं। यह वनस्पतियों में संघटित होते हैं जिसमें सूर्य-शक्ति का उपयोग होता है। इसे रश्मिसंघटन (Photosynthesis) कहते हैं। प्राणियों की शक्ति का मूल स्रोत सूर्यरश्मि ही है।

आयुर्वेद का भौतिक-रासायनिक सिद्धान्त
(Physico-Chemical Concept)

पञ्चमहाभूतवाद

आयुर्वेद में शरीर की पूर्वोक्त भौतिक एवं रासायनिक क्रियाओं की व्याख्या पञ्चमहाभूत के द्वारा की जाती है। पहले कहा जा चुका है कि शरीर पाञ्चभौतिक है, इसके सभी उपादान कोषाणु, मूलधातु, यन्त्र-तन्त्र, दोष-धातु-मल पाञ्चभौतिक हैं। आहार भी पाञ्चभौतिक है तथा शरीर में विभिन्न अग्नियों के द्वारा इसका जो परिणमन होता है वह वस्तुतः भौतिक परिवर्तन ही है।[1] विभिन्न विपाक भूतों के उत्कर्षापकर्ष के ही परिणामस्वरूप होते हैं।[2] इसी प्रकार औषध-द्रव्य भी पाञ्चभौतिक हैं तथा अपने गुणों से शरीर के तत्तद् गुणों को प्रभावित करते हैं।[3] अतएव राजर्षि सुश्रुत ने कहा कि भूतों के अतिरिक्त चिकित्सा शास्त्र में कुछ विचारणीय है ही नहीं।[4]

भूत, महाभूत और दृश्यभूत

तन्मात्रा, परमाणु या सूक्ष्म रूप में इनकी संज्ञा भूत है। ये नित्य हैं, सभी कार्यद्रव्य इन्हीं से उत्पन्न होते हैं।[5] तन्मात्राओं से महाभूत उत्पन्न होते हैं। ये स्थूल होते हैं। उत्तरोत्तर महाभूतों में तन्मात्रायें अनुप्रविष्ट होती हैं अर्थात् आकाश महाभूत में तो केवल शब्दतन्मात्रा होती है किन्तु

---

१. पञ्चभूतात्मके देहे ह्याहारः पाञ्चभौतिकः।
विपक्वः पञ्चधा सम्यक् स्वान् गुणानभिवर्धयेत् ॥—सु. सू. ४६।५८६
यथास्वं स्वं च पुष्णन्ति देहे द्रव्यगुणाः पृथक्।
पार्थिवाः पार्थिवानेव शेषाः शेषांश्च कृत्स्नशः ॥—च. चि. १५।१४

२. द्रव्येषु पच्यमानेषु येष्वम्बुपृथिवीगुणाः।
निर्वर्तन्तेऽधिकास्तत्र पाको मधुर उच्यते ॥
तेजोऽनिलाकाशगुणाः पच्यमानेषु येषु तु।
निवर्तन्तेऽधिकास्तत्र पाकः कटुक उच्यते ॥—सु. सू. ४०।९-१०

३. गुणा य उक्ता द्रव्येषु शरीरेष्वपि ते तथा।
स्थानवृद्धिक्षयास्तस्माद् देहिनां द्रव्यहेतुकाः ॥—सु. सू. ४१।१४

४. भूतेभ्यो हि परं यस्मान्नास्ति चिन्ता चिकित्सिते।—सु. शा. १।९

५. भवन्ति उत्पद्यन्ते येभ्य इति भूतानि।
भवन्ति नित्यं सत्तामनुभवन्ति इति भूतानि।
नित्यत्वे सति गुणवत् समवायिकारणत्वं भूतत्वम् ॥
यादव जी (चोपड़ा कमिटी रिपोर्ट, भाग १)

वायु महाभूत में स्पर्शतन्मात्रा के साथ शब्दतन्मात्रा भी अनुप्रविष्ट रहती है अतः उसमें आकाश के गुण भी विद्यमान रहते हैं। इसी प्रकार अग्निमहाभूत में आकाश-वायु के; अप् महाभूत में आकाश–वायु–अग्नि के तथा पृथिवी महाभूत में आकाश–वायु–अग्नि–अप् इन चारों के अनुप्रवेशजन्य गुण उपलब्ध होते हैं।[1] वैशेषिक के परमाणुवाद के शब्दों में, दो परमाणुओं के मिलने से द्व्यणुक, तीन द्व्यणुकों के मिलने से त्रसरेणु बनता है। त्रसरेणु की स्थिति में ही भूतों में महत्त्व (स्थूलता) आता है और उनकी संज्ञा महाभूत होती है। पूर्वोक्त क्रमसे वायु-त्रसरेणु में आकाश का त्रसरेणु अनुप्रविष्ट होता है तथा उत्तरोत्तर महाभूतों में भी इसी प्रकार से अनुप्रवेश-क्रम होता है। इसे अन्यानुप्रवेश कहते हैं।

इन महाभूतों के मिश्रण से जगत के दृश्य भूतों की उत्पत्ति होती है। इस प्रक्रिया को अन्योन्यानुप्रवेश या पञ्चीकरण कहते हैं। इस प्रकार सभी दृश्य पदार्थ पाञ्चभौतिक होते हैं केवल महाभूतों के उत्कर्ष के अनुसार उनकी संज्ञा पार्थिव, आप्य आदि होती है।[2]

महाभूतों के विशिष्ट गुण

आकाश, वायु, अग्नि, अप् तथा पृथिवी इन पाँच महाभूतों में क्रमश शब्द, स्पर्श, रूप, रस तथा गन्ध ये विशिष्ट गुण होते हैं[3] जिनका ग्रहण विशिष्ट इन्द्रियों—श्रोत्र, त्वक्, चक्षु, रसना तथा घ्राण—के द्वारा होता है।

---

१. तेषामेकगुणः पूर्वो गुणवृद्धिः परे परे।
पूर्वः पूर्वगुणश्चैव क्रमशो गुणिषु स्मृतः॥—च. शा. १।२८

२. अन्योन्यानुप्रविष्टानि सर्वाण्येतानि निर्दिशेत्।
स्वे स्वे द्रव्ये तु सर्वेषां व्यक्तं लक्षणमिष्यते॥—सु. शा. १।१४

'तत्र पृथिव्यप्तेजोवाय्वाकाशानां समुदायाद् द्रव्याभिनिर्वृत्तिः, उत्कर्षस्त्वभिव्यञ्जको भवति इदं पार्थिवमिदमाप्यमिदं तैजसमिदं वायव्यमिदमाकाशीयमिति।' —सु. सू. ४१।३

'परस्परसंसर्गात् परस्परानुग्रहात् परस्परानुप्रवेशाच्च सर्वेषु सर्वेषां सान्निध्यमस्ति। उत्कर्षापकर्षात्तु ग्रहणम्।' —सु. सू. ४२।३

३. महाभूतानि खं वायुरग्निरापः क्षितिस्तथा।
शब्दः स्पर्शश्च रूपं च रसो गन्धश्च तद्गुणाः॥—च. शा. १।२७

इन विशिष्ट ज्ञानेन्द्रियग्राह्य गुणों के अतिरिक्त इनमें स्पर्शेन्द्रियग्राह्य विशिष्ट गुण भी होते हैं।[1] यथा—

१. पृथिवी—खर २. जल—द्रव ३. वायु—चल
४. तेज—उष्ण ५. आकाश—अप्रतीघात

महाभूत	गुण	ज्ञानेन्द्रिय	स्पर्शनेन्द्रिय-ग्राह्य गुण
१. आकाश	शब्द	श्रोत्र	अप्रतीघात
२. वायु	स्पर्श	त्वक्	चलत्व
३. अग्नि	रूप	चक्षु	उष्णत्व
४. जल	रस	रसना	द्रवत्व
५. पृथिवी	गन्ध	घ्राण	खरत्व

---

१. खरद्रवचलोष्णत्वं भूजलानिलतेजसाम् ।
स्याप्रतीघातो दृष्टं लिंगं यथाक्रमम् ॥—च. शा. १।२९

तृतीय अध्याय

धातु

निरुक्ति एवं लक्षण

'धा धारणपोषणयोः' धातु से 'धातु' शब्द निष्पन्न हुआ है। इसके अनुसार जो शरीर का धारण और पोषण करे उसे धातु कहते हैं।[1] सुश्रुत (सू. १४।२०) ने 'शरीरधारणाद् धातवः' ऐसा लक्षण किया है; यहाँ धारण शक्ति से पोषण भी अभिप्रेत है। उपधातुओं में किंचिद् धारकत्व होने पर भी पोषकत्व के अभाव से धातुत्व नहीं है। शुक्र ओजःपोषक तथा शरीरधारक होने से धातु है ही। ओज शरीर का धारक है, पोषक नहीं अतः इसकी गणना धातुओं में नहीं की गई है। साम्यावस्था में स्थित दोषों में जो 'धातु' शब्द का प्रयोग होता है वह गौण है मुख्य नहीं।[2]

संख्या

आयुर्वेद में सात धातु माने गये हैं—रस, रक्त, मांस, मेद, अस्थि, मज्जा और शुक्र।[3] ओज सातों धातुओं का सार होने के कारण वह पृथक् धातु परिगणित न होकर सात धातुओं में ही अन्तर्भूत है। स्त्रियों और बालकों में शुक्र अव्यक्त होता है जो कालविशेष में व्यक्त होता है। अतः उनमें भी सप्तधातुत्व की हानि नहीं होती।

सप्तधातुवाद आयुर्वेद का एक विशिष्ट धातुपाक—सिद्धान्त (Metabolic Concept) है।

धातुपाक

जो आहार हम लेते हैं उसके पाचन के बाद आहार-रस बनता है तथा

---

१. शरीरधारकतया धात्वन्तरपोषकतया च धातुशब्देनोच्यन्ते'
—चक्रपाणि—च. चि. १५

धातवो देहधारणात्—शा. पू. ५।२४

प्रीणनस्नेहनाद्येन कर्मणा जीवनेन च।
देहं दधति पुष्णन्ति सर्वदा ते हि धातवः॥—स्व.

२. चक्रपाणि—सु. सू. १३।२०

३. रसासृङ्मांसमेदोऽस्थिमज्जशुक्राणि धातवः—अ. हृ. सू. १।१३

रसाद्रक्तं ततो मांसं मांसान् मेदस्ततोऽस्थि च।
अस्थ्नो मज्जा ततः शुक्रं शुक्राद् गर्भः प्रसादजः॥—च. चि. १५।१६

मूत्र पुरीष ये मल बनते हैं।[1] इस आहार-रस का रसाग्नि से पाक होकर रस धातु बनता है साथ-साथ मलरूप में कफ की उत्पत्ति होती है। इस प्रकार प्रत्येक पाक के परिणामस्वरूप प्रसादभाग और मलभाग बनते हैं। प्रसाद भाग में भी एक स्थूल अंश होता है जो स्थायी या पोष्य भाग कहलाता है और दूसरा सूक्ष्म अंश पोषक भाग होता है जिससे अगले धातु का पोषण होता है।[2] इसी प्रकार आगे भी रक्त आदि धातुओं का अपनी-अपनी अग्नि से पाक होकर प्रसाद मल में विभाग होकर प्रसाद भाग के स्थायी और पोषक दो अंश बनते हैं।[3] अन्तिम धातु शुक्र में मल भाग नहीं होता केवल प्रसाद भाग होता है। इस धातुपाक-प्रक्रिया को निम्नांकित सूत्र से स्पष्ट किया जा सकता है :—

प्रसाद भाग से स्तन्य आदि उपधातुओं का भी पोषण होता है।

तालिका १

संख्या	धातु	अग्नि	स्थूलांश	सूक्ष्मांश	मल
१	रस	रसाग्नि	रस	रक्त	कफ, लसीका
२	रक्त	रक्ताग्नि	रक्त	मांस	पित्त
३	मांस	मांसाग्नि	मांस	मेद	कर्ण-नासा-अक्षि-प्रजननादि स्रोतोमल
४	मेद	मेदोग्नि	मेद	अस्थि	स्वेद
५	अस्थि	अस्थ्यग्नि	अस्थि	मज्जा	केशलोम-श्मश्रु
६	मज्जा	मज्जाग्नि	मज्जा	शुक्र	नेत्र-पुरीषत्वक्स्नेह
७	शुक्र	शुक्राग्नि	शुक्र	ओज	×

१. विण्मूत्रमाहारमलः सारः प्रागीरितो रसः—सु. सू. ४६।५२८

२. द्विविधो रसः स्थायी पोषकश्च—चक्रपाणि—च. चि. १५।१७

स्थूलाण्वंशमलैः सर्वे भिद्यन्ते धातवस्त्रिधा।
स्वःस्थूलोंऽशः परं सूक्ष्मस्तन्मलं याति तन्मलः॥
डल्हण द्वारा उद्धृत सु. सू. १४।१०

३. सप्तभिर्देहधातारो धातवो द्विविधं पुनः।
यथास्वमग्निभिः पाकं यान्ति स्नेहप्रसादवत्॥—च. चि. १५।१५

धातुनिर्माण-परम्परा

आहाररस के द्वारा उत्तरोत्तर सभी धातुओं का पोषण होता है। यह कैसे होता है इस संबन्ध में तीन मत प्रचलित हैं[1] :—

१. क्षीरदधिन्याय। २. केदारीकुल्यान्याय। ३. खलेकपोतन्याय।

१. क्षीरदधिन्याय

इसे सर्वात्मपरिणामपक्ष भी कहते हैं। इसके अनुसार पूर्वधातु उत्तर धातु में सर्वात्मना परिणत हो जाता है यथा दूध दही के रूप में, दही मक्खन के रूप में तथा मक्खन घी के रूप में परिणत हो जाता है। इस प्रकार इस मत से रसधातु पूर्णतः रक्तधातु में परिणत हो जाता है तथा आगे भी पूर्व धातु से उत्तरधातु का निर्माण इसी क्रम से होता है।[2] चरक के ग्रहणी चिकित्सा-प्रकरण (चि० १५) में इसका विस्तार से प्रतिपादन किया गया है किन्तु चक्रपाणि का इस पर व्याख्यान मिलने से इस अंश को अनार्ष मानते हैं। यह स्मरणीय है कि यह अध्याय मूल चरक का न होकर दृढबल द्वारा प्रतिसंस्कृत अंश का है। अतः दृढबल (चौथी शती) इस मत के अनुयायी या प्रवर्त्तक थे यह कहा जा सकता है।

इस मत के विरुद्ध यह आपत्ति उठाई गई है कि यदि यह माना जाय कि एक धातु सर्वात्मना दूसरे धातु में परिणत हो जाता है तो तीन-चार दिन उपवास करने के बाद शरीर में रस का अभाव हो जाना चाहिए क्योंकि तब तक वह सर्वात्मना रक्तरूप में परिणत हो चुका होगा। इसी प्रकार एक मास तक उपवास करने पर शरीर में केवल शुक्रधातु ही उपलब्ध होना चाहिए क्योंकि तब तक सभी पूर्वधातु उत्तरोत्तर धातुओं में सर्वात्मना परिणत होते हुए शुक्रधातु तक पहुँचे होंगे। किन्तु व्यवहार में ऐसा नहीं देखा जाता। शरीर में एक साथ ही सर्वदा सभी धातुओं की सत्ता होती है।

अष्टांगसंग्रहकार ने इस मत का स्पष्टीकरण किया है। इनका कथन है

---

१. क्षीरदधिन्याय-केदारिकुल्यान्याय-
खलेकपोतन्यायात् त्रिधा धातुपोषणक्रमः।—चक्रपाणि सु. सू. १४।१०

२. अत्रापि च पक्षे केचिद् ब्रुवते—क्षीराद् यथा सर्वात्मना दधि भवति तथा कृत्स्नो रक्तो रक्तं भवति, एवं रक्तादयोऽपि मांसादिरूपा भवन्ति।'
—चक्रपाणि च. सू. २८।४

इसके अतिरिक्त देखें चक्रपाणि-व्याख्या—च. चि. १५।१६,१७ तथा सु. सू. १४।१०.

कि पूर्वधातु का सारभाग ही उत्तरधातु में परिणत होता है पूर्णतः नहीं यथा रस का सार रक्त, रक्त का सार मांस इत्यादि।[1]

डल्हण ने भी क्षीरदधिन्याय का समर्थन किया है। उनका कथन है कि रस यकृत्प्लीहा में पहुँच कर रञ्जित होकर रक्तसंज्ञा प्राप्त करता है (सु० सू० १४।४) इससे स्पष्ट ज्ञात होता है कि रस से सर्वात्मना रक्त ही बनता है अन्य धातु नहीं। इसमें यह शंका उठती है कि यदि एक ही काल में रसादि धातु रक्तादि धातुओं में परिणत हो जायँ तो सभी की सत्ता समाप्त हो जायगी और यदि क्रमिक परिणाम मानें तब भी पूर्वधातु का ह्रास तथा उत्तरधातु का बाहुल्य होना चाहिए किन्तु ऐसा नहीं होता। इसका समाधान इस प्रकार होता है कि रस आदि धातुओं के त्रिविध परिणाम होते हैं—मलभाग, स्थूलभाग तथा अणुभाग। इनमें मलभाग तो परित्यक्त हो जाता है और शेष प्रसादभाग के स्थूलभाग से उसी धातु का पोषण होता है तथा अणुभाग की परिणति उत्तरधातु में होती है। इस प्रकार स्थूलरूप से पूर्वधातु के बने रहने पर उसके पूर्णतः उत्साद का प्रश्न ही नहीं उठता[2]।

वस्तुतः क्षीरदधिन्याय में जो उदाहरण दिये गये हैं उनमें दूध से दही का निर्माण तो सर्वात्मना होता है किन्तु उसके बाद का परिणाम आंशिक रूप से ही होता है। यथा दही से जो नवनीत बनता है वह उसका अणु सारभाग ही होता है, शेष स्थूलभाग दही के रूप में ही रहता है। अतः 'सर्वात्म' या 'स्वात्म' शब्द से आत्मसदृश अणु सारभाग ही अभिप्रेत है।

२. केदारीकुल्यान्याय

इसके अनुसार आहार से उत्पन्न रस ही समस्त धातुओं में क्रमशः संवाहित होकर उन्हें अपने-अपने पोषक अंशों से आप्लावित करता है जिस प्रकार खेत में छोड़ा हुआ जल क्यारियों में उत्तरोत्तर बढ़ता हुआ विभिन्न पौधों को पोषक तत्त्व प्रदान करता है।[3]

---

१. अ. सं. शा. ६।६६

२. डल्हण—सु० सू० १४।१०

३. अन्ये त्वाहुः—केदारीकुल्यान्यायेन रसस्य धातुपोषणम्। तथान्नादुत्पन्नो रसो धातुरूपं रसमधिगम्य कियताऽप्यंशेन तं रसं वर्धयति अपरश्च रसराशिस्तत्र गतः सन् शोणितगन्धवर्णयुक्तत्वाच्छोणितमिव भूत्वा कियतापि शोणितसमानेनांशेन धातुरूपं शोणितं पुष्णाति।—चक्रपाणि, च. सू. २८।४

"किंवा रस एव रक्तं प्रथमं प्लावयति, तत्र रक्तस्थानसंबन्धाद् रक्तसादृश्यं रक्तव्यपदेशं चानुभवति रक्तं च रक्तसमानेन स्तोकेनांशेन पोषयति।.........

३. खलेकपोतन्याय

इस पक्ष में आहाररस से ही सभी धातुओं का क्रमशः पोषण होता है केवल धातुओं की क्रमिक उत्पत्ति की व्याख्या इसमें विभिन्न स्रोतों के द्वारा की जाती है। इसके अनुसार आहार रस भिन्न-भिन्न स्रोतों से रस, रक्त धातुओं में जाता है फलतः जो धातु निकट होता है उसका पोषण विशिष्ट अंश से पहले हो जाता है और जो दूर होता है उसका पोषण अवशिष्ट अंश से होता है। रस आदि धातुओं के पोषक स्रोत उत्तरोत्तर सूक्ष्ममुख तथा दीर्घ होते हैं।[1] अतः स्वभावतः आहाररस को आगे के धातुओं में पहुँचने में समय लगता है। इस प्रकार केदारीकुल्यान्याय से इसमें विशेषता केवल स्रोतों की है।

अरुणदत्त ने अपनी व्याख्या में एक अन्य मत का उल्लेख 'एककाल-धातुपोषण पक्ष' के रूप में किया है[1] किन्तु यह आयुर्वेदीय सिद्धान्त से समर्थित नहीं होता।

चक्रपाणि ने इन तीनों मतों का विवेचन तो विशद रूप से किया किन्तु उनकी ग्राह्यता के सम्बन्ध में स्वयं कुछ निर्णय नहीं कर सके। एक स्थल पर तो उन्होंने क्षीरदधिन्याय को अग्राह्य बतलाया तथा केदारीकुल्यान्याय

एवमुत्तरोत्तरधातून् रस एवाप्लावयति—यथा केदारनिषिक्तं कुल्याजलं प्रत्यासन्नां केदारीमाप्लावयतीति द्वितीयः पक्षः।"—चक्रपाणि सु. सू. १४।१०

"एवमुत्तरोत्तरधातून् रस एवाप्लावयति वर्धयति च, यथा केदारनिषिक्तं कुल्याजलं प्रत्यासन्नां केदारीं तर्पयित्वा क्रमेण केदारिकान्तराणि आप्लावयति।
—चक्रपाणि, च० चि० १५।१६-१७

२. किं वा आहाररस उत्पन्नो भिन्नैरेव मार्गैः स्थायिरसरुधिरमांसादीन् रसरुधिरादिसमानांशेन तर्पयति। तत्र यः प्रत्यासन्नो धातुस्तत्पोषको भागस्तं शीघ्रं पुष्णाति, यस्तु विदूरधातुस्तस्य सूक्ष्मविदूरमार्गतया चिरेण पोषणं भवति। ....यथा खले उत्पतितानां कपोतानां भिन्नदिग्गामिनां स्वीयस्वीयमार्गेणैव गच्छतां गम्यदेशस्य प्रत्यासन्नत्वविप्रकृष्टत्वादिभेदेन शीघ्रं चिरेण वा गमनं भवति, तद्वत्।
--चक्रपाणि, सु. सू. १४।१०

"रसादिपोषकाणि स्रोतांस्युत्तरोत्तरं सूक्ष्ममुखानि दीर्घाणि च।"
--चक्रपाणि—च. सू. २८।४

और देखें—चक्रपाणि—च. चि. १५।१६

१. आहाररसादेककालं सप्तसु धातुस्रोतःसु प्रवेशिताद् रसरक्तादयो धातव उत्पद्यन्ते इति एककालधातुपोषणपक्षः।—अ० हृ० शा० ३।६२

और खलेकपोतन्याय को महाजनोपगीत कहा एवं स्वयं केदारीकुल्यान्याय में सहमति दिखलाई किन्तु अन्यत्र खलेकपोतन्याय को दुर्घट बतला कर केदारीकुल्यान्याय या क्षीरदधिन्याय को संगत कहा।[1]

वस्तुतः इन तीनों न्यायों में आपाततः विरोध भले ही प्रतीत होता है, वास्तविक विरोध नहीं है। क्षीरदधिन्याय धात्वग्निपाकजन्य प्रसादभाग को, केदारीकुल्यान्याय रससंवहन को तथा खलेकपोतन्याय स्रोतों को महत्त्व-पूर्ण मानता है। वस्तुतः धातुपाक-क्रिया के ये तीनों अभिन्न पक्ष हैं तथा तीनों ही महत्त्वपूर्ण हैं। आहाररस से ही सभी धातु पोषण प्राप्त करते हैं तथा धात्वग्निपाकजन्य विविध प्रसादभाग रस के माध्यम से ही विभिन्न स्रोतों द्वारा संवाहित होकर धातुपरम्परा को सुरक्षित रखते हैं।[2] अग्नि और स्रोत[3] ये दोनों धातुपाक के लिए आवश्यक हैं तथा रस भी माध्यम रूप में आवश्यक है।

धातुपाक की चक्रवत् गति

आहाररस से धातुओं का पोषण होता है किन्तु दूसरी ओर विभिन्न कार्यों में शक्ति का निरन्तर व्यय होता है तथा पुराने कोषाणु टूटते रहते हैं इनके पुनर्निर्माण तथा शक्ति की क्षतिपूर्ति के लिए पुनः आहार लेना पड़ता है। इस प्रकार धातुपरम्परा चक्रवत् चलती रहती है[4]। पोष्य धातु का पोषण करने के बाद पोषक धातु क्षीण होता है जिसकी पूर्ति पुनः करनी पड़ती है। इस प्रकार पोष्यपोषक भाव से धातुओं का क्रम प्रवर्त्तित रहता है।[5] एक

---

१. एषु च पक्षेषु सर्वात्मपरिणामपक्षो विरुद्ध एव—चक्र० च० सू० २८।४

'एवमनयोः पक्षयोर्महाजनोपगीतयोर्गतिरुपदर्शिता भवति, स्वरसस्त्वस्माकं केदारीकुल्यान्याये।'—चक्रपाणि सु० सू० १४।१०

'केदारीकुल्यान्यायः क्षीरदधिन्यायो वा संगत एव। खलेकपोतन्यायस्तु मनाग्दुर्घटः।—चक्रपाणि च० चि० १५।१६

२. व्यानेन रसधातुर्हि विक्षेपोचितकर्मणा।
युगपत् सर्वतोऽजस्रं देहे विक्षिप्यते सदा॥—च. चि. १५।३६

३. यथास्वेनाग्निना पाकं शारीरा यान्ति धातवः।
स्रोतसां च यथास्वेन धातुः पुष्यति धातुना॥—च. चि. ८।३९

४. सन्तत्या भोज्यधातूनां परिवृत्तिस्तु चक्रवत्—च० चि० १५।२१

५. प्रसादकिट्टे धातूनां पाकादेवंविधर्च्छतः।
परस्परोपसंस्तब्धा धातुस्नेहपरम्परा॥—च. चि. १५।२०

धातु दूसरे धातु का आहार लेकर शरीर का पालन करते हैं। पाक के द्वारा क्षीयमाण धातु की पूर्त्ति के लिए ही पुनः आहार का ग्रहण करना पड़ता है।[1]

धातुओं की उत्पत्ति का काल

कुछ लोग दिन-रात में, कुछ लोग एक सप्ताह में तथा कुछ लोग एक मास में सातों धातुओं की उत्पत्ति मानते हैं।[2] इन तीनों मतों का समन्वय अग्नि के बलाबल के आधार पर किया जाता है। अग्नि तीक्ष्ण होने पर अहोरात्र में, मध्य होने पर एक सप्ताह में तथा मन्द होने पर एक मास में धातुओं की उत्पत्ति का चक्र पूरा होता है। इन तीनों कालों के लिए क्रमशः शब्द, अर्चि

---

१. विविधमशितं पीतं लीढं खादितं जन्तोर्हितमन्तरग्निसंधुक्षितबलेन यथास्वेनोष्मणा सम्यग् विपच्यमानं कालवदनवस्थितसर्वधातुपाकमनुपहतसर्वधातूष्मामारुतस्रोतः केवलं शरीरमुपचयबलवर्णसुखायुषा योजयति शरीरधातूनूर्जयति च। धातवो हि धात्वाहाराः प्रकृतिमनुवर्त्तन्ते।—च० सू० २८।३

'यथा कालो नित्यगत्वेनानवस्थितः, तथाऽनवस्थितः अविश्रान्तः सर्वधातूनां पाको यस्मिन् शरीरे तत्तथा; एतेन सर्वदा स्वाग्निपाकक्षीयमाणधातोः शरीरस्याशितादिनोपचयादियोजनमुपपन्नमिति दर्शयति; यदि हि पाकक्षीयमाणं शरीरं न स्यात्तदा स्वतःसिद्धे उपचयादौ किमशितानि कुर्यात्?

—चक्रपाणि च० सू० २८।३

२. केचिदाहुरहोरात्रात् षड्रात्रादपरे परे।
मासात् प्रयाति शुक्रत्वमन्नं पाकक्रमादिति॥—अ. हृ. शा. ३।६६

स खलु (रसः) त्रीणि त्रीणि कलासहस्राणि पञ्चदश च कला एकैकस्मिन् धाताववतिष्ठते; एवं मासेन रसः शुक्रं स्त्रीणां चार्त्तवं भवति।—सु.सू. १४।१४

'षड्भिः केचिदहोरात्रैरिच्छन्ति परिवर्त्तनम्।'—च० चि० १५।२१

'आहारोऽद्यतनः श्वो हि रसत्वं गच्छति नृणाम्।
शोणितत्वं तृतीयेऽह्नि चतुर्थे मांसतामपि॥
मेदस्त्वं पञ्चमे, षष्ठे त्वस्थित्वं सप्तमे त्वियात्।
मज्जतां शुक्रतां याति नियमादष्टमे नृणाम्॥
तस्माद्धि पथ्यापथ्याभ्यामाहाराभ्यां नृणां ध्रुवम्।
सप्तरात्रेण शुध्यति प्रदुष्यन्ति च धातवः॥

—पराशर, चक्रपाणि द्वारा उद्धृत (च० चि० १५।२१)

तथा जल का दृष्टान्त सुश्रुत ने दिया है ऐसा डल्हण का मत है।[१] चक्रपाणि शब्द का दृष्टान्त मध्याग्नि के लिए तथा अर्चि का दृष्टान्त तीक्ष्णाग्नि के लिए मानते हैं। वृष्य आदि द्रव्य अपने प्रभाव से विशिष्ट धातु की वृद्धि और भी शीघ्र करते हैं।

धातुओं का भौतिक संघटन

विभिन्न धातुओं का भौतिक संघटन निम्नांकित होता है :

रस—आप्य
रक्त—आप्यतैजस
मांस—पार्थिव
मेद—पार्थिवाप्य
अस्थि—पार्थिववायव्य
मज्जा—आप्य
शुक्र—आप्य[२]

उपधातु

धातुओं के द्वारा अग्रिम धातु की उत्पत्ति के साथ-साथ उपधातुओं का भी पोषण होता है। यथा रस से स्तन्य तथा आर्त्तव, रक्त से कण्डरा, और सिरा; मांस से वसा और त्वचायें तथा मेद से स्नायु[3] (तालिका)। अन्य धातुओं का पोषण न करने से इन्हें उपधातु के अन्तर्गत रक्खा गया है।[४] स्तन्य आप्य तथा आर्त्तव आग्नेय माना गया है।[५]

धातुओं के मल

अन्नपाक के परिणामस्वरूप जिस प्रकार प्रसादभाग तथा मलभाग दो अंश बनते हैं उसी प्रकार धातुपाक से भी प्रसादभाग तथा मलभाग बनते हैं। प्रसादभाग से रसरक्तादि धातुओं का पोषण होता है तथा मलभाग से विभिन्न मल बनते हैं। धातुओं के मल निम्नांकित होते हैं :—

---

१. स (रसः) शब्दार्चिर्जलसन्तानवदणुना विशेषणानुधावत्येवं शरीरं केवलम्।—सु. सू. १४।१६

'शब्दादिदृष्टान्तरूपेण तीक्ष्णमध्यमन्दाग्नयो निर्दिष्टाः—डल्हण

२. डल्हण, सु० सू० १५।१०

इस संबंध में च. चि. १५।२८—३३ भी देखें।

३. रसात् स्तन्यं ततो रक्तमसृजः कण्डराः सिराः।
मांसाद् वसा त्वचः षट् च मेदसः स्नायुसंभवः॥—च. चि. १५।१७

४. स्तन्यादयो धात्वन्तरापोषणादुपधातवः'—चक्र. (च. चि. १५)

'सिरास्नायुरजःस्तन्यत्वचो गतिविवर्जिताः।
धातुभ्यश्चोपजायन्ते तस्मात्त उपधातवः॥—भोज

५. डल्हण, सु. सू. १५।१०

धातु	मल
१. रस	कफ, लसीका
२. रक्त	पित्त
३. मांस	कर्ण-नासा-अक्षि-प्रजननादिस्रोतो-मल
४. मेद	स्वेद
५. अस्थि	केशलोमश्मश्रु
६. मज्जा	नेत्रपुरीष त्वक्स्नेह[1]

(देखें तालिका १)

शुक्र के पाक से केवल प्रसादभाग ही बनता है जिसे ओज कहते हैं, इसमें मलभाग नहीं होता, अतएव कुछ लोग शुक्र का पाक भी स्वीकार नहीं करते।[2]

---

१. अं० शा० ६।६६

२. शुक्रस्य सारमोजः, अत्यन्त शुद्धतया चास्मिन् मलाभावः, अन्ये पुनरत एव तस्य नेच्छन्ति पाकम्—अं० सं० १।३६

स्वाग्निभिः पच्यमानेषु मलः षट्सु रसादिषु।
न शुक्रे पच्यमानेऽपि हेमनीवाक्षये मलः॥

—डल्हण द्वारा उद्धृत (सु० सू० १४।१०)

चतुर्थ अध्याय

रस

निरुक्ति—जो निरन्तर गतिशील हो उसे रस कहते हैं।[1] 'गति' शब्द यहाँ गमन तथा परिणमन दोनों अर्थों में प्रयुक्त है। रस शरीर में चक्रवत् भ्रमण करता हुआ तत्तद् धातुओं के रूप में परिणत होकर उनका पोषण करता रहता है।

लक्षण—सम्यक् परिपक्व आहार का जो प्रसादभूत सार भाग है वह रस कहलाता है। यह परमसूक्ष्म होने के कारण शरीर के समस्त अवयवों तथा दोष-धातु-मलों में पहुंचता है।[2]

भौतिक संघटन—रस आप्य तथा सौम्य कहा गया है इससे इसमें जल महाभूत का आधिक्य सूचित होता है।[3] रस के सौम्य स्वभाव का ज्ञान इसके द्रवत्व तथा स्नेहन, जीवन, तर्पण, धारण आदि कर्मों से होता है।[4]

प्रमाण—रस का प्रमाण नव अञ्जलि कहा गया है।[5]

द्विविध रस—रस दो प्रकार का होता है एक पोष्य या स्थायी रस और दूसरा पोषक रस।[6] वस्तुतः पोष्य रस ही रस धातु है तथा पोषक रस की संज्ञा अन्नपान-रस या आहार-रस है। प्रतिदिन आहार-रस से रस धातु पोषित होता रहता है।[7] आधुनिक दृष्टि से रस धातु रक्तरस (Blood plasma) तथा आहार-रस स्नेहरस (Chyle) है।

---

१. 'रस गतौ' धातुः अहरहर्गच्छतीत्यतो रसः—सु० सू० १४।९

२. तत्र पाञ्चभौतिकस्य चतुर्विधस्य षड्रसस्य द्विविधवीर्यस्याष्टविधवीर्यस्य वाऽनेकगुणोपेतस्योपयुक्तस्याहारस्य सम्यक् परिणतस्य यस्तेजोभूतः सारः परमसूक्ष्मः स रस इत्युच्यते। —सु० सू० १४।३

३. स खलु आप्यो रसः—सु० सू० १४।१

४. स खलु द्रवानुसारी स्नेहनजीवनतर्पणधारणादिभिर्विशेषैः सौम्य इति अवगम्यते। —सु० सू० १४।१

५. नवाञ्जलयः पूर्वस्याहारपरिणामधातोः यं रसमित्याचक्षते।
—च० शा० ७।१७

६. द्विविधो रसः स्थायी पोषकश्चेति। स्थायिरसपोषकरसभागयोः स्थानभेदाद्यभावादेकत्वम्।'—चक्र (च० चि० १५।१६)

७. तत्रैषां धातूनामन्नरसः प्रीणयिता'—सु० सू० १४।७

स्थान—रसधातु हृदय में स्थित होता है।[1] आहार-रस महास्रोत द्वारा शोषित हो हृदय में पहुंचकर इस रसधातु को आप्यायित करता रहता है।

संवहन—रसधातु हृदय से ऊर्ध्वग, अधोग तथा तिर्यग्गामी धमनियों के द्वारा समस्त शरीर में संवाहित होता है। यह कार्य व्यान वायु-जन्य विक्षेप कर्म से होता है। रसवह स्रोतों का मूल हृदय तथा तद्गत धमनियाँ कही गई हैं।[2] रस का यह संवहन चक्रवत होता है। हृदय से निकल कर समस्त शरीर में अनुधावन करता हुआ सिराओं के द्वारा पुनः वहीं लौट आता है।[3] रस का यह अनुधावन शब्द, ज्वाला तथा जल के संचरण के समान क्रमशः तिर्यक, अर्ध्व तथा अधः गति से होता है[4]। इसका विस्तृत वर्णन रक्त-संवहन में देखें।

कर्म—रसधातु के निम्नांकित कर्म कहे गये हैं।[5]

१. तर्पण
२. वर्धन
३. धारण
४. यापन
५. जीवन

---

१. तस्य च हृदयं स्थानम्—सु. सू. १४।१

२. स हृदयाच्चतुर्विंशतिधमनीरनुप्रविश्योर्ध्वगा दश दशाधोगामिन्यश्चतस्रश्च तिर्यग्गाः कृत्स्नं शरीरमहरहस्तर्पयति वर्धयति धारयति यापयति चादृष्टहेतुकेन कर्मणा।—सु. सू. १४।१

विण्मूत्रमाहारमलः सारः प्रागीरितो रसः।
स तु व्यानेन विक्षिप्तः सर्वान् धातून् प्रतर्पयेत्॥—सु. सू. ४६।५५८

कृत्स्नदेहचरो व्यानो रससंवहन धनः—सु. नि. १।१७

व्यानेन रसधातुर्हि विक्षेपोचितकर्मणा।
युगपत् सर्वतोऽजस्रं देहे विक्षिप्यते सदा॥ च. चि. १४।३६

रसवहानां स्रोतसां हृदयं मूलं दश च धमन्यः—च. वि. ५।७

दश मूलसिराः हृत्स्थास्ताः सर्वं सर्वतो वपुः।
रसात्मकं वहन्त्योजस्तन्निबद्धं हि चेष्टितम्॥—अ. हृ. शा ३।१८

३. सन्तत्या भोज्यधातूनां परिवृत्तिस्तु चक्रवत्—च. चि. १५।२१

हृदो रसो निःसरति तस्मादेव च सर्वशः।
सिराभिर्हृदयं चैति तस्मात् तत्प्रभवाः सिराः॥—भेल सूत्र, २१

४. स शब्दार्चिर्जलसन्तानवदणुना विशेषेणानुधावत्येवं शरीरं केवलम्।
—सु. सू. १४।१६

५. कृत्स्न शरीरमहरहस्तर्पयति वर्धयति धारयति यापयति जीवयति च—
—सु. सू. १४।१

वृद्धों में यह केवल जीवनमात्र कर शरीर का यापन करता रहता है।[१] विशेषतः इससे रक्तधातु का पोषण होता है।[२]

रसक्षय—रसधातु का क्षय होने पर उसके कर्म सम्यक् रूप से नहीं हो पाते तथा शरीर का तर्पण नहीं होने के कारण शुष्कता (Dehyderation) उत्पन्न हो जाती है। रसधातु सौम्य तथा स्नेहन हैं अतः इसका क्षय होने से वात की वृद्धि हो जाती है और तज्जन्य रौक्ष्य, ग्लानि, हृत्पीडा, कम्प आदि लक्षण होते हैं।[३]

रसवृद्धि—रस की अतिवृद्धि होने पर हृल्लास तथा लालाप्रसेक होते हैं।[४] इसके अतिरिक्त कफवृद्धि के लक्षण भी उत्पन्न होते हैं।[५]

रसज विकार—अत्यधिक आहार लेने से, अति मात्रा में गुरु, शीत एवं स्निग्ध भोजन करने से तथा अत्यधिक मानसिक श्रम से रसवह स्रोत दूषित होकर रसज विकार उत्पन्न करते हैं। ये विकार हैं :—अश्रद्धा, अरुचि, मुख-वैरस्य, अरसज्ञता, हृल्लास, गौरव, तन्द्रा, अंगमर्द, ज्वर, तमःप्रवेश, पाण्डुत्व, स्रोतोरोध, क्लैब्य, ग्लानि, कार्श्य, अग्निमांद्य, अयथाकाल वली तथा पलित[६]।

---

१. स एवान्नरसो वृद्धानां जरापरिपक्वशरीरत्वादप्रीणनो भवति।
—सु. सू. १४।१९

२. रसः प्रीणयति रक्तपुष्टिं च करोति—सु. सू. १५।५
'जीवनमात्रं करोति'—डल्हण

३. रसक्षये हृत्पीडा कम्पः शून्यता तृष्णा च—सु. सू. १५।९
घट्टते सहते शब्दं नोच्चैर्द्रवति दूयते।
हृदयं ताम्यति स्वल्पचेष्टस्यापि रसक्षये॥—च. सू. १७।६४
रसे (क्षीणे) रौक्ष्यं श्रमः शोषो ग्लानिः शब्दासहिष्णुता।
—अ. हृ. सू. ११।१७

४. रसोऽतिवृद्धो हृदयोत्क्लेदं प्रसेकं चापादयति—सु. सू. १५।१४

५. रसोऽपि श्लेष्मवत्—अ. हृ. सू. ११।८

६. गुरु शीतमतिस्निग्धमतिमात्रं समश्नताम्।
रसवाहीनि दुष्यन्ति चिन्त्यानामतिचिन्तनात्॥—च. वि. ५।१३
अश्रद्धा चारुचिश्चास्यवैरस्यमरसज्ञता।
हृल्लासो गौरवं तन्द्रा सांगमर्दो ज्वरस्तमः॥
पाण्डुत्वं स्रोतसां रोधः क्लैब्यं सादः कृशांगता।
नाशोऽग्नेरयथाकालं वलयः पलितानि च॥
रसप्रदोषजाः रोगाः—च. सू. २८।९ १०

उपक्रम—रसक्षय में रस के समान गुणवाले द्रवबहुल स्निग्ध-सौम्य द्रव्यों का प्रयोग करना चाहिए। रस की वृद्धि होने पर इसके विपरीत रूक्ष तथा कटु-तिक्त-कषाय द्रव्यों का प्रयोग करना चाहिए। इसके अतिरिक्त लंघन भी आवश्यक है।[1]

रस का महत्व—शरीर का उपचयापचय रस पर ही निर्भर होता है। समस्थिति से शरीर का उपचय मध्यम प्रमाण का होता है और अतिसंतर्पण से स्थौल्य तथा अपतर्पण से कार्श्य उत्पन्न होता है।[2]

सभी धातुओं की स्थिति मूलतः रस पर ही आश्रित होती है क्योंकि रस से ही अन्य धातुओं का पोषण होता है। अतएव पुरुष को रसज कहा गया है तथा रसधातु की रक्षा में सतर्क रहने का उपदेश किया गया है।[3]

रससार पुरुष—जिसकी त्वचा और रोम निर्मल, चमकदार तथा मृदु-स्निग्ध हों उसे रससार समझना चाहिए।[4] इस प्रसंग में संहिताओं में 'रससार' के स्थान पर 'त्वक्सार' शब्द का प्रयोग हुआ है। इसका कारण संभवतः यह है कि त्वक् में उदक की पर्याप्त मात्रा होती है (बाह्य त्वक् को उदकधरा कहते हैं) और उदक रस का ही प्रतीक है।[5] अत एव शरीरस्थ रस का ज्ञान त्वचा की स्थिति से होता रहता है। रसक्षय में त्वचा शुष्क

तत्र अन्नाश्रद्धारोचकाविपाकांगमर्दज्वरहृल्लासतृप्तिगौरवहृत्पाण्डुरोगमार्गोपरोधकार्श्यवैरस्यांगसादाकालजवलीपलितदर्शनप्रभृतयो रसदोषजा विकाराः।
—सु. सू. २४।९

१. तत्रापि (रसक्षये) स्वयोनिवर्धनद्रव्योपयोगः—सु. सू. १५।१०

· रसजानां विकाराणां सर्वं लंघनमौषधम्—च. सू. २८।२५

२. रसनिमित्तमेव स्थौल्यं कार्श्यं च···यः पुनरुभयसाधारणान्यासेवेत तस्यान्नरसः शरीरमनुक्रामन् समान् धातूनुपचिनोति, समधातुत्वान्मध्यशरीरो भवति'—सु. सू. १५।३२-३५

३. रसजं पुरुषं विद्याद्रसं रक्षेत् प्रयत्नतः।
अन्नात् पानाच्च मतिमानाचाराच्चाप्यतन्द्रितः ॥—सु. सू. १४।१२
रसजानि तु भूतानि ······ पृथग्विधाः—च. सू. २५।१३

४. सुप्रसन्नमृदुत्वग्रोमाणं त्वक्सारं विद्यात्—सु. सू. ३५।१६
स्निग्धश्लक्ष्णमृदुप्रसन्नसूक्ष्माल्पगभीरसुकुमारलोमा सप्रभेव च त्वक् त्वक्साराणाम्—च. वि. ८।१०१

५. त्वक्शब्देन त्वक्स्थो रसोऽभिहितः—डल्हण (सु. सू. ३५।१६)

त्वक्शब्देन तदाश्रयो रसोऽपि गृह्यते—चक्र० (च. सू. ११।४८)

हो जाती है। इसी प्रकार वृद्धावस्था में भी रस का संतर्पण न मिलने से त्वचा शुष्क एवं झुर्रीदार हो जाती है।

रस के उपधातु और मल—

स्तन्य तथा आर्त्तव रस के उपधातु हैं[1] तथा कफ इसका मल है।[2] धातु-चक्र में अनुधारित होते हुए रसधातु से केशिकाओं द्वारा स्रुत होकर बाहर निकला हुआ अंश लसीका (Lymph) कहा जाता है। वस्तुतः यह आयुर्वेदोक्त कफ ही है क्योंकि एक तो यह बहिर्मुख होता है (मल बहिर्मुख होते हैं) और दूसरे यह जल रूप है जिसमें शरीर के मूलधातु आप्लावित रहते हैं (के जले फलति इति कफः) प्रसंगवश लसीका का वर्णन यहाँ किया जा रहा है, स्तन्य तथा आर्त्तव का विचार आगे किया जायगा।

लसीका

जब रक्त केशिकाओं से होकर बहता है तब उसका द्रवभाग (रक्तरस) कुछ भौतिक, रासायनिक या शारीरिक प्रक्रियाओं से केशिकाओं की पतली दीवालोंसे छन कर बाहर आ जाता है और धातुओं के निकट संपर्क में आता है। बाहर निकला हुआ यही रक्तरस लसीका कहलाता है। इस प्रकार लसीका एक प्रकार का रक्त है जिससे रक्तकण पृथक् कर लिये गये हैं।

धातुओं में उत्पत्तिस्थान से लेकर रसकुल्या तक लसीका के संपूर्ण मार्ग में उसकी गतिविधि पर लसीकाग्रंथियों का प्रभाव पड़ता है। यही नहीं, एक धातु से आई हुई लसीका दूसरे धातु से आई हुई लसीका से बिलकुल भिन्न प्रतीत होती है और यह भिन्नता धातु की क्रियाशीलता से अधिक स्पष्ट हो जाती है। सब से अधिक स्पष्ट भिन्नता पाचनकाल में पाचननलिका से आई हुई लसीका (जिसे अन्नरस (Chyle) कहते हैं) तथा शरीर के अन्य भागों से आई हुई लसीका में दृष्टिगोचर होती है। जब पाचन नहीं होता रहता है तब पयस्विनी नालिकाओं में बहने वाले द्रवभाग तथा अन्य अंगों की लसीका में अधिक अन्तर नहीं होता। पाचनकाल में रसकुल्या में बहनेवाला द्रवभाग लसीका के सामान्य स्वरूप का निर्देशक होता है।

भौतिक गुणधर्म तथा रासायनिक संघटन

लसीका क्षारीय, स्वच्छ, पारदर्शक या कुछ गाढ़ा द्रवपदार्थ होता है जिसमें लगभग ९४ से ९६ प्रतिशत जल तथा ४ से ६ प्रतिशत ठोस भाग

---

१ च. चि. १५।१७; सु. सू. १४।६

२. च. चि. १५।१८-१९; सु. सू. ४६।५२

होता है।[1] ठोस पदार्थों में मुख्य भाग मांसतत्त्वों का होता है।

रासायनिक संघटन में यह रक्तरस के समान ही होता है, केवल मांसतत्त्वों का जहाँ तक प्रश्न है, कुछ पतला होता है। इसमें मांसतत्त्वों का परिमाण अवस्थाओं तथा शरीर के अवयव के अनुसार बदलता रहता है यथा यकृत् से आई हुई लसीका में शाखाओं की अपेक्षा मांसतत्त्व अधिक होता है। यह भी शरीर के विभिन्न भागों में केशिकाओं की प्रवेश्यता पर निर्भर करता है। इसमें लसीकाणुवर्ग के श्वेतकण भी होते हैं। यदि लसीका को चुपचाप छोड़ दिया जाय तो वह जम जाता है। इसका थक्का रक्त की अपेक्षा कम कठिन और कम स्थूल होता है। उसमें धातुसत्त्व मिलाने पर उसका थक्का कुछ अधिक कठिन हो जाता है।

लसीका में स्नेह की मात्रा पाचन के अनुसार भिन्न-भिन्न होती है। स्नेह-प्रधान भोजन के बाद शीघ्र ही लसीका का रूप दुग्ध के समान सफेद और गाढ़ा हो जाता है। यह अन्नरस में स्नेह की उपस्थिति का परिणाम होता है और इसीलिए उदर की अन्नरसवाहिनी रसायनियाँ पयस्विनी कहलाती हैं।

सूक्ष्मदर्शक यंत्र से देखने पर पारदर्शक लसीका में अनेक रंगरहित कण पाये जाते हैं जिन्हें लसीकाणु (Lymph-Corpuscles or lymphocytes) कहते हैं जो श्वेतकण के सदृश ही होते हैं। इनमें बड़े केन्द्रक तथा थोड़ा कोषस्तर होता है तथा अमोविक गति भी इनमें देखी जाती है। विभिन्न प्राणियों में इनकी संख्या में अन्तर होता है तथा एक ही प्राणी में भिन्न-भिन्न अवस्थाओं में भी अन्तर देखा जाता है। लसीका में उनकी संख्या उतनी ही होती है जितनी श्वेतकणों की रक्त में।

वे लसीका के साथ रक्त में चले जाते हैं और तब उनकी संज्ञा श्वेतकण (Leucocytes) हो जाती है। ये लसीकाग्रंथियों तथा अन्य लसीकातन्तुओं

---

१. 'यत्तु प्रच्यवमानं पुरीषमनुबध्नात्यतियोगेन तथा रुधिरमन्यांश्च शरीरधातून, यत्तु सर्वशरीरचरं बाह्या त्वग् बिभर्ति, यत्तु त्वगन्तरे व्रणगतं लसीकाशब्दं लभते, यच्चोष्मणाऽनुबद्धं लोमकूपेभ्यो निष्पतत् स्वेदशब्दमवाप्नोति, तदुदकं दशाञ्जलिप्रमाणम्।'

—च० शा० ७।१७

'इति लसीकया च तत्र उदकमुच्यते।

—मधुकोष (कुष्ठनिदान)

तन्वच्छ-रसशिष्टांशः कफात्मा चांगपोषकः।
आलकेभ्यः स्रुतश्चापि लसीकेत्युच्यते बुधैः॥ स्व०

यथा उपजिह्विका, बालग्रैवेयक, प्लीहा आदि में उत्पन्न होते हैं। इन स्थानों से बाहर निकलने वाली लसीका में आनेवाली लसीका की अपेक्षा लसीकाणुओं की संख्या अधिक होती है।

लसीकासंस्थान (Lymphatic system)

लसीका का अधिष्ठान लसीकासंस्थान है जिसमें लसीकावकाश (Lymph spaces) तथा रसायनियां (Lymphatics)[1] आती है।

सर्वप्रथम लसीका धातुओं के असंख्य सूक्ष्म तथा अनियमित लसिकावकाशों में प्रकट होती हैं। ये अवकाश परस्पर अनेक प्रकार से सूक्ष्म रसायनियों के द्वारा संबद्ध हैं। ये रसायनियां छोटी सिराओं के समान अत्यन्त कोमल दीवाल तथा अत्यधिक कपाटों से युक्त होती हैं। छोटी छोटी रसायनियां केशिकाओं के समान कोषाणुओं के केवल एक स्तर से ही बनी होती हैं और उन्हीं के समान उनमें अमेदस नाडीसूत्रों का वितरण होता है।

नवीनतम सिद्धान्त के अनुसार धात्ववकाश सीधे रसायनियों में नहीं खुलते। अतः लसीकावकाशों में स्थित धातुद्रव तथा रसायनियों में बहती हुई लसीका में भेद है। छोटी छोटी रसायनियाँ परस्पर मिलकर बड़ी-बड़ी रसायनियों का रूप धारण करती हैं और उनसे भी अन्त में दो मुख्य शाखायें बनती हैं:—एक वाम रसकुल्या तथा दूसरी दक्षिण रसकुल्या। दक्षिण रसकुल्या बहुत छोटी होती है और उसमें शरीर के बहुत थोड़े भाग से रसायनियां आकर मिलती हैं यथा सिर और ग्रीवा का दक्षिण भाग, दक्षिण शाखा, वक्ष का दक्षिण पार्श्व (आशयों के सहित)। वाम रसकुल्या में शरीर के शेष भाग, जिसमें पाचन-नलिका भी सम्मिलित है, से रसायनियां आकर मिलती हैं। इन दोनों प्रधान नलिकाओं में कपाटों का बाहुल्य होता है जिससे लसीका पीछे की ओर नहीं लौट सकती। ये दोनों नलिकायें आभ्यन्तर अनुमन्या तथा अक्षधरा सिराओं के संगमस्थल पर समाप्त हो जाती हैं। प्रत्येक नलिका के खुलने के स्थान पर एक कपाट होता है जो लसीका को सिराओं में प्रविष्ट होने देता है, किन्तु रक्त को नलिकाओं में नहीं जाने देता।

कुछ रसायनियाँ फुफ्फुसावरण, उदरावरण आदि स्नैहिक गुहाओं से होकर जाती हैं। रसायनियों के बीच-बीच में लसिकाग्रन्थियाँ होती हैं।

---

१. तन्वच्छरसरूपायाः लसीकायाः प्रवाहिणी।
रसायनी मता देहे समन्तात् प्रसृता तु या॥
कक्षागलादिदेशेषु संस्थितैर्ग्रन्थिभिश्चिता।
शुक्लानिम्बफलाकारैरन्तुबिद्धः प्रकीर्त्तिताः॥—स्व.

लसीकाग्रंथियाँ (Lymphatic glands)

सभी रसायनियाँ अपने मार्ग के किसी न किसी भाग में लसीकाग्रन्थियों से होकर गुजरती हैं। इन ग्रन्थियों में लसीकाणुओं का निर्माण होता है। यह आकार में गोल या अण्डाकार होती है और इनकी आकृति वृक्क के समान होती है। सब से बाहर की ओर संयोजक तन्तु का एक कोष होता है जिसमें कुछ अरेखांकित पेशीसूत्र भी रहते हैं। कोष से बहुत से प्रवर्धन ग्रंथि के भीतर वृन्त की ओर जाते हैं जिन्हें कोषांकुर (Trabeculae) कहते हैं।
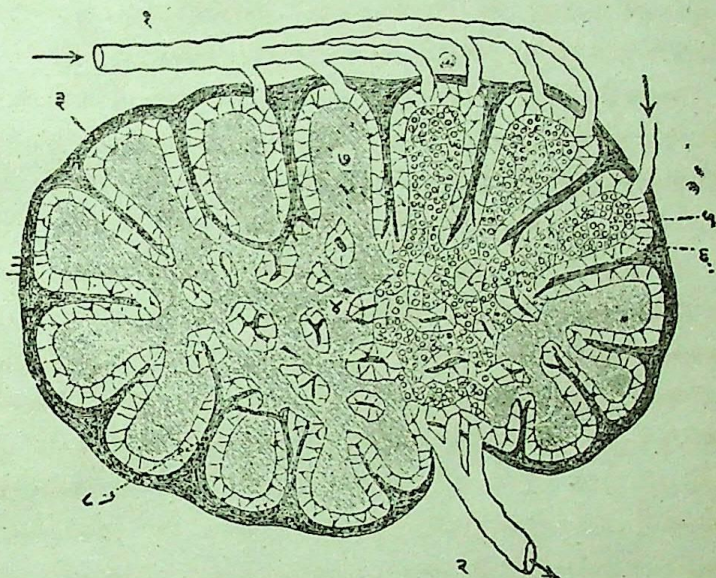
चित्र २८—लसीकाग्रन्थि

१. अन्तर्मुखी रसायनियाँ २. बहिर्मुखी रसायनियाँ ३, सौत्रिक कोषावरण ४. अन्तर्वस्तु ५. लसीकातन्तु ६. लसीकापथ ७, बहिर्वस्तु ८. कोषांकुर।

ग्रन्थि के बाह्य या उन्नतोदर भाग में ये प्रवर्धन बड़े होते हैं और इस प्रकार व्यवस्थित होते हैं कि उनसे ग्रन्थि का बाह्य भाग अनेक कोष्ठों में विभक्त हो जाता है जिन्हें लसीकाकोष (Alveoli) कहते हैं। इन कोष्ठों में जाल के समान लसीकातन्तु भरा रहता है जिसके बीच-बीच में लसीकाणु भरे रहते हैं। ग्रन्थि का आभ्यन्तर भाग दो भागों से बना है :—बाहरी (Cortical) भाग कुछ हलके रंग का तथा भीतरी भाग कुछ लाली लिए हुए होता है। भीतरी भाग में प्रवर्धन की अनेक शाखायें होती हैं और वह आपस में इस प्रकार मिली रहती हैं कि एक जाल सा बन जाता है। बाहरी भाग के लसीका-कोष तथा भीतरी भाग के जालक में कोष के केवल मध्यभाग में लसीकातन्तु

होता है। इस मध्यभाग के चारों ओर तथा इसके और प्रवर्धन के बीच में जालकतन्तु से निर्मित खुले हुए मार्ग होते हैं जिन्हें लसीकापथ (Lymph path) कहते हैं।

अनेक अन्तर्गामी नलिकाओं से लसीका ग्रन्थि में प्रविष्ट होती है। ये नलिकायें ग्रन्थि के उन्नतोदर भाग में कोष को पार कर लसीकापथों में खुलती हैं। नलिकाओं के सभी आवरण बाहर ही रह जाते हैं और वह केवल अन्तःस्तर को लेकर ही भीतर जाती हैं जो लसीकापथों के अन्तःस्तर से मिलकर एकाकार हो जाती हैं। इसी प्रकार छोटे-छोटे बहिर्गामी स्रोतों के मिलने से एक स्रोत बनता है जो वृन्तभाग में ग्रन्थि से बाहर निकलता है।

कुछ प्राणियों तथा शरीर के कुछ भागों में इन ग्रन्थियों का रंग लाल होता है। इन्हें लोहित लसीकाग्रंथि (Haemal lymphglands) कहते हैं और उनकी रसायनियों में रक्त भरा रहता है।

लसीका का प्रभाव

२४ घण्टों में लसीकापथों से निकलकर रक्त में प्रविष्ट होने वाली लसीका का परिमाण बहुत अधिक होता है। यह देखा गया है कि आहार पूरा मिलने पर रक्त के बराबर परिमाण में ही लसीका २४ घण्टों में उरस्या नलिका (रसकुल्या) से गुजरती है। इसलिए यह स्पष्ट है कि लसीकासंस्थान में लसीका का प्रवाह अतिशीघ्रता से होना चाहिये। रक्तसंवहन को बनाये रखने के लिए जिस प्रकार हृदय की व्यवस्था है, उस प्रकार लसीकासंवहन के लिए कोई हृदय नहीं होता। अतः लसीका की आगे की ओर गति निम्नांकित कारणों पर निर्भर रहती है :—

(१) दबाव का अन्तर :—भौतिक नियमों के अनुसार द्रव पदार्थ अधिक दबाव से कम दबाव की ओर बहता है। लसीका के उत्पत्तिस्थान (लसीकावकाशों) तथा लक्ष्यस्थान (ग्रीवा की सिराओं) के दबाव में बहुत अन्तर होता है। लसीकावकाशों में यह दबाव लगभग २० मिलीमीटर और सिराओं में लगभग शून्य के बराबर होता है। अतः इसी दबाव के अन्तर से लसीका का प्रवाह आगे की ओर होता रहता है।

(२) वक्षीय चूषण (Thoracic aspiration) :—

(क) नियमित प्रश्वास के द्वारा रसकुल्या से खिंच कर लसीका सिराओं में प्रविष्ट होती है।

(ख) प्रश्वास के समय वक्ष का विस्तार होने से रसकुल्या प्रसारित हो जाती है और छोटी-छोटी रसायनियों से उसमें लसीका अधिक परिमाण में आने लगती हैं।

(३) रसायनियों का नियमित संकोच।

(४) शरीर की चेष्टायें तथा कपाट।

शरीर-पेशियों के संकोच से रसायनियों पर जो दबाव पड़ता है उससे भी लसीका के प्रवाह में बहुत सहायता मिलती है। रसायनियों में जो कपाट होते हैं उनसे लसीका पीछे की ओर नहीं लौट पाती।

लसीका का निर्माण

रक्तवह स्रोतों से छन कर रक्तरस के लसीकावकाशों में आने के सम्बन्ध में अनेक सिद्धान्त प्रचलित हैं। इनमें अभी दो विचार मुख्य हैं :—

(१) केशिकाओं में जब रक्त बहता है तब स्यन्दन और प्रसरण की भौतिक प्रक्रियाओं के द्वारा रक्तरस से लसीका का निर्माण होता है।

(२) केशिकाओं की दीवाल बनाने वाले अन्तःस्तर के कोषाणुओं की सक्रिय उद्रेचक प्रक्रियाओं से लसीका का निर्माण होता है।

लुडविग का मत (Ludwig's theory)

इसका मत है कि लसीका-निर्माण सीधे रक्तरस से केशिकाओं की दीवाल से स्यन्दन और प्रसरण की विधियों से होता है।

इसके पक्ष में निम्नांकित प्रमाण हैं :—

(१) केशिकाओं में स्थित रक्त का दबाव बाहरी तन्तुओं की अपेक्षा अधिक होता है। इसलिए पतली केशिकाओं की दीवालों से रक्तरस छन जाता है। इस दृष्टि से लसीका निःस्यन्दित पदार्थ है।

(२) केशिकाओं के दबाव को बदलने वाले कारणों का प्रभाव उत्पन्न लसीका के परिमाण पर भी पड़ता है यथा :—

(क) यदि केशिकागत दबाव बढ़ जाय, यथा सिराओं के रक्तसंघटन में बाधा होने से, तो उत्पन्न लसीका का परिमाण बढ़ जाता है।

(ख) यदि लसीकावकाशों का दबाव घटा दिया जाय तो लसीका का स्राव बढ़ जाता है।

(३) लसीका का संघटन भी इस मत का समर्थन करता है। लसीका में अकार्बनिक लवणों की सान्द्रता रक्तरस के समान ही होती है तथा मांस-तत्त्व उससे कम होता है। इसका आधार भी यही भौतिक नियम है कि सजीव कलाओं से पिच्छिल पदार्थों के छनने पर निःस्यन्दित द्रव मातृद्रव से अधिक तनु होता है।

इसके विपक्ष में प्रमाण

(१) केवल प्रसरण से ही लसीका का निर्माण सिद्ध नहीं होता, क्योंकि

रक्तरस के मांसतत्त्व लगभग अप्रसरणशील हैं, फिर भी लसीका में मांसतत्त्व पर्याप्त परिमाण में पाया जाता है।

(२) कुछ अवस्थाओं में केशिकागत दबाव बढ़ने पर भी लसीका का प्रवाह नहीं बढ़ता। हन्वधरीय ग्रंथि पर ऐट्रोपिन का प्रयोग करने से कर्णपटह-नाडी (Chorda tympani) नाड़ी की उत्तेजना के कारण यद्यपि रक्तवह स्रोतों का प्रसार हो जाता है तथापि स्राव की वृद्धि नहीं होती।

(३) कुछ अवस्थाओं में लसीकाप्रवाह बढ़ जाता है, यद्यपि केशिकागत दबाव नहीं बढ़ता। यथा पेप्टोन, जलौकासत्त्व आदि द्रव्यों का अतःक्षेप करने पर लसीकाप्रवाह बढ़ जाता है, किन्तु रक्तभार पर कोई प्रभाव देखने में नहीं आता।

(४) केशिकागत दबाव से स्वतन्त्रतया लसीका के संघटन में अन्तर हो सकता है।

शरीर के विभिन्न भागों की लसीका के संघटन में अन्तर होता है तथा यकृत् से आई हुई लसीका में घनभाग अधिक होते हैं, यद्यपि वहां की केशिकाओं में दबाव अधिक नहीं होता। इसके अतिरिक्त एक ही केशिका से आई हुई लसीका के संघटन में अवस्थाओं के अनुसार भेद हो सकता है।

(४) दबाव के विपरीत भी लसीकावकाशों से अनेक पदार्थ रक्तनलिकाओं में चले आते हैं।

निस्यन्दन की भौतिक विधि में केवल एक ओर को ही द्रव पदार्थ की गति होती है, किन्तु सजीव शरीर में केशिका की दीवालों से दो विरुद्ध दिशाओं में पदार्थों का आवागमन होता है। तन्तुओं के लिए पोषक पदार्थ केशिकाओं से बाहर निकल कर तन्तुओं में जाता है, किन्तु तन्तुओं से मलभाग विपरीत दिशा में केशिकाओं में प्रविष्ट होते हैं।

हीडेनहेन का मत (Heidenhain's theory)

इनका मत है कि लसीका का निर्माण केशिकाओं के अन्तःस्तरीय कोषाणुओं की विशिष्ट उद्रेचन क्रिया के कारण होता है।

इसके पक्ष में निम्नांकित प्रमाण हैं :—

(१) सत्त्वशर्करा, लवण आदि के अतिसान्द्रिक विलयन का अन्तःक्षेप करने से रक्तभार में बिना परिवर्तन हुए ही लसीका का प्रवाह बढ़ जाता है। इन पदार्थों को द्वितीय श्रेणी का लसीकास्रावक (Lymphagogues of the 2nd class) कहते हैं।

हीडेनहेन के मत के अनुसार जब इन पदार्थों का रक्त में अन्तःक्षेप किया जाता है तब केशिकाओं के अन्तःस्तरीय कोषाणुओं की उद्रेचन क्रिया के

द्वारा थे निकल कर धातुओं में प्रविष्ट हो जाते हैं। इस प्रकार धातुओं में द्रव का व्यापनभार अधिक होने से रक्त से जल खिंचने लगता है और लसीका का स्राव बढ़ जाता है।

(२) कुछ द्रव्यों, यथा पेप्टोन का जलीय सत्त्व, अण्डे का श्वेतभाग, जलौकासत्त्व, केकड़े की पेशियों के सत्त्व का अन्तःक्षेप करने से लसीका का प्रवाह बढ़ जाता है। ये द्रव्य प्रथम श्रेणी के लसीकास्रावक (Lymphagogues of the Ist class) कहलाते हैं। इनसे धमनीगत रक्तभार में वृद्धि नहीं होती, किन्तु यदि अधिक मात्रा में प्रयुक्त किये जाँय तो रक्तभार कम हो जाता है।

हीडेनहेन के अनुसार ये द्रव्य केशिकाओं के अन्तःस्तरीय कोषाणुओं के प्रति विशिष्ट उत्तेजक का कार्य करते हैं और उनकी उद्रेचन क्रिया बढ़ा देते हैं।

(३) अधरा महासिरा का बन्धन करने से केवल लसीका के प्रवाह में ही वृद्धि नहीं होती, बल्कि लसीका में मांसतत्त्व की सांद्रता भी बढ़ जाती है।

स्टार्लिंग का मत (Starling's theory)

इनके मत में लसीका का निर्माण निम्नाङ्कित तीन कारणों पर निर्भर है :—

१. अन्तःकेशिकाभार (Intracapillary pressure)

२. केशिका की दीवालों की प्रवेश्यता (Permeability)

३. धातुओं की क्रियाशीलता के कारण उत्पन्न मलपदार्थों के परिमाण पर निर्भर रासायनिक कारण।

इस मत के पक्ष में निम्नांकित प्रमाण हैं :—

(क) अन्तःकेशिका भार के बढ़ने से लसीकाप्रवाह में वृद्धि।

(१) रक्तसंवहन में अधिक परिमाण में द्रव का अन्तःक्षेप या

(२) सत्त्वशर्करा, लवण आदि का अन्तःक्षेप

उपर्युक्त द्रव्यों से लसीकाप्रवाह की वृद्धि के सम्बन्ध में स्टार्लिङ्ग निम्नांकित रूप में विवेचना उपस्थित करते हैं :—

इन द्रव्यों का अन्तःक्षेप करने से रक्त का व्यापनभार अत्यधिक बढ़ जाता है जिसके कारण लसीका तथा धातुओं से जलांश खिंचकर रक्त में चला आता है और फलस्वरूप केशिकाओं का दबाव बढ़ जाता है। दबाव बढ़ने से निस्यन्दन की क्रिया बढ़ जाती है और इसलिये लसीका का प्रवाह बढ़ जाता है।

(३) किसी अङ्ग की सिराओं का बन्धन

जब कभी सिरागत रक्तप्रवाह में रुकावट होती है तब अन्तःकेशिकाभार

बढ़ जाता है। इससे लसीका की उत्पत्ति बढ़ जाती है और धातुओं में उसका संचय होने के कारण शोथ हो जाता है।

अधरा महासिरा को बाँध देने से केवल लसीका का प्रवाह ही नहीं बढ़ता बल्कि मांसतत्त्व का प्रतिशत परिमाण भी बढ़ जाता है। यकृत में उत्पन्न लसीका की जो अधिक सान्द्रता होती है, वह भी वहाँ की केशिकाओं की अधिक प्रवेश्यता के कारण ही होती है। क्रौग के मत के अनुसार अधस्त्वक् तथा पेशीतन्तु की केशिकायें मांसतत्त्व के लिए अप्रवेश्य हैं।

(ख) केशिकाओं की दीवालों की प्रवेश्यता बढ़ने से लसीका-प्रवाह में वृद्धि :

(१) रक्तवहसङ्कोचक नाडियों का व्यवच्छेद :

इससे केशिकाओं का प्रसार होने से उनकी प्रवेश्यता बढ़ जाती है और लसीका का प्रवाह बढ़ जाता है।

(२) रक्तवहप्रसारक नाडियों की उत्तेजना :

इसका प्रभाव भी उपर्युक्त रीति से ही होता है।

(३) केशिकाओं में स्थानीय क्षत या

(४) पेप्टोन, जलौकासत्त्व आदि का अन्तःक्षेप

इन द्रव्यों के अन्तःक्षेप से केशिकाओं का अन्तःस्तर विकृत हो जाता है जिससे उनकी प्रवेश्यता बढ़ जाती है। अतः लसीका का प्रवाह भी बढ़ जाता है।

(५) हिस्टेमीन, एसिटिलकोलिन का अन्तःक्षेप :—

इससे भी केशिकाओं का प्रसार होता है और उनकी प्रवेश्यता बढ़ जाती है। इसलिए लसीका का प्रवाह बढ़ जाता है। दग्धव्रण आदि में भी जब तन्तुओं के विघटन से हिस्टेमीन उत्पन्न होता है तब भी यही बात देखने में आती है।

(६) रक्त में सुधा की कमी

(७) ओषजन की कमी

ओषजन की कमी तथा रक्तरस के मांसतत्त्व में परिवर्तन होने से प्रवेश्यता बढ़ जाती है। केशिकाओं की प्रवेश्यता तथा रक्त और धातुओं के बीच पदार्थों का विनिमय अन्तःस्रावों के द्वारा नियन्त्रित होता है। इसमें अधिवृक्क ग्रन्थि के बाह्यभाग का अन्तःस्राव (Cortin) मुख्य है।

(ग) तीसरा कारण विशेषतः शाखाओं में महत्त्व का है और तन्तुओं की क्रिया के कारण उत्पन्न मलपदार्थों पर निर्भर रहता है। जब पेशियों में

संकोच होता तो मलपदार्थ (दुग्धाम्ल) अधिक मात्रा में बनते हैं जो धातुओं में आकर व्यापनभार बढ़ा देते हैं और फलस्वरूप रक्त से अधिक परिमाण में जलांश खिंचकर लसीकावकाशों में चला आता है।

धातुओं की क्रियाशीलता के कारण भी लसीका का उत्पादन बढ़ जाता है। पित्तलवणों का अन्तःक्षेप करने से यकृत के कोषाणु उत्तेजित हो जाते हैं और यकृत् की क्रिया बढ़ जाने के कारण उस अंग से लसीका-प्रभाव बढ़ जाता है।

(घ) रसायनीसंस्थान में अवरोध होने से लसीका प्रवाह बढ़ जाता है। लसीका के प्रवाह में जब रुकावट होती है तब लसीकाणुओं का संचय होने से लसीका बाहर नहीं निकल पाती और धात्ववकाशों में उसका संचय होने से शोथ उत्पन्न हो जाता है।
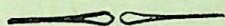
पञ्चम अध्याय

रक्त

निरुक्ति और लक्षण—रसधातु जब अग्नि से परिपक्व एवं रञ्जित हो जाता है तब उसकी संज्ञा रक्त हो जाती है।[1] रस और रक्त में यही अन्तर होता है कि रस में केवल आहार से प्राप्त पोषक तत्त्व होते हैं जबकि रक्त में अन्य विविध कण (रक्तकण, श्वेतकण तथा चक्रिकायें) मिले होते हैं। रक्त कणों के संयोग से रस का वर्ण लाल हो जाता है। रस का वह रञ्जन मुख्यतः यकृत् और प्लीहा में होता है[2] क्योंकि रक्त कणों का वहाँ निर्माण होकर रसधातु में प्रवेश होता है। अत एव यकृत्-प्लीहा रक्तवह स्रोतों का मूल माने गये हैं।[3] यकृत् को रक्ताशय भी कहा गया है[4] तथा रक्तधरा कला में रक्त की विशेष रूप से उपस्थिति सिराओं तथा यकृत्-प्लीहा में मानी गई है[5]।

आधुनिक दृष्टि से रस द्रव संयोजक मूलधातु हैं जिसमें कोषाणु (रक्तकण) द्रवरूप तथा अत्यधिक परिणाम में विद्यमान अन्तःकोषाणवीय पदार्थ के द्वारा एक दूसरे से पृथक् रहते हैं। अन्य संयोजक मूलधातु की भाँति रक्त का विकास मध्यस्तर से होता है। इसी द्रव माध्यम[6] के द्वारा शरीर के सभी धातु साक्षात् या परोक्ष रूप से पोषण प्राप्त करते हैं तथा इसी के द्वारा शारीर क्रियाओं में उत्पन्न मलपदार्थों का धातुओं से बाहर निर्हरण होता है।

रक्त के कार्य

(१) पोषण—यह पाचननलिका से शोषित आहार तथा अन्य पदार्थों

---

१. रञ्जितास्तेजसा त्वापः शरीरस्थेन देहिनाम्।
अव्यापन्नाः प्रसन्नेन रक्तमित्यभिधीयते ॥—सु. सू. १४

२. स खलु आप्यो रसो यकृत्प्लीहानौ प्राप्य रागमुपैति—सु. सू. १४

३. शोणितवहानां स्रोतसां यकृन्मूलं प्लीहा च—च. वि. ५।१०
रक्तवाहिन्यश्च यकृत्-प्लीह्नोः—सु. शा. ७।४

४. स्थानान्यामाग्निपक्वानां मूत्रस्य रुधिरस्य च।
हृदुण्डुकः फुफ्फुसश्च कोष्ठमित्यभिधीयते ॥—सु. चि. २।१२

५. द्वितीया रक्तधरा मांसस्याभ्यन्तरतः तस्यां शोणितं विशेषतश्च सिरासु यकृत्-प्लीह्नोश्च भवति—सु. शा. ४

६. यह द्रव माध्यम आयुर्वेदोक्त 'रसधातु' है।

को धातुओं तक पहुँचाता है और इस प्रकार उनकी वृद्धि और संधान के लिए आवश्यक तत्त्व प्राप्त होते हैं।

(२) ओषजनवहन :—रक्त फुफ्फुसों में प्राण वायु से शोषित ओषजन को धातुओं तक पहुंचाता है।

इस प्रकार आहार द्रव्य और ओषजन का धातुओं में पहुँच कर जीवनीय ज्वलन होता है और उससे शक्ति उत्पन्न होती है तथा जीवन का संचालन होता है। बिना ओषजन के जीवन की स्थिति नहीं रह सकती है। अतएव रक्त को जीवन का मूल माना गया है।[1] यह कार्य रक्त के लाल कणों के द्वारा संपन्न होता है। इसी से उनका रंग लाल रहता है। ओषजन की कमी या कार्बन द्विओषिद् की अधिकता से उनमें नीलिमा आ जाती है। इसके अतिरिक्त अन्य वर्ण विकार भी होते हैं। अतः वर्णप्रसाद रक्त का कार्य कहा गया है।[2]

(३) मलों का निर्हरण :—धातुपाक के क्रम में उत्पन्न मलपदार्थ यथा कार्बन द्विओषिद्, दुग्धाम्ल तथा अन्य हानिकारक द्रव्य रक्त द्वारा मलोत्सर्जक अङ्गों तक पहुँचाये जाते हैं जहाँ से उनका त्याग शरीर के बाहर होता है।

(४) अन्तःस्रावों का वहन :—यह विभिन्न अन्तःस्रावों को शरीर के धातुओं तक पहुँचाने का माध्यम है जिससे शरीर के भिन्न-भिन्न अङ्गों की क्रियाओं में सहकारिता स्थापित होती है।

(५) तापसंवितरण :—यह शरीर में उत्पन्न ताप का समान रूप से वितरण करता है और इस प्रकार शरीर के तापक्रम को एक निश्चित सीमा पर बनाये रखता है।

(६) क्षारीयतास्थापन :—धातुपाक के क्रम में उत्पन्न हानिकारक

---

१. तद्विशुद्धं हि रुधिरं बलवर्णसुखायुषा।
युनक्ति प्राणिनं प्राणः शोणितं ह्यनुवर्तते ॥'—च० सू० २४।४
'देहस्य रुधिरं मूलं रुधिरेणैव धार्यते।
तस्माद् यत्नेन संरक्ष्यं रक्तं जीव इति स्थितिः ॥'—सु० सू० १४।३०

२. 'रक्तं वर्णप्रसादं मांसपुष्टिं जीवयति च'—सु० सू० १५।५
'प्रसन्नवर्णेन्द्रियमिन्द्रियार्थानिच्छन्तमव्याहतपक्तृवेगम्।
सुखान्वितं पुष्टिबलोपपन्नं विशुद्धरक्तं पुरुषं वदन्ति।'—च. सू. २४।२४
'धातूनां पूरणं वर्णं स्पर्शज्ञानमसंशयम्।
स्वाः सिराः संचरद्रक्तं कुर्याच्चान्यान् गुणानपि ॥—सु० शा० ७।१२

अम्ल पदार्थों को उदासीन करता है और इस प्रकार धातुओं की स्वाभाविक क्षारीयता बनाये रखता है।

(७) रक्षाकार्य :—श्वेतकणों के द्वारा यह जीवाणुओं से शरीर की रक्षा करता है।

(८) स्कन्दन—रक्त में स्कन्दन की प्राकृतिक शक्ति है जिससे अधिक रक्तस्राव नहीं होने पाता।

सूक्ष्म रचना—रक्त में मुख्यतः दो भाग होते हैं :—एक द्रव भाग होता है जिसे रक्तरस (Plasma) कहते हैं और इस द्रव में अनेक सूक्ष्म कण तैरते रहते हैं जो तीन प्रकार के होते हैं :—

(क) रक्तकण (Erythrocytes or red blood Corpuscles)

(ख) श्वेतकण (Leucocytes or white blood Corpuscles)

(ग) रक्तचक्रिका (Thrombocytes or blood platelets)

रक्त में रक्तरस और कणों का आपेक्षिक परिणाम एक यन्त्र के द्वारा निश्चित किया जाता है जिसे रक्तविमापक (Haematocrit) कहते हैं। रक्त का लगभग ४५ प्रतिशत कणों से तथा ५५ प्रतिशत रक्तरस से बनता है।

भौतिक संघटन—रक्त पाञ्चभौतिक माना गया है[१] किन्तु इसमें आग्नेय गुण प्रधान होता है अत एव उष्ण द्रव्यों के सेवन से रक्त दूषित होने का उल्लेख है। पित्त का अंश रक्त में रहने से यह पित्त का समानधर्मा है। पित्त का कुछ अंश मल रूप में इससे निकलता रहता है। यदि यह न निकले या कम निकले तो कामला आदि पैत्तिक उपद्रव उत्पन्न होते हैं। यद्यपि यह अनुष्णशीत कहा गया है, इसका विदाह पित्त के समान होता है।[२]

वर्ण :—रक्त का स्वाभाविक वर्ण लाल होता है।[3] किन्तु इसकी लाली में अवस्थानुसार परिवर्तन होता रहता है। धमनियों का रक्त चमकीला लाल तथा सिराओं का रक्त नीलिमायुक्त लाल होता है[४]। यह रक्तवर्ण रक्तरस में स्थित रक्तकणों के कारण होता।

---

१. विस्रता द्रवता रागः स्पन्दनं लघुता तथा।
भूम्यादीनां गुणा ह्येते दृश्यन्ते चात्र शोणिते ॥—सु. सू. १४।५

२. अनुष्णशीतं मधुरं स्निग्धं रक्तं च वर्णतः।
शोणितं गुरु विस्रं स्याद् विदाहश्चास्य पित्तवत् ॥—सु. सू. २१।१४

३. इन्द्रगोपप्रतीकाशमसंहतमविवर्णञ्च प्रकृतिस्थं जानीयात् ।—सु.सू. १४।१४
तपनीयेन्द्रगोपाभं पद्मालक्तकसंनिभम् ।
गुञ्जाफलसवर्णं च विशुद्धं विद्धि शोणितम् ॥—च. सू. २४।२२
प्राकृतिक वर्ण में किंचित् न्यूनाधिक्य होता है।

४. पित्तादुष्णाश्च नीलाश्च—सु. शा. ७।१६

विशिष्ट गुरुत्व—रक्त का विशिष्ट गुरुत्व स्वभावतः १·०५५ से १·०६० तक होता है। आयु और लिंग के अनुसार इसमें परिवर्तन होता है। भोजन के बाद यह घट जाता तथा व्यायाम के बाद बढ़ जाता है। दिन में यह धीरे-धीरे कम होता तथा रात में धीरे-धीरे अधिक होता है। प्रत्येक व्यक्ति के अनुसार इसमें इतनी विभिन्नता होती है कि एक व्यक्ति के लिए जो प्राकृत विशिष्ट गुरुत्व है वह दूसरे व्यक्ति के लिए विकृति का सूचक हो सकता है।

रक्तरस की अपेक्षा कणों का विशिष्ट गुरुत्व अधिक होता है। उसमें भी श्वेतकणों की अपेक्षा रक्तकणों का विशिष्ट गुरुत्व अधिक (१·०९) होता है। इसलिए रक्तस्राव के बाद रक्त नहीं जमने से रक्तकण तल में जमने लगते हैं और श्वेतकण उसके ऊपर आवरण बनाते हैं। रक्त का विशिष्ट गुरुत्व निम्नांकित विधियों से नापा जाता है :—

(१) राय की विधि—ऐसे द्रव पदार्थों में, जिनका विशिष्ट गुरुत्व ज्ञात है, रक्त की बूंदें गिरायी जाती हैं। जब रक्त की बूंद उसमें न नीचे बैठे और न ऊपर उठे तब उसी के समान उसका विशिष्ट गुरुत्व समझना चाहिए।

(२) हैमरश्लैग की विधि (Hammershlag's method)—क्लोरोफार्म और बेन्जीन का मिश्रण लीजिये और एक बूंद रक्त उसमें मिलाकर खूब हिला दीजिए। यदि बूंद नीचे बैठ जाय तो थोड़ा और क्लोरोफार्म मिला देने से वह ऊपर आ जायगी। यदि वह ऊपर तैरती हो तो थोड़ा और बेन्जीन मिला दीजिये, वह नीचे चली जायगी। इसके बाद मिश्रण का विशिष्ट गुरुत्व एक उपयुक्त विशिष्टगुरुत्वमापक यन्त्र द्वारा निश्चित कर लिया जाता है। इस विधि में सुविधा यह है कि इसमें केवल एक बूंद रक्त से ही काम चल जाता है।

रक्त का स्वाद—रक्त का स्वाद नमकीन होता है।

तापक्रम—रक्त का औसत तापक्रम ३७·८° सेण्टीग्रेड (९८.५° फारनहीट) है। रक्तप्रवाह पेशियों, नाड़ीकेन्द्रों तथा ग्रन्थियों द्वारा जाने पर गरम तथा त्वचा की केशिकाओं में जाने पर ठण्डा हो जाता है।

गन्ध—ताजे रक्त में एक विशिष्ट गन्ध होती है जो सामान्यतः प्राणी की प्रकृति के अनुसार होती है।

प्रतिक्रिया—रक्त की प्रतिक्रिया किंचित् क्षारीय होती है और स्वभावतः उक (PH) ७·३५ से उक ७.४३ तक तथा औसत उक ७.३९ होती है। उक ७.५ से अधिक प्रतिक्रिया क्षारभाव तथा उक ७.३ से नीचे अम्लभाव को सूचित करती है। सामान्यतः रक्त की प्रतिक्रिया में बहुत कम परिवर्तन होता है क्योंकि रक्त में स्थित बाइकार्बोनेट, फास्फेट तथा मांसतत्त्व प्रतिक्रियास्थापक के रूप

में कार्य करते हैं और इसीलिए अधिक परिमाण में अम्लपदार्थ खाने पर भी रक्त की अम्लता नहीं बढ़ने पाती।

स्वाभाविक रक्त में रक्तकणों के रक्त वर्ण के कारण लिटमस पत्र का साक्षात् प्रयोग नहीं हो सकता। अतः रक्त की प्रतिक्रिया का निर्णय निम्नांकित विधियों से होता है :—

(१) एक लिटमस पत्र को सान्द्र लवणविलयन में भिंगोकर उस पर एक बूँद रक्त रखिये और कुछ सेकण्ड के बाद पानी से उसको धो दीजिये।

(२) एक बूँद रक्त एक चमकीले लिटमस पत्र पर रखिये और कुछ सेकण्ड के बाद इसे जल से धो डालिये।

सान्द्रता—यह देखा गया है कि मानव शरीर का रक्त जल से पाँचगुना गाढ़ा होता है। स्त्रियों में पुरुषों की अपेक्षा सान्द्रता कुछ कम होती है। अब यह भी निश्चित हो चुका है कि रक्त की सान्द्रता रक्तकणों और रक्तरस के अनुपात के अनुसार होती है। रक्त की सान्द्रता का निश्चय इस प्रकार किया जाता है कि यू (u) के आकार की एक नलिका (सान्द्रतामापक Ostwald's viscosimeter) में परिस्रुत जल का प्रवाह देखा जाता है और दूसरी नलिका में रक्त का प्रवाह किया जाता है। इस प्रकार तुलना करने से रक्त की सान्द्रता का निश्चय किया जाता है। रक्त की सान्द्रता निम्नांकित अवस्थाओं में बढ़ जाती है :—

१. ईथर द्वारा संज्ञानाश करने पर। २. अहिफेनसत्त्व।
३. कार्बन द्विओषिद्। ४. अद्रिनिलीन।
५. कुछ विकार यथा फुफ्फुसशोथ, मस्तिष्कावरणशोथ।

निम्नांकित अवस्थाओं में यह घट जाती है :—

१. लवणविलयन के निक्षेप से। २. उष्णस्नान के बाद। ३. वृक्कशोथ।

दोषानुसार रक्त का स्वरूप

विभिन्न दोषों के आधिक्य से रक्त के स्वरूप में विभिन्नता मिलती है। वात के कारण रक्त असमान, विशद, तनु एवं फेनिल; पित्त के कारण पीत, कृष्ण तथा उष्णता के कारण चिरस्कन्दी और कफ के कारण ईषत् पाण्डु पिच्छिल, तन्तुमान् तथा घन होता है[2]।

---

१. प्राकृत रक्त असंहत होना चाहिए—सु. सू. १५।१४

२. अरुणाभं भवेद्वाताद् विशदं फेनिलं तनु।
पित्तात् पीतासितं रक्तं स्यायत्यौष्ण्याच्चिरेण च॥
ईषत्पाण्डु कफाद्दुष्टं पिच्छिलं तन्तुमद्घनम्—च. सू. २४।२०-२१

आयतन—स्वभावतः प्राणी में रक्त का परिमाण शरीरभार के निश्चित अनुपात में होता है। निलय के भरने तथा फलस्वरूप प्राकृत रक्तप्रवाह को बनाये रखने में रक्तपरिमाण का बहुत बड़ा महत्त्व है। यह शरीरभार का लगभग ७.५ से १० प्रतिशत तक (औसत ८.८%) अर्थात् १/११ से १/१२ तक होता है। शरीर के तन्तुओं में रक्त के परिमाण का वितरण निम्नांकित रूप से निश्चित किया गया है :—

प्लीहा	०.२३%	मस्तिष्क और सुषुम्ना	१.२४%
वृक्क	१.६३%	त्वचा	२.१०%
अन्त्र	६.३%	अस्थि	८.२४%

हृदय, फुफ्फुस और बृहद् रक्तवह स्रोत २२.७६ प्रतिशत,

विश्रामावस्था में पेशी २९.२० प्रतिशत, यकृत् २९.३०

उपर्युक्त विवरण के अनुसार रक्त का वितरण निम्नांकित प्रकार से होता है :—

प्रायः १/४ हृदय, फुफ्फुस और रक्तवहस्रोत। प्रायः १/४ यकृत्।
,, ,, विश्रामावस्था की पेशी। ,, ,, अन्य अंग।

रक्त के कुल आयतन में निम्नलिखित अवस्थाओं के अनुसार विभिन्नता होती है :—

(क) आयु—बच्चों में अधिक।

(ख) लिंग—स्त्रियों में कम।

(ग) गर्भावस्था—गर्भावस्था में अधिक, प्रसव के बाद कम।

(घ) अधिक जल लेने से—वृद्धि।

(ङ) जल नहीं लेने से—कमी।

(च) अम्लों तथा क्षारों के प्रयोग से रक्तरस गाढ़ा होने से आयतन कम तथा सोडा बाईकार्ब या सत्त्वशर्करा से रक्तरस पतला होने से आयतन अधिक हो जाता है।

रक्त की मात्रा का निर्णय

शरीर में रक्त की कुल मात्रा का निर्णय दो विधियों से किया जाता है:—

(१) प्रत्यक्ष (Direct) (२) अप्रत्यक्ष (Indirect)

(१) प्रत्यक्षविधि—

(क) हैलडेनस्मिथ की विधि (Haldane smith method) पहले रक्त के रञ्जकद्रव्य का प्रतिशत रक्तरञ्जकमापक यन्त्र से निकाल लीजिये। स्वभावतः १०० सी. सी. रक्त में १८.५ सी. सी. ओषजन रहता है और तब इसका वर्ण १०० प्रतिशत कहा जाता है। रक्तरञ्जक द्रव्य का प्रतिशत नापने

के बाद व्यक्ति को लगभग ७५ सी. सी. कार्बनएकोषिद् सुंघाइये। अब रक्त की कुछ बूँदें लेकर रक्तरञ्जकमापक यन्त्र से उसकी परीक्षा कीजिये। तब पता चलेगा कि रक्त १५ प्रतिशत कार्बनएकोषिद् से सन्तृप्त है अर्थात् १०० सी. सी. रक्त में $\frac{१८.५ \times १५}{१००}$ = २.७ सी. सी. कार्बन एकोषिद् रहता है।

अब ७५ सी. सी. कार्बन एकोषिद् सूँघने से १०० सी. सी. रक्त में कार्बन एकोषिद् का परिमाण २.७ सी. सी. अर्थात् १५ प्रतिशत होता है। इसलिए कार्बनएकोषिद् के १०० प्रतिशत (प्रति १०० सी. सी. रक्त में १८.५ सी. सी.) के लिए ५०० सी. सी. कार्बनएकोषिद् सूँघने की आवश्यकता होगी। अर्थात् रक्त में कार्बनएकोषिद् (या ओषजन) का कुल धारण-सामर्थ्य ५०० सी. सी. है। इस परिमाण का धारण २७२७ सी. सी. रक्त द्वारा होगा क्योंकि १०० सी. सी. रक्त १८.५ सी. सी. कार्बनएकोषिद या ओषजन का धारण करता है। अब निम्नांकित सूत्र से रक्त की कुल मात्रा निश्चित की जाती है :—

आयतन × विशिष्ट गुरुत्व = रक्त का कुल भार।

∴ २७२७ × १.०५५ = २८७६ ग्राम।

(ख) कीथ की विधि (Keith's method)—इसमें कुछ रंगों का रक्त में निक्षेप करने के ४ या ५ मिनट के बाद कुछ रक्त निकाला जाता है और तब रक्तरस के वर्ण की परीक्षा की जाती है।

आयुर्वेद में रक्त की मात्रा आठ अञ्जलि कही गई है[1]।

रक्तरस (Plasma)—रक्तरस रक्त का तरल भाग है जो रक्त से निम्न-लिखित विधियों से प्राप्त किया जाता है :—

(१) केन्द्रापकर्षण विधि—इस विधि से रक्तकण भारी होने से नीचे बैठ जाते हैं और रक्तरस तरल के रूप में ऊपर अलग हो जाता है जिसे पिपेट के द्वारा निकाल लिया जा सकता है।

(२) जीवित परीक्षणनलिका (Living Test tube)—बड़े जीवों में उनकी अनुमन्या सिरा को रक्त के साथ काट कर अलग कर लिया जाता है और उसे ठण्डे स्थान में लटका दिया जाता है। इससे भारी कण नीचे बैठ जाते हैं और रक्तरस ऊपर हो जाता है।

(३) स्कन्दन रोकने की अन्य किसी विधि से।

---

१. अष्टौ शोणितस्य।—च. शा. ७।१७

रक्तरस का संघटन

जल	९० प्रतिशत		
मांसतत्त्व	७.०, प्रतिशत	सीरम अलब्यूमिन	४.५ प्रतिशत,
		,, ग्लोब्यूलिन	१.८ प्रतिशत,
		सूत्रजन	०.४ प्रतिशत,
		केन्द्रक मांसतत्त्व	
सत्वपदार्थ	०.४६ प्रतिशत	(नत्रजनयुक्त)	

यूरिया, मूत्राम्ल, आमिषाम्ल, क्रियेटिन, क्रियेटिनिन जैन्थीन, हाइपोजैन्थीन।
ऐड्रिनिन, ग्वैनिन।
(नत्रजनरहित)
फास्फोलिपिन, कौलेस्टरोल, लेसिथिन, दुग्धाम्ल, स्नेह, स्नेहाम्ल, द्राक्षशर्करा।

क्रियातत्त्व—शर्कराजनविश्लेषक, मांसतत्त्वविश्लेषक, ओषजनीकरण, परिवर्तक, स्नेहविश्लेषक, केन्द्रकविश्लेषक, हिमोडायस्टेज।

अन्य पदार्थ—अन्तःस्राव, रोगप्रतिरोधक पदार्थ; पूरक (एलेक्सिन), ऐम्बोसेप्टर्स (Ambocepotrs)।

गैस—ओषजन, कार्बनद्विओषिद्, नत्रजन।

रक्तरस के मांसतत्त्व क्रियाविज्ञान की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं। प्रयोगों से यह देखा गया है कि मांसतत्त्व की कमी से शीघ्र ही स्तब्धता के लक्षण प्रकट होते हैं। इसके अतिरिक्त ये क्षाररक्षक के रूप में भी कार्य करते हैं और इस प्रकार उदजन-अणु केन्द्रीभवन (Hion Concentration) को स्थिर रखते हैं। सीरम अलब्यूमिन अमोनियम सलफेट से पूर्ण सन्तृप्त होने पर ही अवक्षिप्त होते हैं। सूत्रजन (Fibrinogen) रक्त के स्कन्दन में विशेष महत्त्व का है। इसका स्वरूप ग्लोब्यूलिन के समान होता है और बहुत शीघ्र अवक्षिप्त हो जाता है। लवणों की उपस्थिति में ५६° सेण्टीग्रेड तक गरम करने से यह जम जाता है। रक्तरस के अन्य मांसतत्त्वों की अपेक्षा लवणों के आधिक्य से यह शीघ्र जमता है। सामान्य लवण से अर्धसंतृप्त होने तथा अमोनियम सलफेट के २५-३० प्रतिशत विलयन से यह अवक्षिप्त हो जाता है।

सूत्रजन की उत्पत्ति यकृत् कोषाणुओं में होती है। अधिक रक्तस्राव के बाद जब प्राणी में रक्त की पूर्ति सूत्रहीन रक्त से की जाती है या धुले हुये रक्तकण 'रिंगरलौक विलयन' (Ringerlock suspension) में मिला कर शरीर में

प्रविष्ट किये जाते हैं (इसे रक्तरस-निक्षेप (Plasmaphoresis) कहते हैं) तब प्राकृत प्राणियों में कुछ ही घण्टों में सूत्रजन पुनः उत्पन्न हो जाता है। किन्तु यदि यही ऐसे प्राणियों में जिनका यकृत् निकाल दिया जाय तो सूत्रजन की पुनरुत्पत्ति नहीं होती। इसके अतिरिक्त यह भी देखा गया है कि यकृत् के बिकारों में रक्तरस में सूत्रजन की मात्रा कम हो जाती है।

सीरम ग्लोब्यूलिन लगभग ७५° सेण्टीग्रेड तक गरम करने से जम जाता है और अमोनियम सल्फेट से अर्धसन्तृप्त तथा मैगनेशियम सल्फेट से पूर्ण सन्तृप्त होने पर अवक्षिप्त हो जाता है।

अवस्थाओं के अनुसार रक्तरस में स्नेह की मात्रा में विभिन्नता होती है। अधिक गुरु तथा स्निग्ध भोजन करने पर रक्त में स्नेह की मात्रा अधिक हो जाती है और सीरम में कुछ मलिनता आ जाती है। शीत स्थान में रखने पर स्नेह की बूँदें उससे अलग हो जाती हैं।

रक्तस्कन्दन (Coagulation of blood)

शरीर से रक्त निकलने पर उसमें तीन अवस्थायें आती हैं :—

(क) प्रतिक्रियावस्था (Reaction phase)
(ख) स्कन्दनावस्था (Coagulation phase)
(ग) सङ्कोचावस्था (Contraction phase)

(क) प्रतिक्रियावस्था :—

यह ३ से ५ मिनट तक रहती है। इस काल में रक्त में कोई भौतिक परिवर्तन दिखलाई नहीं देता और वह अपने स्वाभाविक तरल रूप में रहता है। तथापि रक्त में रासायनिक परिवर्तन होते हैं और रक्तचक्रिकायें परस्पर मिलकर छोटे-छोटे पिण्डों में एकत्रित हो जाती हैं। पहले वह पिण्ड फूल जाते हैं और फिर उनमें विश्लेषण की क्रिया होती है जिसके फलस्वरूप अनेक पदार्थ बनते हैं। इन पदार्थों में स्कन्दजन या पुरःस्कन्दिन (Thrombogen or prothrombin) मुख्य हैं और इसकी उत्पत्ति के लिए जीवनीय द्रव्य आवश्यक होता है।

यह समझा जाता है कि पुरःस्कन्दिन श्वेतकणों या रक्तचक्रिकाओं से नहीं बनता है, किन्तु वह रक्तरस के एक मांसतत्व के रूप में स्थित रहता है। रक्तचक्रिकाओं तथा श्वेतकणों के विश्लेषण से एक क्रियाशील पदार्थ बनता है जिसे 'थ्रौम्बोकाइनेज' (Thrombokinase) कहते हैं। यह एक स्नेह पदार्थ है और मस्तिष्क से प्राप्त 'किफेलिन' (Cephalin) नामक द्रव्य के समान है।

(ख) स्कन्दनावस्था :—

इसमें रक्त गाढा और घन हो जाता है जिससे पात्र को उलटने पर भी रक्त गिरता नहीं है। यह १० मिनट के भीतर होता है और इसे 'स्कन्दन-काल' (Coagulation time) कहते हैं।[1] इस अवस्था में स्कन्दजन रक्त के विलेय खटिक लवणों के साथ मिलता है और इससे स्कन्दिन (Thrombin, thrombase or fibrin ferment) नामक पदार्थ बनता है। पुरःस्कन्दिन और खटिक का यह संयोग 'थ्रौम्बोकाइनेज' नामक क्रियाशील माध्यम के द्वारा सम्पन्न होता है जो तन्तुओं के विश्लेषण से प्राप्त होता है।

(ग) संकोचावस्था :—

इस अवस्था में रक्त के जमे हुये घन भाग के चारों ओर से बूंद-बूंद कर तरल पदार्थ का स्राव होता है। ये बूँदें चारों ओर पृष्ठ भाग पर जमने लगती हैं और धीरे-धीरे रक्त तरल और ठोस दो भागों में विभक्त हो जाता है: तरल भाग सीरम (Serum) तथा ठोस भाग स्कन्द (Clot) कहलाता है।

इस काल में स्कन्दिन की क्रिया सूत्रजन पर होती है और उसे 'सूत्रीन' (Fibrin) नामक अविलेय जमे हुये मांसतत्त्व में परिणत कर देता है। यह सूत्रीन रक्त के सम्पूर्ण जमे हुये भाग के भीतर सूक्ष्म तन्तुओं का एक जाल-सा बनाता है जिसके बीच-बीच में रक्तकण स्थित होते हैं। इसके बाद सूत्रीन सिकुड़ने लगते हैं और रक्त का तरल भाग (Serum) बाहर निकलने लगता है।

अत्यधिक शक्ति के सूक्ष्मदर्शकयन्त्र में देखने पर सूत्रीन का जाल स्फटिक के समान दीखता है और स्वयं सूत्रीन सूच्याकार स्फटिक के समान दिखलाई देते हैं। इसके अतिरिक्त अम्लों या लवणों के द्वारा जमाने पर रक्त का थक्का बड़े-बड़े पिण्डों के रूप में होता है।

रक्तस्कन्दन को रोकने वाले कारण

(क) ऐसे कारण जो कणों के विश्लेषण को रोकते हैं अर्थात् जो स्कन्दन की प्रथमावस्था में बाधा पहुँचाते हैं :—

(१) निम्न तापक्रम (२) सजीव रक्तवह स्रोतों की दीवालों से सम्पर्क (३) स्नेह से सम्पर्क

(ख) ऐसे कारण जो विलेय खटिक लवणों को अविलेय लवणों में परिवर्तित करने से 'सूत्रीन किण्व' की उत्पत्ति को रोकते हैं अर्थात् जो स्कन्दन की द्वितीय अवस्था में बाधा पहुँचाते हैं :—

---

१. सम्यक् गत्वा यदा रक्तं स्वयमेवावतिष्ठते।
शुद्धं तदा विजानीयात्'—सु० सू० १४।१९

(४) पोटासियम औक्जलेट का प्रक्षेप
(५) सोडियम क्लोराइड ,, ,,
(६) ,, साइट्रेट ,, ,,

(ग) ऐसे कारण जो प्रतिस्कन्दिन की अधिक उत्पत्ति से सूत्रीनकिण्व को नष्ट कर देते हैं :—

(७) मांसतत्त्वसार का अन्तःक्षेप
(८) स्रुत रक्त में जलौकासत्त्व (Hirodin) का मिश्रण
(९) सर्पविष का अन्तःक्षेप

(घ) ऐसे कारण जो रक्तरस के सूत्रजन को अवक्षिप्त कर देते हैं :—

(१०) सोडियम सलफेट का प्रक्षेप
(११) मैगनेशियम सलफेट का प्रक्षेप
(१२) सोडियम बाइकार्बोनेट का प्रक्षेप
(१३) रक्त को ६० सेण्टीग्रेड तक गरम करना

रक्तस्कन्दन को बढ़ाने वाले कारण

(क) ऐसे कारण जो रक्त के विश्लेषण में सहायता करते हैं :—

(१) तापक्रम में वृद्धि (२) बाह्य पदार्थों से संपर्क
(३) स्रोतों की दीवाल में आघात (४) संक्षोभ ।

(ख) ऐसे कारण जो द्वितीय अवस्था में सहायता करते हैं :—

(५) विलेय खटिक लवणों का प्रक्षेप
(६) केन्द्रक मांसतत्त्व का अन्तःक्षेप

हॉवेल के रक्तस्कन्दन—सम्बन्धी सिद्धान्त के अनुसार यकृतीन (Heparin) के द्वारा ही रक्त की स्वाभाविक तरलता बनी रहती है। जब रक्त बाहर निकलता है तब थ्रौम्बोकाइनेज इस यकृतीन को उदासीन बना देता हैं और तब स्कन्दन की क्रिया होती है।

प्रतिपुरःस्कन्दिन, यकृतीन (Antiprothrombin, heparin)

रक्तरस में स्कन्दन का प्रतिरोधी एक द्रव्य होता है जो थौम्बोकाइनेज की क्रिया के द्वारा पुरःस्कन्दिन से स्कन्दिन के निर्माण में बाधा डालता है। इसे प्रतिपुरःस्कन्दिन या यकृतीन कहते हैं। इसकी क्रिया किफेलिन या अन्य तन्तु सत्त्व के द्वारा नष्ट हो जाती है।

प्रतिस्कन्दिन (Antithrombin)

रक्त बाहर निकलने पर जम जाता है किन्तु रक्तवह स्रोतों में वह नहीं जमता। इसका कारण यह है कि यकृत् के द्वारा एक स्कन्दनविरोधी पदार्थ

रक्तकण
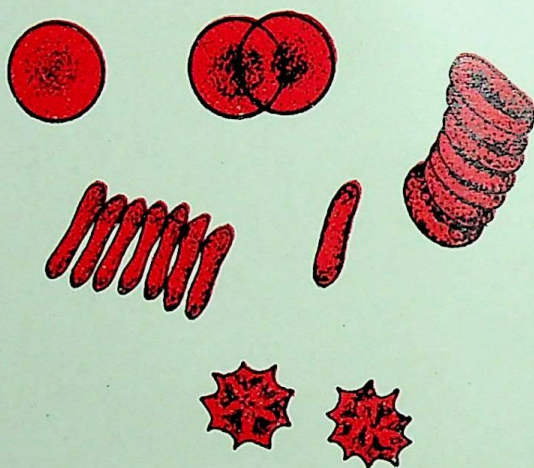
चित्र २६

(पृ० १०५)

उत्पन्न होता है जिसे प्रतिस्कन्दिन कहते हैं। उसी के कारण स्कन्दिन की क्रिया सूत्रजन पर नहीं हो पाती और रक्त जमने नहीं पाता।

रक्तविश्लेषण + विटामिन के
|
पुरःस्कन्दिन + सुधा + थौम्बोकाइनेज
|
स्कन्दिन + सूत्रजन
|
सूत्रीन
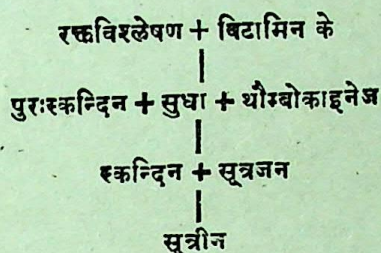
रक्तकण (Red blood corpuscles or Erythrocytes)

ये गोल, किन्तु दोनों पार्श्वों में नतोदर होते हैं और मुद्रा के समान दिखाई देते हैं। इनमें केन्द्र नहीं होते। इनका व्यास लगभग $\frac{१}{३२००}$ इञ्च तथा मोटाई $\frac{१}{१२०००}$ इञ्च होती है। ये कण पृथक् होने पर गहरे, पीले या हलके लाल रंग के दिखाई देते हैं, किन्तु जब वह मिले रहते हैं तो उनका रंग गहरा लाल होता है। इन कणों में परस्पर चिपकने की प्रवृत्ति होती है जिससे बहुत से कण अपने पार्श्व-भाग से एक दूसरे से मिले रहते हैं और तब वह देखने में रुपयों की ढेर के समान मालूम होते हैं। जीवित अवस्था में इनमें लचीलेपन का गुण होता है जिससे दबाव पड़ने पर ये कुछ लम्बे और संकुचित हो जाते हैं किन्तु शीघ्र ही पूर्वावस्था में लौट आते हैं।

चित्र—२६

रक्तकण जिस वस्तु के सम्पर्क में आते हैं उससे विशेषतः प्रभावित होते हैं। यदि उन्हें जल या सामान्य लवण विलयन में रखा जाय तो वे द्रव का शोषण करके गेंद की भाँति फूल जाते हैं। इनके भीतर का रञ्जकद्रव्य जल में विलीन हो जाता है और अन्त में अधिक फूल जाने से ये कण फट जाते हैं। इसे रक्त-विघटन (Haemolysis) कहते हैं। इसके बाद कोष्ठों में भी विघटन की क्रिया होने लगती है, इसे कोष्ठ-विघटन (Stomatolysis) कहते हैं।

यदि उन्हें समान शक्ति के विलयन (यथा ०.९ प्रतिशत लवण-विलयन) में रखा जाय तो इस प्रकार का कोई परिवर्तन नहीं होता। इसके विपरीत, उच्च लवण-विलयन में रखने पर उनके भीतर का द्रव व्यापन-क्रिया (Osmosis) के द्वारा बाहर खिंच आता है और कण सिकुड़ जाते हैं। रक्त-विघटन की क्रिया निम्नांकित कारणों से होती है :—

(१) रक्त में जल मिलाना।

(२) रक्त में ईथर, पित्तलवण, क्लोरोफार्म, तनु अम्ल, क्षार तथा सैपोनिन का तनु जलीय विलयन—(१ - १०००)

(३) नीललोहितोत्तरकिरण, क्षकिरण आदि किरणों का प्रभाव (किरणजन्य रक्तविघटन)

(४) अतिशीत या ६०° सेंटीग्रेड तक तापक्रम (तापजन्य रक्तविघटन)

(५) अतितीव्र संक्षोभ। (६) सर्पविष

(७) एक जाति के रक्त को दूसरी जाति के प्राणियों में प्रविष्ट करने से (विशिष्ट रक्तविघटन)

रक्तकण की रचना

रक्तकण की रचना एक रंगरहित लिफाफे की तरह होती है जिसमें एक अर्धद्रव पदार्थ भरा रहता है। इसमें रक्तरञ्जक द्रव्य की प्रधानता होती है, जिसका रंग गहरा लाल होता है और इसी के कारण रक्तकण का भी रंग लाल प्रतीत होता है। प्रत्येक कण में लगभग $\frac{2}{3}$ भाग जल होता है। शेष ठोस भाग में ९० प्रतिशत रक्तरंजक द्रव्य होता है। यदि कण को दाब कर तोड़ दिया जाय तो रक्तरंजक द्रव्य विलयन से बाहर निकल जायगा और केवल वर्णरहित आवरण रह जायगा।

रक्तकण का रासायनिक संघटन

जल	६५ प्रतिशत
रक्तरंजक द्रव्य	३२ प्रतिशत
अन्य ठोस पदार्थ	३ प्रतिशत

(कार्बनिक)

मांसतत्त्व	०·९ प्रतिशत
लेसिथिन	
कोलिस्टरीन	

(अकार्बनिक)

पोटाशियम, सुधा तथा मैगनेशियम के क्लोराइड, सलफेट तथा फास्फेट कणों में पोटाशियम तथा रक्तरस में सोडियम और सुधा-लवणों का आधिक्य रहता है।

रक्तकणों की संख्या

रक्तकणों की औसत संख्या पुरुषों में ४५ से ५५ लाख तक तथा स्त्रियों में ४४ लाख होती है। रक्त की सम्पूर्ण राशि में ४० से ५० प्रतिशत तक रक्तकणों का भाग रहता है। रक्तकणों की संख्या में निम्नांकित अवस्थाओं के अनुसार परिवर्तन होता रहता है:—

(१) आयु—गर्भ या नवजात शिशु में सर्वाधिक।
(२) शरीर का संहनन। (३) पोषण।
(४) निवास की स्थिति।
(५) काल—भोजन के बाद घट जाती है।
(६) गर्भावस्था—घट जाती है।
(७) मासिक रजःस्राव—बढ़ जाती है।
(८) पार्वत्य प्रदेश—अधिक ऊँचाई पर रक्तकणों की संख्या बढ़ जाती है। यह ओषजन की कमी फलतः प्लीहा के संकोच के कारण होती है।

रक्तकणाधिक्य (Polycythaemia)

यह एक ऐसी अवस्था है जिसमें रक्त में रक्तकणों का बाहुल्य हो जाता है। यह आघातजन्य स्तब्धता यथा क्षत, दग्ध आदि तथा अतितीव्र अतिसार या वमन की अवस्थाओं में देखा जाता है। इसका कारण यह है कि रक्तरस का द्रवभाग केशिकाओं से अधिक परिमाण में छन कर बाहर निकल जाता है और रक्त गाढ़ा हो जाता है जिससे अपेक्षाकृत रक्तकणों का बाहुल्य हो जाता है। इसे आपेक्षिक रक्तकणाधिक्य (Relative polycythaemia) कहते हैं। इसके अतिरिक्त जब रक्तकणों की संख्या में वस्तुतः वृद्धि होती है तब उसे तात्त्विक रक्तकणाधिक्य (Absolute polycythaemia) कहते हैं। प्राकृत रक्तकणाधिक्य निम्नांकित अवस्थाओं में होता है:—

(१) भावावेश—इसमें प्रत्यावर्तित रूप से प्लीहा का संकोच होता है और फलस्वरूप अधिक रक्तकण संवहन में आ जाते हैं।

(२) ओषजन की कमी—इसमें रक्तमज्जा की क्रियाशीलता में वृद्धि हो जाती है जिससे रक्तकणों का उत्पादन बढ़ जाता है।

रक्ताल्पता (Anaemia)

इस अवस्था में रक्तकणों की संख्या और रक्तरंजक का परिमाण कम हो जाता है। अति तीव्र रक्तस्राव होने पर शरीर में निम्नांकित पूरक प्रतिक्रियायें होती हैं जिनसे रक्त का स्वाभाविक स्वरूप बना रहता है:—

(१) सूक्ष्म धमनियों का संकोच।
(२) प्लीहा का संकोच।
(३) मज्जा की क्रियाशीलता में वृद्धि।
(४) तन्तुओं से द्रव का शोषण करने के कारण रक्तरस के परिमाण में वृद्धि।

इसी प्रकार जब भोजन में पोषक तत्वों यथा निरिन्द्रिय लवण, लौह, जीवनीय द्रव्य की कमी हो जाती है तब भी रक्ताल्पता की अवस्था उत्पन्न

हो जाती है। इसे 'पोषणसंबन्धी रक्ताल्पता' (Nutritional anaemia) कहते हैं।[1]

यकृत में एक पदार्थ पाया जाता है जो रक्तकणों को उत्पन्न करने के लिए रक्तमज्जा को उत्तेजित करता है। इस पदार्थ के अभाव में एक रोग उत्पन्न हो जाता है जिसे घातक रक्ताल्पता (Pernicious anaemia or addison's anaemia) कहते हैं। यह पदार्थ वस्तुतः यकृत में नहीं किन्तु आमाशय में उत्पन्न होता है। आधुनिक अनुसंधानों के आधार पर यह सिद्ध हुआ है कि आमाशयिक स्राव में एक अनिर्दिष्ट तत्व होता है जिसका नाम 'एडिसिन' (Addisin) है और जो स्वरूपतः अन्तःस्राव के समान होता है। यह भोजन के किसी तत्व विशेषतः मांस, वृक्क तथा मस्तिष्क के मांसतत्वों से संयुक्त होता है। भोजन का यह तत्व जीवनीयद्रव्य बी १२ के समान होता है। ऐडिसिन और भोजनतत्व के संयोग से बना हुआ पदार्थ यकृत् में संचित रहता है और रक्तमज्जा में उत्पन्न रक्तकणों के परिपाक तथा विकास में अत्यन्त महत्वपूर्ण योग देता है और इस प्रकार घातक रक्ताल्पता से शरीर की रक्षा करता है।

इस संबन्ध में केसल ने यह प्रयोग किया :—एक स्वस्थ पुरुष को मिश्रित आहार देकर पच्यमानावस्था में उसे एक नलिका से निकाल कर घातक रक्ताल्पता के रोगी को आमाशय-नलिका के द्वारा दिया गया। इससे रोगी को पर्याप्त लाभ हुआ। यह भी देखा गया कि केवल आहार या केवल आमाशयिक रस से कोई लाभ नहीं होता। अतः कैसल ने यह निष्कर्ष निकाला कि भोजन के पाचन-काल में आहारद्रव्य (बाह्य तत्व) और आमाशयिक रस (आभ्यन्तर तत्व) की पारस्परिक क्रिया से रक्तोत्पादक तत्व का निर्माण होता है।

---

१. शोणितक्षये त्वक्पारुष्यमम्लशीतप्रार्थना सिराशैथिल्यं च।—सु. सू. १५।९

धातुक्षयात् स्रुते रक्ते मन्दः संजायतेऽनलः।
पवनश्च परं कोपं याति —सु. सू. १४।३७

दोषाः पित्तप्रधानास्तु यस्य कुप्यन्ति धातुषु।
शैथिल्यं तस्य धातूनां गौरवं चोपजायते॥
ततो वर्णबलस्नेहा ये चान्येऽप्योजसो गुणाः।
व्रजन्ति क्षयमत्यर्थं दोषदूष्यप्रदूषणात्॥
सोऽल्परक्तोऽल्पमेदस्को निःसारः शिथिलेन्द्रियः।
वैवर्ण्यं भजते।' —च. चि. १६।४-६

परुषा स्फुटिता म्लाना त्वग्रूक्षा रक्तसंक्षये—च. सू. १७।६५

बाह्य तत्त्व + आभ्यन्तर तत्त्व = रक्तोत्पादक तत्त्व

यह रक्तोत्पादक तत्त्व आमाशय में उत्पन्न होकर क्षुद्रान्त्र में जाता है और वहाँ से प्रतीहारिणी सिरा द्वारा शोषित होकर यकृत में पहुँचता है और वहाँ सञ्चित रहता है। इसी कारण यकृतसत्वों में यह प्रचुर मात्रा में उपस्थित रहता है। यकृत से यह मज्जा में पहुँच कर रक्तकणों के उत्पादन में योग देता है।

रक्तवृद्धि—रक्तवृद्धि होने पर अंगों में लालिमा, रक्तनेत्रता तथा सिरापूर्णता ये लक्षण होते हैं[1]।

रक्तकणों की गणना।

सर्वप्रथम रोगी से रक्त लेने के लिए आवश्यक उपकरणों को प्रस्तुत रखना चाहिये। रोगी की उँगली यदि ठण्डी हो तो गरम पानी से धोकर गरम कर देना चाहिए और यदि भींगी हो, तो सुखा देना चाहिये। उस उँगली को अपने बाँयें हाथ के अँगूठे और तर्जनी के बीच में पकड़ो। उसके अग्रभाग को अलकोहल से विसंक्रमित करो और सूखने दो। दाहिने हाथ में सुई लेकर उँगली के अग्रभाग के निकट करतल की ओर तीव्र वेधन करो और उँगली को धीरे से दबाओ जिससे एक बूँद रक्त वहाँ पृष्ठ पर एकत्र हो जाय। उसे साफ कर दो। इसी प्रकार निकाली हुई दूसरी बूँद को रक्तकण के लिए निर्धारित पिपेट में ५ चिह्न तक मुख के द्वारा खींचो। ध्यान रहे कि इसके साथ हवा का एक बुलबुला भी अन्दर न जाने पावे और शीघ्र ही अग्रभाग साफ करके १०१ शङ्क तक रक्तकणीय द्रव खींचो। यदि हवा का कोई बुलबुला चला गया हो तो फिर से यह क्रिया करनी चाहिये।

रक्तकणों की पिपेट के अग्रभाग को उँगलियों से बन्द करके एक मिनट तक हिलाओ। पिपेट से १ या २ बूँद बाहर निकालने के बाद एक छोटी बूँद गणना के लिए प्रयुक्त चित्रकाच के क्षेत्र पर लो। उसको शीशे के आवरक खण्ड (Cover slip) से धीरे धीरे ढँक दो, जिससे उसके भीतर वायु के बुलबुले न जाने पावें। रक्तबिन्दु का आकार उतना ही होना चाहिये जो केवल गणनाक्षेत्र ही ढँक सके, उसके बाहर न जाने पावे, अन्यथा दूसरी बिन्दु लेनी पड़ेगी। अब रक्तकणों की गणना सूक्ष्मदर्शक यन्त्र से की जाती है। गणनाक्षेत्र में १६ छोटे छोटे क्षेत्र होते हैं जिनका वर्गफल ४०० वर्ग मिलीमीटर होता है। ऐसे १६ छोटे क्षेत्रों के मिलने से एक बड़ा क्षेत्र बनता है। बड़े क्षेत्रों की संख्या भी १६ होती है।

---

१. रक्तं रक्तांगाक्षितां सिरापूर्णत्वं चापादयति।—सु. सू. १५।११

गणना की विधि भी यह है कि क्षेत्रों की प्रथम पंक्ति में ऊपर से नीचे की ओर गिनना चाहिये। फिर क्षेत्र को थोड़ा खिसका कर दूसरी पंक्ति में नीचे से ऊपर गिनना चाहिये। इसी प्रकार W की तरह तीसरी पंक्ति में ऊपर से नीचे और चौथी पंक्ति में नीचे से ऊपर गिनना चाहिये कुछ रक्तकण क्षेत्र के भीतर न होकर रेखा पर पड़े मिलेंगे। इनमें जो कण ऊपर और बाईं ओर की रेखा पर हों, उन्हें गिनना चाहिये, दूसरों को नहीं, अन्यथा परिणाम गलत निकलेगा। इसकी गणना निम्नलिखित सूत्र के अनुसार होती है :—

$$\frac{\text{कणसंख्या} \times ४०० \times २००}{६४}$$

इसी प्रकार श्वेतकणों की गणना की जाती है। इसके लिए रक्तबिन्दु श्वेतकण के लिए निर्धारित पिपेट में ५ चिह्न तक मुंह के द्वारा खींचो और उसमें ११ चिह्न तक श्वेतकणीय द्रव खींचो। शेष विधि रक्तकणों की गणना के समान ही है। श्वेतकणों की गणना का सूत्र निम्नलिखित है :—

$$\frac{\text{कणसंख्या} \times ४००० \times २०}{२.६}$$

कभी कभी विलयन की अशुद्धि, पिपेट में धीरे धीरे चूसना, कणों का विषम वितरण तथा धूलि आदि कारणों से गणना का परिणाम ठीक नहीं निकलता।

वान हर्बर्डन बिलयन के द्वारा रक्तकणों का विलयन करने के पश्चात् रक्तचक्रिकाओं की गणना की जा सकती है। वानहर्बर्डन विलयन १० प्रतिशत यूरिया विलयन के २१ भाग तथा सामान्य लवण बिलयन के ९ भाग को परस्पर मिश्रित करने से बनता है। इसी प्रकार रक्तरञ्जकद्रव्य का माप रक्तरञ्जकमापक यन्त्र (Haemoglobinometer) के द्वारा किया जाता है।

रंगाङ्क (Colour index) :—यह रक्तकणों तथा रक्तरञ्जक के प्रतिशत परिमाण का अनुपात है। ५ लाख रक्तकणों को शतप्रतिशत माना जाता है। उदाहरणतः, यदि रक्तरञ्जक ९० प्रतिशत है तथा रक्तकण ९६ प्रतिशत है तो रंगाङ्क हुआ—

$$\frac{\text{रक्तरञ्जक प्रतिशत}}{\text{रक्तकण प्रतिशत}} = \frac{९०}{९६} = ०.९३८ ।$$

रक्तकणों की उत्पत्ति और विकास

प्रारम्भिक गर्भावस्था में रक्तवाह प्रदेश के कुछ सकेन्द्रक गर्भकोषाणुओं के

केन्द्रक विभक्त होते हैं और वही विभक्त, प्रविभक्त होते-होते रक्तकणों में परिणत हो जाते हैं। तृतीय मास के बाद से लसिकाग्रन्थियां, प्लीहा, बालग्रैवेयक तथा यकृत् रक्तकणों के निर्माण का कार्य करते हैं।[1] जन्म के बाद इनका निर्माण रक्त मज्जा के द्वारा होता है।

प्रतिदिन रक्तकणों का नाश होता रहता है और इसी क्षति की पूर्ति करने के लिए रक्तमज्जा में निरन्तर नये-नये रक्तकण बनते रहते हैं। रक्तमज्जा में ऐसे विकसित होने वाले रक्तकणों की संख्या ४० से ५० लाख तक रहती है और इनसे लगभग १५ लाख रक्तकण प्रतिदिन बनते हैं।

विकासक्रम में सर्वप्रथम जो कण उत्पन्न होते हैं, वह स्वाभाविक कणों से बड़े तथा केन्द्रकयुक्त होते हैं उन्हें सकेन्द्रक रक्तकण (Megaloblasts) कहते हैं। यह रंगरहित होते हैं। इसके बाद ओजःसार में रक्तरंजक द्रव्य उत्पन्न होने से वह रक्तकणों में परिणत हो जाता है। पहले उत्पन्न होनेवाले कण को अग्रज रक्तकण (Erythroblasts) कहते हैं जिसके केन्द्रक में सूक्ष्म जालक के समान रचना होती है। उसके बाद अनुज रक्तकण (Normoblasts) उत्पन्न होते हैं जिनके केन्द्रक में जालवत् रचना नहीं होती। इसके बाद केन्द्रक नष्ट या शोषित हो जाते हैं और इस प्रकार केन्द्रकविहीन रक्तकण रह जाता है, इसे विकेन्द्रक रक्तकण (Reticulocytes) कहते हैं। इन्हीं कणों से स्वाभाविक परिपक्व रक्तकणों का निर्माण होता है। किन्तु रक्तक्षय की अवस्था में रक्तनिर्मापक प्रदेशों पर अत्यधिक भार पड़ने पर ये कण तथा गंभीर अवस्थाओं में केन्द्रकयुक्त कण भी रक्त में मिलने लगते हैं।

रक्त मज्जा के रक्तवह सिरास्रोतों में स्थित केशिकाओं में रक्त निर्माण का कार्य होता है। यकृत् सत्त्व रक्त मज्जा को उत्तेजित करता है और इस प्रकार रक्तकणों का उत्पादन बढ़ जाता है। जीवनीय द्रव्य सी, थाइरौक्सीन तथा ताम्र रक्तोत्पादन में सहायता करते हैं।

रक्तकणों का भविष्य

मनुष्य में लगभग चार या पांच सप्ताह के जीवन चक्र के बाद रक्तकण विश्लेषित हो जाते हैं और रक्तरञ्जक द्रव्य भी विश्लेषित हो जाता है जिससे पित्तरञ्जक द्रव्य बनते हैं। इसका प्रमाण यह है कि मूत्र और पुरीष द्वारा पित्तरञ्जक द्रव्यों का उत्सर्ग निरन्तर होता रहता है। यह पित्तरञ्जक द्रव्य रक्तरञ्जक द्रव्यों से यकृत्–कोषाणुओं द्वारा बनते हैं, यह पहले बतलाया जा चुका है। रक्तक्षय वाले रोगों में हिमोसिडरिन (Haemosiderin) नामक

1. 'शोणितवहानां स्रोतसां यकृन्मूलं प्लीहा च।'—च० वि० ५।१०

लौहयुक्त रञ्जकद्रव्य का यकृत तथा प्लीहा में सञ्चय होते भी देखा गया है।

विश्लेषित रक्तकणों का ग्रहण तथा उनसे पित्तरञ्जक द्रव्यों का निर्माण एक विशेष संस्थान द्वारा होता है उसे जालकान्तर्धात्वीय संस्थान (Reticulo-endothelial system) कहते हैं। इसमें निम्नलिखित अङ्गों का समावेश होता ह :—

१. यकृत् के तारक-कोषाणु। २. प्लीहा।

३. रक्त के एककेन्द्रीय कोषाणु।

४, लसीकावह स्रोतों, प्लैहिक स्रोतों, रक्तमज्जा, अधिवृक्कग्रन्थि के अन्तःस्तर।

५. रक्त मज्जा, लसीकातन्तु, प्लीहा, बालग्रैवेयक के जालक-काषाणु।

इसके अतिरिक्त विद्वानों का यह मत है कि रक्तनाश तथा पित्तनिर्माण की क्रिया शरीर के कुछ ही अङ्गों में सीमित न रहकर वह सम्भवतः सभी अङ्गों में होती है। यहाँ तक कि सामान्य क्षत में भी वस्तुतः पित्तरञ्जकद्रव्य का निर्माण स्थानीय होता हैं।

इस संस्थान के निम्नांकित कार्य हैं :—

(१) बाह्य द्रव्यों का आहरण यथा जीवाणु, कोषाणुशेष आदि।

(२) रक्तरंजक से पित्तरंजक का निर्माण।

स्वस्थ व्यक्तियों में रक्तक्षय के कारण लौह की जो मात्रा शरीर में मुक्त होनी है वह लगभग सब नये रक्तकणों के निर्माण में उपयुक्त हो जाती है इसीलिए इस अनुपात से लौह की अधिक आवश्यकता भोजन में नहीं होती।

रक्तरंजक (Haemoglobin)

यह रक्त का रंजक द्रव्य है जिसके कारण उसका रङ्ग लाल रहता है। यह रंजक मांसतत्त्व की श्रेणी का एक संयुक्त मांसतत्त्व है जो—९६ प्रतिशत वर्तुलिन (Globin) जिसमें गन्धक का भी भाग रहता है तथा ४ प्रतिशत रक्तरञ्जन (Haemochromogen, $C_{34}H_{40}O_4N_4$ Fe), जिसमें ०.०३३५ प्रतिशत लौह[1] रहता है—के मिलने से बना है। यह ताप, तनु अम्लों

---

१. युवा व्यक्ति के शरीर में लगभग ४.५ ग्राम लौह रहता है जो निम्नांकित चार रूपों में वितरित होता है :—

(१) रक्तरञ्जक—(haemoglobin) लगभग २.५ ग्राम

(२) पेशीरञ्जक—(Myo-haemoglobin) पेशियों में

(३) अन्तःकोषाणवीय किण्वतत्व—(Intracellular enzyme)

(४) विशिष्ट धात्वीय मांसतत्व (एपोफेरिटिन) के साथ संयुक्त लौह जिससे फेरिटिन नामक यौगिक बन कर धातुओं में संचित होता है।

तथा तीव्र क्षारों के द्वारा शीघ्र इन दोनों अवयवों में विभक्त हो जाता है। इसका स्फटिकीकरण भी हो सकता है। स्फटिकों का आकार त्रिपार्श्व के समान होता है। रक्तकणों के भीतर लवणों के कारण यह विलयन रूप में रहता है और उसका स्फटिकीकरण नहीं होता।

१०० ग्राम रक्त में १४–१५ ग्राम रक्तरञ्जक रहता है और इस अनुपात से उसकी मात्रा शतप्रतिशत मानी जाती है। रक्त की ओषजनवहन-शक्ति पूर्णतः रक्तकणों में वर्तमान रक्तरञ्जक के परिमाण पर निर्भर है। इसके अतिरिक्त यह क्षाररक्षक है तथा कार्बनद्विओषिद् का भी वहन करता है।

ओषजन–सन्तृप्ति (Oxygen saturation)

सामान्य धमनीगत रक्त में रक्तरञ्जक ९४ से ९६ प्रतिशत ओषरक्त-रञ्जक के रूप में रहता है। इसलिए रक्त की ओषजन-सन्तृप्ति (Oxygen saturation) ९४ से ९६ प्रतिशत होती है और अवशिष्ट असन्तृप्ति ६ प्रतिशत। सिरागत रक्त की ओषजन-सन्तृप्ति ६० से ८० प्रतिशत तक होती है।

थोड़ी देर के अधिक व्यायाम से रक्तरञ्जक का परिमाण बढ़ जाता है, किन्तु देर तक व्यायाम जारी रखने से रक्तकणों का नाश होने लगता है, यद्यपि यह अवस्था क्षणिक होती है क्योंकि शीघ्र ही नये नये रक्तकणों के द्वारा इसके रिक्त स्थान की पूर्ति हो जाती है।

रक्तरञ्जक से उत्पन्न द्रव्य

(१) हिमेटिन—Haematin ($C_{34}H_{30}N_4O_4$ Fe OH)

रक्तरञ्जक को तनु अम्लों से ओषजन की उपस्थिति में विश्लेषित करने पर यह प्राप्त होता है। यह नीलाभ कृष्ण स्फटिकों के रूप में होता है तथा जल या मद्यसार में अविलेय है किन्तु अम्ल या क्षार में आसानी से घुल जाता है।

(२) हिमोक्रोमोजन Haemochromogen ($C_{34}H_{40}N_4O_4$Fe)

जब रक्तरञ्जक ओषजन की अनुपस्थिति में विश्लेषित होता है तब यह प्राप्त होता है।

(३) हिमीन—Haemin ($C_{34}H_{32}N_4$ O_4 Fecl)

यह हिमेटिन हाइड्रोक्लोराइड है जो गहरे भूरे रंग के टुकड़ों में मिलता है।

(४) हिमेटापॉर्फिरन—Haematoporphyrin ($C_{34}H_{38}N_4O_6$)

यह लौह से रहित द्रव्य है तथा रक्त पर या हिमेटिन पर गन्धकाम्ल की क्रिया होने से प्राप्त होता है।

(५) हाइड्रोबिलीरुबिन—Hydrobilirubin ($C_{32}H_{44}N_4O_7$)

यह हिमेटिन पर टिन तथा गन्धकाम्ल की क्रिया होने से प्राप्त होता है।

(६) बिलीरुबिन–Bilirubin ($C_{33}H_{36}N_4O_9$)

यह भी रक्तरञ्जक का लौहविहीन घटक है और जालकान्तःस्तरीय तन्तु विशेषतः यकृत के कोषाणुओं में हिमेटोपौरफिरिन से उत्पन्न होता है।

(७) हिमेट्वायडिन Haematoidin

यह पुराने रक्त के जमे हुए थक्कों में तथा रक्तकणों के विश्लेषित होने पर तन्तुओं में पाया जाता है।

(८) बिलिवर्डिन—Biliverdin ($C_{33}H_{30}N_4O_5$)

यह बिलिरुबिन के ओषजन के साथ संयोग होने से उत्पन्न होता है।

(९) यूरोबिलीन—(Urobilin)—मूत्ररंजक

यह एक प्रकार का रंजक द्रव्य है जो मूत्र में मिलता है।

(१०) स्टर्कोबिलिन—(Stercobilin)—पुरीषरञ्जक

वह पुरीष का रंजक द्रव्य है जो विघटनकारक जीवाणुओं की क्रिया से बिलिरुबिन के परिवर्तन होने से प्राप्त होता है।

रक्तरञ्जक के यौगिक

(१) ओषरक्तरञ्जक (Oxyhaemoglobin) :—रक्तरञ्जक और ओषजन के मिलने से यह यौगिक बनता है। १ ग्राम रक्तरञ्जक ७६० मिलीमीटर वायुभार तथा ० सेण्टीग्रेड तापक्रम पर १·३४५ सी. सी. ओषजन से संयुक्त होता है। यह यौगिक वस्तुतः रक्तरंजक का औक्साइड नहीं है क्योंकि इसमें ओषजन का बहुत शिथिल संयोग होता है।

रक्तरञ्जक का यह एक विशिष्ट गुण है कि वह ओषजन के साथ आसानी से संयुक्त हो जाता है तथा उतनी ही आसानी से उसको छोड़ भी देता है। उसका यही गुण जीवन के लिए महत्त्वपूर्ण है। यह लाल रंग का होता है और मद्यसार या ईथर में अविलेय तथा जल में विलेय है। इसका स्फटिकीकरण भी शीघ्र होता है।

(२) अधौषरक्तरञ्जक—(Methaemoglobin) यह रक्तरञ्जक और ओषजन का दृढ़ यौगिक है और रक्तरञ्जक का आक्साइड समझा जाता है। यह ओषरक्तरञ्जक के सान्द्र विलयन में पोटाशियम फेरीसाइनाइड, पोटाशियम परमैंगनेट या ओजोन मिलाने से प्राप्त होता है। यह भूरे रंग का होता है। इसमें ओषरक्तरञ्जक की अपेक्षा ओषजन का परिमाण आधा होता है।

(३) कार्बोषरक्तरञ्जक—(Carboxy-haemoglobin) Hb $(Feco)_4$ यह रक्तरञ्जक के कार्बन एकोषिद् गैस के साथ संयुक्त होने से बनता है। रक्तरञ्जक में ओषजन की अपेक्षा १४० गुना अधिक कार्बन एकोषिद् से मिलने की प्रवृत्ति होती है। १०० सी. सी. रक्त १८.५ सी. सी. कार्बन एकोषिद् से संयुक्त होता है। यह ओषरक्तरञ्जक से अधिक स्थायी यौगिक है। ओषजन की कमी के कारण तथा श्वासावरोधजन्य मृत्यु में यह गैस अत्यधिक पाया जाता है।

(४) नत्राम्लरक्तरञ्जक Nitricoxide haemoglobin Hb $(Fe No)_4$ यह रक्त में अमोनिया मिलाकर नत्रौषिद् गैस के साथ संयुक्त कराने पर प्राप्त होता है।

(५) गन्धरक्तरञ्जक (Sulph Haemoglobin)—यह रक्तरञ्जक और हाइड्रोजन सलफाइड के योग से बनता है। इसका रंग मलिन हरिताभ होता है।

श्वेतकण (White blood corpuscles)

श्वेतकण छोटे केन्द्रकयुक्त कोषाणु होते हैं जिनके आकार-प्रकार में बहुत भिन्नता देखी जाती है। कुछ लाल कणों से छोटे होते हैं किन्तु अधिकतर बड़े होते हैं। साधारणतः इनका व्यास १० म्यू होता है। इनके केन्द्रक के आकार में भी बहुत विभिन्नता पाई जाती है और उसी के अनुसार इसे कई श्रेणियों में विभक्त किया गया है। इन कोषाणुओं में गति करने की शक्ति होती है और वे अमीबा के समान गति करते हैं जिससे उनका आकार सदैव परिवर्तित होता रहता है। इनका विशिष्ट गुरुत्व रक्तकणों की अपेक्षा कम होता है। औसतन उनकी संख्या प्रत्येक घन मिलीमीटर रक्त में ७००० से ९००० होती है, किन्तु अवस्थाओं के अनुसार इसमें परिवर्तन होता रहता है। इसमें जीवाणुभक्षण (Phagocytosis) का भी गुण होता है।

भोजन, विशेषतः मांसतत्त्वबहुल, के बाद, शारीरिक परिश्रम, अभ्यंग, गर्भावस्था, बाल्यावस्था तथा अनेक औपसर्गिक रोगों में श्वेतकण-वृद्धि (Leucocytosis) हो जाती है। वृद्धावस्था तथा उपवास के बाद उनकी संख्या घट जाती है (Leucopenia)।

श्वेतकणों के प्रकार

(१) बहुकेन्द्री (Polymorphonuclear):—यह प्रायः बृहत् एककेन्द्री कणों के आकार के होते हैं और लघु एककेन्द्री कणों से बड़े तथा अरुणरंगेप्सु से कुछ छोटे या बराबर होते हैं। इनका केन्द्रक कई भागों में विभक्त

और विषम होता है। कोषसार अधिक तथा कणमय होता है। उनकी संख्या स्वभावतः ६० से ८० प्रतिशत तक होती है।

इनमें अग्न्याशयिक रस के पाचक किण्वतत्त्व (Trypsin) के समान क्षारीय माध्यम में कार्य करने वाला एक मांसतत्त्वविश्लेषक किण्वतत्त्व होता है जिसे श्वेताणुमांसतत्त्व-विश्लेषक (Leukoprotease) कहते हैं। इनमें जीवाणुभक्षण की शक्ति अत्यधिक होती है और इसीलिए अनेक औपसर्गिक रोगों में इनकी संख्या बढ़ जाती है। पूयोत्पत्ति की अवस्था में इनकी संख्या ८० से ९० प्रतिशत तक हो जाती है।

(२) लघु एककेन्द्री (Small mononuclear or lymphocytes) :—यह आकार में सबसे छोटे होते हैं, किन्तु अपेक्षाकृत इनके केन्द्र बड़े होते हैं जिससे कोषसार की मात्रा बहुत कम होती है और उसमें कण भी नहीं होते। केन्द्र प्रायः गोल होते हैं। इनकी संख्या स्वभावतः २० से ३० प्रतिशत तक होती है। बच्चों में इनकी संख्या कुछ अधिक होती है। एक वर्ष के बच्चे में यह औसतन ६० प्रतिशत तथा १० वर्ष के बच्चे में ३६ प्रतिशत मिलते हैं।

इनमें अमीबिक गति होती है किन्तु जीवाणुभक्षण की शक्ति नहीं होती।

(३) बृहत् एककेन्द्री (Large mononuclear) :—आकार में यह बहुकेन्द्री कणों से कुछ छोटे या उनके समान होते हैं तथा इनकी आकृति अम्लरंगेच्छु के समान होती है। केन्द्रक कुछ विभक्त और गोल या अण्डाकार होता है। कोषसार स्वच्छ, विस्तृत और कणों से रहित होता है। इनकी संख्या ३ से १० प्रतिशत तक औसतन ५ प्रतिशत होती है।

इनमें अमीबिक तथा जीवाणुभक्षण दोनों गुणधर्म होते हैं। इनमें एक मांसतत्त्वविश्लेषक किण्वतत्त्व होता है जो अम्ल माध्यम में कार्य करता है।

(४) अम्लरंगेच्छु (Eosinophile):—ये बहुकेन्द्री कणों के समान होते हैं किन्तु इनके कोषसार में स्थूल कण होते हैं। आकार में ये बहुकेन्द्री कणों से बड़े होते हैं। इनकी संख्या ५ प्रतिशत होती है। ये स्वभावतः जीवाणु-भक्षक नहीं होते।

(५) परिवर्तनी (Transitional):—इनकी संख्या $\frac{1}{2}$ से १ प्रतिशत होती है। इनमें एक केन्द्रक होता है जिसका आकार अण्डे के समान या सेम के बीज के समान होता है।

(६) भस्मरंगेच्छु (Mast cells or basophils):—यह स्वाभाविक रक्त में बहुत कम लगभग $\frac{1}{2}$ प्रतिशत मिलते हैं। इसका केन्द्रक अनियमित

आकार का तथा कोषसार कणयुक्त होता है। किन्तु ये कण उदासीन रंगों से रञ्जित होते हैं। कुछ रोगों में ये अधिक संख्या में पाये जाते हैं।

श्वेतकणों की उत्पत्ति

(१) लघु एककेन्द्री, बृहत् एककेन्द्री तथा परिवर्तनी श्वेतकण लसीका ग्रन्थियों से उत्पन्न होते हैं।

(२) बहुकेन्द्री, अम्लरंगेच्छु तथा उदासीनरंगेच्छु अस्थिमज्जा में उत्पन्न होते हैं।

श्वेतकणों का वर्गीकरण

इनका वर्गीकरण विभिन्न दृष्टिकोणों से किया गया है :—

(क) रंग ग्रहण के अनुसार :—

(१) भस्मरंगेच्छु—(Basophils)—जो भास्मिक रंगों को अच्छी तरह ग्रहण करते हैं यथा लघु एककेन्द्री, बृहत् एककेन्द्री तथा भस्मरंगेच्छु कण।

(२) उदासीन रंगेच्छु या उभयरंगेच्छु (Neutrophils or amphophils)—जो उदासीनरङ्गों को ग्रहण करते हैं यथा परिवर्तनी श्वेतकण।

(३) अम्लरंगेच्छु (Acidophils)—जो अम्ल रंगों को ग्रहण करते हैं यथा बहुकेन्द्री और अम्लरंगेच्छु कण।

(ख) ओजःसार की प्रकृति के अनुसार—

(१) स्वच्छ, (२) सूक्ष्मकण युक्त, (३) स्थूलकणयुक्त।

(ग) उत्पत्ति के अनुसार—

(१) लसीका ग्रन्थियों में उत्पन्न। (२) मज्जा में उत्पन्न।

श्वेतकणों का रासायनिक संघटन

इनके केन्द्रक में न्यूक्लीन तथा ओजःसार में ग्लोब्यूलिन तथा केन्द्रकमांस तत्व की श्रेणी के मांसतत्व होते हैं। इनके ओजःसार में प्रायः स्वल्प मात्रा में स्नेह और शर्कराजन भी होता है।

श्वेतकणों का कार्य

शरीर एक बड़े साम्राज्य के समान है। राज्य की रक्षा के लिए जिस प्रकार सेना का प्रबन्ध होता है, उसी प्रकार शरीररूपी राज्य की रक्षा के लिए श्वेत कणों की सेना का प्रबन्ध है। श्वेतकण युद्ध में अत्यन्त कुशल होते हैं और जब शरीर पर कोई बाहरी आक्रमण होता है तब ये उस स्थान पर एकत्रित हो कर उसके विरुद्ध संघर्ष करते हैं। यदि ये उन आक्रमणकारी जीवाणुओं से बलवान हुये, तो उन्हें अपने भीतर ले लेते हैं और पचा जाते हैं। इसे जीवाणु भक्षण (Phagocytosis) की क्रिया कहते हैं। रोगोत्पादक जीवाणुओं से

शरीर की रक्षा के लिए इनका अस्तित्व अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि इनकी संख्या कम होने से शरीर पर अनेक प्रकार के जीवाणुओं का आक्रमण होने लगता है और शरीर रुग्ण होकर अन्त में मृत्यु तक हो जाती है। शरीर को बाह्य शत्रुओं से बचाने के लिए श्वेतकणों की प्रबल सेना आवश्यक है।

श्वेतकण
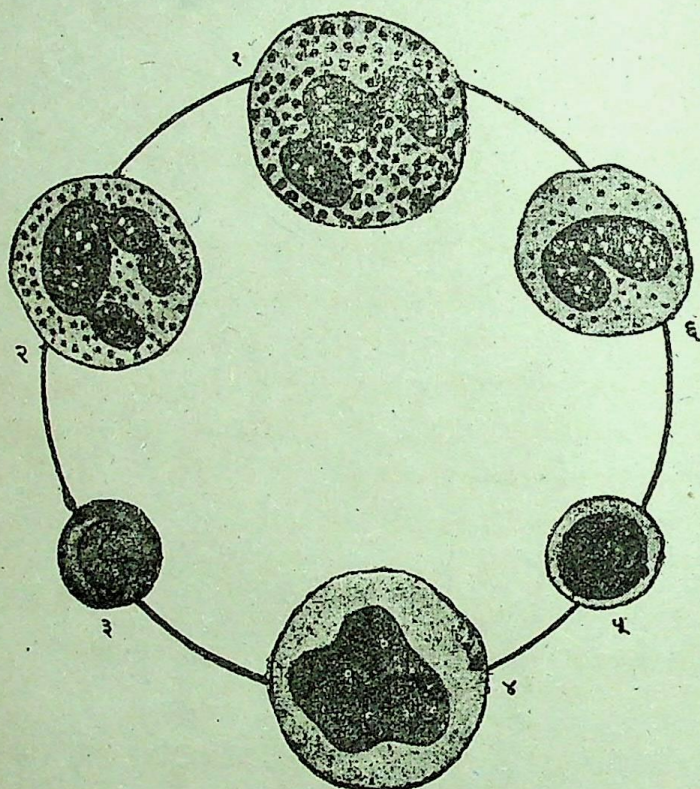
चित्र २७

१–अम्लरंगेच्छु २–बहुकेन्द्री ३–परिवर्त्तनी ४–बृहत् एककेन्द्री
५–लघु एककेन्द्री ६–भस्मरंगेच्छु

रोगक्षमता (Immunity)

शरीर को बाह्य आघातों एवं रोगों से बचाने के लिए अनेक प्रबन्ध प्रकृति द्वारा किये गये हैं। शरीर में बहुत से ऐसे रासायनिक पदार्थों की उत्पत्ति होती रहती है जिससे हानिकारक जीवाणुओं का नाश हो जाता है। रक्त में यदि स्कन्दन का गुण न हो तो एक साधारण क्षत से इतना रक्तस्राव होगा कि मनुष्य

की मृत्यु हो जायगी, किन्तु स्कन्दन के प्राकृतिक गुणधर्म के द्वारा अधिक रक्त-स्राव से शरीर की रक्षा होती है। आहार के साथ प्रविष्ट जीवाणु आमाशयिक रस के अम्ल से नष्ट हो जाते हैं। इसी प्रकार मूत्र की अम्लता के कारण उसमें जीवाणुओं की क्रिया नहीं हो पाती।

इन सब से अधिक महत्त्वपूर्ण तथा प्रभावशाली प्रबन्ध रक्त तथा लसीका की जीवाणुनाशक क्रिया है। यह देखा गया है कि औपसर्गिक रोग एक बार होने के बाद दुबारा नहीं होते। इसका अर्थ यह है कि रोग की अवधि में शरीर में कुछ ऐसे रक्षक पदार्थ बन जाते हैं और उसके फलस्वरूप ऐसी शक्ति उत्पन्न हो जाती है जिससे उस रोग में भावी आक्रमणों से शरीर की रक्षा हो जाती है। शरीर में रोग को रोकने की जो शक्ति होती है उसे रोगक्षमता कहते हैं और इस शक्ति से सम्पन्न शरीर को रोगक्षम कहते हैं।[1] उदाहरण के लिए, चेचक की टीका लगाने से व्यक्ति में चेचक के ही साधारण लक्षण उत्पन्न हो जाते हैं और फिर वह व्यक्ति कुछ वर्षों के लिए रोगक्षम हो जाता है। इसी प्रकार प्लेग, आन्त्रिक ज्वर आदि रोगों को रोकने के लिए टीका दी जाती है। इसे प्रतिषेधक टीका (Protective inoculation) कहते हैं। इसी प्रकार रोग उत्पन्न होने के बाद उसकी चिकित्सा के लिए जब टीका दी जाती है तब उसे रोगनाशक टीका (Curative inoculation) कहते हैं।

रक्त के श्वेतकण जीवाणुओं का भक्षण कर जाते हैं, किन्तु रक्तरस भी जीवाणुओं के जीवन के प्रतिकूल माध्यम सिद्ध हुआ है। यद्यपि इन जीवाणु-नाशक द्रव्यों का रासायनिक स्वरूप पूर्णतया निर्धारित नहीं हुआ है तथापि इतना ज्ञात हुआ है कि वह मांसतत्त्व के समान है। रक्त को ५५° सेण्टीग्रेड पर १ घण्टे तक गरम करने से उसकी जीवाणुनाशक शक्ति नष्ट हो जाती है। इन पदार्थों को जीवाणुनाशक (Bacteriolysins) कहते हैं।

---

१. 'न च सर्वाणि शरीराणि व्याधिक्षमत्वे समर्थानि भवन्ति'

'शरीराणि चातिस्थूलानि अतिकृशानि अनिविष्टमांसशोणितास्थीनि दुर्बला-न्यसात्म्याहारोपचितान्यल्पाहाराणि अल्पसत्त्वानि वा भवन्त्यव्याधिसहानि विप-रीतानि पुनर्व्याधिसहानि वा।' —च० सू० २८

आयुर्वेदिक दृष्टि से रोगक्षमता का विषय ओज के अन्तर्गत आता है :—

'प्राकृतस्तु बलं श्लेष्मा विकृतो मल उच्यते।

स चैवौजः स्मृतः काये' —च० सू० १७

'बलं ह्यलं निग्रहाय दोषाणाम्।' —च० वि० ३

इसीके समान रक्त में एक दूसरी शक्ति होती है जिसे रक्तविघटन शक्ति (Globulicidal power) कहते हैं। इसका अर्थ यह है कि यदि एक प्राणी का सीरम दूसरी जाति के प्राणी में प्रविष्ट किया जाय तो वह उसके रक्तकणों को विघटित कर देता है। रक्त में विद्यमान इन पदार्थों को जिनमें रक्त विघटन की शक्ति होती है, रक्तविघटक (Haemolysins) कहते हैं।

स्वाभाविक रक्त में इन जीवाणुनाशक द्रव्यों का एक निश्चित अनुपात रहता है। जब इनमें कमी होती है तब व्यक्ति किसी प्रकार के भी जीवाणु से आक्रान्त हो सकता है। अथवा यदि जीवाणुओं की संख्या अत्यधिक होती है तब भी व्यक्ति रोगग्रस्त हो जाता है, किन्तु इस अवस्था में भी जीवाणुनाशक द्रव्य और जीवाणुओं का संघर्ष चलता रहता है। उसके शरीर में अधिक से अधिक जीवाणुनाशक द्रव्य उत्पन्न होते हैं और अन्त में जब वे जीवाणुओं को पराजित कर देते हैं तब वह रोगमुक्त हो जाता है। यही नहीं, उसके रक्त में उस विशिष्ट जीवाणुनाशक द्रव्य का बाहुल्य हो जाता है और वह व्यक्ति कुछ दिनों के लिए उस विशिष्ट जीवाणु के भावी आक्रमणों के प्रति रोगक्षम हो जाता है। इस प्रकार प्रत्येक जीवाणु से संघर्ष के परिणामस्वरूप शरीर में विशिष्ट प्रतिरोधक द्रव्य उत्पन्न होता है।

रोगक्षमता प्राणियों में आसानी से क्रमशः उत्पन्न की जा सकती है। यह बात केवल जीवाणुओं के सम्बन्ध में हीं नहीं, अपितु उनके विष के सम्बन्ध में भी लागू होती है। उदाहरण के लिए, यदि रोहिणी के जीवाणु को उपयुक्त माध्यम में रखा जाय तो उनकी वृद्धि होती है और उनसे विष भी उत्पन्न होता है। परीक्षा के द्वारा यह ज्ञात कर लिया जाता है कि इस विष की कितनी मात्रा किसी विशेष व्यक्ति की मृत्यु का कारण हो सकती है। जो मात्रा मनुष्य को मार सकती है वह एक बड़े घोड़े को नहीं मार सकेगी। इसी प्रकार जिस मात्रा से एक मनुष्य मरता है उससे कई कुत्ते या खरगोश मर जायेंगे। जो मात्रा एक व्यक्ति को मार सकती है वह उस विशेष व्यक्ति के लिए मारक मात्रा (Lethal dose) कहलाती है। यदि इससे कम मात्रा का प्रवेश किसी पशु में कराया जाय तो उसे अधिक हानि न होगी और वह शीघ्र ही स्वस्थ हो जायगा। कुछ दिनों के बाद इससे अधिक मात्रा का प्रवेश कराया जाता है। इस प्रकार धीरे-धीरे यह मात्रा बढ़ाई जाती है कुछ समय के बाद यह ज्ञात होगा कि वह पशु मारक मात्रा से भी अधिक मात्रा का सहन कर लेता है और कोई विकृति उसके शरीर में उत्पन्न नहीं होती। इसका कारण यह है कि विष के क्रमिक प्रयोग से शरीर से प्रतिविष की उत्पत्ति होती है। घोड़े में यह क्रिया अधिक स्पष्ट रूप में होती है। अब

यदि इस प्रकार रोगक्षम घोड़े के रक्त से सीरम को पृथक् कर रोहिणीरोग से पीड़ित मनुष्य में प्रविष्ट किया जाय तो वह शीघ्र ही रोगमुक्त हो जाता है।

इस प्रतिविष की कार्यपद्धति के सम्बन्ध में यह विदित हुआ हैं कि जिस प्रकार अम्ल क्षार को उदासीन कर देता है, उसी प्रकार प्रतिविष विष को निष्क्रिय बना देता है। प्रयोगों द्वारा यह देखा गया है कि यदि विष और प्रतिविष एक परीक्षण नलिका में मिश्रित कर दिये जाँय तो कुछ समय बाद वह मिश्रण हानिकारक नहीं होता। वह विष वस्तुतः प्रतिविष के द्वारा निष्क्रिय हो जाता है, नष्ट नहीं होता, क्योंकि यदि इस मिश्रण को ६८° सेन्टीग्रेट तक गरम किया जाय तो प्रतिविष जम जाता है और नष्ट हो जाता है फलतः विष ज्यों का त्यों रह जाता है।

प्रतिविष के उत्पत्तिस्थान के अनुसार रोगक्षमता दो प्रकार की होती है— सक्रिय और निष्क्रिय (Active & passive)। सक्रिय रोगक्षमता में रक्षक पदार्थ शरीर में ही उत्पन्न होते हैं अर्थात् शरीर रक्षक पदार्थों की उत्पत्ति में सक्रिय भाग लेता है। इसके विपरित, निष्क्रिय रोगक्षमता में दूसरे प्राणी के शरीर में उत्पन्न प्रतिविष का रक्षक सीरम के रूप में प्रवेश कराया जाता है। इन दोनों में सक्रिय रोगक्षमता अधिक स्थायी होती है।

प्रतिविष की उत्पत्ति के सम्बन्ध में अर्लिक (Ehrlich) नामक विद्वान् की जो स्थापना है, उसे पार्श्वशृंखला सिद्धान्त (Side chain theory of immunity) कहते हैं। उसका मत है कि जिस प्रकार पोषक मांस तत्त्व स्वाभाविक सात्म्यीकरण के क्रम में कोषाणुओं से मिलते हैं उसी प्रकार विष भी जीवित कोषाणुओं के ओजःसार से परमाणुसमूहों के द्वारा संयुक्त होता है। इन परमाणुसमूहों को क्रामकसमूह (Haptophor Groups) कहते हैं तथा कोषाणुओं के परमाणुसमूहों को, जिनसे ये संबद्ध होते हैं, ग्राहक समूह (Receptor groups) कहते हैं। विष के प्रयोग से इन ग्राहकसमूहों की उत्पत्ति अधिक होने लगती है जो अन्त में रक्तसंवहन में प्रविष्ट हो जाते हैं। रक्त में स्वतन्त्र रूप से घूमते हुये यही ग्राहकसमूह प्रतिविष बनाते हैं। सात्म्यीकरण की प्रक्रिया से इसकी तुलना का रहस्य यह है कि दुग्ध, अंडे आदि निर्विष द्रव्यों का भी क्रमशः मात्रा बढ़ाते हुये शरीर में प्रवेश किया जाय तो उसके परिणमस्वरूप भी कुछ प्रतिकूल द्रव्य उत्पन्न होते हैं जिनसे उपर्युक्त द्रव्य जम जाते हैं। रक्त के अतिरिक्त शरीर के अन्य कोषाणु भी इसी प्रकार प्रतिकूल रक्षक पदार्थ उत्पन्न करते हैं। ऐसे प्रतिकूल द्रव्यों की उत्पत्ति जिन पदार्थों के शरीर में प्रबिष्ट करने से होती है उन्हें प्रतिजन (Auntigen) कहते हैं और वह मांसतत्त्व के समान होते हैं।

इस सम्बन्ध में और आगे विचार करने के बाद मालूम हुआ है कि सीरम को जीवाणुनाशक या रक्तविघटक बनाने के लिए कम से कम दो पदार्थों की आवश्यकता होती है। एक रोगक्षम पदार्थ (Immune body) और दूसरा पूरक पदार्थ (Complement) कहलाता है। उदाहरण के लिए, यदि बकरे के रक्त का अन्तः प्रवेश भेड़ के रक्त में किया जाय तो धीरे-धीरे कुछ समय के बाद भेड़ रोगक्षम हो जायगा। साथ ही उसमें ऐसा सीरम उत्पन्न होगा जो बकरे के रक्त को विघटित कर देगा। ५६° सेन्टीग्रेड पर आध घण्टे तक गरम करने से यह रक्तविघटन नष्ट हो जाता है, किन्तु यदि उसमें किसी प्राणी का सीरम मिला दिया जाय तो वह शक्ति पुनः लौट आती है। भेड़ के शरीर में उत्पन्न विशिष्ट क्षमतोत्पादक पदार्थ रोगक्षम पदार्थ तथा ताप से नष्ट होने वाला किण्वतत्त्व के सदृश पदार्थ पूरक पदार्थ कहलाता है। पूरक पदार्थ विशिष्ट नहीं होता क्योंकि यह अक्षम प्राणियों के रक्त से उत्पन्न होता है, किन्तु यह रक्तविघटन के लिए आवश्यक है।

अर्लिक का मत है कि रोगक्षम पदार्थ में दो पार्श्वसमूह होते हैं। एक समूह रक्तकणों के ग्राहक समूह से मिलता है तथा दूसरा पूरक पदार्थ के क्रामक समूह से मिलता है और इस प्रकार रक्तकणों पर पूरक पदार्थ की किण्वतत्त्व के सदृश क्रिया हो पाती है। रोगक्षम पदार्थ का आधिक्य होने पर भी यदि पूरक पदार्थ में कमी हो तो जीवाणुनाशक क्रिया ठीक नहीं होती।

दूसरे शब्दों में, कोषाणुविघटक पदार्थों की क्रिया अन्तरीयक पदार्थों के बिना नहीं हो सकती है। यही अन्तरीयक पदार्थ रोगक्षम पदार्थ है जो रक्तकण, जीवाणु, विष आदि लवणों के अनुसार विशिष्ट होता है। पूरक पदार्थ की तुलना उक्त व्यक्ति से की जा सकती है जो दरवाजा खोलना चाहता है और इसके लिए उपयुक्त चाभी (रोगक्षम पदार्थ) होना नितान्त आवश्यक है।

जीवाणुनाशक, रक्तविघटक तथा प्रतिविषात्मक गुणधर्म के अतिरिक्त रक्त में संश्लेषणात्मक गुण भी होता है। इस गुण के कारण जीवाणुओं का उपसर्ग होने पर रक्त उन जीवाणुओं को परस्पर संश्लेषित कर देता है जिससे वे गतिहीन हो जाते हैं। आन्त्रिक ज्वर की विडाल प्रतिक्रिया इसी तथ्य पर निर्भर करती है। जिन पदार्थों के कारण यह क्रिया होती है उन्हें संश्लेषक पदार्थ (Agglutinin) कहते हैं। ये पदार्थ भी मांसतत्त्व के समान ही होते हैं, किन्तु रक्तविघटकों की अपेक्षा ताप को अधिक सहन करते हैं। ६०° सेण्टीग्रेड के ऊपर अधिक देर तक गरम करने से उनकी क्रिया नष्ट की जा सकती है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि जीवाणुरूपी शत्रुओं को परास्त करने के लिए शरीर में अनेक साधन प्रस्तुत किये गये हैं। कहीं वे संश्लेषक पदार्थों के द्वारा

गतिहीन हो जाते हैं, कहीं जीवाणुनाशक पदार्थों से नष्ट हो जाते हैं; कहीं उनका विष प्रतिविष के द्वारा नष्ट हो जाता है और कहीं वह जीवाणुभक्षकों का आहार बन जाते हैं। अधिकांश जीवाणुशास्त्रियों का मत है कि जीवाणु-भक्षण की क्रिया ही सर्वप्रधान है और दूसरी क्रियायें सहायकरूप तथा कम देखने में आती हैं। जब जीवाणु श्वेतकणों की क्रिया से नष्ट हो जाता है, तब मनुष्य या दूसरे प्राणी में उसके प्रविष्ट करने से रोग नहीं उत्पन्न होता, किन्तु यदि वह नष्ट नहीं होता तो वह बढ़ने लगता है और रोग उत्पन्न करता है। इसीलिए उसे रोगोत्पादक (Pathogenic) कहते हैं। श्वेतकणों के द्वारा भक्षित होने पर उनकी रोगोत्पादन शक्ति नष्ट हो जाती है। भक्षण के लिए जीवाणुओं का रुचिकारक तथा स्वादु होना आवश्यक है। जो जीवाणु अरुचिकारक होते हैं उन्हें रुचिकारक बनाया जाता है। शरीर में कुछ ऐसे पदार्थ होते हैं जो अरुचिकारक जीवाणुओं को रुचिकर तथा स्वादु बनाने का काम करते हैं। इन्हें स्वादुकारक (Opsonins) कहते हैं। संवर्धन द्रव्य से निकाल कर यदि जीवाणुओं को धोकर दिया जाय तो श्वेतकण उनका ग्रहण नहीं करते, किन्तु यदि उन्हें सीरम में डुबो कर दिया जाय तो श्वेतकण उन पर शीघ्र आक्रमण करते हैं। उदाहरण के लिए, हमलोग प्रतिदिन श्वास के द्वारा यक्ष्मा के जीवाणुओं को शरीर के भीतर लेते रहते हैं, किन्तु रक्त की इसी स्वादुकारक शक्ति के कारण श्वेतकणों के द्वारा वह नष्ट कर दिये जाते हैं और अधिकांश व्यक्ति इस रोग से बच जाते हैं। इस रोग की चिकित्सा में भी पौष्टिक आहार तथा शुद्ध वायु के द्वारा इसी शक्ति को बढ़ाया जाता है।

रक्त में एक और पदार्थ होता है जिसे 'अवक्षेपक' (Precipitin) कहते हैं। भिन्न जाति के प्राणियों का रक्त यदि किसी प्राणी में प्रविष्ट किया जाय तो प्रतिविष के साथ-साथ अवक्षेपक पदार्थ भी उत्पन्न होता है।

इस प्रकार श्वेतकणों के जीवाणुभक्षण के अतिरिक्त रक्त में निम्नांकित पदार्थ होते हैं जो बाह्य हानिकारक पदार्थों से शरीर की रक्षा करते हैं :—

१. जीवाणुनाशक (Bacteriolysins)
२. रक्तविघटक (Haemolysins)
३. प्रतिविष (Antitoxin)
४. संश्लेषक (Agglutinin)
५. स्वादुकारक (Opsonin)
६. अवक्षेपक (Precipitin)

रक्तचक्रिका (Blood platelets or thrombocytes)

ये छोटी दंडाकार या गोलाकार होती हैं तथा इनका व्यास रक्तकण के ⅓ या ¼ होता है। कुछ विद्वान् इन्हें मज्जा के बृहदाकार कोषाणुओं के अवयव के रूप में मानते हैं, किन्तु अनुसंधानों से यह सिद्ध हो चुका है कि ये रक्तकणों के समान ही रक्त के स्वतन्त्र भाग हैं। रक्त के एक घन मिलीमीटर में इनकी संख्या ३ लाख (२½ लाख से ५ लाख तक) होती है। इनमें चलने की शक्ति नहीं होती। रक्त के जमने में इनका प्रधान भाग रहता है। रक्त के जमने में ये किस प्रकार सहायता करती हैं, यह पूर्णतया स्पष्ट नहीं है, तथापि पुरःस्कन्दिन के निर्माण के द्वारा ये उसमें सहायक होती हैं। उनका आकार परिवर्तनशील होता है तथा ये अत्यन्त भंगुर तथा चिपकने वाली होती हैं। जब रक्त जमता है तब ये परस्पर एकत्रित हो जाती हैं। बाह्य पदार्थों से सम्पर्क होने पर उनका विश्लेषण शीघ्र होने लगता है।

रक्तस्राव उत्पन्न करनेवाले रोगों (यथा रोहिणी, मसूरिका, घातक पाण्डु) में इनकी संख्या बहुत कम हो जाती है (रक्तचक्रिकाल्पता–Thrombopenia)। सहज रक्तस्राव में उनका विश्लेषण बहुत धीरे-धीरे होता है जिससे रक्त जल्दी जमने नहीं पाता। इनमें कुछ प्राकृतिक विभिन्नतायें भी देखी जाती हैं यथा पर्वतों पर तथा शीत ऋतु में इनकी संख्या बढ़ जाती है।

रक्तवर्ग (Blood groups)

बहुत दिनों तक यह बात देखी जाती थी कि यदि एक व्यक्ति का रक्त दूसरे व्यक्ति में प्रविष्ट किया जाय तो कभी बड़े भयंकर लक्षण उत्पन्न होते थे और कभी रोगी की मृत्यु भी हो जाती थी। १९०१ में वियना के कार्ललैण्ड-स्टीनर ने यह खोज की कि सभी रक्त एक वर्ग के नहीं होते और ये लक्षण ग्राहक के रक्त के द्वारा दायक के रक्तकणों के संश्लेषण से उत्पन्न होते हैं। इसके बाद अन्य विद्वानों के मनन और चिन्तन के बाद रक्तवर्ग की व्यवस्था स्थापित हुई। इन लोगों ने यह बतलाया कि रक्तरस या सीरम में संश्लेषक क और ख वर्तमान रहते हैं जिनकी क्रिया विशिष्ट रूप से रक्तकणों में विद्यमान संश्लेषजन क और ख नामक द्रव्यों पर होती है।

रक्तकणों में संश्लेषजन क और ख की उपस्थिति या अनुपस्थिति के अनुसार मनुष्य का रक्त चार वर्गों में विभाजित किया गया है :—

क ख वर्ग के रक्त कोषाणुओं में संश्लेषजन क और ख दोनों होते हैं।
क „ „ केवल „ „ होता है।
ख „ „ केवल „ ख „ „।
शून्य „ „ कोई „ नहीं होता।

रक्तवर्ग

नामकरण	मौस अंक	जैन्स्की अंक
क ख	१	४
क	२	२
ख	३	३
शून्य	४	१

विभिन्न रक्तवर्गों में संश्लेषक और संश्लेषजन

वर्ग	संश्लेषक	संश्लेषजन
क ख	अनुपस्थित	क ख
क	ख	क
ख	क	ख
शून्य	क ख	अनुपस्थित

संश्लेषक क की क्रिया उन्हीं रक्तकणों पर हो सकती है जिनमें संश्लेषजन क होता है। इसी प्रकार संश्लेषक ख की क्रिया उन्हीं रक्तकणों पर होती है जिनमें संश्लेषजन ख होता है। इसी आधार पर दायक और ग्राहक के रक्त के वर्ग का निश्चय होता है। जिस व्यक्ति के रक्त की परीक्षा करनी होती है उसका थोड़ा-सा रक्त परीक्षण-नलिका में लिया जाता है जिसमें १ सी० सी० सामान्य लवण विलयन तथा १ प्रतिशत पोटाशियम साइट्रेट विलयन का मिश्रण रखा रहता है। इस विलयन से मिश्रित रक्त का थोड़ा-सा भाग सीरम क और सीरम ख के साथ काचपृष्ठ पर रखा जाता है और संश्लेषण-प्रतिक्रिया के अनुसार वर्ग का निश्चय किया जाता है।

सीरम क	सीरम ख	रक्तवर्ग
संश्लेषण	संश्लेषण	क ख
अनुपस्थित	,,	क
संश्लेषण	अनुपस्थित	ख
अनुपस्थित	,,	शून्य

दूसरे शब्दों में,

१. क ख वर्ग के रक्तकण सीरम क और ख से संश्लेषित होते हैं।
२. क ,, ,, ,, ,, ,, क से नहीं।
३. ख ,, ,, ,, ,, ,, ख से नहीं।
४. शून्य ,, ,, किसी सीरम से ,, नहीं होते।

शून्य वर्ग के रक्तकणों में संश्लेषजन नहीं होते, अतः इस वर्ग का रक्त किसी भी व्यक्ति में आसानी से प्रविष्ट किया जा सकता है। इस वर्ग के व्यक्तियों को इसी लिए, सामान्य दायक (Universal donors) कहते हैं। इसी प्रकार

क ख वर्ग के सीरम में संश्लेषक नहीं होते, अतः इस वर्ग के व्यक्ति किसी वर्ग का रक्त ग्रहण कर सकते हैं। इसलिए इन्हें 'सामान्य ग्राहक' (Universal recipients) कहते हैं।

भारतीयों में रक्तवर्गों का आपेक्षिक अनुपात निम्नलिखित है :—

क ख ७ प्रतिशत; क २४ प्रतिशत; ख ३१ प्रतिशत; शून्य ३८ प्रतिशत।

इधर क वर्ग को $क_1$ और $क_2$ तथा क ख वर्ग को $क_1$ ख तथा $क_2$ ख में विभाजित करने से वर्गों की संख्या छः हो जाती है।

रक्तवर्गों के संबन्ध में सबसे आश्चर्यजनक बात उनका स्थायित्व है। संश्लेषजन जन्मकाल में उपस्थित रहते हैं और द्वितीय वर्ष तक पूर्ण विकसित हो जाते हैं। इसी प्रकार संश्लेषक जन्मकाल में बहुत कम देखे जाते हैं, किन्तु प्रथम वर्ष के अन्त तक पूर्ण विकसित हो जाते हैं। एक बार जब ये विकसित हो जाते हैं तब उसी रूप में ये जीवनपर्यन्त रह जाते हैं, यद्यपि कभी-कभी उनके वर्ग में परिवर्तन भी देखा गया है। कुछ विद्वान् यह भी कहते हैं कि औपसर्गिक रोगों, क्षकिरण चिकित्सा तथा कुनैन के प्रयोग के बाद रक्तवर्ग में परिवर्तन देखा गया है, किन्तु वस्तुतः यह प्रमादवश ही होता है और रक्तवर्ग के स्थायित्व में कोई सन्देह नहीं है।

रक्त का दोषत्व—

वात-पित्त-कफ के अतिरिक्त रक्त को भी कुछ आचार्यों ने दोष माना है[1] तथा इसके प्रकोपक कारणों एवं तज्जन्य विकारों का निर्देश किया है।

रक्त के प्रकोपक कारण—

विदाही अन्नपान, स्निग्ध, उष्ण द्रव पदार्थों का अतिसेवन, विरुद्ध भोजन, धूप तथा आग के पास अधिक रहने से रक्त प्रकुपित होता है तथा रक्तवाहिनियाँ दूषित हो जाती हैं।[2]

---

१. तदेभिरेव शोणितचतुर्थैः संभवस्थितिप्रलयेषु अपि अविरहितं शरीरं भवति—सु. सू. २१।१

सुश्रुतादिभिर्वातादेरिव प्रकोपकालप्रकोपणनिर्हरणस्थानविशेषरोगविशेषलिंगविशेषचिकित्साविशेषाणामभिधानाद्रक्तस्यापि दोषत्वं पूर्वटीकाकारैराषाढवर्मदासादिभिः स्वीकृतम्—मधुकोष (१।१४)

२. विदाहीन्यन्नपानानि स्निग्धोष्णानि द्रवाणि च।

रक्तवाहीनि दुष्यन्ति भजतां चातपानलौ॥ च. वि. ६।१४

पित्तप्रकोपणैरेव चाभीक्ष्णं द्रवस्निग्धगुरुभिराहारैर्दिवास्वप्नक्रोधानलातपश्रमाभिघाताजीर्णविरुद्धाध्यशनादिभिर्विशेषैरसृक् प्रकोपमापद्यते।

—सु. सू. २१।२५,२१; च. सू. २४।५-१०

रक्तज विकार—

रक्त दोष से उत्पन्न होनेवाले विकारों की लम्बी सूची संहिताओं में दी गई हैं उनमें निम्नांकित प्रमुख हैं[1] :—

१. कुष्ठ, वातरक्त, वीसर्प तथा अन्य क्षुद्र रोग
२. रक्तपित्त, रक्तार्श, रक्तमेह, रक्तप्रदर
३. अन्नपानविदाह, अम्लपित्त, गुल्म, अरुचि, कामला
४. विद्रधि, गुद-मुख-मेढ्रपाक, पिडका, अक्षिराग, पूतिघ्राण, मुखदौर्गन्ध्य
५. कोठ, वैवर्ण्य, रक्तमण्डल
६. क्रोधप्रचुरता, मूर्च्छा, मद, तमःप्रवेश, तन्द्रा-निद्रातियोग
७. सन्ताप, अंगमर्द, अतिदौर्बल्य, शिरःशूल, कम्प, स्वेद, शरीरदौर्गन्ध, तृष्णा, प्लीहा ।

रक्तविकार की चिकित्सा—

रक्तविकार में रक्तपित्तहर चिकित्सा करने का विधान है। इसके अतिरिक्त विरेचन, उपवास तथा रक्तमोक्षण करना चाहिए।[2]

रक्तक्षय में स्वयोनिवर्धन द्रव्यों का उपयोग करना चाहिए। अत्यधिक रक्तक्षय में रक्त ही देना चाहिए किन्तु यदि किसी कारणवश ऐसा सम्भव न हो तो तद्गुणभूयिष्ठ अन्य रक्तवर्धक द्रव्यों का प्रयोग करना चाहिए[3] ।

रक्तवृद्धि में इसके विपरीत संशोधन तथा क्षपण चिकित्सा करनी चाहिए।[4]

विकारों को दूर कर रक्त को प्राकृत स्थिति में लाने वाले द्रव्य शोणित स्थापन कहलाते हैं[5] यथा लोध्र, गैरिक, प्रियंगु आदि ।

जीवरक्त और रक्तपित्त—

रक्तपित्त में पित्त ही रक्त के वर्ण का या पित्तदूषित रक्त आने लगता है।

---

१. च. सू. २४।११-१६; २८।११-१२; सु. सू. २४।९

२. कुर्याच्छोणितरोगेषु रक्तपित्तहरीं क्रियाम् ।
विरेकमुपवासं च स्रावणं शोणितस्य च ॥—च. सू. २४।१८

३. लोहितं लोहितेन—च. शा. ६।१०; अतिनिःस्रुतरक्तो वा क्षौद्रयुक्तं पिबेदसृक्—सु. सू. ४५।२६; सु. सू. १४।३६-३८

४. तेषां यथास्वं संशोधनं क्षपणं च स्यादविरुद्धैः क्रियाविशेषैः प्रकुर्वीत ।
—सु. सू. १५।११

५. शोणितस्य दुष्टस्य दुष्टिमपहृत्य प्रकृतौ शोणितं स्थापयतीति शोणितस्थापनम्—चक्र (च. सू. ४।८)

ऐसी स्थिति में चिकित्सा की दृष्टि से रक्तपित्त और जीवरक्त में भेद करना आवश्यक है। इसके भेदक चिह्न निम्नांकित कहे गये हैं :—

१. रक्त में कपड़ा या रूई भिगोकर गरम पानी से धोवे। यदि रंग बिलकुल निकल जाय तो जीवरक्त अन्यथा रक्तपित्त समझे।

२. उस रक्त को अन्न के साथ मिलाकर कुत्ते या कौये को खाने को दे। यदि वह खा ले तो जीवरक्त अन्यथा रक्तपित्त समझना चाहिए।[1]

विशुद्धरक्त का लक्षण—

जिसका वर्ण तथा इन्द्रियाँ प्रसन्न (प्राकृत) हों, विषयों में रुचि हो, अग्नि सम हो, शरीर पुष्ट हो तथा जो सुखी एवं प्रसन्न हो उसे विशुद्धरक्त समझना चाहिए।[2]

रक्तसार—

जिसके नख, नेत्र, तालु, जिह्वा, ओष्ठ, पाणितल, पादतल आदि अंग-प्रत्यंग स्निग्ध एवं रक्तवर्ण हों उसे रक्तसार समझना चाहिए। यह तीव्र मेधा, मनस्विता, सौकुमार्य, मध्यबल, क्लेशासहिष्णुता, उष्णासहिष्णुता का सूचक है।[3]

रक्त का महत्त्व—

रक्त एक महत्त्वपूर्ण धातु है। अन्य धातुओं की क्षय-वृद्धि इसी पर निर्भर है तथा जीवन की अन्य क्रियायें भी इसी के आश्रित हैं अतः रक्त को जीव या प्राण कहा गया है।[4]

---

१. तेनान्नं मिश्रितं दद्याद् वायसाय शुनेऽपि वा।
भुंक्ते तच्चेद् वदेज्जीवं न भुंक्ते पित्तमादिशेत्॥
शुक्लं वा भावितं वस्त्रमावानं कोष्णवारिणा।
प्रक्षालितं विवर्णं स्यात् पित्ते शुद्धं तु शोणिते॥
—च. चि. ६।७९-८०; सु. चि. ३४।१४

२. प्रसन्नवर्णेन्द्रियमिन्द्रियार्थानिच्छन्तमव्याहतपक्तृवेगम्।
सुखान्वितं पुष्टिबलोपपन्नं विशुद्धरक्तं पुरुषं वदन्ति॥
—च. सू. २४।२४

३. स्निग्धताम्रनखनयनतालुजिह्वौष्ठपाणिपादतलं रक्तेन—सु. सू. ३५।१७
कर्णाक्षिमुखजिह्वानासौष्ठपाणिपादतलनखललाटमेहनं स्निग्धरक्तवर्णं श्रीमद् भ्राजिष्णु रक्तसाराणाम्। सा सारता सुखमुद्धतां मेधां मनस्वित्वं सौकुमार्यमनतिबलमक्लेशसहिष्णुत्वमुष्णासहिष्णुत्वं चाचष्टे।—च. वि. ८।१-४

४. तेषां (धातूनां) क्षयवृद्धी शोणितनिमित्ते—सु. सू. १४।२१
देहस्य रुधिरं मूलं रुधिरेणैव धार्यते।
तस्माद् यत्नेन संरक्ष्यं रक्तं जीव इति स्थितिः॥—सु. सू. १४।४४

रक्तसंवहन

सम्पूर्ण शरीर में रक्त का संवहन निरन्तर होता रहता है जिससे शरीर के धातुओं को शुद्ध वायु एवं पोषक तत्त्व प्राप्त होता रहता है तथा मलों का निर्हरण भी होता रहता है। यह रक्तसंवहन का कार्य जिन अंगों के द्वारा संपन्न होता है उन सबको सम्मिलित रूप में रक्तवह तन्त्र की संज्ञा दी गई है। इसमें हृदय (रक्तक्षेपक अंग), धमनियों (हृदय से रक्त को बाहर ले जाने वाले स्रोत), सिराओं (रक्त को लौटा कर हृदय में ले आने वाले स्रोत) तथा केशिकाओं (धमनियों तथा सिराओं के मध्य में विस्तृत जालक-स्रोत) का समावेश होता है।

हृदय

यह अधोमुख कमल के सदृश एक बृहत् पेशीमय धमापक के रूप में वक्ष में दोनों फुफ्फुसों के बीच में स्थित है।[1] इसके ऊपर एक आवरण होता है जिसे 'हृदयावरण' कहते हैं। उसके दो स्तर होते हैं—सौत्रिक और स्नैहिक। आवरण का स्नैहिक स्तर हृदय के बाह्य स्तर से मिला रहता है। इस प्रकार हृदयावरण के स्नैहिक स्तर तथा हृदय के बाह्य स्तर के मिलने से उनके मध्य में एक कोष बन जाता है जिसमें स्नेह का कुछ अंश बराबर रहता है। इससे दोनों पृष्ठ चिकने रहते हैं और हृदय की गति के समय उनमें परस्पर घर्षण नहीं होने पाता। हृदय के बाह्य स्तर में स्थितिस्थापक सूत्रों की उपस्थिति से हृदय के स्वाभाविक संकोच-प्रसार में कोई बाधा नहीं होती और हृदयावरण के बाह्य सौत्रिक स्तर के कारण हृदय का आकार सीमित एवं सुरक्षित रहता है तथा उसका प्रसाराधिक्य नहीं होने पाता।

---

१. 'शोणितकफप्रसादजं हृदयं यदाश्रया हि धमन्यः प्राणवहाः। तस्याधो वामतः प्लीहा फुफ्फुसश्च दक्षिणतो यकृत् क्लोम च।'

'पुण्डरीकेण सदृशं हृदयं स्यादधोमुखम्।
जाग्रतस्तद्विकसति स्वपतश्च निमीलति॥'

—सु० शा० ४

'स्तनयोर्मध्यमधिष्ठायोरस्यामाशयद्वारं सत्त्वरजस्तमसामधिष्ठानं हृदयं नाम।' —सु० शा० ६

'हृदयं मनसः स्थानमोजसश्चिन्तितस्य च।
मांसपेशीचयो रक्तपद्माकारमधोमुखम्॥'—अ० हृ०, सू० १२
(सर्वांगसुन्दरा)

हृदय के प्रकोष्ठ

हृदय का आभ्यन्तर प्रदेश एक लम्ब विभाजन के द्वारा वाम और दक्षिण दो पेशीमय कोष्ठों में विभक्त हो जाता है। ये दोनों कोष्ठ पुनः एक अनुप्रस्थ विभाजन के द्वारा ऊर्ध्व और अधः दो भागों में विभक्त हो जाते हैं जिन्हें क्रमशः अलिन्द (Auricle) और निलय (Ventricle) कहते हैं। अलिन्द रक्त को ग्रहण करता है अतः उसे ग्राहक कोष्ठ भी कहते हैं। इसी प्रकार निलय रक्त को संपूर्ण शरीर में प्रेषित करता है, इस कारण उसे प्रेरक कोष्ठ भी कहते हैं। अलिन्द और निलय के बीच में एक द्वार होता है जिससे ये दोनों कोष्ठ परस्पर संबद्ध रहते हैं। इन द्वारों पर ऐसे कपाट लगे रहते हैं जो रक्त को अलिन्द से निलय में जाने देते हैं, पर विपरीत दिशा में लौटने नहीं देते। इस प्रकार वाम अलिन्द, वाम निलय, दक्षिण अलिन्द तथा दक्षिण निलय ये चार हृदय के कोष्ठ होते हैं। वाम भाग में शुद्ध तथा दक्षिण भाग में अशुद्ध रक्त रहता है और ये दोनों प्रकार के रक्त अनुलम्ब विभाजन के द्वारा एक दूसरे से पृथक् रहते हैं। ये कोष्ठ भीतर की ओर एक सूक्ष्म कला से आवृत हैं जिसे आन्तरिक कला कहते हैं। यही कला रक्तवह स्रोतों के अन्तःपृष्ठ को भी आवृत करती है और रक्तधरा कला[1] की संज्ञा ग्रहण करती है।

चित्र २९—हृदय

दक्षिण अलिन्द

इसके एक कोण में जिह्वा के आकार का एक निकला हुआ भाग रहता है जिसे 'दक्षिण अलिन्दपुच्छ' कहते हैं। इस कोष्ठ में संपूर्ण शरीर के अंगों का रक्त लाकर उत्तरा एवं अधरा महासिरायें खुलती हैं। अधरा महासिरा का द्वार एक कपाट से सुरक्षित एवं अंशतः आवृत है जिसे 'महासिरा कपाट' कहते हैं। कोष्ठ की पश्चिम भित्ति में एक हलका-सा खात है जिसे 'अण्डाकार खात'

---

१. 'द्वितीया रक्तधरा मांसस्याभ्यन्तरतः, तस्यां शोणितं विशेषतश्च सिरासु यकृत्प्लीह्नोश्च भवति।'
—सु० शा० ४

कहते हैं। इसके द्वारा रक्त गर्भ के शरीर में दक्षिण अलिन्द से सीधे वाम भाग में पहुंच जाता है। उस समय फुफ्फुसों के निष्क्रिय होने के कारण रक्त को वहां जाने की आवश्यकता ही नहीं पड़ती।

दक्षिण निलय

हृदय के अधिकांश पूर्व पृष्ठ में यह रहता है, किन्तु हृदय के अग्रभाग के निर्माण में इसका कोई भाग नहीं रहता। दक्षिण अलिन्द और निलय के बीच में जो द्वार होता है उस पर त्रिपत्र कपाट (Tricuspid valve) लगा रहता है। इसी कपाट से होकर रक्त दक्षिण अलिन्द से इस कोष्ठ में आता है। यहां से रक्त फुफ्फुसी धमनी में चला जाता है जिसका द्वार फुफ्फुसी कपाट (Pulmonary valve) से सुरक्षित है।

वाम अलिन्द

यह कोष्ठ फुफ्फुसों से चार सिराओं द्वारा लौटे हुए रक्त को ग्रहण करता है। इसके और वामनिलय के बीच के द्वार पर द्विपत्र कपाट (Bicuspid valve) लगा रहता है जिससे रक्त इस कोष्ठ से होकर वाम निलय में चला जाता है।

वाम निलय

इसकी भित्ति मनुष्य में दक्षिण निलय की अपेक्षा तीन गुना अधिक मोटी होती है क्योंकि इसे रक्त को सम्पूर्ण शरीर में पहुंचाना पड़ता है और इस प्रकार इस पर कार्यभार अधिक हो जाता है। यहाँ से रक्त महाधमनी में जाता है जिसका द्वार 'महाधमनी कपाट' (Aortic valve) द्वारा सुरक्षित रहता है।

कपाट

हृदय में कपाटों की व्यवस्था ऐसी है कि उनके द्वारा रक्त की गति एक ही दिशा में सम्भव है। त्रिपत्र कपाट में तीन तथा द्विपत्र कपाट में दो पत्रक होते हैं। प्रत्येक पत्रक त्रिकोणाकार होता है, जिसका आधार पार्श्ववर्ती भागों से मिल कर एक वृत्ताकार कला बनाता है जो अलिन्दनिलय-द्वार के चारों ओर एक कण्डरामुद्रिका के द्वारा स्थिर रहती है तथा धारायें कण्डरारज्जुओं के द्वारा निलय के अन्तःपृष्ठ से उद्भूत कपाटस्तम्भिका पेशियों से सम्बद्ध रहती हैं जिससे निलय के संकोच के समय कपाट स्थिर रहते हैं।

द्विपत्र तथा त्रिपत्र कपाट रचना में समान होते हैं, किन्तु अधिक भार सहन करने के कारण द्विपत्र कपाट अधिक स्थूल तथा दृढ होते हैं। त्रिपत्र कपाट पूर्णतया बन्द नहीं होता, अतः रक्त का कुछ अंश लौट कर पुनः अलि-

हृदय के प्रकोष्ठ

हृदय का आभ्यन्तर प्रदेश एक लम्ब विभाजन के द्वारा वाम और दक्षिण दो पेशीमय कोष्ठों में विभक्त हो जाता है। ये दोनों कोष्ठ पुनः एक अनुप्रस्थ विभाजन के द्वारा ऊर्ध्व और अधः दो भागों में विभक्त हो जाते हैं जिन्हें क्रमशः अलिन्द (Auricle) और निलय (Ventricle) कहते हैं। अलिन्द रक्त को ग्रहण करता है अतः उसे ग्राहक कोष्ठ भी कहते हैं। इसी प्रकार निलय रक्त को संपूर्ण शरीर में प्रेषित करता है, इस कारण उसे क्षेपक कोष्ठ भी कहते हैं। अलिन्द और निलय के बीच में एक द्वार होता है जिससे ये दोनों कोष्ठ परस्पर संबद्ध रहते हैं। इन द्वारों पर ऐसे कपाट लगे रहते हैं जो रक्त को अलिन्द से निलय में जाने देते हैं, पर विपरीत दिशा में लौटने नहीं देते। इस प्रकार वाम अलिन्द, वाम निलय, दक्षिण अलिन्द तथा दक्षिण निलय ये चार हृदय के कोष्ठ होते हैं। वाम भाग में शुद्ध तथा दक्षिण भाग में अशुद्ध रक्त रहता है और ये दोनों प्रकार के रक्त अनुलम्ब विभाजन के द्वारा एक दूसरे से पृथक् रहते हैं। ये कोष्ठ भीतर की ओर एक सूक्ष्म कला से आवृत हैं जिसे आन्तरिक कला कहते हैं। यही कला रक्तवह स्रोतों के अन्तःपृष्ठ को भी आवृत करती है और रक्तधरा कला[1] की संज्ञा ग्रहण करती है।

चित्र २९—हृदय

दक्षिण अलिन्द

इसके एक कोण में जिह्वा के आकार का एक निकला हुआ भाग रहता है जिसे 'दक्षिण अलिन्दपुच्छ' कहते हैं। इस कोष्ठ में संपूर्ण शरीर के अंगों का रक्त लाकर उत्तरा एवं अधरा महासिरायें खुलती हैं। अधरा महासिरा का द्वार एक कपाट से सुरक्षित एवं अंशतः आवृत है जिसे 'महासिरा कपाट' कहते हैं। कोष्ठ की पश्चिम भित्ति में एक हलका-सा खात है जिसे 'अण्डाकार खात'

---

१. 'द्वितीया रक्तधरा मांसस्याभ्यन्तरतः, तस्यां शोणितं विशेषतश्च सिरासु यकृत्प्लीह्नोश्च भवति।'

—सु० शा० ४

कहते हैं। इसके द्वारा रक्त गर्भ के शरीर में दक्षिण अलिन्द से सीधे वाम भाग में पहुंच जाता है। उस समय फुफ्फुसों के निष्क्रिय होने के कारण रक्त को वहां जाने की आवश्यकता ही नहीं पड़ती।

दक्षिण निलय

हृदय के अधिकांश पूर्व पृष्ठ में यह रहता है, किन्तु हृदय के अग्रभाग के निर्माण में इसका कोई भाग नहीं रहता। दक्षिण अलिन्द और निलय के बीच में जो द्वार होता है उस पर त्रिपत्र कपाट (Tricuspid valve) लगा रहता है। इसी कपाट से होकर रक्त दक्षिण अलिन्द से इस कोष्ठ में आता है। यहां से रक्त फुफ्फुसी धमनी में चला जाता है जिसका द्वार फुफ्फुसी कपाट (Pulmonary valve) से सुरक्षित है।

वाम अलिन्द

यह कोष्ठ फुफ्फुसों से चार सिराओं द्वारा लौटे हुए रक्त को ग्रहण करता है। इसके और वामनिलय के बीच के द्वार पर द्विपत्र कपाट (Bicuspid valve) लगा रहता है जिससे रक्त इस कोष्ठ से होकर वाम निलय में चला जाता है।

वाम निलय

इसकी भित्ति मनुष्य में दक्षिण निलय की अपेक्षा तीन गुना अधिक मोटी होती है क्योंकि इसे रक्त को सम्पूर्ण शरीर में पहुंचाना पड़ता है और इस प्रकार इस पर कार्यभार अधिक हो जाता है। यहाँ से रक्त महाधमनी में जाता है जिसका द्वार 'महाधमनी कपाट' (Aortic valve) द्वारा सुरक्षित रहता है।

कपाट

हृदय में कपाटों की व्यवस्था ऐसी है कि उनके द्वारा रक्त की गति एक ही दिशा में सम्भव है। त्रिपत्र कपाट में तीन तथा द्विपत्र कपाट में दो पत्रक होते हैं। प्रत्येक पत्रक त्रिकोणाकार होता है, जिसका आधार पार्श्ववर्ती भागों से मिल कर एक वृत्ताकार कला बनाता है जो अलिन्दनिलय-द्वार के चारों ओर एक कण्डरामुद्रिका के द्वारा स्थिर रहती है तथा धारायें कण्डरारज्जुओं के द्वारा निलय के अन्तःपृष्ठ से उद्भूत कपाटस्तम्भिका पेशियों से सम्बद्ध रहती हैं जिससे निलय के संकोच के समय कपाट स्थिर रहते हैं।

द्विपत्र तथा त्रिपत्र कपाट रचना में समान होते हैं, किन्तु अधिक भार सहन करने के कारण द्विपत्र कपाट अधिक स्थूल तथा दृढ होते हैं। त्रिपत्र कपाट पूर्णतया बन्द नहीं होता, अतः रक्त का कुछ अंश लौट कर पुनः अलि-

न्द में चला जाता है। द्विपत्र कपाट पूर्णतः बन्द हो जाता है। फुफ्फुसी और महाधमनी कपाट अर्धचन्द्राकार होते हैं, इसलिए उन्हें अर्धचन्द्र कपाट भी कहते हैं। महाधमनी-कपाट अधिक भार वहन करने के कारण अधिक दृढ़ होते हैं। प्रत्येक अर्धचन्द्र कपाट में तीन अर्धचन्द्राकार भाग होते हैं जिनकी उन्नतोदर धारा निलय तथा धमनी के संयोगस्थल पर एक सौत्रिक चक्र के द्वारा जुड़ी रहती है और नतोदर धारा स्वतन्त्र रहती है। इस प्रकार उसका आकार जेब के समान हो जाता है। इस कोषाकार भाग के केन्द्र में एक सौत्रिक ग्रन्थि होती है। निलय से रक्त जाते समय ये कोष पृथक् पृथक् हो जाते हैं किन्तु शीघ्र ही वह परस्पर मिल जाते हैं जिससे रक्त लौटने नहीं पाता। महाधमनी तथा फुफ्फुसी धमनी की भित्ति के बाहर इन अर्धचन्द्राकार कपाटखण्डों के सूचक उभार होते हैं जिन्हें स्रोतःकोष कहते हैं। रक्त-संवहन के समय कुछ रक्त इन कोषों में चला जाता है जिससे ये कपाट स्थिर रहते हैं तथा प्रसार के समय कपाटों के बन्द होने में भी इनसे सहायता मिलती है। इन्हीं के समीप हार्दिक धमनी का द्वार होता है जिस पर हार्दिक कपाट लगा रहता है।

कपाट हृदय की आन्तरिक कला के दो स्तरों से बने होते हैं।

हृदय की सूक्ष्म रचना

सूक्ष्म रचना की दृष्टि से हृदय में तीन स्तर होते हैं:—

१. बाह्यस्तर २. मध्यस्तर ३. अन्तःस्तर

१. बाह्यस्तर

इसका वर्णन पूर्व में हो चुका है और इसका सम्बन्ध हृदय की रक्षा से होता है।

२. मध्यस्तर

यह हृदय के बीच का स्तर होता है जिसमें पेशी का भाग सबसे प्रधान होता है। इसलिए इसे 'हृत्पेशीस्तर' भी कहते हैं। इसमें तीन प्रकार के पेशी-सूत्र होते हैं:—

(क) अलिन्दसूत्र (Auricular fibres)

(ख) निलयसूत्र (Ventricular fibres)

(ग) अलिन्द-निलयगुच्छ (Auriculo-ventricular bundle or bundle of His)

(क) अलिन्दसूत्र

ये सूत्र दो स्तरों में व्यवस्थित हैं उत्तान और गम्भीर। उत्तान सूत्र अनु-

प्रस्थ दिशा में दोनों अलिन्दों में समान रूप से फैले होते हैं। गम्भीर सूत्र दोनों अलिन्दों में पृथक् अवस्थित होते हैं। इनमें कुछ मुद्रिकाकार तथा कुछ ग्रन्थियुक्त सूत्र होते हैं।

(ख) निलयसूत्र

इनकी स्थिति अत्यधिक जटिल होती है। इनके भी दो स्तर होते हैं उत्तान और गम्भीर। ये सूत्र हृदय के विभिन्न भागों से निकल कर अन्त में कपाटस्तम्भिका पेशियों से सम्बद्ध हो जाते हैं।

(ग) अलिन्द-निलयगुच्छ

इसके द्वारा अलिन्द और निलय साक्षात् रूप से संबद्ध रहते हैं। इसका प्रारम्भ दो ग्रन्थियों के रूप में होता है जिन्हें क्रमशः 'सिरालिन्दग्रन्थि' (Sino-Auricular node) तथा 'अलिन्दनिलयग्रंथि' (Auriculo-Ventricular node) कहते हैं। सिरालिन्दग्रन्थि उत्तरा महासिरा के द्वार पर अवस्थित है तथा अलिन्द-निलयग्रन्थि हार्दिक धमनी के तनिक ऊपर रहती है। अलिन्दनिलयग्रन्थि से चलकर अलिन्दनिलयगुच्छ निलयविभाजन के पास पहुँच कर वाम और दक्षिण दो शाखाओं में विभक्त हो जाता है जो विभाजक प्राचीर के दोनों पार्श्वों में आन्तरिक कला से आवृत होकर नीचे की ओर दोनों निलयों में चली जाती है। दक्षिण शाखा शामक रज्जु में परिणत हो जाती है और शाखा-प्रशाखाओं में विभक्त होकर अन्त में कपाटस्तम्भिका पेशियों तथा दक्षिण निलय की भित्तियों में विलीन हो जाती है। वाम शाखा पूर्व और पश्चिम दो भागों में विभक्त होकर पूर्ववत् निलय में फैल जाती है। इस गुच्छ में हृत्पेशी से भिन्न पेशीसूत्र होते हैं जिन्हें 'प्रकिंजय सूत्र' (Purkinje's Fibres) कहते हैं। इन पेशीसूत्रों में हृत्पेशी की अपेक्षा शर्कराजन का परिमाण अधिक होता है। इस गुच्छ का कार्य है अलिन्दगत उत्तेजना को निलय तक पहुँचाना।

३. अन्तःस्तर

यह एक चिकनी और पतली कला के रूप में है जो हृदय के कोष्ठों को भीतर से आवृत करती है और बड़ी-बड़ी धमनियों की आन्तरिक कला से मिल जाती है। इसी के दोहरे स्तर से हृदय के कपाटों का निर्माण होता है। यह संयोजक तन्तु से बनी है जिसमें कुछ स्थितिस्थापक सूत्र भी मिले रहते हैं। इसीसे संबद्ध कुछ सौत्रिक चक्र अलिन्द, निलय तथा धमनियों के द्वार पर लगे रहते हैं जिनके कारण कोष्ठ की पेशियां तथा द्वार के कपाट स्थिर रहते हैं।

हृदय का पोषण तथा नाडी-संबन्ध

दक्षिण और वाम हार्दिक धमनियां, जो महाधमनी की शाखायें हैं, हृदय को रक्त प्रदान करती हैं। अधिकांश सिरायें हार्दिक सिरापरिवाहिका के द्वारा दक्षिण अलिन्द में खुलती हैं।

हृदय में रसायनियां दो जालकों के रूप में रहती हैं। प्रथम गंभीर जालक है जो ठीक आन्तरिक कला के नीचे रहता है और द्वितीय उत्तान जालक है जो हृदयावरण के स्नैहिक स्तर के नीचे रहता है।

प्राणदा नाडी तथा सांवेदनिक नाडी के सूत्रों से हार्दिक चक्र का निर्माण होता है और इसी चक्र से नाडियां निकल कर हृदय में फैल जाती हैं।

रक्तवह स्रोत

आयुर्वेद में रक्तवह स्रोतों का मूल यकृत्-प्लीहा बतलाया गया है। यह वस्तुतः रक्त के उद्भव की दृष्टि से है। रक्त के वितरण की दृष्टि से स्रोतों का मूल हृदय है। चूंकि रक्त का मुख्य कार्य प्राणवायु का संचालन है अतः प्राणवह स्रोत के रूप में इनका मूल हृदय कहा गया है।[१]

लक्षण एवं कार्य की विशेषता से इनकी संज्ञायें विभिन्न हैं यथा धमनी, सिरा, स्रोत[२] आदि। स्पन्दनपूर्वक वेग से रक्त का वहन करनेवाली धमनी (Artery), मन्दगति से हृदयाभिमुख रक्त को ले जाने वाली सिरा (Vein) तथा रस का स्रवण करने से स्रोत (Capillary) कहलाते हैं।[3] इस स्रोत को अन्य प्रकार के स्रोतों से पृथक् करने के लिए जालक स्रोत कहना चाहिए। आजकल केशवत् सूक्ष्म होने के कारण इनकी 'केशिका' संज्ञा भी प्रसिद्ध है।

धमनियां

धमनियों का मूल भाग वाम निलय से महाधमनी के रूप में प्रारम्भ होता है। महाधमनी के उद्गम के बाद ही उससे दो हार्दिक धमनियां निकल कर हृदय में प्रविष्ट हो जाती हैं और इसके बाद महाधमनी की शाखायें संपूर्ण शरीर में पहुंचकर अङ्गों को रक्त प्रदान करती हैं। फुफ्फुसी धमनियों को छोड़ कर शेष सभी धमनियों में शुद्ध रक्त रहता है।[४] जैसे जैसे ये शाखायें आगे

---

१. प्राणवाहानां स्रोतसां हृदयं मूलं—च. वि. ५

२. 'स्रोतांसि सिरा धमन्यो रसायन्यो रसवाहिन्यो नाड्यः पन्थानो मार्गाः शरीरच्छिद्राणि संवृतासंवृतानि स्थानान्याशयाः क्षया निकेताश्चेति शरीरधात्ववकाशानां लक्ष्यालक्ष्याणां नामानि भवन्ति।'—च० वि० ५

३. "ध्मानाद् धमन्यः स्रवणात् स्रोतांसि सरणात् सिराः।"—च० सू० ३०

४. शुद्धरक्तवहाः प्रायः प्रणाड्यः सर्वदेहगाः।
धमन्यो हृदयाद्रक्तं विक्षिपन्ति धमन्ति च॥—स्व.

बढ़ती हैं वैसे वैसे इनका आकार सूक्ष्म होता जाता है और इन्हें सूक्ष्म धमनियों(Arterioles) की विशिष्ट संज्ञा प्राप्त होती है। ये सूक्ष्म धमनियां और आगे बढ़ने पर जालक के रूप में फैल जाती हैं जिन्हें केशिका कहते हैं। मृत्यु के बाद दीवाल मोटी होने के कारण धमनियां सिराओं का भांति अच्छी तरह सिकुड़ नहीं पातीं और खाली रहती हैं। अवकाशयुक्त होने के कारण ही प्राचीन विद्वान् उसे वायुपूर्ण समझते थे और इसीलिये उसको संज्ञा भी 'धमनी' (ध्मानाद्धमन्यः) दी गई है।

धमनियों की रचना

धमनी की दीवाल निम्नलिखित स्तरों से बनी होती है :—

(१) बाह्यप्राचीरिका—यह सबसे बाहर का स्तर है जो स्नायुसूत्रों से बना होता है।

(२) मध्यप्राचीरिका—धमनी की दीवाल का अधिक भाग इसी स्तर से निर्मित होता है। इसमें पेशीसूत्र तथा स्थितिस्थापक सूत्र दोनों होते हैं। पेशीसूत्र अनैच्छिक होते हैं तथा अनुप्रस्थ रीति से अवस्थित होते हैं। इन्हीं के बीच में स्थितिस्थापक सूत्र होते हैं। आकृति के अनुसार पेशीसूत्रों तथा स्थितिस्थापक सूत्रों के अनुपात में अन्तर होता है। बड़ी धमनियों में स्थितिस्थापक सूत्र अधिक तथा मध्यम एवं छोटे आकार की धमनियों में पेशीसूत्र अधिक होते हैं।

(३) अन्तःप्राचीरिका—यह स्थितिस्थापक तन्तु के स्तर से बनी होती है। इससे अन्तःपृष्ठ पर आन्तरिक कला लगी रहती है जिससे वह चिकना हो जाता है और रक्त के प्रवाह में कोई अवरोध नहीं होता। आन्तरिक कला के बाहर की ओर संयोजक तन्तु का एक स्तर होता है जिसे उपान्तरिक कला कहते हैं। इस प्रकार अन्तःप्राचीरिका तीन भागों से बनी होती है :—

(क) आन्तरिक कला, (ख) उपान्तरिक कला, (ग) स्थितिस्थापक स्तर।

धमनियों का पोषण तथा नाडीसंबन्ध

धमनियों का पोषण छोटी छोटी धमनियों के द्वारा होता है जिन्हें 'स्रोतःपोषक धमनियाँ' कहते हैं। ये धमनियाँ बाह्य प्राचीरिका में शाखा-प्रशाखायें देती हैं और कुछ दूर तक मध्य स्तर में भी पहुँचती हैं, किन्तु अन्तःस्तर में नहीं पहुंच पातीं।

धमनियों में सांवेदनिक नाडीसूत्र आते हैं जो पेशीसूत्रों के बीच बीच में जालकों के रूप में स्थित रहते हैं।

सिरायें

केशिकाओं के जालक के बाद सिराओं का प्रारम्भ होता है। प्रारम्भ में यह बहुत छोटी होती है, किन्तु धीरे-धीरे आपस में मिलकर इनका आकार बड़ा होता जाता है और अन्त में उत्तरा तथा अधरा महासिराओं, हार्दिकी सिराओं (जो दक्षिण अलिन्द में प्रविष्ट होती हैं) तथा चार फुफ्फुसी सिराओं (जो वाम अलिन्द में प्रविष्ट होती हैं) के रूप में परिणत होती हैं। धमनियों की अपेक्षा सिराओं में दो-तीन गुना अधिक रक्त रहता है। सिरायें प्रायः अशुद्ध रक्त का वहन करने से नीलवर्ण तथा हृदयाभिमुख होने से स्पन्दन रहित होती हैं।[1]

सिराओं की रचना

धमनियों के समान सिराओं में तीन स्तर होते हैं, किन्तु धमनी की अपेक्षा सिरा में बाह्य और मध्य प्राचीरिकायें पतली होती हैं। दूसरी विशेषता यह है कि सिराओं में बीच बीच में कपाट होते हैं जो रक्त को पीछे की ओर नहीं लौटने देते हैं। जिन सिराओं पर पेशी का दबाव पड़ता है उनमें कपाटों की संख्या बहुत कम या कभी कभी नहीं भी होती है। इन कपाटों की रचना महाधमनी के अर्धचन्द्र कपाटों के समान होती है।

केशिका या जालक स्रोत

सूक्ष्म धमनियों तथा सिराओं के बीच में केशिकाओं का जाल फैला रहता है। यह आन्तरिक कला से बना होता है और इसका स्वरूप एक पारदर्शक झिल्ली के सदृश होता है। कहीं कहीं सूक्ष्म धमनियों तथा सूक्ष्म सिराओं में साक्षात् सम्बन्ध हो जाता है, उनके बीच में जालक नहीं होता।

जब किसी अंग की मुख्य धमनी या सिरा अवरुद्ध हो जाती है तब सहायक रक्तसंवहन (Collateral circulation) शीघ्र स्थापित हो जाता है और छोटी-छोटी रक्तवाहिनियां बढ़ कर बड़ी रक्तवाहिनियों का कार्य करने लगती हैं। उदाहरणस्वरूप, यदि बाहवी धमनी में अवरोध हो जाय तो उसकी कोई शाखा बड़ी हो जाती है और बाहु को रक्तप्रदान करती है।

रक्तसंवहन (Circulation of blood)

आयुर्वेदीय संहिताओं में ऐसे वचन मिलते हैं जिनसे प्रतीत होता है कि

---

१. अशुद्धशोणितवहाः प्रायो नीलास्तु नालिकाः।
सिराः सरति याभिस्तच्छोणितं हृदयं प्रति॥
वर्णभेदात्तथा स्पन्दराहित्यान् मूलभेदतः।
आगमात् कर्मवैशेष्याद् धमनीभ्योऽपराः सिराः॥—स्व.

प्राचीन मन्त्रद्रष्टा महर्षियों को शरीर में रक्तसंवहन का अत्यन्त स्पष्ट ज्ञान था। इसके सम्बन्ध में निम्नलिखित प्रमाण पर्याप्त होंगे—

१. हृदो रसो निःसरति तत एव च सर्वतः।
सिराभिर्हृदयं चैति तस्माद्धृत्प्रभवाः सिराः॥—भेलसंहिता

इस श्लोक में रस शब्द रक्त का भी वाचक है। इसका अभिप्राय यह है कि रक्त हृदय से निकल कर सम्पूर्ण शरीर में फैलता है और पुनः सिराओं द्वारा हृदय में लौट जाता है।

२. स शब्दार्चिर्जलसन्तानवदणुना विशेषेणानुधावत्येवं शरीरं केवलम्।
—सु० सू० १४

अर्थात् रस शब्द, तेज तथा जल के संचारकी तरह समस्त शरीर में अत्यन्त सूक्ष्म रूप से अनुधावन करता है। डल्हण के अनुसार शब्दसन्तान से रस का तिर्यग्गामित्व, अर्चिःसन्तान से ऊर्ध्वगामित्व तथा जलसन्तान से अधोगामित्व सूचित होता है। रस रक्त में मिलकर हृदय से महाधमनी में जाता है और वहां से वह तीन भागों में विभक्त हो जाता है, एक भाग महामातृका धमनी के द्वारा शिर में (ऊर्ध्वगामी), दूसरा भाग अक्षाधरा धमनी के द्वारा ऊर्ध्वशाखाओं में (तिर्यग्गामी) तथा तीसरा भाग अवरोहिणी महाधमनी के द्वारा अधःशाखाओं में (अधोगामी) जाता है और इस प्रकार सम्पूर्ण शरीर में फैल जाता है। इसके अतिरिक्त शब्दार्चिर्जलसन्तान की उपमा से केशिकाओं के द्वारा रस-निःस्यन्दनकी अनेक भौतिक प्रक्रिया का भी संकेत मिलता है।

३. ध्मानाद्धमन्यः स्रवणात् स्रोतांसि सरणात् सिराः।—च०

कविराज गणनाथ सेन ने इसकी व्याख्या निम्न प्रकार से की है :—

ध्मानं रक्तस्य बलाद् विक्षेपणं, स्रवणं स्यन्दनम्, सरणं मृदुगत्या हृदयाभिमुखं चलनमिति प्राचामभिसन्धिः सुस्पष्टः। स्रोतः पदं चात्र जालकपरम्।
—प्रत्यक्षशारीरम्, धमनीखण्ड

इस एक ही वाक्य में धमनियों, कोशिकाओं तथा सिराओं का पारस्परिक संबन्ध और रक्तसंवहन का कितना स्पष्ट विवेचन है।

४. रस गतौ-अहरहर्गच्छतीत्यतो रसः "तस्य च हृदयं स्थानं स हृदयाच्चतुर्विंशतिर्धमनीरनुप्रविश्य······द्रुमपत्रसेवनीनामिव च तासां प्रतानाः"—सु. सू.

अर्थात्—रस प्रतिक्षण गतिशील है। उसका स्थान हृदय है और वहां से धमनियों में प्रविष्ट होकर उसकी शाखा-प्रशाखाओं के द्वारा संपूर्ण शरीर में फैलता है।

५. शतपथब्राह्मण तथा तदन्तर्गत बृहदारण्यक उपनिषद् में निर्दिष्ट 'हृदय' शब्द का निर्वचन भी प्राचीन आयुर्वेदज्ञों के हृदय तथा रक्त-संवहन संबन्धी ज्ञानको अभिलक्षित करता है :—

तदेतत्त्र्यक्षरं हृदयमिति, हृ-इत्येकमक्षरम्,
दइत्येकमक्षरम्, ममित्येकम्—शतपथब्राह्मण १४।८।४।१
एवं हरतेर्ददातेरयतेर्हृदयशब्दः—निरुक्त (दुर्ग)

हृदय शब्द में तीन धातु हैं हृ, दा और अय। इन तीन धातुओं से बना हृदय शब्द हरण, दान और अयन (गति) इन तीन क्रियाओं को सूचित करता है। अर्थात् हृदय रक्त का आहरण, सर्वधातुओं को रक्तप्रदान और संकोचप्रसारात्मक गतियां करता है।

६. समुद्रे ते हृदयमप्स्वन्तः सं त्वा विशन्त्वोषधीरुतापः।
सुमित्रिया न आपः ओषधयः सन्तु। दुर्मित्रियास्तस्मै सन्तु योऽस्मान् द्वेष्टि यं च वयं द्विष्मः। —वा० सं०

अर्थात्—जिस प्रकार समुद्र में नदियों के द्वारा जल पहुँचता है, उसी प्रकार तुम्हारे हृदय में ओषधिरूप (शरीर-पोषणसमर्थ) रक्त धातु प्रविष्ट हो। इस मन्त्र में हृदय की उपमा समुद्रसे दी गई। इसका आशय यह है कि जिस प्रकार नदियों का मूल उद्भव तथा निवेशस्थान दोनों समुद्र ही है, उसी प्रकार रक्तवह स्रोत भी हृदय से निकलते हैं और फिर उसीमें मिल जाते हैं। इससे भी चक्रवत् रक्तसंवहन का संकेत मिलता है।

७. अपो यत् ते हृदि श्रितं मनस्कं पतयिष्णु कम्। ततस्त ईर्ष्यां मुंचामि निरूष्माणां दृतेरिव। —अथर्ववेद

अर्थात्—हे ईर्ष्याग्रस्त पुरुष ! तुम्हारे हृदय में स्थित मन से ईर्ष्या को दूर करता हूँ—जैसे भाथी से ऊष्मा बाहर होती है।

इस मन्त्र में हृदय की उपमा भस्त्रिका से दी गई है। जिस प्रकार भस्त्रिका में संकोच-प्रसार के द्वारा वायु का आवागमन जारी रहता है, उसी प्रकार हृदयके संकोचप्रसार से भी रक्त का संवहन (आयात-निर्यात) निरंतर होता रहता है। एक समय में पाश्चात्य विद्वान भी धमनियों को वातपूर्ण समझते थे और उसी आधार पर रक्तसंवहन का प्रतिपादन करते थे। इसीलिये धमनी की संज्ञा ARTBRY है। तन्त्रान्तरों में भी लिखा है :—

धमन्यो रसवाहिन्यो धमन्ति पवनं तनौ।

यहां पर वायु से तन्त्र-यन्त्रधर वायु का ही ग्रहण करना चाहिये।

८. तत्सारमादौ गर्भस्य यच्च गर्भरसाद्रसः।
संवर्तमानं हृदयं समाविशति यत्पुनः॥

अर्थात्—जो गर्भ की आद्यावस्था में सारभूत वस्तु है, जो गर्भका उपस्नेहन करने से रस कहलाता है और जो संपूर्ण शरीर में घूमता हुआ हृदय में पुनः प्रविष्ट होता है।

उपर्युक्त श्लोक की द्वितीय पंक्ति में चक्रवत् रक्त-संवहन का स्पष्ट निर्देश मिलता है।

९. यच्छरीररसस्नेहः प्राणा यत्र प्रतिष्ठिताः।
तत्फला बहुधा वा ताः फलन्तीति महाफलाः॥

—चरकसंहिता सू० ३०

अर्थात् जो शरीर पोषक धातुओं का सार है तथा जहां प्राण प्रतिष्ठित रहते हैं उनका फलरूप ओज होने से तथा शरीर में अनेक प्रकार के व्याप्त होने के कारण धमनियों की संज्ञा महाफला है। पं० ज्योतिषचन्द्र सरस्वती इसकी व्याख्या करते हैं :—

सिराद्वारेणैव सर्वधातुभ्य आकृष्टमोजो हृदि गन्तुं प्रभवति इति सिराणां तत्फलत्वं सिध्यति। (चरक-प्रदीपिका)

अभिप्राय यह है कि सब धातुओं से ओज सिराओं के द्वारा हृदय में पहुँचता है और वहां से ओजोवहा धमनियों के द्वारा संपूर्ण शरीर में भ्रमण करता है :—

'ओजोवहाः शरीरेऽस्मिन् विधम्यन्ते समन्ततः।'

'महाफला' में फल पद का व्यंग्यार्थ यह है कि जिस प्रकार फल से बीज और बीज से फल यह चक्र वनस्पति के धारण-पोषण के लिए जारी रहता है, उसी प्रकार रक्त-संवहन का चक्र शरीर के धारण-पोषण के लिए निरन्तर चलता रहता है।

उपर्युक्त प्रमाणों से यह सिद्ध है कि आयुर्वेदज्ञ महर्षियों की रक्तसंवहन तथा उसके सिद्धान्तों के सम्बन्ध में पूर्ण वैज्ञानिक धारणा थी।

रक्तसंवहन का यह कार्य विक्षेपकर्मा व्यान वायु के द्वारा सम्पन्न होता है[1]।

आधुनिक विद्वत्समाज में १६२८ ई० के पूर्व रक्त के कार्य तथा गति के

---

१. व्यानेन रसधातुर्हि विक्षेपोचितकर्मणा।
युगपत् सर्वतोऽजस्रं देहे विक्षिप्यते सदा॥
रसो यः स्वच्छतां यातः स तत्रैवावतिष्ठते।
ततो व्यानेन विक्षिप्तः कृत्स्नं देहं प्रपद्यते॥

—अ० हृ० सू० १२ (सर्वांगसुन्दरा)

सम्बन्ध में अत्यन्त अस्पष्ट भावनायें प्रचलित थीं। कुछ लोगों के मत में वायु के द्वारा रक्त का सञ्चालन होता था तथा कुछ लोग सूक्ष्म प्राणशक्ति के द्वारा रक्तसंवहन मानते थे। सन् १६२८ ई० में विलियम हार्वे नामक विद्वान् ने यह अनुसन्धान किया कि रक्त शरीर में चक्रवत् परिभ्रमण करता है और जिस स्थान से चलता है पुनः वहीं पहुंच जाता है। ऐसे अनुसंधान के लिए एक तो शरीररचना का शुद्ध ज्ञान होना चाहिए तथा उसके आधार पर ही प्रयोग किये जाने चाहिए। रक्त के चक्रवत् परिभ्रमण की पुष्टि के लिए निम्नांकित शरीररचनाओं पर उपर्युक्त विद्वान ने विश्वास किया और उन्हें ही अपने प्रयोगों का आधार बनायाः—

१. हृदय से संबद्ध दो प्रकार की भिन्न भिन्न नलिकायें हैं जिनमें एक को सिरा तथा दूसरी को धमनी कहते हैं।

२. हृदय तथा सिराओं में कपाट हैं जो रक्त को एक ही दिशा में जाने देते हैं।

चित्र ३०

इन रचनाओं के आधार पर हार्वे ने निम्नांकित प्रयोग किये:—

१. जीवित व्यक्ति में धमनियों के क्षत से रक्त स्पन्दन के साथ वेग से निकलता है। प्रत्येक स्पन्दन हृदय के स्पन्दन के अनुरूप होता है।

२. हृदय के निकट बड़ी सिराओं को बांध देने से हृदय पीला, शिथिल एवं रक्तरहित हो जाता है। बन्धन हटा देने पर रक्त पुनः हृदय में आने लगता है।

३. महाधमनी को बांध देने पर हृदय रक्त से फूल जाता है और जब तक बन्धन नहीं हटाया जाता तब तक खाली नहीं होता।

४. उपर्युक्त प्रयोग जन्तुओं पर किये गये थे किन्तु मनुष्यों में भी यह देखा गया कि यदि बाहु को हल्के बांध दिया जाय तो सिराओं के दब जाने से रक्त लौट नहीं पाता और अंग में शोथ हो जाता है। इसके विपरीत, यदि बन्धन कस कर लगाया जाय तो धमनी के दब जाने से अंग में रक्त नहीं पहुंचता और वह पाण्डु और शीत हो जाता है। बन्धन हटा देने से अङ्ग प्राकृतिक स्थिति में आ जाता है।

५ हार्वे ने हृदय में रहने वाली रक्त की राशि तथा संपूर्ण शरीर में रहने वाली रक्तराशि को नापा और इस निष्कर्ष पर पहुंचा कि हृदय के प्रत्येक स्पन्दन के समय इतनी रक्तराशि बाहर भेजना तभी संभव है जब कि वही रक्त बार बार लौट कर हृदय में आवे।

६. धमनी में क्षत होने पर रक्तस्राव को रोकने के लिए क्षत तथा हृदय

रक्तसंवहन
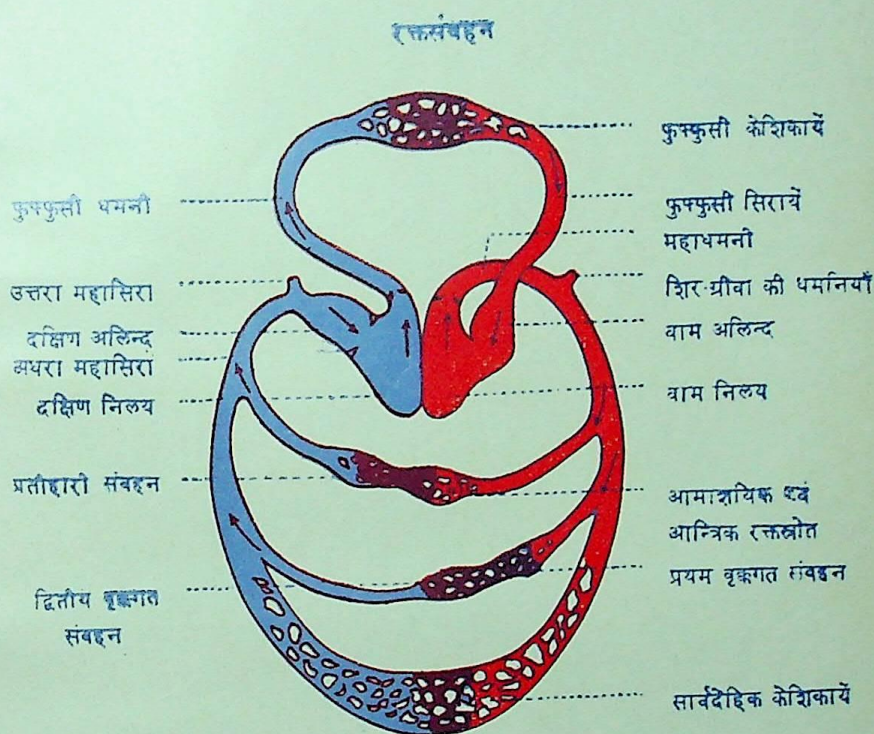
चित्र ३०

(पृ० १४०)

के बीच में दबाव देना होता है, किन्तु यदि सिरा में क्षत है तो क्षत के स्थान से बाहर की ओर दाबना होता है।

इस प्रकार हार्वे ने यह प्रमाणित किया कि हृदय के संकोच के द्वारा रक्त धमनियों में प्रविष्ट होता है और उनके द्वारा धातुओं में पहुँचता है और सिराओं द्वारा पुनः हृदय में लौट आता है। रक्त के चक्रवत् परिभ्रमण के संबन्ध में ज्ञान होने पर भी हार्वे को धमनियों और सिराओं के पारस्परिक सम्बन्ध का ज्ञान नहीं था। वह समझते थे कि स्पञ्ज की तरह अंगों के छिद्रों के द्वारा सिरायें और धमनियाँ परस्पर सम्बद्ध हैं। १६६१ ई० में सर्वप्रथम मैलपिजी नामक विद्वान ने सिराओं तथा धमनियों के मध्यवर्ती केशिकाजालक का अनुसन्धान किया और १६६८ ई० में लीवेनहिक नामक विद्वान् ने सूक्ष्म-दर्शक यंत्र की सहायता से मेढक के पैर में केशिकाओं द्वारा रक्तसंवहन प्रत्यक्ष भी दिखलाया। हार्वे की असफलता का एक कारण यह भी था कि उस समय केशिकाजालक में रक्तसंवहन को देखने के लिए उपयुक्त शक्तिशाली काचों का भी अभाव था।

रक्तसंवहन-क्रम

हृदय के वाम निलय से रक्त महाधमनी के द्वारा धमनियों में और उनके द्वारा शरीर के धातुओं में पहुँचता है। शरीर के धातुओं से रक्त पुनः सिराओं द्वारा हृदय के दक्षिण अलिन्द में लौट आता है। सूक्ष्म धमनियों और सिराओं के बीच में केशिकाओं का जालक होता है जहाँ रक्त और धातुओं के बीच तात्त्विक विनिमय होता है। दक्षिण अलिन्द से रक्त दक्षिण निलय में चला जाता है। जब दक्षिण निलय संकुचित होता है, तब रक्त अलिन्द निलय-द्वार पर लगे हुये कपाटों के बन्द हो जाने से अलिन्द में लौटने नहीं पाता, अतः फुफ्फुसी धमनी में प्रविष्ट हो जाता है। फुफ्फुसी धमनी आगे जाकर दो शाखाओं में विभक्त हो जाती है जो दोनों फुफ्फुसों में जाती हैं और इस प्रकार रक्त दोनों फुफ्फुसों में बँट जाता है। फुफ्फुस में स्थित केशिकाजालकों में वितरित होने से रक्त श्वास के द्वारा गृहीत प्राणवायु के संपर्क में आता है। इस प्रकार हृदय के दक्षिण भाग में स्थित अशुद्ध रक्त की शुद्धि फुफ्फुसों में होती है। शोधन के पश्चात रक्त चमकीले लाल रङ्ग का हो जाता है और वह चार फुफ्फुसी सिराओं द्वारा हृदय के वाम अलिन्द में पहुंचता है। वाम अलिन्द के भर जाने पर वह संकुचित होता है और रक्त वाम निलय में प्रविष्ट होता है। इसी प्रकार वाम निलय भी भर जाने पर जब संकुचित होता है तब रक्त अलिन्द में लौटने की चेष्टा करता है, किन्तु द्विपत्र कपाटों के बन्द हो जाने से वह चेष्टा व्यर्थ हो जाती है और रक्त महाधमनी में प्रविष्ट होता है।

महाधमनी में स्थित कपाट भी इसी प्रकार रक्त को पीछे लौटने नहीं देते। महाधमनी में पहुंचने पर रक्त संपूर्ण शरीर में घूम जाता है और घूमने के बाद सिराओं द्वारा पुनः हृदय के दक्षिण अलिन्द में वापस जाता है। इसी क्रम से रक्त शरीर में चक्रवत् परिभ्रमण करता है।[1] इस प्रकार सम्पूर्ण रक्त संवहन के दो भाग होते हैं जिनमें एक बृहत् तथा दूसरा लघु चक्र कहलाता है। रक्त हृदय के दक्षिण भाग से फुफ्फुसों में जाता है और वहाँ से शुद्ध होकर पुनः वाम भाग में लौट आता है। इसी को लघु चक्र या फुफ्फुसीय रक्तसंवहन कहते हैं। दूसरा चक्र हृदय के वाम भाग से प्रारंभ होता है और रक्त सम्पूर्ण शरीर में फैल कर पुनः हृदय के दक्षिण भाग में वापस चला जाता है। इसे बृहत् चक्र या सामान्य रक्तसंवहन कहते हैं। इसके अतिरिक्त अन्त्र-नलिका तथा उदरस्थ अन्य आशयों की केशिकाओं में प्रवाहित होने वाला रक्त एकत्र होकर यकृत में जाता है और वहाँ उसका पुनः विभाग होता है और तब अन्त में हृदय में पहुँचता है। रक्तसंवहन की इस शाखा को प्रतीहारी संवहन कहते हैं। बहुत कुछ इसी प्रकार का सहायक संवहन वृक्कों में भी होता है, उसे वृक्कीय संवहन कहते हैं।

फुफ्फुसों में रक्त जाने पर रक्तरञ्जक द्रव्य के साथ ओषजन का संयोग होता है और ओषरक्तरञ्जक नामक यौगिक बनता है। इसी से शुद्ध रक्त का वर्ण चमकीला लाल रहता है और धमनियों का भी वर्ण इसी प्रकार का होता

---

१. 'संकोचेन बहिर्याति वायुरन्तर्विकासतः।
ततो नाड्यश्चलन्त्यसृग्धरायाः स्फुरणं ततः॥
विकासमथ संकोचमत्र नाली हृदि स्थिता।
यदा याति तदा प्राणश्छेदैरायाति याति च॥
बाह्योपस्करभस्त्रायां यथाकाशास्पदात्मकः।
वायुर्यात्यपि चायाति तथाऽत्र स्पन्दनं हृदि॥'

—योगवासिष्ठ, निर्वाणप्रकरण, उत्तरार्ध १७८

रक्तस्य हृदयं स्थानं ग्रहणप्रेरणात्मकम्।
उरोगुहास्थयन्त्रं तत् पुण्डरीकसमाकृति॥
तस्मात्प्रविश्य धमनीः देहं सर्वमहर्निशम्।
धारयत्यनुगृह्णाति वर्धयत्यपि जीवयन्॥
प्रचारान् मलिनीभूतं सिराभिः पुनरेव तत्।
हृदयं विशति शुद्ध्यर्थं फुफ्फुसाभिगमाय च॥—स्व.

है। [1]ओषजनविरहित होने पर रक्त का वर्ण नीला हो जाता है और इसीलिए सिरायें भी नीलवर्ण होती हैं।[2]

गर्भस्थ बालक का रक्तसंवहन

पूर्वोक्त सामान्य रक्तसंवहन से गर्भस्थ बालक के रक्तसंवहन में कुछ विलक्षणता देखी जाती है। इसके निम्नांकित कारण हैं :—

(१) गर्भस्थ बालक अपने पोषण के लिए पूर्णतः अपनी माता पर निर्भर रहता है और स्वयं कुछ ग्रहण नहीं करता।

(२) परिस्थिति के अनुसार रक्तसंवहन-संबन्धी हृदय आदि अवयवों के निर्माण में भी विशेषता होती है।

(३) वह स्वयं वायु का आदान प्रदान भी नहीं करता।

हृदय के निर्माण में निम्न रचनाओं की विशेषता पाई जाती है :—

(१) संवाहिनी महासिरा (Umbilical veins)

(२) सेतुसिरा (Ductus venosus)

(३) सेतुधमनी (Ductus arteriosus)

(४) संवाहिनी धमनियाँ (Umbilical arteries)

(५) शुक्तिच्छिद्र (Foramen ovale)

प्रसव के बाद सिरा धमनियों के छिद्र ५ दिनों में बन्द हो जाते हैं और शुक्तिच्छिद्र १० दिनों में बन्द होता है।

रक्तसंवहनक्रम

प्रथम अवस्था—माता के शरीर से रक्त अपरा द्वारा गर्भ के नाभिनाल में स्थित संवाहिनी महासिरा होकर गर्भ के शरीर में प्रविष्ट होता है। उसके द्वारा सर्वप्रथम रक्त यकृत में जाता है और उसका पोषण करता है। रक्त का अधिक भाग सेतुसिरा द्वारा अधरा महासिरा में चला जाता है। यकृत में प्रविष्ट रक्त भी अन्त में याकृती सिराओं द्वारा अधरा महासिरा में पहुंच जाता है। अधरा महासिरा द्वारा यह रक्त हृदय के दक्षिण अलिन्द में पहुँचता है और दक्षिण निलय में न जाकर शुक्तिच्छिद्र से वाम अलिन्द में जाता है और तदनन्तर वामनिलय में पहुंचता है। वहाँ से रक्त महाधमनी में सामान्य रीति से जाता है।

---

१. 'तत्रारुणा वातवहाः पूर्यन्ते वायुना सिराः।'
'असृग्वहास्तु रोहिण्यः सिरा नात्युष्णशीतलाः।'—सु० शा० ७
'गूढाः समस्थिताः स्निग्धा रोहिण्यः शुद्धशोणितम्।'—अ० हृ० शा० २

२. पित्तादुष्णाश्च नीलाश्च शीताः गौर्यः स्थिराः कफात्।'—सु० शा० ७

द्वितीय अवस्था—ऊर्ध्वकाय का रक्त उत्तरा महासिरा द्वारा दक्षिण अलिन्द में जाता है और वहाँ से दक्षिण निलय में प्रविष्ट होता है। वहाँ से रक्त फुप्फुसी धमनी के द्वारा फुप्फुस में पहुँचता है। कुछ भाग तो फुप्फुस के पोषण के लिए रह जाता है और बाकी रक्त सेतुधमनी द्वारा महाधमनी में चला जाता है। फुप्फुसागत रक्त भी पुनः लौट कर सिराओं द्वारा वाम अलिन्द में और वहाँ से वाम निलय में जाता है और फिर महाधमनी में प्रविष्ट होता है।

तृतीय अवस्था—महाधमनी की शाखा प्रशाखाओं से रक्त सम्पूर्ण शरीर में भ्रमण करता है और अन्त में उत्तरा तथा अधरा महासिराओं द्वारा हृदय में लौट आता है। अधिक भाग संवाहिनी धमनियों द्वारा नाभिनाल में आ जाता है और अपरा में प्रविष्ट होता है। वहां से माता के शरीर में चला जाता है।

इस प्रकार फुप्फुसों के क्रियाशील न होने से रक्तशोधन या विनिमय का कार्य अपरा द्वारा ही होता है। इसलिए माता के शरीर से रक्त अपरा द्वारा गर्भ के शरीर में प्रविष्ट होता है और उसी के द्वारा पुनः लौटकर माता के शरीर में आ जाता है।[1]

रक्तसंवहन के भौतिक कारण

रक्तसंवहन कुछ निश्चित भौतिक नियमों के अनुसार होता है। शरीर में रक्तसंवहन को बनाये रखने वाले निम्नांकित भौतिक कारण हैं :—

(१) हृदय की क्षेपक शक्ति (२) दबाव में अन्तर

(३) रक्तवाहिनियों की स्थितिस्थापकता

(४) रक्तवाहिनियों के आयतन में अन्तर (५) प्रतिरोध

गत्यात्मक दृष्टिकोण से विचार करने पर किसी द्रव पदार्थ की गति निम्नांकित कारणों पर निर्भर रहती है :—

(१) बाह्य कारण (२) प्रदत्त गति (३) द्रव का भार

---

१. 'मातुस्तु खलु रसवहायां नाड्यां गर्भनाभिनाडी प्रतिबद्धा सास्य मातुराहाररसवीर्यमभिवहति। तेनोपस्नेहेनास्याभिवृद्धिर्भवति। असञ्जाताङ्गप्रत्यङ्गप्रविभागमानिषेकात् प्रभृति सर्वशरीरावयवानुसारिणीनां रसवहानां तिर्यग्गतानां धमनीनामुपस्नेहो जीवयति।'—सु० शा० ३

'गर्भस्य खलु रसनिमित्ता मारुताध्माननिमित्ता च परिवृद्धिर्भवति।'

'तस्यान्तरेण नाभेस्तु ज्योतिःस्थानं ध्रुवं स्मृतम्।
तदा धमति वातस्तु देहस्तेनास्य वर्धते॥—सु० शा० ४

१. हृदय की क्षेपक शक्ति—हृदय के प्रत्येक संकोच के समय जो शक्ति आविर्भूत होती है वह रक्त को एक निश्चित दबाव पर तथा निश्चित वेग से बहाने में सहायक होती है। दबाव तथा वेग हृदय से उद्भूत शक्ति के अनुसार ही होते हैं।

२. दबाव में अन्तर—द्रव पदार्थों की गति स्वभावतः अधिक दबाने वाले स्थान से कम दबाव वाले स्थान की ओर होती है। रक्तसंस्थान के विभिन्न अंगों का दबाव नीचे दिया जा रहा है :—

	अधिकतम	न्यूनतम
वामनिलय	१४० मिलीमीटर	—३० मिलीमीटर
धमनियाँ	११० "	
केशिकायें	१५-२०"	
सिरायें	३ "	—८ "
अलिन्द	२० "	—७ "

इस तालिका को देखने से स्पष्ट हो जाता है कि हृदय (वामनिलय), धमनियों, केशिकाओं, सिराओं तथा अलिन्द का दबाव क्रमशः कम होता गया है। अतः दबाव के अन्तर से रक्त हृदय से क्रमशः धमनियों, केशिकाओं और सिराओं में जाकर पुनः हृदय में ही लौट आता है।

३. रक्तवाहिनियों की स्थितिस्थापकता—प्रत्येक निलयसंकोच के समय लगभग १½ छँटाक रक्त महाधमनी में प्रविष्ट होता है। इस विशेष मात्रा के कारण धमनियों की चौड़ाई तथा लम्बाई बढ़ जाती है और इस प्रसार के कारण रक्त की अधिक मात्रा को वह थोड़ी देर के लिए अपने में रख लेती हैं। निलय के प्रसारित होने पर धमनियाँ इस रक्त को केशिकाओं में भेज देती हैं और स्वयं पूर्वावस्था में लौट आती हैं और इस प्रकार केशिकाओं तथा सिराओं में रक्त का प्रवाह सन्तत एवं समान रूप से होता रहता है।

४. रक्तवाहिनियों के आयतन में अन्तर—नलिका का आयतन द्रव पदार्थों के वेग को निर्धारित करने का प्रधान कारण है। नलिका के आयतन के विपर्यस्त अनुपात में प्रवाह का वेग होता है अर्थात् नलिका का आयतन कम रहने से वेग अधिक और आयतन अधिक होने से वेग कम होता है।

५. प्रतिरोध—नलिका में बहते हुये द्रव पदार्थ को एक प्रकार के प्रतिरोध का सामना करना पड़ता है। यह प्रतिरोध नलिका के व्यास के वर्गमूल के विपर्यस्त अनुपात में होता है अर्थात् यदि नलिका का व्यास आधा कम कर दिया जाय तो प्रतिरोध १६ गुना अधिक हो जायगा। इसलिए बड़ी बड़ी धमनियों में तो प्रतिरोध इतना कम होता है कि ध्यान में नहीं आता, किन्तु

सूक्ष्म धमनियों में यह सबसे अधिक होता है। इसे प्रांतीय प्रतिरोध कहते हैं।

यद्यपि केशिकायें बहुत छोटी होती हैं और उनमें प्रतिरोध भी अधिक होता है तथापि उनका क्षेत्र इतना विस्तृत होता है कि कुल मिलाकर प्रतिरोध सूक्ष्म धमनियों की अपेक्षा कम ही होता है। दूसरी बात यह है कि तीव्रता से बहने वाले द्रव पदार्थ को अधिक प्रतिरोध का सामना करना पड़ता है और चूँकि सूक्ष्म धमनियों में प्रवाह तीव्र होता है, इसलिए केशिकाओं की अपेक्षा उनमें प्रतिरोध भी अधिक होता है।

अन्तर्हार्दिक दबाव

हृदय के विभिन्न कोष्ठों का दबाव नापने के लिए एक यन्त्र का प्रयोग होता है, जिसे 'हृदयनलिका यन्त्र' (Tambour or manometer) कहते हैं। इसे नापने की अनेक विधियाँ प्रचलित हैं। कुत्ते के हृदय के कोष्ठों का नाप करने पर निम्नांकित परिणाम निकला है :—

	अधिकतम	न्यूनतम
दक्षिण अलिन्द	२० मीलीमीटर	—७ मिलीमीटर
दक्षिण निलय	६० ,,	—१५ ,,
वाम निलय	१४० ,,	—३० ,,

रक्तसंवहन का समय

रक्त के सम्पूर्ण शरीर में घूमकर पुनः हृदय में पहुंचने तक कितना समय लगता है, इसके सम्बन्ध में अनेक प्रयोग किये गये हैं। इनके अनुसार मनुष्य में पूर्ण रक्तसंवहन में लगभग १५ सेकन्ड लगते हैं, किन्तु यह निकटतम मार्ग से रक्तपरिभ्रमण का समय है। लम्बे रास्ते से घूमने में अधिक समय लगता है। पूर्ण रक्तसंवहन का समय ठीक ठीक निकालना अभी तक कठिन है।

हृदय का कार्य

भौतिक तथा क्रियात्मक इन दोनों दृष्टियों से हृदय के कार्य का अध्ययन किया जाता है। भौतिक दृष्टिकोण से हृदय के धमापनकार्य, कपाटों का सहयोग, हृत्कार्यचक्र और तज्जन्य हृच्छब्दों की परीक्षा की जाती है और क्रियात्मक दृष्टिकोण से हृत्प्रतीघात तथा नाड़ियों द्वारा उसके नियन्त्रण का अध्ययन किया जाता है।

हृत्कार्यचक्र (Cardiac cycle)

हृदय की क्रिया के समय उसमें जो चक्रवत् परिवर्तन होता है, उसे हृत्कार्यचक्र कहते हैं। यह परिवर्तन तीन प्रकार के होते हैं :—

१. संकोच (Systole) २. प्रसार (Diastole)
३. विश्राम (Rest phase)

(१) सर्वप्रथम अलिन्दों का सङ्कोच होता है उसे अलिन्दसंकोच कहते हैं। इससे दक्षिण अलिन्द का रक्त दक्षिण निलय में तथा वाम अलिन्द का रक्त वाम निलय में चला जाता है। इस प्रकार दोनों निलय रक्त से भर जाते हैं।

(२) उसके बाद निलयों का सङ्कोच होता है। इससे दक्षिण निलय का रक्त फुफ्फुसी धमनी तथा वाम निलय का रक्त महाधमनी में चला जाता है। अलिन्द द्वार के कपाटों के बन्द हो जाने से रक्त अलिन्दों में नहीं लौट पाता।

(३) निलयों का संकोच समाप्त होने के पूर्व ही अलिन्दों का प्रसार प्रारम्भ हो जाता है जिससे सिराओं द्वारा रक्त उनमें भरने लगता है।

(४) उसके बाद निलयों का भी प्रसार होने लगता है। प्रसार के समय अर्धचन्द्र कपाटों के बन्द हो जाने से धमनियों से रक्त नहीं लौट पाता। यही हृत्पेशी के विश्राम का भी काल होता है।

इसके बाद पुनः अलिन्दों का सङ्कोच होता है और इस प्रकार ये परिवर्तन चक्रवत् होते रहते हैं।

हृत्कार्यचक्र का समय

हृदय की गति प्रति मिनट ७२ होती है। इस हिसाब से ५ सेकण्ड में ६ चक्र होते हैं और एक चक्र में ०.८ सेकेन्ड समय लगता है। इसका विवरण निम्नलिखित है :—

अलिन्दसङ्कोच ०.१ सेकण्ड
अलिन्द प्रसार और विश्राम काल ०.७ ,,
०.८ सेकण्ड

निलयसङ्कोच ०.३ सेकेण्ड
निलयप्रसार ०.५ ,,
०.८ सेकेण्ड

हृदय की गति अधिक होने से हृत्कार्यचक्र की अवस्थाओं की अवधि कम हो जाती है। विशेषतः प्रसारावस्था पर इसका विशेष प्रभाव पड़ता है और वह कम हो जाती हैं।

हृत्कार्यचक्र की विभिन्न अवस्थाओं में होने वाले परिवर्तन

(क) अलिन्दसङ्कोच के समय :—

(१) अलिन्दों का परिसरण सङ्कोच
(२) अलिन्दों में दबाव की वृद्धि
(३) अलिन्दों में सिरागत रक्त का क्षणिक अवरोध
(४) अलिन्दनिलय द्वार के कपाटों का खुलना

(५) रक्त का निलय में सहसा प्रक्षेप

(६) निलय के प्रसार में वृद्धि

(७) अर्धचन्द्र कपाटों का बन्द होना

(८) महाधमनी तथा फुफ्फुसी धमनियों में रक्त का प्रवाह नहीं होना

अलिन्दसङ्कोच के समय अलिन्दों का संपूर्ण रक्त निलयों में चला जाता है और यद्यपि महासिराओं के मुख पर कपाट नहीं है तथापि निम्नलिखित कारणों से सिराओं में रक्त नहीं लौट पाता :—

(क) अलिन्दों का सङ्कोच सिराओं के मुखछिद्र से ही प्रारम्भ होता है जिससे उनका मुँह एक प्रकार से बन्द हो जाता है।

(ख) निलयगत दबाव सिराओं के दबाव से कम होता है, इसलिए रक्त निलय की ओर ही प्रवृत्त होता है।

(ग) दक्षिण अलिन्द के ऊर्ध्वभाग में स्थित पेशी के संकोच से उत्तरा महासिरा का मुख बन्द हो जाता है।

(ख) अलिन्दप्रसार के समय :—

(१) अलिन्दों में सिरागत रक्त का प्रवेश

(२) अलिन्दों का प्रसार

(३) अलिन्दनिलय कपाटों का अवरोध

(४) प्रथम ध्वनि की उत्पत्ति

(५) निलयों का सङ्कोच

(६) निलयगत दबाव में वृद्धि

(७) अर्धचन्द्र कपाटों का अवरोध

(८) चारों कपाटों के बन्द होने से निलय का रक्त पर अधिक दबाव

(९) महाधमनी तथा फुफ्फुसी धमनियों में रक्तप्रवाह नहीं होना

(ग) निलयसङ्कोच के समय :—

(१) निलयों का संकोच

(२) निलयगत दबाव की अधिक वृद्धि

(३) अर्धचन्द्र कपाटों का खुलना

(४) महाधमनी तथा फुफ्फुसी धमनियों में रक्त का प्रक्षेप

(५) प्रथम ध्वनि की तीव्रता

(घ) निलयप्रसार तथा विश्राम के समय :—

(१) अलिन्दों में सिरागत रक्त का प्रवेश

(२) अलिन्दों का प्रसार

(३) अलिन्दनिलय कपाटों का अवरोध

(४) अर्धचन्द्र कपाटों का अवरोध
(५) द्वितीय ध्वनि की उत्पत्ति
(६) थोड़ी देर के लिए निलयकोष का चारों ओर से बन्द हो जाना
(७) अलिन्दगत दबाव का निलयगत दबाव से बढ़ जाना।
(८) अलिन्दनिलय कपाटों का खुलना
(९) निलयों में अलिन्दगत रक्त का प्रवेश
(१०) तृतीय ध्वनि की उत्पत्ति
(११) निलयों का सहसा प्रसार
(१२) निलयों का दबाव शून्य के भी नीचे चला जाना
(१३) सिरागत रक्त का अलिन्दों और निलयों में प्रवेश
(१४) महाधमनी तथा फुफ्फुसी धमनियों में रक्त का प्रवेश नहीं होना

हृदय का आयतन—हृत्कार्यचक्र की विभिन्न अवस्थाओं में हृदय के आयतन में जो परिवर्तन होते हैं उनका मापन अनेक जन्तुओं पर प्रयोग के द्वारा किया गया है। इसके लिए जो यन्त्र प्रयोग में आता है उसे हृदयमापक यन्त्र (Cardiometer) कहते हैं।

हृदयस्पन्द के कारण—यदि मेढक आदि शीतरक्त प्राणियों के हृदय को शरीर से पृथक् कर दिया जाय तो अनुकूल अवस्थाओं में वह कुछ घण्टों तथा कभी-कभी कुछ दिनों तक स्वाभाविक रीति से संकोच करता रहता है। स्तनधारी जीवों में भी इस प्रकार पृथक्कृत हृदय उपयुक्त ओषजनयुक्त द्रव में रखने पर अनुकूल अवस्थाओं में कई घण्टों तक संकोच करता रहता है।

इस प्राकृत प्रक्रिया को देखने से हृदयस्पन्द के सम्बन्ध में निम्नांकित प्रश्न उठते हैं :—

१. हृदयस्पन्द का स्वरूप क्या है ? यह केन्द्रीय नाड़ीमण्डल के सम्बन्ध पर निर्भर रहता है या हृदय की आन्तरिक अवस्थाओं पर ? दूसरे शब्दों में, हृदयस्पन्द आत्मजात क्रिया है या प्रत्यावर्तित ?

२. यदि यह आत्मजात है तो इसका उद्गमस्थान हृदय में स्थित नाड़ीगण्ड हैं या स्वयं हृत्पेशीकोषाणु ? दूसरे शब्दों में, हृदयस्पन्द नाड़ीजन्य है या पेशीजन्य ?

३. इस आत्मजातत्व का कारण क्या है—पेशी या नाड़ी ?

४. हृदयस्पन्द का यथार्थ उद्गमबिन्दु क्या है ?

५. संकोचतरंग का प्रारम्भ वहीं से क्यों होता है ?

६. सिरामुख पर प्रारम्भ हुआ परिसरणसंकोच नाड़ियों के द्वारा सम्पूर्ण

हृदय क्षेत्र पर फैलता है या पेशीकोषाणुओं के द्वारा ? अर्थात् इसका प्रसार पेशीजन्य है या नाड़ीजन्य ?

उपर्युक्त प्रश्नों पर क्रमशः नीचे विचार किया जाता है।

(१) हृदयस्पन्द का स्वरूप—हैलर नामक विद्वान् ने सन् १७५७ ई० में देखा और सिद्ध किया कि केन्द्रीय नाड़ीमण्डल से सम्बन्ध विच्छिन्न कर देने पर भी हृदय नियमित रूप से संकोच करता रहता है। मेढ़क आदि जन्तुओं पर इसका प्रयोग कर देखा भी गया है। इससे यह प्रमाणित होता है कि हृदयस्पन्द आत्मजात है न कि प्रत्यावर्तित क्रिया। हृदयस्पन्द की शक्ति हृदय के सब भागों में समानरूप से नहीं रहती। सिरामुख के पास वह सर्वाधिक तथा क्रमशः निलय की ओर कम होती जाती है। अतः पृथक्कृत हृदय में सर्वप्रथम निलय की क्रिया बन्द होती है उसके बाद क्रमशः अलिन्द, सिरामुख तथा सिराओं की क्रिया अवरुद्ध होती है। हृदयस्पन्द आत्मजात होने पर भी उसका नियन्त्रण नाड़ियों के द्वारा होता है तथा अन्य अङ्गों के साथ उसका सम्बन्ध स्थिर रहता है।

(२) हृदय का नियमित स्पन्द नाडीजन्य है या पेशीजन्य ? जब सन् १८४८ ई० में रेमक नामक विद्वान् ने हृदय में नाड़ीकोषाणुओं की उपस्थिति का अनुसन्धान किया तब यह प्रश्न उठा कि हृदय का नियमित स्पन्द नाड़ीजन्य है या पेशीजन्य ? यह प्रश्न इतना विवादास्पद है कि अभी तक विद्वत्समाज किसी भी निर्णय पर नहीं पहुंच सका है यद्यपि दोनों सिद्धांतों के पक्ष में अनेक युक्तियाँ दी जाती हैं।

नाड़ीजन्य सिद्धान्त के पक्ष में प्रमाण

(१) नाड़ीतन्तु की मात्रा के अनुसार हृदय के विभिन्न भागों में नियमित संकोच होता है। यह देखा गया है कि सिराद्वार पर नाड़ीग्रंथियों और नाड़ीसूत्रों की अधिकता रहती है और क्रमशः नीचे की ओर कम होती जाती है। इसके अनुसार हृदयस्थ नाड़ीग्रन्थियों से ही संकोच का प्रारम्भ होता है।

(२) अलिन्दपुच्छ को हृदय से विच्छिन्न कर देने पर उसमें संकोच नहीं होता, क्योंकि उसमें नाड़ीगण्ड नहीं होते।

(३) मेढक में निलय के अग्रभाग के निचले $\frac{2}{3}$ भाग में नाड़ीकोषाणु नहीं होते, अतः हृदय से पृथक् कर देने पर उसमें स्वतः संकोच नहीं होता।

(४) लिम्युलस नामक केकड़े की जाति का एक प्राणी है। उसका हृदय नलिकाकार होता तथा नाड़ीरज्जु से संबद्ध रहता है। यदि यह संबन्ध विच्छिन्न कर दिया जाय तो इसकी क्रिया बन्द हो जाती है। इससे स्पष्ट है कि हृदयस्पन्द नाड़ियों पर ही आश्रित है।

पेशीजन्य सिद्धान्त के पक्ष में प्रमाण

(१) गर्भस्थ बालक का हृदय नाडीकोषाणुओं के विकास के पूर्व से ही स्वतः गति करता रहता है। गर्भाधान के तीन सप्ताह बाद हृदय गति करने लगता है जब कि नाडीतन्तु ५ वें सप्ताह के प्रारंभ में प्रकट होता है।

(२) मेढक में हृदय के निलय के अग्रभाग में यद्यपि नाडीगण्ड नहीं है तथापि यदि उसे हृदय से विच्छिन्न कर दिया जाय और किसी पोषक द्रव में रक्खा जाय तो उसमें स्वतः नियमित स्पन्द होता रहता है।

(३) विच्छिन्न हृदय में कुछ काल के बाद नाडीगण्डों की उत्तेजनाशक्ति पेशी से पूर्व नष्ट हो जाती है, किन्तु इसके बाद भी हृदय में गति उत्पन्न की जा सकती है। इसका कारण स्पष्टतः नाडीगण्ड नहीं हो सकता क्योंकि यह पहले ही नष्ट हो जाते हैं। अतएव यह स्पन्द पेशीजन्य ही है।

(४) निकोटिन द्वारा हार्दिक नाडीगण्डों को शून्य करने के बाद भी हृदय अपनी स्वाभाविक रीति से गति करता रहता है।

यद्यपि यह विषय अत्यन्त विवादास्पद है तथापि अधिकांश विद्वानों का मत पेशीजन्य सिद्धान्त के पक्ष में ही है।[1]

(२) स्वतः संकोच का कारण क्या है? रक्त तथा लसीका के खनिज लवण हृदय की नियमित गति के लिए आवश्यक है, विशेषतः सोडियम, पोटाशियम तथा सुधा के विश्लेषित अणु।

(४) हृदयस्पन्द का उद्गमबिन्दु—उत्तरा महासिरा तथा हार्दिकी सिरापरिवाहिका के बीच में स्थित सिरालिन्द ग्रन्थि, जिसे 'गत्युत्पादक' (Pacemaker) भी कहते हैं, हृदयस्पन्द का प्रारम्भिक उद्गम स्थान है। यहीं से हृदयस्पन्द का प्रारम्भ होता है। यद्यपि प्राणदा नाडी हृदयगति को कम करती है तथा सांवेदनिक नाडीसूत्र हृदय की गति बढ़ा देते हैं, तथापि इनमें से किसी में संकोचतरंग को उत्पन्न या वहन करने की शक्ति नहीं है। इसके संबन्ध में निम्नांकित प्रमाण उल्लेखनीय हैं।

(१) सिरालिन्द ग्रन्थि में ताप पहुँचाने पर हृदयगति में वृद्धि तथा शीत से उनमें ह्रास हो जाता है।

(२) मृत्यु के समय सिरालिन्द ग्रंथि की गति सबसे अन्त में बन्द होती है।

(३) सिरापरिवाहिका तथा हृदय के अन्य भागों के बीच में यदि बन्ध-

---

१. देहिनां हृदयं देहे सुखदुःख प्रकाशकम्।
तत् संकोचं विकासं च स्वतः कुर्यात् पुनः पुनः ॥—नाडीज्ञान

नाश कर दिया जाय तो परिवाहिका तो गति करती रहती है, किन्तु उसके नीचे के भाग में गति मन्द हो जाती है।

(४) हृदय का यही भाग स्पन्दकाल में सर्वप्रथम धनविद्युत् से युक्त होता है, अतः इसी भाग में क्रिया का प्रारम्भ होता है।

सिरालिन्द ग्रंथि विशिष्ट पेशीसूत्रों से बनी होती है जिसमें नाड़ीसूत्र तथा नाड़ीकोषाणुओं की अधिकता होती है। यह ग्रंथि हृदय के क्रम तथा नियम को नियन्त्रित करती है।

रिकलैण्ट नामक विद्वान् के मत में हृदयस्पन्द का उद्गमबिन्दु सिरालिन्दग्रन्थि न होकर उसका पार्श्ववर्ती स्थान है जिसे 'पुरःपरिवाहिका' (Presinus) कहते हैं। इसमें संकोच की उच्चतम शक्ति होती है। यहां से उत्तेजना प्रारम्भ होकर सिरालिन्द ग्रंथि में जाती है। वहाँ से यह दक्षिण अलिन्द की अन्तःकलाके नीचे स्थित विशिष्ट पेशीसूत्रों तक जाती है जिन्हें 'हिस-तवारा' संस्थान (His–Tawara System) कहते हैं और जो दक्षिण अलिन्द की पेशियों को क्रिया के लिए उत्तेजित करता है।

(५) सिरालिन्दग्रन्थि में स्पन्दोत्पत्ति का कारण—सिरालिन्द ग्रंथि में ही हृदयस्पन्द का प्रारम्भ क्यों होता है इसके संबन्ध में दो मुख्य सिद्धान्त प्रचलित हैं :—

(१) गर्भसम्बन्धी सिद्धान्त—हृदय गर्भ के प्रारम्भ में एक नलिका के आकार का होता है और उसके गर्भकोष्ठ क्रमशः हार्दिक कोष्ठ में परिवर्तित हो जाते हैं। सिरालिन्द ग्रंथि में ये गर्भकोष्ठ कुछ हद तक रह जाते हैं, इसलिए उनमें उत्तेजना की शक्ति अधिक होती है।

(२) रासायनिक सिद्धान्त—इसके अनुसार हृदय की गति पोटाशियम, सोडियम और सुधा की एक निश्चित अनुपात में उपस्थिति पर निर्भर करती है। आजकल यह समझा जाता है कि पोटाशियम ही प्रधानतः सिरालिन्दग्रन्थि को उत्तेजित करता है। यह भी माना जाता है कि स्वभावतः पोटाशियम इस अनुपात में रहता है कि अलिन्द तथा निलय शान्त रहते हैं, केवल सिरालिन्द ग्रन्थि उत्तेजनाशील होती है। पोटाशियम की क्रिया कैसे होती है इसके सम्बन्ध में यह कहा जाता है कि हृदय में 'आत्मतनजन' (Automatinogen) नामक एक सेन्द्रिय पदार्थ रहता है जो पोटाशियम के द्वारा आत्मतन (Automatin) में परिवर्तित होता है जिससे हृदय में उत्तेजना होती है। कुछ लोगों का यह भी मत है कि हृदयान्तःस्राव नामक एक रासायनिक पदार्थ इस उत्तेजना का कारण होता है। सिरालिन्द ग्रन्थि में इसकी उत्पत्ति अधिक होने से वह अधिक क्रियाशील होती है।

(६) संकोचतरंग का वहन अग्रभाग तक कैसे होता है ? हृदय में संकोचतरंग का वहन नाडी द्वारा होता है या पेशी द्वारा यह एक महत्वपूर्ण प्रश्न है। संकोच की गति अत्यन्त मन्द होने से यह सिद्ध है कि नाडी द्वारा इसकी गति नहीं होती। इसके विपरीत, पेशी द्वारा संकोचतरंग का वहन होता है, इस पक्ष में निम्नांकित युक्तियां हैं :—

(१) संकोच की मन्द गति, (२) सूक्ष्मरचना।

हृदयपेशियों की रचना ऐसी है कि वे शाखाओं द्वारा परस्पर संबद्ध हैं, अतः हृदय के एक भाग में उपस्थित उत्तेजना दूसरे भाग में इन्हीं के द्वारा पहुंच जाती है।

(३) यह देखा गया है कि यदि निलय की नाड़ियां काट दी जायँ तब भी पेशियों में संकोच की लहर प्रतीत होती है।

अलिन्दनिलयगुच्छ

अलिन्द से निलय तक उत्तेजना का वहन एक विशिष्ट पेशीतन्तु के द्वारा होता है जिसे अलिन्दनिलयगुच्छ (Bundle of His) कहते हैं। इसकी वाहकता अन्य हार्दिक कोषाणुओं की अपेक्षा १० गुनी अधिक होती है तथा सामान्य हार्दिक कोषाणु की अपेक्षा इनमें शर्कराजन की मात्रा भी अधिक होती है।

इस गुच्छ का प्रारंभ सिरापरिवाहिका प्रदेश में एक ग्रन्थि के रूप में होता है जिसे अलिन्दनिलयग्रन्थि कहते हैं। यहाँ से गुच्छ आगे की ओर अलिन्द-विभाजक कला में और फिर वहाँ से नीचे की ओर चलकर निलयविभाजक के शिखर के पास उसकी दो शाखायें हो जाती हैं दक्षिण और वाम। दक्षिण शाखा पीछे की ओर जाकर सिरालिन्द ग्रन्थि में स्थित हृदय की पेशियों से मिल जाती है। वाम शाखा पुनः दो भागों में विभक्त हो जाती है जिनमें एक वाम तथा एक दक्षिण निलय को जाती है। प्रत्येक भाग हृदन्तःकला के नीचे स्थित रहता है और क्रमशः शाखा प्रशाखाओं में विभक्त होता जाता है। इसकी अन्तिम शाखायें हार्दिक पेशियों में संलग्न रहती हैं। उत्तेजना के स्वाभाविक वहन में बाधा होने से एक अवस्था उत्पन्न होती है, जिसे 'हृत्स्तम्भ' कहते हैं। इसमें हृदय थोड़ी देर के लिए बन्द हो जाता है।

हृदयविद्युत्मापन

अन्य पेशियों के समान हृदय की पेशियों में भी संकोच के समय क्रिया-जन्य विद्युद्धारा की उत्पत्ति होती है। इसका मापन करने वाले यन्त्रको 'हृदय-विद्युन्मापक यन्त्र' (Electrocardiogram) कहते हैं तथा इस यन्त्र के

द्वारा प्राप्त विवरण को 'हृदयविद्युन्माप' (Electrocardiograph) कहते हैं।

हृदय पर अकार्बनिक लवणों का प्रभाव

(क) सोडियम—रक्त तथा लसीका में स्थित सोडियम के लवण उसके मापन भार को बनाये रखने में प्रमुख भाग लेते हैं। यह हृदयतन्तु की अवस्था पर विशेष प्रभाव डालते हैं और हृदय की संकोचशीलता तथा उत्तेजनीयता को बनाये रखने में सहायता करते हैं। इसकी अधिकता से हृदय की पेशियां शिथिल और प्रसारित हो जाती हैं और हृदयगति प्रसारकाल में रुक जाती है। इसके अभाव में हृदय की संकोचशीलता और उत्तेजनीयता नष्ट हो जाती है। पोटाशियम तथा सुधा की अपेक्षा इसकी मात्रा रक्त में अधिक होती है।

(ख) पोटाशियम—यह हृदयगति के क्रम को नियमित रखता है। उत्तेजनीयता तथा संकोचशीलता के लिये यह आवश्यक नहीं है। इसके आधिक्य से हृदय की गति मन्द हो जाती है, अत्यन्त प्रसार हो जाता है और अन्त में गति बन्द हो जाती है। इसके अभाव में हृदय की गति बढ़ जाती है और विशेषतः निलय का क्रम बढ़ जाता है।

(ग) सुधा—यह हृदय की संकोचशीलता तथा उत्तेजनीयता को बनाये रखने के लिए अत्यावश्यक है। इसके आधिक्य से कठिन सङ्कोच की स्थिति उत्पन्न हो जाती है और अभाव में संकोचशीलता तथा उत्तेजनीयता नष्ट हो जाती है। इस दृष्टि से सुधा तथा सोडियम और पोटाशियम के प्रभाव में अत्यंत विरोध है और इन्हीं परस्परविरोधी तत्वों की क्रिया से हृदय के क्रमिक संकोच तथा प्रसार की अवस्थायें सम्बद्ध हैं।

कार्बन द्विओषिद् के आधिक्य से वाहकता में कमी हो जाती है और फलस्वरूप हृत्स्तम्भ की अवस्था उत्पन्न हो जाती है।

हृदयध्वनि

हृत्कार्यचक्र के सिलसिलें में हृदयध्वनि उत्पन्न होती है और इसका हृत्कपाटों की क्रिया से घनिष्ठ सम्बन्ध रहता है। यह ध्वनि हृत्प्रदेश में कान लगाकर या श्रवणयन्त्र से सुनी जा सकती है। विद्युत् के द्वारा भी इनका चित्रमय विवरण प्राप्त किया जाता है। ध्यान से देखने पर इसमें दो ध्वनि स्पष्टतः प्रतीत होती है जो क्रमशः एक दूसरे के बाद उत्पन्न होती है। उन्हें प्रथम तथा द्वितीय ध्वनि के नाम से सम्बोधित करते हैं।

प्रथम ध्वनि—यह निलयसङ्कोच के प्रारंभ में उत्पन्न होती है, इसलिए इसे सङ्कोचकालिक ध्वनि भी कहते हैं। यह अलिन्दनिलयद्वार पर स्थित कपाटों

के कम्पन के फलस्वरूप उत्पन्न होती है और दीर्घ एवं मंदस्वरूप की होती है। इसकी अवधि लगभग ०·१८ सेकण्ड है। यह ध्वनि निम्नांकित तीन कारणों के समुदाय से उत्पन्न होती है :—

(१) निलयसंकोच की अवस्था में द्विपत्र और त्रिपत्र कपाट बन्द हो जाते हैं जिससे रक्त अलिन्द में नहीं लौटने पाता है। इस अवरोध के परिणाम स्वरूप कपाटों में दबाव तथा कम्पन उत्पन्न होता है और उसी से ध्वनि का प्रादुर्भाव होता है।

(२) निलयों के पेशीसमूह में भी सङ्कोचावस्था में कम्पन होते हैं और फलस्वरूप ध्वनि उत्पन्न होती है।

(३) वक्ष की भित्ति से हृदय का सम्पर्क भी कुछ हद तक ध्वनि की उत्पत्ति में कारण होता है।

द्वितीय ध्वनि—यह निलयप्रसार के प्रारम्भ में उत्पन्न होती है, इसलिए इसे प्रसारकालिक या अनुसंकोचकालिक भी कहते हैं। यह लघु और तीव्र स्वरूप की होती है। इसकी अवधि ०·१० सेकण्ड है। यह अर्धचन्द्र कपाटों के सहसा बंद होने तथा दबाव अधिक होने के कारण उनमें उत्पन्न कम्पन के फलस्वरूप आविर्भूत होती है।

तृतीय ध्वनि—आइन्थोवन नामक विद्वान् ने ५५ प्रतिशत व्यक्तियों में एक सूक्ष्म तृतीय ध्वनि का पता लगाया जो द्वितीय ध्वनि के बाद तुरंत सुनाई देती है। यह द्वितीय ध्वनि से कोमल है और व्यायाम आदि के समय तीव्र हो जाती है। इसकी उत्पत्ति में निम्नांकित कारण बतलाये जाते हैं :—

(१) अधिक दबाव वाले अर्धचंद्र कपाटों का अनुकम्पन।
(२) अचानक रक्तप्रवेश से अलिन्द कपाटों का कम्पन।
(३) निलयों में रक्तप्रवेश के कारण संघर्षध्वनि।

हृदयध्वनि के वैकृत रूपान्तर

हृदयध्वनि में निम्नांकित रूपांतर विकृति के सूचक होते हैं :—

१. क्षीण—हृदयपेशी के क्षय से।
२. प्रबल—हृदयपेशी की वृद्धि से।
३. तीव्र—द्वितीय ध्वनि की तीव्रता महाधमनीगत रक्तभाराधिक्य का सूचक है।
४. प्राक्संकोचमर्मर या युग्म प्रथमध्वनि—अलिन्दों की वृद्धि तथा अलिन्द द्वारसंकोच में।
५. सङ्कोचकालिक मर्मर—अर्धचन्द्र कपाटों के संकोच से।

६. अनुसंकोचकालिक मर्मर—अर्धचंद्र कपाटों के रक्तप्रत्यावर्तन में।

७. द्वितीयध्वनि का द्वैतभाव—महाधमनी तथा फुफ्फुसी कपाटों के एक साथ बन्द न होने से।

कपाटों की स्थिति

हृदयध्वनि का ज्ञान प्राप्त करने के लिए हृत्कपाटों की स्थिति का परिज्ञान आवश्यक है।

प्रथम ध्वनि—

(क) द्विपत्रकपाट—हृदयाग्रभाग पर पंचम पर्शुकान्तराल में।

(ख) त्रिपत्रकपाट—उरःफलक के अधःप्रान्त में।

द्वितीय ध्वनि—

(क) महाधमनीकपाट—द्वितीय दक्षिण पर्शुकान्तराल में।

(ख) फुफ्फुसीकपाट—द्वितीय वाम ,, ,,।

हृत्प्रतीघात (Heart Beat)

यह हृत्कार्य चक्र के बाह्य चिह्नों में मुख्य है। यह संकोचकाल के प्रथम भाग में होता है। इसमें मध्यरेखा के ३-३½ इञ्च बांई ओर पंचम पर्शुकान्तराल का क्रमिक उत्थान होता है। इसका कारण संकोच के फलस्वरूप हृदय की कठिनता तथा उसकी आकृति का परिवर्तन है। इसीलिए हृदय की वृद्धि और प्रसार में यह क्रमशः तीव्र और मंद हो जाता है।

हृत्पेशी के गुणधर्म

हृत्पेशी में निम्नांकित विशिष्ट गुणधर्म होते हैं :—

१. क्रमिकता (Rhythmicity)—उत्तेजना को विकसित करने की शक्ति।

२. वाहकता (Conductivity)—उत्तेजना को हृदय के एक भाग से दूसरे भाग तक पहुंचाना।

३. उत्तेजनीयता (Fxcitability)

४. सङ्कोचशीलता (Contractibiiity)

५. सब या नहीं की किया (All or none phenomena)—स्वतंत्र और परतंत्र पेशियों में उत्तेजना की प्रबलता के अनुसार ही सङ्कोच सर्वदा अधिकतम होता है, यद्यपि इस अधिकतम सङ्कोच की मर्यादा में अंतर हो सकता है।

६. सोपानक्रम (Staircase phenomenon)—विश्रामकाल के बाद यदि हृदय को कुछ देर के लिए बन्द करके कृत्रिम रीति से निश्चित समय का

अन्तर देकर उत्तेजना पहुंचाई जाय तो सोपानक्रम से प्रारम्भिक तीन या चार संकोच उत्तरोत्तर बढ़ते जाते हैं।

७. विश्रामकाल (Refractory period)—जब हृदय अपने आप स्पन्दन करता रहता है तब थोड़ी देर के लिए वह ऐसी स्थिति में रहता है जब बाह्य उत्तेजकों का उस पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। इसे विश्रामकाल कहते हैं और यह पूरे संकोचकाल तक रहता है। इसका अर्थ यह है कि यदि उस समय कोई उत्तेजना हृदय में पहुंचाई जाय तो उसका कोई प्रभाव नहीं होगा। ऐसा समझा जाता है कि हृदय के सङ्कोचकाल में क्रिएटिन फास्फेट का विश्लेषण होता है और जब तक यह पुनः संश्लेषित नहीं होता तब तक हृत्पेशी विश्रामकाल में रहती है।

८. अधिसङ्कोच (Extra systole)—यदि प्रसारकाल में दूसरी उत्तेजना पहुँचाई जाय तो प्रसारकाल कम हो जाता है और उसके स्थान पर एक और संकोच उत्पन्न होता है; इसे अधिसंकोच कहते हैं।

९. क्षतिपूर्तिकाल (Period of compensation)—प्रत्येक अधिसंकोच के बाद एक विश्रामकाल आता है जो सामान्य विश्रामकाल से अधिक होता है; इसे क्षतिपूर्तिकाल कहते हैं। यदि इस समय अलिन्दों से स्वाभाविक उत्तेजना पहुंचे तो उसका कोई प्रभाव नहीं होता और एक ध्वनि का लोप हो जाता है। इसी कारण हृत्पेशी में पूर्ण पेशीस्तम्भ की अवस्था नहीं उत्पन्न होने पाती।

१०. स्टार्लिङ्ग का नियम—यह सामान्य नियम है कि पेशियों के सूत्रों पर जब अधिक दबाव पड़ता है या वे अधिक प्रसारित होते हैं तो उनका संकोच भी अधिक होता है। हृदय में भी यही बात होती है। हृदय के कोष्ठों में जब रक्त अधिक भर जाता है तब उसके दबाव से हृत्पेशीसूत्र अधिक संकोच करने लगते हैं। इस प्रकार हृदय में अधिक रक्त आने से बाहर भी अधिक रक्त भेजा जाता है और कम रक्त आने से बाहर भी कम रक्त जाता है। परिस्थिति के अनुकूल अपने को बनाये रखने की हृदय की इस शक्ति को ही स्टार्लिङ्ग का नियम कहते हैं।

अलिन्दीय सूत्रसङ्कोच और अलिन्दस्फुरण

कभी कभी अनियमित उत्तेजनाओं से हृदय का सम्पूर्ण संकोचन होकर पृथक् पृथक् पेशीसूत्रों का संकोच होने लगता है उसे अलिन्दीय सूत्रसंकोच (Auricular fibrillation) कहते हैं। सामान्यतः ऐसी अवस्था हृत्पेशी-स्तर के रोगों में देखने में आती है। हार्दिक धमनी के बन्धन से भी यह

अवस्था उत्पन्न होती है और व्यक्ति की अचानक मृत्यु हो जाती है। यह संकोच लगभग प्रतिमिनट ४५० होता है।

इसी प्रकार स्थानीय अवरोध, विश्रामकाल की कमी तथा संकोचतरङ्ग की मन्द गति के कारण अलिन्दों का संकोच निलयों की अपेक्षा तिगुना या चौगुना होने लगता है; इसे अलिन्दस्फुरण (Auricular flutter) कहते हैं।

हृदय का रक्तनिर्यात

यह रक्त का वह परिमाण है जो प्रत्येक संकोचकाल में हृदय से बाहर धमनियों में जाता है; इसे संकोचपरिमाण कहते हैं। प्रतिमिनट निलय से जितना रक्त बाहर निकलता है उसे कालपरिमाण कहते हैं। संकोचकाल में भी निलय पूर्णतः खाली नहीं होते, बल्कि उनमें कुछ रक्त रह जाता है।

हृदय के रक्तनिर्यात को नापने के लिए अनेक विधियाँ प्रयुक्त होती हैं जिनमें मुख्य स्टार्लिङ्ग के हृदयफुफ्फुसयंत्र की विधि (Heart-lung preparation) है। इसके द्वारा पहले निलय से प्रतिमिनट बाहर निकले हुये कुल रक्त की राशि देखते हैं उसके बाद उसे प्रतिमिनट हृत्प्रतीघातों की संख्या के द्वारा विभाजित करने से निलय से प्रत्येक संकोचकाल में बाहर भेजे गये रक्त का परिमाण निश्चित किया जाता है।

स्वाभाविक अवस्था में जब हृदय प्रतिमिनट ७२ बार संकोच करता है तब प्रत्येक निलय का रक्तनिर्यात ५५ से ८० घनसेंटीमीटर तक होता है। शरीर के पृष्ठभाग के प्रतिवर्गमीटर के कालपरिमाण को हृदयांक (Cardiac index) कहते हैं। यह स्वस्थ व्यक्तियों में २.२ लिटर होता है।

हृदय के रक्तनिर्यात पर निम्नांकित कारणों का प्रभाव पड़ता है:—

(१) सिराओं द्वारा रक्त का आयात—विश्राम के समय हृदय के दक्षिण कोष्ठ में सामान्यतः ३ लिटर रक्त प्रति मिनट आता है और अत्यधिक परिश्रम के समय यह मात्रा ३० से ४० लिटर तक हो सकती है।

(२) हृत्प्रतीघातों का क्रम और शक्ति (३) रक्तभार (४) व्यायाम

रक्तभार (Blood pressure)

रक्तवाहिनियों की दीवाल पर रक्त का जो दबाव पड़ता है उसे रक्तभार कहते हैं।

कारण—रक्तभार निम्नांङ्कित कारणों से होता है:—

(१) हृदय की शक्ति

(क) रक्तनिर्यात (ख) हृदयगति का क्रम

(ग) रक्तप्रवाह का वेग

(२) प्रान्तीय प्रतिरोध (३) रक्तका परिमाण

(४) रक्त की सान्द्रता (५) रक्तवाहिनियों की स्थितिस्थापकता
(६) नलिका का आयतन (७) श्वसनसम्बन्धी परिणाम

श्वास लेने के समय धमनीगत रक्तभार अधिक तथा उच्छ्वास के समय कम हो जाता है। रक्तसंवहन के विभिन्न भागों में भी यह भिन्न भिन्न होता है। महाधमनी में यह सबसे अधिक (१४० मिलीमीटर) और सिराओं में सबसे कम (–८) होता है।

रक्तभार का मापन

रक्तभार के मापन की दो मुख्य विधियाँ हैं :—

१. साक्षात् (Direct) २. नैदानिक (Clinical)

प्रथम विधि जन्तुओं तथा द्वितीय विधि मनुष्यों में प्रयुक्त होती है।

साक्षात् विधि में धमनी को खोलकर उपयुक्त यन्त्र द्वारा तद्गत भार को देखा जाता है तथा उसका विवरण रक्खा जाता है।

नैदानिक विधि में धमनी को खोला नहीं जाता, किन्तु बाहर से ही एक यन्त्र के सहारे रक्तभार नापा जाता है। इसको देखने की भी दो विधियाँ हैं एक स्पर्शनविधि (Palpatory method) और दूसरी श्रवणविधि (Auscultatory method)

रक्तभारमापक यन्त्र (Sphygmomanometer) में एक पम्प होता है जिससे नलिका लगी रहती है। एक नलिका का सम्बन्ध बाहुबन्धन से तथा दूसरी नलिका का सम्बन्ध पारदयन्त्र से रहता है। बाहुबन्धन समरूप से बाहु पर कस कर बांध दिया जाता है और पम्प से हवा भरी जाती है। इसी समय बहिःप्रकोष्ठिका धमनी (नाडी) भी देखी जाती है। जब बाहुबन्धन में वायु का दवाब धमनीगत रक्तभार से अधिक हो जाता है तब धमनी दब जाती है और इसका स्पंद बन्द हो जाता है। फलस्वरूप पारदयंत्र में भी कंपन नहीं दीखता। अब पंप के स्क्रूको ढीला कर बाहुबन्धन से वायु बाहर निकाली जाती है। वायु के निकलने से थोड़ी देर में नाडी पुनः चलने लगेगी। इसी समय पारदयंत्र को देखने से जो अंक प्राप्त होगा वह संकोचकालिक रक्तभार का सूचक होगा। अधिक वायु के निकाले जाने से नाडी अधिक स्पष्ट होती जायगी और जब नाडी बिलकुल स्पष्ट हो जाय तथा पारद यन्त्र में कम्पन भी अधिकतम हो तो वह प्रसारकालिक रक्तभार का सूचक होगा। यह स्पर्शनविधि कहलाती है। इस विधि का प्रयोग अब प्रायः नहीं होता है, क्योंकि इसमें रक्तभार ५–१० मिलीमीटर कम मिलता है और प्रसारकालिक रक्तभार भी ठीक से पता नहीं चलता।

सामान्यतः श्रवणविधि का ही अधिक उपयोग होता है। उसमें नाड़ी का स्पर्श करने के बदले कफोणिखात में बाहवी धमनी के ऊपर श्रवणयन्त्र रख कर प्रत्येक स्पन्द के समय ध्वनि सुनी जाती है। बाहुबन्धन में वायुभार अधिक हो
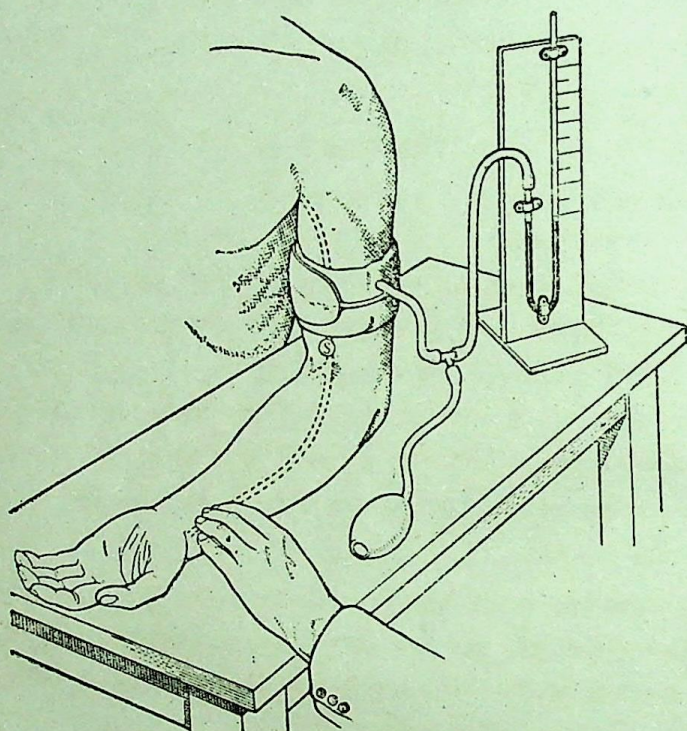
चित्र ३१—रक्तभारमापन

जाने से धमनी दब जाती है और ध्वनि सुनाई नहीं पड़ती। अब धीरे धीरे वायु निकाली जाती है और जैसे ही ध्वनि सुनाई दे, पारदयन्त्र में अंक को देख ले; वही संकोचकालिक रक्तभार होगा। अधिक वायु निकलने से ध्वनि तीव्रतर होती जाती है, फिर अस्पष्ट हो जाती तथा अन्त में लुप्त हो जाती है। एकदम बन्द होने के पहले अस्पष्ट ध्वनि के समय पारदयन्त्र के अंकों को नोट कर ले। वही प्रसारकालिक रक्तभार होगा।

इसका ध्यान रखना चाहिये कि रक्तभार लेते समय हृदय और बाहु समतल में रहें।

प्राकृत रक्तभार (Normal blood pressure)

प्राकृत संकोचकालिक रक्तभार में आयु के अनुसार विभिन्नता होती है :—

बाल्यावस्था	७५ से ९०	मिलीमीटर
किशोरावस्था	९० ,, ११०	,,
युवावस्था	१०० ,, १२०	,,
प्रौढावस्था	१२० ,, १३०	,,
वृद्धावस्था	१४० ,, १५०	,,

आयु के अनुसार रक्तभार निकलने के लिए सामान्यतः आयु में ९० जोड़ देने से संकोचकालिक रक्तभार मालूम हो जाता है :—

संकोचकालिक रक्तभार = आयु + ९०

१६० से अधिक रक्तभार विकृति का सूचक है।

युवा व्यक्तियों में औसत प्रसारकालिक रक्तभार ८० मिलीमीटर होता है और ४० वर्ष से अधिक आयु वाले व्यक्तियों में लगभग ९० मिलीमीटर होता है। भावावेश के कारण हृदय की गति तीव्र होने तथा अद्रिनिलीन के द्वारा प्रभावित होने से रक्तभार बढ़ जाता है। इसी प्रकार शारीरिक व्यायाम के समय भी रक्तभार बढ़ जाता है।

संकोचकालिक रक्तभार (Systolic blood pressure)

यह हृदय के सङ्कोचकाल में विद्यमान अधिकतम रक्तभार है और वाम-निलय की शक्ति एवं कार्यक्षमता का द्योतक है। पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियों में यह प्रायः ५ से १० मिलीमीटर तक कम होता है। काल का भी इस पर प्रभाव पड़ता है। प्रातः काल यह सबसे कम तथा अपराह्न में सबसे अधिक रहता है।

प्रसारकालिक रक्तभार (Diastolic blood pressure)

यह हृदय के प्रसारकाल में धमनियों में विद्यमान रक्तभार है। यह धमनीबल तथा प्रान्तीय प्रतिरोध की शक्ति का सूचक है। यह सामान्यतः ५० वर्ष की आयु तक संकोचकालिक रक्तभार का $\frac{2}{3}$ होता है। वृद्धावस्था में यह उसका $\frac{1}{2}$ हो जाता है।

नाडीभार (Pulse pressure)

संकोचकालिक तथा प्रसारकालिक रक्तभार में जो अन्तर होता है उसे नाडीभार कहते हैं। यह प्रत्येक संकोचकाल में उद्भूत शक्ति का निर्देशक है तथा रक्तसंवहन की क्षमता का सूचक है। युवा व्यक्तियों में यह लगभग ४५ मिलीमीटर होता है। स्वभावतः संकोचकालिक, प्रसारकालिक तथा नाडीभार स्वाभाविक रक्तभार के ३:२:१ के अनुपात में होते हैं। जैसे जैसे आयु बढ़ती

है, संकोचकालिक रक्तभार बढ़ता जाता है और संकोचकालिक तथा प्रसारकालिक रक्तभार का अन्तर भी अधिक होता है।

आवश्यक रक्तभार (Essential pressure)

यह वह भार है जो प्रान्तीय प्रतिरोध पर विजय पाकर संपूर्ण शरीर को रक्तप्रदान करने के लिए आवश्यक है। यह लगभग ५० मिलीमीटर होता है।

रक्तप्रवाह की गति

रक्तवह संस्थान के विभिन्न भागों में रक्तप्रवाह की गति में अन्तर होता है। यह गति धमनियों में ७२० इञ्च प्रतिमिनट, केशिकाओं में १ इञ्च प्रतिमिनट तथा सिराओं में २४० से ३६० इंच प्रतिमिनट होती है। इस विभिन्नता का कारण यह है कि द्रव पदार्थ की गति नलिकाओं में उनके व्यास के विपर्यस्त अनुपात से होती है। धमनी ज्यों ज्यों आगे बढ़ती है, उसकी शाखायें बढ़ती जाती हैं और नलिकाओं का क्षेत्र बढ़ जाने से क्रमशः रक्त की गति भी उसी के अनुसार कम होती जाती है। उदाहरणस्वरूप, केशिकाओं का कुछ क्षेत्र महाधमनी से ७२० गुना अधिक है, अतः उसमें रक्त की गति महाधमनी की अपेक्षा ७२० गुनी कम है। इसी प्रकार उत्तरा तथा अधरा महासिराओं का क्षेत्र दुगुना या तिगुना होने से महाधमनी की अपेक्षा उनमें रक्त की गति भी $\frac{1}{2}$ या $\frac{1}{3}$ होती है।

गतिवैभिन्न्य का महत्त्व

अङ्गों के पोषण की दृष्टि से, रक्तभार की अपेक्षा रक्त की गति अधिक महत्त्वपूर्ण है क्योंकि इसी पर अङ्गों में पहुँचने वाली रक्तराशि निर्भर करती है। केशिकाओं में रक्त की गति बहुत मन्द होती है क्योंकि इसी स्थान पर रक्त छन कर धातुओं में पहुँचता है और उसका पोषण करता है। शरीर की संपूर्ण केशिकाओं की लम्बाई ६२००० मील तथा उनका क्षेत्र ६७००० वर्गफीट लगभग १$\frac{1}{2}$ एकड़ है।

जब सिराओं में अवरोध होने तथा केशिका की दीवाल की प्रवेश्यता बढ़ जाने से केशिकागत भार अधिक हो जाता है तब केशिकाओं से अधिक परिमाण में जलांश का स्राव होता है और जब यह जलांश इतना अधिक हो जाता है कि लसीकावाहिनियों से अच्छी तरह नहीं हटाया जा सकता तब वह निकटवर्ती धातुओं में एकत्रित और संचित होने लगता है। इसी से शोथ उत्पन्न हो जाता है। इस स्थिति में, जलांश की कमी से रक्तकणों के प्रवाह में बाधा उत्पन्न हो जाती है और केशिकागत प्रवाह बन्द हो जाता है।

रक्त की गति के कारण

(१) हृदय से उद्भूत शक्ति (२) दबाव का अन्तर (३) नलिका की चौड़ाई (४) नलिकाभित्ति का संघर्ष।

नलिका की चौड़ाई अधिक होने से रक्त की गति कम हो जाती है। इसका निर्धारण निम्नांकित सूत्र के अनुसार करना चाहिये :—

$$\text{रक्त की गति} = \frac{\text{रक्तपरिमाण प्रतिसेकण्ड}}{\text{नलिका का क्षेत्र}}$$

नाडी (Pulse)

परिभाषा—नाडी रक्तभार में अचानक वृद्धि की तरंग तथा धमनी की आकृति में परिवर्तन का संयुक्त रूप है। इसी तरंग का अनुभव स्पर्शनकाल में अंगुलियों के द्वारा किया जाता है।[1] दूसरे शब्दों में, प्रत्येक हृत्प्रतीघात के द्वारा प्रान्तीय रक्तभार में परिवर्तनों के अनुरूप धमनीभित्तियों की प्रतिक्रिया (प्रसार तथा दीर्घता) ही नाड़ी है। धमनियां प्रसारकाल में टेढ़ी मेढ़ी रहती हैं जो संकोचकाल में सीधी हो जाती हैं।

कारण :—१. निलय का सान्तर संकोच
२. हृदय के रक्तनिर्यात का परिमाण
३. हृदय के रक्तनिर्यात की विधि
४. रक्तनलिकाओं की स्थितिस्थापकता
५. प्रांतीय प्रतिरोध

हृदय के प्रत्येक संकोचकाल में ३ औंस रक्त महाधमनी में आता है। यदि रक्तनलिकायें कड़ी होतीं, तो उतना ही रक्त संपूर्ण शरीर में होता हुआ हृदय में लौट आता, किंतु ऐसा नहीं होता। इसका कारण यह है कि हृदय के संकोचकाल में रक्त का अधिक भाग धमनियों में रह जाता है और धमनियाँ भी फैलकर लंबी या सीधी होकर इस अधिक रक्त को अपने में स्थान देती हैं। इसी फलस्वरूप नाड़ी का आविर्भाव होता है। प्रसारकाल में यह अधिक रक्त धमनियों के संकुचित होने से केशिकाओं में चला जाता है।

स्पन्द केवल धमनियों में ही प्रतीत होता है और स्वभावतः केशिकाओं और सिराओं में नहीं मिलता। केवल हृदय के निकटवर्ती बड़ी बड़ी सिराओं

---

१. इस तरंग को स्पष्ट करने के लिए प्राचीन आचार्यों ने कुछ जन्तुओं के प्रतीक का आधार लिया है। यथा—

"नाडी धत्ते मरुत्कोपे जलौकासर्पयोर्गतिम्।
कुलिङ्गकाकमण्डूकगतिं पित्तस्य कोपतः॥
हंसपारावतगतिं धत्ते श्लेष्मप्रकोपतः।
लावतित्तिरवर्तीनां गमनं सन्निपाततः॥" —शा० पू० ३

में स्पन्द मिलता है। निम्नांकित दो दृष्टियों से यह विभिन्न धमनियों में भी भिन्न-भिन्न रूप में होता है :—

(१) हृदय के निकट बड़ी धमनियों में नाड़ीतरंग अधिक उच्च होती है तथा दूरवर्ती धमनियों में उतनी उच्च नहीं होती तथा शीघ्र ही समाप्त हो जाती है।

(२) हृदय के निकट बड़ी धमनियों में यह शीघ्र उत्पन्न होती तथा छोटी धमनियों में क्रमशः बाद में पहुंचती है। इस प्रकार तरंगवत् गति करती है, इसलिए इसे नाड़ीतरंग कहते हैं।

नाडीतरङ्ग का वेग

नाड़ीतरंग का वेग रक्तप्रवाह के वेग की अपेक्षा बहुत अधिक होता है। स्वभावतः इसका वेग इतना तीव्र होता है कि यह अर्धचन्द्र कपाटों के बन्द होने के पहले ही दूरवर्ती धमनियों में पहुंच जाती है। आयु के अनुसार भी नाड़ीतरंग के वेग में विभिन्नता होती है :—

५.२ मीटर प्रतिसेकण्ड ५ वर्ष की आयु में
६.२ ,, ,, २० ,, ,,
७.२ ,, ,, ४० ,, ,,
८.३ ,, ,, वृद्धावस्था में।

नाडीतरंग का वेग धमनियों की कठिनता पर निर्भर करता है। जितनी कठिन धमनियां होती हैं, उतना ही अधिक इसका वेग होता है। इसलिए वृद्धावस्था में धमनीकाठिन्य के कारण यह सबसे अधिक होता है।

यह निम्नांकित बातों पर निर्भर करता है :—

१. धमनियों की प्रसरणशीलता :—लचीली धमनियों में वेग कम तथा कठिन धमनियों में अधिक होता है। उदाहरणस्वरूप, कक्षा से करतल की अपेक्षा वंक्षण से पादतल तक वेग अधिक रहता है, क्योंकि कक्षानुगा धमनी की अपेक्षा और्वी धमनी अधिक कठिन होती है। इसी प्रकार बच्चों की धमनियों में नाडीतरंग मन्द होती है और युवा व्यक्तियों की कठिन धमनियों में अधिक तीव्र होती है।

२. धमनियों की चौड़ाई—चौड़ी धमनियों में वेग कम होता है।

३. रक्तभार का परिमाण—रक्तभाराधिक्य में वेग तीव्र तथा रक्तभार की कमी में वेग मन्द होता है।

नाडी की स्पर्शनपरीक्षा

इसमें निम्नांकित बातों पर ध्यान देना चाहिये :—

(१) संख्या (Frequency),
(२) बल (Strength),
(३) नियमितता (Regularity or Rhythm),
(४) दबाव (Tension)
(५) आयतन (Volume)

(१) संख्या—यह हृत्प्रतीघात की संख्या का सूचक है। आयु के अनुसार इसमें विभिन्नता होती है :—

नवजात शिशु	१४० प्रतिमिनट
१ वर्ष से कम	१३० ,,
१–२ वर्ष	१००–१२०,,
३–४ वर्ष	९०–१०० ,,
७–१४ वर्ष	८० ,,
युवावस्था	७२ ,,

काल के अनुसार भी विभिन्नता देखी जाती है। निद्राकाल में यह सबसे कम (५२-५७ प्रतिमिनट) तथा दिन में अधिकतम (११२–१२० प्रतिमिनट) होती है। इसकी औसत ६०–९० तक होती है।[1]

(२) बल—यह निलयसंकोच की शक्ति का सूचक है तथा हृदय के बल तथा प्रक्षिप्त रक्त की मात्रा पर निर्भर रहता है।[2]

(३) नियमितता—यह हृत्प्रतीघातों के क्रम का द्योतक है। जब हृदय

---

१. 'स्पन्दते चैकमानेन त्रिंशद्वारं यदा धरा।
स्वस्थानेन तदा नूनं रोगी जीवति नान्यथा॥' —वृद्धहारीत
'चपला क्षुधितस्यापि तृप्तस्य वहति स्थिरा।' —शा० पू० ३
'ज्वरकोपेन धमनी सोष्णा वेगवती भवेत्।'
'मन्दाग्नेः क्षीणधातोश्च नाडी मन्दतरा भवेत्।'
'कामक्रोधाद् वेगवहा।' —शा० पू० ३
'वाताद् वक्रगता नाडी चपला पित्तवाहिनी।
स्थिरा श्लेष्मवती ज्ञेया।' —नाडीप्रकाश

२. 'सुखितस्य स्थिरा ज्ञेया तथा बलवती मता।'
'क्षीणा चिन्ताभयप्लुता' —शा० पू० ३
'अतिक्षीणा च शीता च जीवितं हन्त्यसंशयम्।' —शा० पू० ३

अक्रमिक रूप से संकोच करता है (कालिक अक्रमता) तब नाडी बीच बीच में लुप्त हो जाती है। इसे सान्तर नाडी कहते हैं। जब हृदय तो क्रमिक रूप से संकोच करता है, किन्तु निलयसंकोच का बल समान नहीं रहता (आयतन संबन्धी अक्रमिकता) तो उसे अनियमित नाडी कहते हैं।'[1]

(४) दबाव—यह अधिकतम संकोचकालिक रक्तभार का मापक है। नाडी में रक्तप्रवाह को बन्द करने के लिए जितने बल की आवश्यकता होती है, उसीसे इसका माप किया जाता है। इसमें निम्नांकित कारणों से विभिन्नता होती है :—

(क) हृदय का बल—अधिक होने से संकोचकालिक रक्तभार अधिक फलतः नाडीशक्ति अधिक होती है।

(ख) प्रान्तीय प्रतिरोध का परिमाण—अधिक होने से शक्ति अधिक होती है यथा शीतज्वर में कम्प के समय प्रतीत किया जा सकता है।

(ग) धमनीभित्ति की स्थितिस्थापकता—धमनियों में काठिन्य होने से शक्ति अधिक हो जाती है।

(५) आयतन या आकृति—कभी कभी तरंग ऊंची होने से नाडी अधिक फैलती है (गुरु या पूर्ण नाडी) और कभी-कभी तरंग कम ऊंची होने से नाडी कम फैलती है (लघु या अपूर्ण नाडी)।[2]

नाडी की पूर्णता दो बातों पर निर्भर है :—

१. धमनियों की स्थितिस्थापकता।

२. हृदय का बल तथा रक्तनिर्यात का परिमाण।

नाडीस्पन्दमापक यन्त्र (Sphygmograph)

नाडीस्पन्द का लिखित विवरण प्राप्त करने के लिए नाडीस्पन्दमापक

---

१. 'स्थित्वा स्थित्वा चलति या सा स्मृता प्राणनाशिनी।' —शा० पू० ३

'कदाचिद् मन्दगमना कदाचिद् वेगवाहिनी।
द्विदोषकोपतो ज्ञेया।' —शा० पू० ३

२. 'असृक्पूर्णा भवेत् कोष्णा गुर्वी सामा गरीयसी।'
'लघ्वी वहति दीप्ताग्नेस्तथा वेगवती भवेत्।'
'गुर्वी वातवहा नाडी गर्भेण सह लङ्घयेत्।
लघ्वी पित्तवहा सैव नष्टगर्भा वदेत्तु ताम्॥'

—रावणकृत नाडीपरीक्षा

यन्त्र का प्रयोग होता है। इस यन्त्र के द्वारा रेखाओं में जो नाडीस्पन्द का विवरण प्राप्त होता है उसे नाडीस्पन्दमाप (Sphygmogram) कहते हैं।
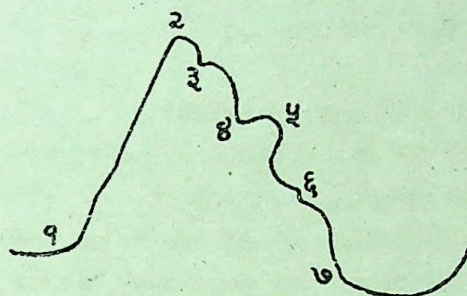
चित्र ३२—नाडीस्पन्दमाप

१ से २—ऊर्ध्वरेखा, ३ से ७—निम्नरेखा, ३—पूर्वनिम्नतरङ्ग, ४—निम्नतरंगखात, ५—निम्नतरंग, ६—अनुनिम्न तरंग।

नाडीस्पन्दनमाप का अध्ययन करने से उसमें निम्नांकित भाग होते हैं :—

(क) ऊर्ध्वरेखा (Upstroke)—रक्तभार कम रहने से यह अधिक ऊँची मिलती है।

(ख) निम्नरेखा (Downstroke)—प्रान्तीय प्रतिरोध अधिक रहने के कारण इसमें कई गौण तरंगें होती हैं।

गौण तरंग (Secondary waves)

उपर्युक्त रेखाओं के साथ गौण तरंगें संयुक्त रहती हैं :—

१. उच्च तरङ्ग (Anacrotic wave)—यह उच्चरेखा के साथ मिली रहती है और वैकृत अवस्थाओं यथा द्वारसंकोच, रक्तभाराधिक्य आदि में मिलती है।

२. निम्नतरङ्ग—(Dicrotic wave)—यह निम्नरेखा के साथ मिली रहती है और महाधमनी-कपाटों के बन्द होने के कारण रक्त के प्रत्यावर्तन के फलस्वरूप उत्पन्न होती है। महाधमनीकपाटों की विकृति में रक्त पुनः निलय में चला आता है और उस समय एक विशेष प्रकार की नाडी प्रतीत होती है जिसे जलमुद्गर नाडी (Water-hammer pulse) कहते हैं।

३. पूर्वनिम्न तथा अनुनिम्न तरंग—कभी कभी निम्नतरंग के पहले या पीछे गौण तरंग संयुक्त हो जाती है। उन्हें क्रमशः पूर्वनिम्न (Pre-dicrotic) या अनुनिम्न तरंग (Post-dicrotic) कहते हैं। यह धमनियों के काठिन्य के कारण उत्पन्न होती है।

सिराओं में रक्तसंवहन

सिराओं के द्वारा रक्त का संवहन निम्नांकित कारणों से होता है :—

१. हृदय के संकोचकाल में उत्पन्न दबाव।

२. धमनियों की स्थितिस्थापकता।

३. पेशीसंकोच।

४. अन्तःश्वसन के समय वक्ष की कर्षणक्रिया।

५. अलिन्दों में शून्य दबाव के कारण हृदय द्वारा रक्त का चूषण।

६. सिराओं का क्रमिक संकोच और प्रसार।

प्राकृत अवस्थाओं में प्रान्तीय प्रतिरोध तथा धमनियों की स्थितिस्थापकता के कारण सिराओं और केशिकाओं में रक्तप्रवाह सतत और समान रूप से होता है, अतः उनमें स्पन्दन नहीं प्रतीत होता। निम्नांकित अवस्थाओं में सिरागत स्पन्दन प्रतीत होता है :—

१. सूक्ष्म धमनियों का प्रसार। २. धमनियों का काठिन्य।

३. हृदय की मन्द क्रिया। ४. हृदय की क्षीण क्रिया।

प्राकृत अवस्था में भी हृदय के समीप बड़ी बड़ी सिराओं में स्पन्दन होता है।

केशिकाओं में रक्तसंवहन

केशिकाओं में भी स्पन्दन वैकृत अवस्था में उपर्युक्त कारणों से ही प्रतीत होता है। केशिकाओं में रक्त तीन धाराओं में बहता है :—

१. स्थिर स्तर—यह केशिका की दीवाल से लगा होता है और इसमें कुछ बिखरे श्वेतकण होते हैं।

२. प्रान्तीय धारा—इसकी गति बहुत मन्द होती है और इसमें श्वेत कण रहते हैं।

३. केन्द्रीय धारा—इसकी गति शीघ्र होती है और इसमें रक्तकण होते हैं।

रक्तसंवहन की स्थानिक विशेषतायें

मस्तिष्क—मस्तिष्कमूलिका तथा मातृका धमनियों से बने हुए धमनी चक्र के द्वारा मस्तिष्क को रक्त निरन्तर मिलता रहता है। कुछ कशेरुकीय धमनियाँ भी इसमें सहयोग करती हैं। करोटि तथा कठिन मस्तिष्कावरण से आच्छादित रहने के कारण सिरायें तथा सिरापरिवाहिकायें बाहरी दबाव से बची रहती हैं।

फुफ्फुस—सामान्य रक्तसंवहन से फुफ्फुसी रक्तसंवहन की निम्नांकित विशेषतायें हैं :—

१. फुफ्फुसी धमनियों में दबाव बहुत कम लगभग २० मिलीमीटर (कायिक धमनियों का $\frac{1}{6}$) रहता है। इसका कारण यह है कि फुफ्फुस में स्थित सूक्ष्म धमनियों का आयतन अधिक होता है और वक्ष में बाह्य वायुमण्डल की अपेक्षा दबाव कम रहने के कारण केशिकायें फैली रहती हैं। कभी कभी यह दबाव हृदय के दक्षिण भाग में रक्त के अधिक आयात तथा फुफ्फुसों से वाम अलिन्द की ओर रक्तप्रवाह में बाधा होने के कारण बढ़ जाता है।

२. फुफ्फुसों में रक्त की कुल मात्रा प्रश्वास के समय सम्पूर्ण शरीर के रक्त का ८ प्रतिशत तथा निःश्वास के समय ६ प्रतिशत रहता है।

३. तीसरी विशेषता है फुफ्फुसों में रक्तवाहिनीसञ्चालक नाडियों का नितान्त अभाव। इधर कुछ प्रयोगों के द्वारा सङ्कोचक नाडियों की उपस्थिति देखी गई है किन्तु प्रसारक नाडियों के सम्बन्ध में कुछ निश्चय नहीं हो सका है।

हृदय—हृदय को हार्दिक धमनियों के द्वारा रक्त मिलता है। महाधमनी की प्रथम शाखा होने के कारण इन धमनियों में रक्त अधिक दबाव के साथ आता है और हृदय में रक्तसंवहन यथासम्भव सर्वोत्तम रीति से होता है। हृदय के कुल निर्यात का लगभग ५ प्रतिशत रक्त इन धमनियों में हो कर बहता है। हृदय की कार्यक्षमता इसी रक्तसंवहन पर निर्भर करती है। निम्नांकित कारणों का प्रभाव हार्दिक रक्तसंवहन पर पड़ता है :—

१. हृदय का रक्तनिर्यात—हृदय से अधिक रक्तनिर्यात होने पर रक्त संवहन अधिक होता है यहां तक कि अत्यधिक परिश्रम के समय सम्पूर्ण रक्तसंवहन का लगभग $\frac{1}{5}$ रक्त फुफ्फुस में हो जाता है।

२. ओषजन की मात्रा—शरीर की अन्य धातुओं की अपेक्षा हृदय को ओषजन की आवश्यकता अधिक होती है। अत्यधिक परिश्रम में शरीरगत कुल ओषजन का लगभग $\frac{1}{5}$ हृत्पेशी के काम आ जाता है। जब रक्त में ओषजन की मात्रा कम हो जाती है तब हार्दिक धमनियों का प्रसार हो जाता है और आवश्यक परिमाण में ओषजन पहुंचाने के लिए उनमें रक्तप्रवाह बढ़ जाता है। ५० प्रतिशत ओषजन की कमी होने से रक्तप्रवाह ४–५ गुना बढ़ जाता है।

३. कार्बनद्विओषिद् की मात्रा—कार्बनद्विओषिद् की अधिकता से हार्दिक धमनियों का प्रसार हो जाता है किन्तु यह प्रसार पूर्वोक्त कारण की अपेक्षा कम होता है।

४. रक्त का उद्जनकेन्द्रीभवन—अधिक (७.५ से ७.९ तक) होने से हार्दिक धमनियों का सङ्कोच हो जाता है।

५. धमनीगत रक्तभार—रक्तभार बढ़ने से हार्दिक रक्तप्रवाह बढ़ जाता है।

६. अन्तःस्राव—अद्रिनिलीन से हार्दिक धमनियों की छोटी शाखाओं का प्रसार हो जाता है। हिस्टेमीन से उनका संकोच हो जाता है। पीयूषग्रन्थि के स्राव (पिटयीटरीन) से भी उनका सङ्कोच होता है।

७. खनिज लवण—पोटाशियम की अधिकता से हार्दिक धमनियों का प्रसार तथा सुधा की अधिकता से उनका सङ्कोच हो जाता है।

८. तापक्रम—शीत से हार्दिक धमनियों का प्रसार एवं उष्णता से उनका संकोच होता है।

रक्तसंवहन पर प्रभाव डालने वाले कारण

१. गुरुत्वाकर्षण—औसत दबाव कम होने के कारण सिराओं पर धमनियों की अपेक्षा गुरुत्वाकर्षण का प्रभाव अधिक पड़ता है, फिर भी कपाटों की उपस्थिति तथा सिराओं द्वारा रक्तप्रवाह में सहायक कारणों से स्वभावतः विकृति दृष्टिगोचर नहीं होती। सीधा खड़ा होने पर उदरप्रदेश में रक्त अधिक एकत्रित हो जाता है जिससे हृदय के दक्षिण भाग में रक्त कम जाता है, फलस्वरूप, सभी अङ्गों, विशेषतः मस्तिष्क में रक्त की पहुंच पूरी नहीं हो पाती। साधारण स्थिति में, निम्नांकित कारणों से धमनीगत रक्तभार कम नहीं होने पाता :—

(क) उदर्य पेशियों का सहज सङ्कोच

(ख) उदर्य रक्तवाहिनियों की शक्ति

(ग) अन्तःश्वसन के समय वक्षीय कर्षण

वक्षीय कर्षण के कारण ही इन अवस्थाओं में श्वसन क्रिया बढ़ जाती है। सोया हुआ व्यक्ति जब अचानक खड़ा होता है या उठ बैठता है तब रक्तवाहिनी सञ्चालक नाड़ियों की समुचित प्रतिक्रिया के कारण मस्तिष्क में रक्त की कमी नहीं होने पाती। किन्तु जब मनुष्य दुर्बल होता है और रक्तवाहिनी सञ्चालक नाड़ियाँ भी दुर्बल हो जाती हैं तब ऐसी स्थिति में अचानक खड़ा होने से मस्तिष्क में रक्त की कमी होने से चक्कर मालूम होने लगता है।

२. व्यायाम—व्यायाम का अधिक प्रभाव रक्तवह संस्थान पर ही देखने में आता है। परिश्रम प्रारम्भ करते ही सारे शरीर, विशेषतः चर्म और आन्त्र के रक्तवह स्रोत संकुचित हो जाते हैं और रक्तप्रवाह का क्षेत्र कम हो जाता है। परिणामस्वरूप, सिराओं द्वारा हृदय में रक्त अधिक आने लगता है जिससे हृदय उत्तेजित होकर अधिक तेजी से कार्य करने लगता है और इस प्रकार

शरीर के अङ्गों में रक्त का सञ्चार बढ़ जाता है। स्वभावतः वक्ष के भीतर का दबाव शून्य रहता है और सांस भीतर लेने के समय यह और भी कम हो जाता है। दूसरी ओर, महाप्राचीरा पेशी के नीचे खिसकने से उदर में दबाव बढ़ जाता है और इस प्रकार रक्त ज्यादा दबाव के स्थान से कम दबाव वाले स्थान (हृदय) की ओर खिंचने लगता है। शरीर के जिस अंग पर भार पड़ता है, वहां की पेशियाँ सिराओं के कपाटों को दबा कर रक्त को हृदय की ओर ले जाने में सहायता करती हैं।

रक्त का तापक्रम तथा हृदय के दक्षिण भाग में उसका दबाव बढ़ जाने के कारण हृदय की गति भी बढ़ जाती है। यदि रक्तभार अधिक हुआ तो उसको कम करने के लिए हृदय मन्द तथा धमनियां प्रसारित हो जाती हैं। रक्त में ओषजन की कमी तथा कार्बनद्विओषिद् की अधिकता होने के कारण नाडीमण्डल उत्तेजित हो जाता है और इस प्रकार हृदय की गति तेज हो जाने से रक्त का दबाव थोड़ी देर के लिए बढ़ जाता है।

विशेषतः जिस अङ्ग का व्यायाम हो रहा हो, उसमें केशिकाओं का प्रसार हो जाता है। परिश्रम के समय वहाँ दुग्धाम्ल तथा कार्बनद्विओषिद् उत्पन्न होने से तत्स्थानीय धमनियों का प्रसार हो जाता है। अधिवृक्क ग्रन्थि का स्राव (अद्रिनिलीन) परिश्रम के समय बढ़ जाता है और हृदय की गति बढ़ाने में सहायक होता है।

तापक्रम :—तापक्रम की वृद्धि से रक्त गरम होकर तापनियामक केन्द्र को उत्तेजित करता है और त्वचा की रक्तवाहिनियां प्रसारित हो जाती हैं जिससे अन्त में स्वेदग्रन्थियों की क्रियाशीलता से स्वेद की उत्पत्ति होती है।

उच्चकेन्द्र :—व्यायाम के पूर्व ही से हृदय की गति तीव्र हो जाती है तथा रक्तवाहिनियों का संकोच हो जाता है। मानसिक परिश्रम से भी रक्तवह स्रोतों का संकोच होता है और लगभग ५० मिलीमीटर रक्तभार बढ़ जाता है। स्रोतों के संकोच के कारण त्वचा की विद्युत्–सहिष्णुता कम हो जाती है जिसे मानसवैद्युत प्रत्यावर्तित क्रिया (Psycho-electric reflex) कहते हैं। मानस भावावेश की अवस्थाओं में प्लीहा और बृहदन्त्र के रक्तवह स्रोत संकुचित हो जाते हैं।

रक्तस्राव :—रक्तसंवहन पर रक्तस्राव का प्रभाव इसकी गम्भीरता तथा अवधि पर निर्भर करता है। सामान्यतः रक्तस्राव की अवस्था में निम्नांकित परिवर्तन होते हैं :—

१. रक्तभार की कमी २. रक्तकणों का अधिक निर्माण

३. हृदयगति की वृद्धि

सामान्य रक्तस्राव में क्षत स्रोत का मुख संकुचित एवं बन्द हो जाता है तथा रक्त के जम जाने से रक्तस्राव रुक जाता है।

हृत्कार्य का नियन्त्रण

हृदय में प्राणवायु, साधक पित्त तथा अवलम्बक कफ की स्थिति मानी गई है। प्राणवायु से जीवन कर्म एव (प्राणवायु से विक्षेप कर्म) गति, पित्त से ऊष्मा, शक्ति एवं तीव्रता तथा कफ से उसमें स्थैर्य गुण होता है। वात की वृद्धि से हृदयगति वृद्धि, धड़कन आदि; पित्त के आधिक्य से संतापाधिक्य, गतितीव्रता, ज्वर आदि तथा कफाधिक्य से गौरव, हृदय वृद्धि, प्रसार आदि लक्षण होते हैं।

हृदय में केन्द्रीय नाडीमण्डल से चेष्टावह सूत्रों के दो समूह आते हैं। एक समूह प्राणदा नाडी के द्वारा आता है तथा दूसरा समूह सांवेदनिक नाडीमंडल के द्वारा पहुँचता है। इन्हें क्रमशः रोधक (Inhibitory) तथा वर्धक (Augmentory) सूत्र कहते हैं। संज्ञावह सूत्रों का भी एक समूह प्राणदा नाडी में भी सम्मिलित रहता है जिनमें से कुछ सूत्र मिलकर अवसादक नाडी (Depressor nerve) बनाते हैं। इस प्रकार शरीरक्रिया की दृष्टि से प्राणदा की हृदयस्थित शाखायें संज्ञावह तथा चेष्टावह या रोधक इन दो श्रेणियों में विभक्त हैं। इन नाडियों का हृत्कार्य में अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान है, क्योंकि इन्हीं के द्वारा शरीर की आवश्यकताओं के अनुसार हृदय का कार्य नियन्त्रित होता है। इसीलिए जब प्रान्तीय प्रतिरोध अत्यधिक होता है तथा धमनीगत रक्तभार भी अधिक हो जाता है तब हृदय की गति मन्द हो जाती है। इस प्रकार धमनीगत प्रतिरोध के अनुसार परिवर्तन होने से हृदय अवसाद या क्षति से बच जाता है।

चेष्टावह नाडियों का मार्ग

(क) प्राणदा की रोधक शाखायें निम्नांकित हैं :—

(१) ग्रीवास्थित हार्दिक शाखायें (२) वक्षःस्थित हार्दिक शाखायें
(३) अधःस्थित स्वरयन्त्रीय (४) ऊर्ध्वस्थित स्वरयन्त्रीय का बाह्य विभाग

रोधक सूत्र प्राणदा नाडी के केन्द्र से प्रारम्भ होकर उपर्युक्त शाखाओं के मार्ग से हृदय में पहुंचते हैं और वहां जाकर सिरालिन्द एवं अलिन्दनिलयग्रंथि में स्थित नाडीकोषाणुओं में समाप्त हो जाते हैं। दक्षिण प्राणदा के सूत्र मुख्यतः अलिन्दनिलयग्रन्थि में जाते हैं। उन नाडीकोषाणुओं से पुनः नवीन सूत्र निकलते हैं जो अलिन्द, निलय एव अलिन्दनिलयगुच्छ में जाते हैं।

(ख) वर्धक सूत्र सुषुम्नाकाण्ड में द्वितीय, तृतीय, चतुर्थ तथा कुछ पञ्चम नाडियों के पूर्वमूल में उत्पन्न होते हैं और ऊर्ध्व, मध्य तथा अधः नाडी-

मण्डल होते हुये हृदय में पहुंचते हैं और वहां प्राणदा की हार्दिक शाखाओं से मिलकर हृदयनाडीचक्र बनाते हैं। यह नाडीचक्र हृदय के मूल में स्थित है और इसके दोनों उत्तान एवं गम्भीर भाग महाधमनी के तोरण तथा आरोही भाग पर अवस्थित हैं। इस चक्र से हृदय में रोधक तथा वर्धक दोनों प्रकार के सूत्र पहुंचते हैं जो हृदय का नियंत्रण करते हैं।

रोधक सूत्रों का कार्य

हृदय में प्राणदा से निरन्तर उत्तेजना पहुंचती रहती है जो हृदय की गति को बढ़ने नहीं देती। यदि प्राणदा नाडी को काट दिया जाय या उसकी विकृति से उसका रोधक प्रभाव कम हो जाय तो हृदय की गति तीव्र हो जाती है। इस स्थिति में भी यदि प्राणदा में कृत्रिम रूप से उत्तेजना पहुंचाई जाय तो उसकी गति मन्द हो जाती है या बिलकुल रुक जाती है।

रोधक सूत्रों के कार्य का स्वरूप क्या है इस सम्बन्ध में विद्वानों में मत-भेद है। हॉवेल के मत से प्राणदा नाडी की उत्तेजना से जो हृदय का अवरोध होता है वह पोटाशियम अणुओं के आविर्भाव के कारण होता है। प्राकृत रूप से हृत्पेशी में पोटाशियम लवणों के रूप में रहता है और नाडीगत उत्तेजना के द्वारा उसका विश्लेषण होने से जब उसके अणु स्वतन्त्र होते हैं तब उनका रोधक प्रभाव हृदय पर होता है। दूसरे विद्वानों का मत है कि यह रोधक प्रभाव एक विशिष्ट रासायनिक द्रव्य (एसिटिलकोलिन) के द्वारा होता है जिसे 'प्राणदाद्रव्य' की भी संज्ञा दी गई है। एट्रोपीन की क्रिया इस प्राणदा-द्रव्य के विपरीत होती है। इसी प्रकार लोगों का विश्वास है कि सांवेदनिक नाडी की उत्तेजना से भी एक वर्धक द्रव्य उत्पन्न होता है जो हृदयगति को बढ़ा देता है।

वर्धक सूत्रों का प्रभाव

सांवेदनिक नाडी के वर्धक सूत्रों का भी प्रभाव हृदय पर निरन्तर होता है, किन्तु प्राणदा की अपेक्षा इनका प्रभाव बहुत अल्प होता है इसलिए इनको काट देने से हृदय का विशेष अवरोध देखने में नहीं आता। इन सूत्रों को उत्तेजित करने के बाद ५–१० मिनट तक नाडी की गति में कोई परिवर्तन नहीं होता क्योंकि इनका अव्यक्त काल अधिक होता है, किन्तु प्रभाव उत्पन्न होने पर अधिक देर तक रहता है। इसका कारण यह है कि सांवेदनिक सूत्रों की उत्तेजना से अधिवृक्क ग्रन्थि का स्राव बढ़ जाता है जिसका वर्धक प्रभाव देर तक रहता है।

इन सूत्रों के प्रभाव से हृदयगति यद्यपि बढ़ जाती है तथापि रक्तनिर्यात

नहीं बढ़ता क्योंकि सिराओं से रक्त के आयात में कोई वृद्धि नहीं होती और रक्तभार भी उतना ही रहता है। इस प्रकार उत्तेजना से हृदयगति की वृद्धि होने पर प्रसारकाल पर अधिक प्रभाव पड़ता है और वह कम हो जाता है। इससे हृत्पेशी की उत्तेजनीयता भी बढ़ जाती है जिससे अधिक संकोच भी उत्पन्न होने लगता है। अतः सांवेदनिक उत्तेजना की प्रतिक्रिया हृदय पर घातक होती है और यदि उचित रूप से प्राणदा को उत्तेजित किया जाय तो वह लाभकर होता है।

संज्ञावह नाडियाँ

प्राणदा की अवसादक शाखा हृदयगति का नियमन करती है। जब रक्त-भार अधिक होता है तब यह उत्तेजित होकर हृदय की गति कम कर देती है। इन सूत्रों पर शरीर के अन्य अङ्गों तथा धातुओं की स्थिति का भी प्रभाव पड़ता है। मानस दशाओं का भी इस पर प्रभाव पड़ता है और कभी-कभी इससे मृत्यु भी होती है।

हृत्केन्द्र (Cardiac centre)

हृत्केन्द्र प्राणदाकेन्द्र के समीप चतुर्थ कोष्ठ की भूमि पर अवस्थित है। इसके दो भाग होते हैं :—

१. हृद्रोधक (Cardio-inhibitory)

२. हृद्वर्धक (Cardio-acceleratory)

संज्ञावह नाड़ियों के द्वारा निरन्तर उत्तेजना पहुँचने के कारण हृद्रोधक केन्द्र थोड़ा बहुत सदा क्रियाशील रहता है। यह केन्द्र दो प्रकार से प्रभावित होता है :—१. साक्षात् रूप से और २. प्रत्यावर्तितरूप से।

(क) हृत्केन्द्र पर साक्षात् रूप से प्रभाव डालते वाले कारण :—

१. रक्त का तापक्रम—तापक्रम की वृद्धि से हृदय की गति बढ़ जाती है।

२. ओषजन का परिमाण—रक्त में कम हो जाने से हृदयगति बढ़ जाती है। यह स्थिति पार्वत्य स्थानों तथा कार्बनएकोषिद विष में देखी जाती है।

३. ओषजन का नितान्त अभाव—इससे भी हृदय की गति बढ़कर १४० प्रतिमिनट तक हो जाती है।

४. कार्बन द्विओषिद् का आधिक्य—कुछ हद तक यह हृदय की गति को बढ़ाता है, किन्तु बहुत अधिक होने से अलिन्दनिलयगुच्छ पर इसका प्रभाव विपरीत पड़ता है और वह हृदयावरोध की अवस्था उत्पन्न कर देता है।

(ख) हृत्केन्द्र पर प्रत्यावर्तित रूप से प्रभाव डालने वाले कारणः—

१. श्वसन—प्रश्वास में हृदयगति अधिक तथा निःश्वास में कम हो जाती है।

२. रक्तभार—अधिक होने से हृदय मन्द तथा कम होने से तीव्र हो जाता है।

३. व्यायाम—इससे हृदय तीव्र हो जाता है और पेशियों को अधिक रक्त एवं ओषजन मिलता है। हृदयगति बढ़ने का कारण यह है कि सिराओं में रक्तभार बढ़ जाता है और हृदय में रक्त अधिक मात्रा में प्रविष्ट होता है। इसे 'अलिन्दीय प्रत्यावर्तित क्रिया' कहते हैं।

४. संज्ञावह नाडियाँ—कुछ संज्ञावह नाडियों की उत्तेजना से हृदय की गति मन्द हो जाती है। अचानक तीव्र शब्द (श्रुतिनाड़ी) तथा शीत स्नान (त्वचानाडी) का भी हृत्केन्द्र पर प्रभाव पड़ता है।

५. बेनब्रिज प्रत्यावर्तन—हृदय में सिराओं द्वारा रक्त के आयात में वृद्धि होने से दक्षिण अलिन्द अतिप्रसारित हो जाता है। फलस्वरूप सांवेदनिक नाडियों के उत्तेजित होने से रक्तवह संचालक केन्द्र की क्रिया बढ़ जाती है तथा प्राणदाकेन्द्र की क्रिया रुक जाती है जिससे रक्तवहसंकोच होता तथा हृदयगति तीव्र हो जाती है।

६. अवसादक प्रत्यावर्तन—पूर्वोक्त स्थिति के विपरीत जब रक्तभार बढ़ जाता है तब महाधमनी के सांवेदनिक सूत्र प्राणदाकेन्द्र के रोधक भाग को उत्तेजित करते हैं और हृदयगति मन्द एवं रक्तभार भी कम हो जाता है।

७. मानस प्रभाव—भावावेश के कारण हृदय तीव्र तथा आकस्मिक शोक के कारण मन्द या बन्द हो जाता है।

८. नेत्रहार्दिक प्रत्यावर्तन—अक्षिगोलकों पर दबाव पड़ने पर हृदयगति मन्द हो जाती है क्योंकि पांचवीं नाडी प्राणदा नाडी से संबद्ध रहती है। इस क्रिया को 'नेत्रहार्दिक प्रत्यावर्तन' कहते हैं।

रक्तवहसञ्चालक नाडीमण्डल (Vasomotor nervous system)

यह रक्तवह स्रोतों की धारणाशक्ति को नियन्त्रित करता है। इसका प्रभाव मुख्यतः धमनियों तथा विशेषतः सूक्ष्म धमनियों पर पड़ता है। अतः इसे धमनीसंचालक संस्थान भी कहते हैं।

कार्य :—(क) प्रत्येक अंगमें उसकी आवश्यकताओं के अनुसार रक्तप्रवाह का नियमन

१. पाचनकाल में पाचनसंस्थान की धमनियाँ प्रसारित तथा त्वचा की धमनियाँ संकुचित हो जाती हैं। फलतः उदर में रक्त अधिक पहुंचता है।

२. चर्वण के समय लालाग्रन्थियों की धमनियाँ प्रसारित हो जाती हैं।

३. व्यायाम के समय पेशियों में रक्त अधिक तथा उदर में कम पहुँचता है। इसीलिए भोजन के बाद तुरत व्यायाम का निषेध किया जाता है।

४. मस्तिष्क धमनियों में रक्तभार बढ़ने से सूक्ष्मधमनियों का प्रसार हो जाता है और साधारण रक्तभार कम हो जाता है।

(ख) शरीर के तापक्रम का नियमन

शीतकाल में त्वचा की धमनियाँ संकुचित हो जाती हैं जिससे रक्त की उष्णता नष्ट नहीं होने पाती और रक्त भीतरी अङ्गों में चला जाता है। इसके विपरीत, उष्णकाल में त्वचा की धमनियाँ प्रसारित हो जाने से उष्णता बाहर निकलती रहती है जिससे शरीर का तापक्रम बढ़ने नहीं पाता।

(ग) प्रान्तीय प्रतिरोध को स्थिर रखना

इसके द्वारा रक्तभार का नियमन होता है।

(घ) गुरुत्वाकर्षण पर विजय :—

यदि इसका प्रभाव न हो तो गुरुत्वाकर्षण की क्रिया से रक्त अधःशाखाओं में संचित हो जाय, किन्तु इसके फलस्वरूप उन भागों की धमनियाँ संकुचित रहती हैं और उनमें रक्त आवश्यकता से अधिक नहीं जाने पाता।

आविष्कार

सन् १८५२ ई० में क्लॉड बर्नर्ड ने कुछ जन्तुओं पर प्रयोग कर यह सिद्ध किया कि ग्रैवेयक सांवेदनिक में रक्तवहसंकोचक सूत्र रहते हैं जिनकी उत्तेजना से धमनियों में संकोच तथा विच्छेद से प्रसार होता है। १८५८ ई० में उपर्युक्त विद्वान् ने ही रक्तवहप्रसारक सूत्रों की उपस्थिति को प्रमाणित किया जिससे विच्छेद का तो कोई प्रभाव नहीं होता किन्तु उत्तेजना से धमनियों का प्रसार हो जाता है।

इस नाडीयन्त्र के निम्नांकित भाग होते हैं :—

१. संज्ञावह नाडियाँ
२. सुषुम्ना शीर्षक में स्थित नाडीकेन्द्र
३. सुषुम्नाकाण्ड में स्थित सहायक केन्द्र
४. चेष्टावह नाडियाँ

(१) संज्ञावह नाडी—यह दो प्रकार की होती है :—

१. उत्तेजक नाडी—इसकी उत्तेजना से रक्तभार की वृद्धि हो जाती है।

२. अवसादक नाडी—इसे उत्तेजित करने से रक्तभार कम हो जाता है।

उपर्युक्त दोनों प्रकार के नाड़ीसूत्र एक ही नाडी में होते हैं, किन्तु उनकी उत्तेजना विभिन्न अवस्थाओं में होती है। यथा त्वचा पर शीत के प्रभाव से उत्तेजक नाडी तथा उष्णता के प्रभाव से अवसादक नाडी उत्तेजित होती है। संभवतः इनकी क्रिया प्रत्यावर्तित रूप से धमनियों पर प्रभाव डालती है।

धमनीसंचालन का प्रत्यावर्त्तित नियन्त्रण

निम्नांकित तीन प्रत्यावर्तित क्रियायें साधारण रक्तसंवहन का नियमन करती हैं :—

१. प्राणदा नाडी की अवसादक क्रिया—इसका परीक्षणात्मक वर्णन लुड-विग नामक विद्वान् ने सन् १८१६ ई० में किया था।

२. मातृकापरिवाहिका की क्रिया—महामातृका धमनीके विभाजन-स्थान पर एक फूला हुआ भाग होता है उसे मातृकापरिवाहिका कहते हैं। वहीं पर कुछ छोटे-छोटे ग्रन्थि के समान अङ्ग भी होते हैं उन्हें मातृकोपांग कहते हैं जिन्हें पहले अन्तःस्रवा ग्रन्थि माना जाता था। इस स्थान में बहुत-सी नाडियां आकर चक्र बनाती हैं। इसकी उत्तेजना से रक्तभार कम हो जाता है। इसके दो कारण हैं हार्दिक गति की मन्दता तथा धमनियों का प्रसार।

३. उत्तेजक क्रिया—सिराओं के द्वारा रक्त के अधिक आयात से जब अलिन्दों का प्रसार होता है या रक्तभार के आधिक्य से बड़ी-बड़ी सिरायें प्रसारित रहती हैं तो इस प्रत्यावर्तित क्रिया के द्वारा हृदय तीव्र हो जाता है। इसे 'बेनब्रिज की प्रत्यावर्तित क्रिया' कहते हैं।

(२) नाडीकेन्द्र :—यह मस्तिष्क के चतुर्थ कोष्ठ में स्थित होता है।

(३) सुषुम्ना के सहायक केन्द्र :—मस्तिष्क केन्द्र के विनाश के बाद रक्तभार में अत्यधिक कमी हो जाती है; किन्तु यदि प्राणी को जीवित रक्खा जाय तो इन सहायक केन्द्रों की उत्तेजना से वह पुनः बढ़ने लगता है। यदि इनका भी विनाश कर दिया जाय तो रक्तभार फिर अत्यन्त कम हो जाता है।

धमनीसंचालक केन्द्र को साक्षात् रूप से उत्तेजित करनेवाले कारण :—

१. स्थानिक उत्तेजना—विद्युद्धारा के द्वारा।

२. औषधियाँ :—डिजिटेलिस, स्ट्रिकनीन और कैफीन उत्तेजक तथा ईथर और क्लोरोफार्म अवसादक होते हैं।

३. कार्बनद्विओषिद्—इसके आधिक्य से रक्तभार की वृद्धि तथा इसकी न्यूनता से रक्तभार में कमी हो जाती है।

४. ओषजन :—इसकी कमी से रक्तभार बढ़ जाता है।

धमनीसंचालक केन्द्र को प्रत्यावर्त्तित रूप से उत्तेजित करने वाले कारण—निम्नांकित कारणों से धमनीसंचालक केन्द्र प्रत्यावर्त्तित रूप से उत्तेजित होता है :—

१. संज्ञावह धमनीसंचालक नाड़ियाँ—इनकी निरन्तर उत्तेजना से रक्तभार कम हो जाता है।

२. प्राणदा नाड़ियों के अवसादक सूत्र

३. मानसिक भावावेश—मानसिक भावावेश की अवस्थाओं में शोक, भय आदि से चेहरा पीला तथा लज्जा, क्रोध आदि से लाल हो जाता है।

४. मातृका परिवाहिका में दबाव।

चेष्टावह नाडियाँ

यह दो प्रकार की होती हैं :—

१. धमनीसंकोचक

२. धमनीप्रसारक

हृदय पर औषधों का प्रभाव

१. अद्रिनिलीन—यह हृदयगति तथा उसके वेग को बढ़ाता है।

२. अर्गोटॉक्सीन, अर्गोटैमीन—इससे हृदयगति मन्द हो जाती है।

३. अत्रपीन—यह हृदयगति को बढ़ाता है।

४. मस्केरीन, पाइलोकार्पीन, कोलीन, एसिटिलकोलीन ये हृदय गति को मन्द करते हैं।

५. निकोटिन—यह स्वतन्त्र नाडीमण्डल की संधियों को निश्चेष्ट बना देता है तथा प्राणदा नाडी की क्रिया को अवरुद्ध कर देता है अतः हृदय की गति बढ़ जाती है।

६. मादक द्रव्य—क्लोरोफार्म, मार्फिन तथा क्लोरल हाइड्रेट आदि मादक द्रव्य हृदय की गति मन्द कर देते हैं। ये कनीनिकासंकोचक भी होते हैं।

षष्ठ अध्याय

मांस

धातुपरम्परा में यद्यपि रस और रक्त के बाद तृतीय स्थान मांसधातु का आता है तथापि कार्य की दृष्टि से शरीर में इसका महत्त्वपूर्ण स्थान है। यदि मांसधातु न रहे तो शरीर एक निश्चल अस्थिकंकाल मात्र रह जाय।

मांस के पर्याय

कोषों में मांस, पिशित, तरस, पलल, क्रव्य और आमिष पर्यायवाची शब्द कहे गये हैं।[1] ये सभी शब्द मांसगत बल, गति, संहनन आदि कर्मों के द्योतक हैं।

मांस का स्वरूप

मांसधातु मृदु, रक्तवर्ण तन्तुओं से युक्त, संकोचप्रसरणशील पेशियों का उपादानभूत है।[2]

मांस का भौतिक संघटन

मांस धातु में पृथिवी महाभूत का प्राधान्य होता है अतः इसमें पार्थिव गुणों की विशेषता होती है।[3]

मांस के कर्म

शरीर की पुष्टि करना तथा अग्रिम धातु मेद को आप्यायित करना मांस का कार्य है।[4]

मांसक्षय

मांस धातु का क्षय होने पर नितम्ब, ऊरु, वक्ष आदि मांसल प्रदेशों की कृशता, रूक्षता, तोद, अवसाद तथा धमनी की शिथिलता ये लक्षण उत्पन्न होते हैं।[5] अतिकृश पुरुष के जो लक्षण कहे गये हैं वे मुख्यतः मांसक्षय के ही सूचक हैं।[6]

---

१. पिशितं तरसं मांसं पललं क्रव्यमामिषम् ।—अमरकोष २।६।६३

२. पेश्युपादानधातुर्यन् मृदुलोहिततन्तुमत् ।
जलौकाकायवन्मांसं संकोचप्रसरैर्युतम् ॥—स्व०

३. मांसे तु पार्थिवाः—डल्हण सु. सू. २५।१०

४. मांसं शरीरपुष्टिं मेदसश्च—सु. सू. १५।४।१

५. मांसक्षये स्फिग्गण्डौष्ठोपस्थोरुवक्षःकक्षापिण्डिकोदरग्रीवाशुष्कता रौक्ष्यतोदौ गात्राणां सदनं धमनीशैथिल्यं च—सु. सू. १५।९
मांसक्षये विशेषेण स्फिग्ग्रीवोदरशुष्कता—च. सू. १७।६५

६. शुष्कस्फिगुदरग्रीवो धमनीजालसंततः ।
त्वगस्थिशेषोऽतिकृशः स्थूलपर्वा नरो मतः ॥' च. सू. २१।१५

मांसक्षय को दूर करने के लिए अर्थात् क्षीण मांस धातु की वृद्धि के लिए मांस या तत्समान गुण द्रव्यों का प्रयोग करना चाहिए।[1]

मांसवृद्धि

मांसधातु की वृद्धि से अतिस्थूलता तथा गुरुता उत्पन्न होती है।[2] अतिस्थूल पुरुषों में मेदोधातु के साथ-साथ मांसधातु की वृद्धि भी कारण होती है।[3]

मांसवृद्धि को दूर करने के लिए संशोधन तथा मांसक्षयकर आहार-विहार का सेवन करना चाहिए।[4]

मांसज विकार

अभिष्यन्दी, स्थूल तथा गुरु आहार का सेवन करने तथा भोजन कर दिन में सोने से मांसवह स्रोत दूषित हो जाते हैं। इसके कारण अधिमांस, अर्बुद, गण्डमाला आदि रोग उत्पन्न होते हैं।[5]

---

१. मांसमाप्यायते मांसेन—च. शा. ६।१०; च. सू. २५।४०, २७।८७, च. चि. ८।१५२ तत्रापि स्वयोनिवर्धनद्रव्योपयोगः—सु. सू. १५।१०; च. सू. २१।२९-३३

२. मांसं स्फिग्गण्डौष्ठोपस्थोरुबाहुजंघासु वृद्धिं गुरुगात्रतां च।

—सु. सू. १५।१४

३. मेदोमांसातिवृद्धत्वाच्चलस्फिगुदरस्तनः।
अयथोपचयोत्साहो नरोऽतिस्थूल उच्यते॥—च. सू. २१।९

४. तेषां यथास्वं संशोधनं क्षपणं च क्षयादविरुद्धैः क्रियाविशेषैः कुर्वीत।

—सु. सू. १५।१७, च. सू. २१।२०-२७

५. अभिष्यन्दीनि भोज्यानि स्थूलानि च गुरूणि च।
मांसवाहीनि दुष्यन्ति भुक्त्वा च स्वपतां दिवा॥

—च. वि. ५।१५

अधिमांसार्बुदार्शोऽधिजिह्वोपजिह्वोपकुशगलशुण्डिकालजीमांससंघातौष्ठप्रकोपगलगण्डगण्डमालाप्रभृतयो मांसदोषजाः। —सु. सू. २४।९

अधिमांसार्बुदं कीलं गलशालूकशुण्डिके।
पूतिमांसालजीगण्डगण्डमालोपजिह्विका॥
विद्यान् मांसाश्रयान्—च. सू. २८।१३

मांस के उपधातु और मल

वसा[1] और त्वचा ये मांस के उपधातु कहे गये हैं।[2] इनका पोषण मांस के प्रसाद भाग से होता रहता है। कान, नाक आदि स्रोतों के मल मांसधातु के मल माने गये हैं।[3]

मांससार पुरुष

मांस से भरा-पूरा जिसका शरीर हो उसे मांससार कहते हैं। ऐसे पुरुष की अस्थि-सन्धियां मांस से ढंकी रहती हैं।[4]

पेशी

परस्पर विभक्त मांसावयवसंघात को पेशी कहते हैं।[5] यह प्रायः मध्य में स्थूल तथा दोनों किनारों पर पतली कण्डराओं में परिणत होती हैं जिनके द्वारा वे अस्थियों से निबद्ध रहती हैं। पेशियों के द्वारा ही शरीर की चेष्टायें होती रहती हैं।[6]

मांसपेशी के गुणधर्म

मांसपेशियों में तीन विशिष्ट गुणधर्म पाये जाते हैं :—

१. उत्तेजनीयता (Irritability)

२. संकोचशीलता (Contractibility)

---

१. शुद्धमांसस्य यः स्नेहः सा वसा परिकीर्त्तिता।

—सु. शा. ४।१३; च. चि. १५।१७

वसा का प्रमाण तीन अञ्जलि माना गया है—

'त्रयो वसायाः'—च. शा. ७।१७

२. मांसाद् वसा त्वचः षट् च—च. चि. १५।१७

३. कफः पित्तं मलः खेषु—सु. सू. ४६।५२

पित्तं मांसस्य खमलाः—च. चि. १५।१९

४. अच्छिद्रगात्रं गूढास्थिसन्धिं मांसोपचितञ्च मांसेन।

—सु. सू. ३५।१६; च. वि. ८।१०५

५. मांसावयवसंघातः परस्परं विभक्तः पेशी इत्युच्यते

—डल्हण, सु. शा. ५

अमरकोष में 'पेशी' शब्द 'अण्ड' का वाचक है। हेमचन्द्र के कोष में 'पिशिता मांसिका' के उद्धरण से 'पिशिता' शब्द 'पेशी' के अर्थ में प्रयुक्त प्रतीत होता है।

६. प्राणिनां सर्वचेष्टानामधिष्ठानमनुत्तमम्।

पेश्यो मांसात्मिकाः स्थूलमध्याः प्रायः स्वरूपतः॥ स्व॰

३. वाहकता (Conductivity)

ये तीनों गुणधर्म वात के हैं अतः पेशियों में वात का अधिष्ठान प्रतीत होता है।

उत्तेजनीयता

किसी बाह्य पदार्थ (उत्तेजक) की क्रिया के परिणामस्वरूप अपने भीतर कुछ भौतिक या रासायनिक परिवर्तनों के रूप में प्रतिक्रिया उत्पन्न करने की शक्ति मांसपेशियों में होती है।

मांसपेशियों के अतिरिक्त शरीर के निम्नांकित अवयव उत्तेजनीय हैं :—

१. सामान्य ओजःसार (यथा अमीबा, श्वेतकण)

२. रोमिकामय आवरक धातु

३. नाड़ी

४. उद्रेचक ग्रन्थियाँ

पेशियों की सहज उत्तेजनीयता

पीछे बतलाया जा चुका है कि मांसपेशी में प्रविष्ट होने पर नाड़ी की अनेक शाखायें होने लगती हैं और इस प्रकार प्रत्येक पेशीसूत्र में नाड़ी की एक शाखा चली जाती है। ऐसी स्थिति में, यदि किसी उत्तेजक का प्रयोग सीधे पेशी पर किया जाय तो उससे नाड़ीसूत्रों तथा पेशीसूत्रों दोनों में उत्तेजना उत्पन्न होगी। पहले यह समझा जाता था कि पेशी की उत्तेजनीयता वस्तुतः उसमें विद्यमान नाड़ीसूत्रों के क्षोभ का परिणाम है न कि स्वयं पेशीसूत्रों के क्षोभ का, किन्तु अब प्रयोगों द्वारा यह सिद्ध है कि मांसपेशी के सूत्र स्वतः उत्तेजनीय हैं।

निम्नांकित प्रयोगों द्वारा यह बात देखी जा सकती है :—

(१) चेष्टानाशन प्रयोग (Curare experiment of Claude Bernard).

मेढक में कुरार नामक औषधि के १ प्रतिशत विलयन का अन्तःक्षेप करने के बाद नाड़ियों के अन्त्य भाग की क्रिया नष्ट हो जाने के कारण गृध्रसी नाड़ी को उत्तेजित करने से जंघा की पेशियों में संकोच नहीं होता। उस अवस्था में भी यदि मांसपेशियों को सीधे उत्तेजना दी जाय तो उनमें संकोच उत्पन्न होता है।

(२) कुने का दीर्घायामा प्रयोग (Kuhne's Sartorius Experiment).

दीर्घायामा के समान लम्बे तथा समानान्तर सूत्रों वाली पेशियों के प्रान्त-

भाग में नाडीसूत्र नहीं होते। पेशी के इस नाडीसूत्ररहित प्रान्त को सीधे उत्तेजित करने से उसमें संकोच उत्पन्न होता है।

(३) गर्भहृदय (Foetal heart)

गर्भावस्था में हृदय में नाडियों के विकास के पूर्व ही से संकोच और प्रसार होता रहता है।

(४) अपचित नाडियों के साथ पेशियाँ

नाडी का विच्छेद कर देने पर उसमें अपचय की क्रिया प्रारम्भ हो जाती है और लगभग ४–५ दिनों में उसकी उत्तेजनीयता एवं वाहकता का गुण नष्ट हो जाता है। ऐसी नाडियों को यदि उत्तेजित किया जाय तो पेशियों पर कोई प्रभाव दृष्टिगोचर नहीं होता, किन्तु यदि पेशियों को साक्षात् रूप से उत्तेजना पहुँचाई जाय, तो उनमें संकोच होने लगता है। यह पेशी की सहज उत्तेजनीयता का ही परिणाम है।

(५) म्रियमाण पेशीसंकोच (Idiomuscular Contraction).

नाडीगत अपचय के फलस्वरूप म्रियमाण मांसपेशी में यह अवस्था देखी जा सकती है। ऐसी पेशी में यदि आघात पहुँचाया जाय, तो उस स्थान पर स्थानीय शोथ हो जाता है जो साक्षात् पेशीसूत्रों की क्रिया का परिणाम है।

(६) विशिष्ट उत्तेजक (Specific Stimulus).

ग्लिसरीन नाडीसूत्रों को उत्तेजित करता है तथा तनु अमोनिया पेशियों को उत्तेजित करता है। इसके विशिष्ट उत्तेजक होने के कारण ग्लिसरीन के द्वारा पेशियों में तथा तनु अमोनिया के द्वारा नाडीसूत्रों में उत्तेजना उत्पन्न नहीं होगी।

दीर्घायामा के नाडीविहीन प्रान्त भाग को तनु अमोनिया में डुबाने से उसमें संकोच होता है, किन्तु ग्लिसरीन में डुबाने से संकोच नहीं होता। पुनः नाडीसहित पेशी के ऊर्ध्व भाग को ग्लिसरीन में डुबाने से संकोच होने लगता है।

संकोचशीलता

उत्तेजक की क्रिया के परिणामस्वरूप आकार में परिवर्तन करने की शक्ति को संकोचशीलता कहते हैं। पेशियों का आकारगत परिवर्तन वस्तुतः उसके आयतन-सम्बन्धी परिवर्तन का सूचक नहीं है, बल्कि वह ओजःसार की स्थिति में परिवर्तन का ही परिणाम है।

संकोचशीलता और उत्तेजनीयता दोनों साथ-साथ रहना आवश्यक नहीं है। यथा पेशियाँ और नाडियाँ दोनों उत्तेजनीय हैं किन्तु संकोचशील केवल

पेशी है, नाड़ी नहीं। मांसपेशियों के अतिरिक्त, शरीर के निम्नांकित अवयवों में संकोचशीलता का गुण पाया जाता है :—

१. सामान्य जीवकोषाणु अमीबिक गति।
२. सामान्य वानस्पतिक कोषाणु।
३. रञ्जक कोषाणु।
४. रोमिका।

उत्तेजक के प्रकार

उत्तेजक निम्नांकित प्रकार के हो सकते हैं :—

१. यान्त्रिक (Mechanical)—यथा किसी प्रकार का आघात या क्षत
२. रासायनिक (Chemical)—

ये उत्तेजक तीन प्रकार से कार्य करते हैं :—

(क) क्षोभक के रूप में।
(ख) धात्वीय अणुओं में परिवर्तन के द्वारा।
(ग) उदजन-अणु-केन्द्रीयभवन में परिवर्तन के द्वारा।

३. आग्नेय (Thermal)

तापक्रम में अचानक परिवर्तन उत्तेजक का कार्य करता है।

४. वैद्युत-(Electrical)

यह दो प्रकार का होता है :—

(क) निरन्तर-(Galvanic or Constant Current)
(ख) प्रेरित-(Faradic or induced ,,)

निरन्तर विद्युद्धारा के लिए 'डेनियल सेल' तथा प्रेरित विद्युद्धारा के लिए 'डुबोयस रेमण्ड प्रेरणयन्त्र' (Du Bois Reymond induction Coil) का प्रयोग होता है।

संकोचकाल में पेशीगत परिवर्तन

संकोच के समय पेशी में निम्नलिखित परिवर्तन होते हैं :—

१. आकारगत परिवर्तन (Changes in form)
२. स्थितिस्थापकता एवं प्रसार्यतासंबन्धी परिवर्तन (Changes in extensibility & elasticity)
३. तापसम्बन्धी परिवर्तन (Changes in temperature)
४. विद्युत्संबन्धी परिवर्तन (Changes in electrical Conditions)
५. रासायनिक परिवर्तन (Changes in Chemical Conditions)

आकारगत परिवर्तन

जब पेशी में उत्तेजना पहुँचाई जाती है, तब उसके आकार में परिवर्तन

होता है और फलस्वरूप वह छोटी और मोटी हो जाती है किन्तु उसके आयतन में कोई परिवर्तन नहीं होता। मांसपेशी की लम्बाई लगभग ६५ से ८० प्रतिशत कम हो जाती है। इसका कारण यह है कि पेशी के भीतर स्थित द्रवभाग अनुलम्ब अक्ष से अनुप्रस्थ अक्ष की ओर चला आता है और इस प्रकार उसकी लम्बाई तो कम हो जाती है किन्तु मोटाई बढ़ जाती है। इस काल में पेशी की संचित शक्ति भी कार्यरूप में परिणत होती है।

आकारगत परिवर्तनों की परीक्षा के लिए प्रायः मेढक की एक पेशी संभवतः जंघापिण्डिका गृध्रसी नाड़ी के साथ शरीर से पृथक् कर ली जाती है। इसे 'नाड़ीपेशीयन्त्र' (Nerve muscle preparation) कहते हैं। इसकी नाड़ी को "पेशीसंकोचमापक यन्त्र" (Myograph) के द्वारा उत्तेजित किया जाता है और उसके परिणामस्वरूप पेशी में उत्पन्न हुए संकोच की परीक्षा की जाती है।

पेशीसंकोचमापक यन्त्र में एक ओर विद्युद्यन्त्र होता है जिसके द्वारा पेशी में उत्तेजना पहुँचाई जाती है। दूसरी ओर पेशी से संबद्ध यन्त्र के अग्रभाग
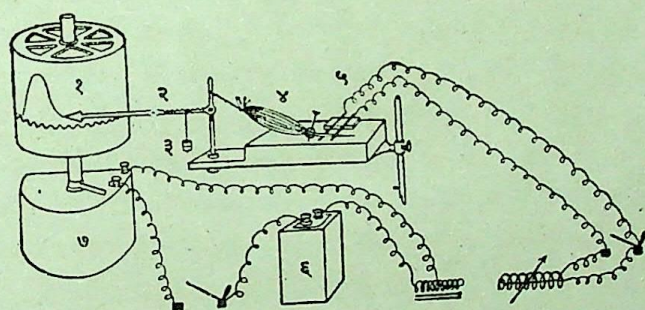
चित्र २१—पेशीसंकोचमापकयन्त्र

१. बेलन २. लेखनसूची ३. भार ४. नाड़ीपेशीयन्त्र ५. विद्युत्तार
६. विद्युत्कोष्ठ ७. अधोबेलन

पर लेखनयन्त्र होता है जो बेलनाकार भाग पर लगे हुए मसीपत्र के सम्पर्क में रहता है। जब पेशी में विद्युद्धारा के द्वार उत्तेजना पहुँचाने पर संकोच प्रारंभ होता है, तब वह सूच्याकार लेखन यन्त्र ऊपर की ओर उठ जाता है और संकोच समाप्त होने पर पुनः नीचे की ओर लौट आता है। बेलनाकार भाग भी सदैव एक निश्चित वेग से घूमता रहता है। इस प्रकार पेशी संकोच का

पूर्ण रेखा चित्र मसीयन्त्र पर अंकित हो जाता है। इसे 'सामान्य पेशीरेखा' (Simple Muscle Curve) कहते हैं।
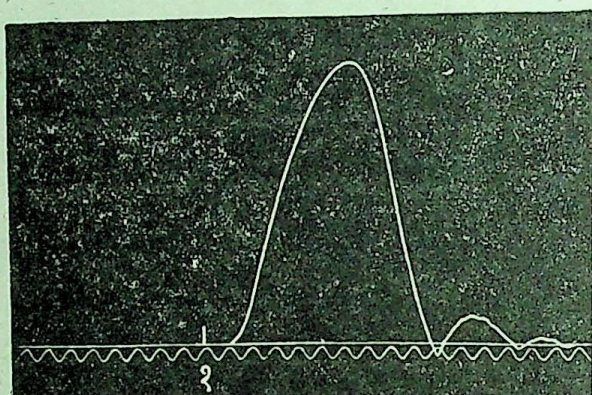
चित्र २२—सामान्य पेशीरेखा

१. उत्तेजना का स्थान

पेशी संकोच तीन अवस्थाओं में विभक्त होता है, अतः सामान्य पेशी रेखा के भी तीन भाग होते हैं। पेशी में उत्तेजना पहुँचाने पर शीघ्र संकोच उत्पन्न नहीं होता किन्तु उसमें कुछ समय लग जाता है। इस काल को 'अव्यक्त-काल' (Latent period) कहते हैं। यह लगभग $\frac{१}{५००}$ सेकण्ड तक भी हो सकता है। इस काल में पेशी में कोई प्रकट परिवर्तन नहीं होता किन्तु संकोच की तैयारी के रूप में कुछ रासायनिक परिवर्तन होते हैं। इसमें नाडीस्पंद उत्तेजनास्थान से पेशी तक पहुँचता है। यन्त्र अधिक भारी होने पर यह काल अधिक होता है। मक्खियों आदि में यह काल बहुत अधिक होता है।

इसके बाद दूसरी अवस्था का प्रारम्भ होता है, जिसे 'संकोचकाल' (Contraction period] कहते हैं। इसमें पेशी का दबाव बढ़ता जाता है और धीरे-धीरे सीमा पर पहुँच जाता है। यह लगभग $\frac{१}{२०}$ या $\frac{१}{२५}$ सेकण्ड होता है। जब पेशी को सीधे उत्तेजित किया जाता है, तब अव्यक्तकाल कम होता है और जब चेष्टावह नाडी के द्वारा उसमें उत्तेजना पहुंचाई जाती है तब यह अधिक होता है, किन्तु संकोचकाल सभी दशाओं में समान रहता है। इससे स्पष्ट है कि दोनों अवस्थाओं में पेशी के सभी सूत्रों में एक ही साथ संकोच प्रारम्भ और समाप्त होता है। इसे 'युगपत् सूत्रयोग' (Simultaneous fibre Summation) कहते हैं।

तृतीय अवस्था में पेशी अपनी पूर्वावस्था में लौट आती है। इसे 'प्रसार-

काल' (Relaxation period) कहते हैं। पहले तो लेखनयन्त्र बड़ी तेजी से नीचे उतरता है, फिर उसका उतार क्रमिक हो जाता है। यह काल लगभग $\frac{१}{८५}$ सेकण्ड होता है।

सामान्य पेशीरेखा पर प्रभाव डालनेवाले कारण

१. पेशी का स्वरूप।
२. उत्तेजक की शक्ति।
३. भार।
४. पेशी की स्थिति।
५. तापक्रम।
६. औषध।

(१) पेशी का स्वरूप—विभिन्न प्रकार की पेशियों में संकोचशीलता भी भिन्न-भिन्न प्रकार की होती है। एक प्रकार की पेशियों में भी उनकी क्रिया के अनुसार उसमें भिन्नता आ जाती है। स्वरतन्त्रीय पेशियों में बहुत तीव्र संकोच और प्रसार होते हैं। विभिन्न पेशियों की गति में विभिन्नता उनमें स्थित स्वच्छसार तथा सूत्रसार के आपेक्षिक परिमाण पर निर्भर करती है। सूत्रसार के कारण पेशियों की गति मन्द एवं विलम्बित होती है तथा स्वच्छसार तीव्र और क्षणिक गति उत्पन्न करता है।

(२) उत्तेजक की शक्ति—पेशी में क्षोभ उत्पन्न करने के लिए उत्तेजक की शक्ति एक निश्चित सीमा से कम नहीं होनी चाहिये। इस प्रकार पेशी में उत्तेजना उत्पन्न करने में समर्थ कम से कम उत्तेजक की शक्ति को 'न्यूनतम उत्तेजक (Minimal Stimulus) कहते हैं। इसी प्रकार उत्तेजक की शक्ति में वृद्धि के अनुसार संकोच बढ़ता जाता है, किन्तु वह भी एक सीमा पर पहुंच कर रुक जाता है। उसके बाद उत्तेजक की शक्ति बढ़ाने से संकोच नहीं बढ़ता। पेशी में संकोच उत्पन्न करने की इस उच्चतम शक्ति को 'उच्चतम उत्तेजक' (Maximal Stimulus) कहते हैं। इसके सम्बन्ध में निम्नांकित युक्तियाँ दी जाती हैं :—

(क) प्रत्येक पेशीसूत्र के संकोच का परिमाण उत्तेजना की शक्ति के अनुसार होता है।

(ख) जैसे-जैसे उत्तेजना की शक्ति बढ़ाई जाती है वैसे-वैसे पेशी के अधिक सूत्र प्रभावित होते जाते हैं और अन्त में जब सभी सूत्र संकुचित हो जाते हैं तब कोई भी सूत्र अवशिष्ट न रहने के कारण फिर आगे संकोच नहीं हो सकता। यह इस सिद्धान्त पर अवलम्बित है कि एक पेशीसूत्र अपनी पूर्ण शक्ति भर संकुचित होता है या उसमें एकदम संकोच नहीं होता अर्थात् पेशीसूत्र का संकोच सदैव अपनी उच्चतम सीमा पर होता है। इसे 'सर्वाभाव नियम' (All or none phenomena) कहते हैं। इस प्रकार उत्तेजक की

शक्ति बढ़ाने से अधिक पेशीसूत्र आक्रान्त होते जाते हैं और कुल मिला कर पेशी का संकोच अधिक हो जाता है।

(३) भार—कुछ सीमा तक भार से संकोच में वृद्धि होती है, किन्तु धीरे-धीरे वह कम होने लगता है और अन्त में बन्द हो जाता है। भारी बोझ से अव्यक्तकाल अधिक हो जाता है।

(४) पेशी की स्थिति—यदि पेशी बलवान् और विश्रामावस्था में हो तो उत्तेजक की उसी शक्ति से उत्तेजना पहुँचाने पर उसमें तीन या चार बार तक उत्तरोत्तर संकोच में वृद्धि होती जाती है। इसे सोपानक्रम (Stair Case phenomenon) या लाभकर संकोचपरिणाम (Beneficial effect of Contraction) कहते हैं। संकोच के परिणामस्वरूप उत्पन्न पेशी-दुग्धाम्ल कुछ सीमा तक उसमें सहायक होता है, किन्तु संकोच के आधिक्य से जब अम्ल का सञ्चय अधिक हो जाता है, तब संकोच पर उसका हानिकर प्रभाव पड़ता है और श्रम की उत्पत्ति होती है।

(५) तापक्रम—स्तनधारी जीवों की पेशियों में ५° डिग्री से ४०° डिग्री सेण्टीग्रेड तक संकोच होता है। शीत से पेशीसंकोच की सभी अवस्थाओं की अवधि बढ़ जाती है और संकोच मन्द होने लगते हैं। उष्णता से सभी अवस्थाओं की अवधि घट जाती है और संकोच तीव्र होते हैं। ४२° डिग्री सेण्टीग्रेड से अधिक ताप देने पर पेशीगत मांसतत्त्व के जम जाने से तापसंकोच (Heat rigor) उत्पन्न होता है।

(६) औषध—कुछ औषधों का प्रभाव भी पेशी संकोच पर होता है, यथा :—

अड्रिनिलीन—पेशी के बल और संकोच को बढ़ाता है।

डिजिटेलिस—हार्दिक तथा अन्य स्वतन्त्र पेशियों की शक्ति बढ़ाता है।

विरेट्रोन—पेशीसंकोच के प्रसारकाल को अत्यधिक बढ़ाता है।

बेरियम लवण—इसका प्रभाव विरेट्रीन के समान ही, किन्तु कुछ कम होता है।

पेशी के आकारगत परिवर्तन को नापने के लिए निम्नांकित यन्त्रों का उपयोग किया जाता है :—

१. सिम्पुल लीवर मायोग्राफ (Simple lever Myograph)
२. क्रैंक लीवर मायोग्राफ (Crank lever Myograph)
३. हेमहॉज मायोग्राफ (Helmholtz-Myograph)
४. हेमहॉज मायोग्राफ मौडिफायड (Helmholtz Myograph Modified)

५. डु ब्वायस रेमण्ड स्प्रिंग मायोग्राफ (Du Bois Reymond spring Myograph)

६. पेण्डुलम मायोग्राफ (Pendulum Myograph)

प्रसार्यता और स्थितिस्थापकता-सम्बन्धी परिवर्तन

पेशी के संकोचकाल में उसकी प्रसार्यता बढ़ जाती है, किन्तु स्थितिस्थापकता कम हो जाती है। इसमें निम्नांकित कारणों से परिवर्तन होता है—

(१) भार :—भार में वृद्धि करने से पेशी की प्रसार्यता में वृद्धि होती है, किन्तु यह वृद्धि आनुपातिक नहीं होती और भार बढ़ाने पर भी धीरे-धीरे प्रसार में उतनी वृद्धि नहीं होती। यथा—

भार (ग्राम)	५०	१००	१५०	२००	२५०	३००
कुल प्रसार	३.२	६	८	९.५	१०	१०.३
प्रसार में वृद्धि		२.८	२	१.५	०.५	०.४

समान भार देने पर भी संकुचित पेशी में असंकुचित पेशी की अपेक्षा प्रसार अधिक होता है। इस क्रिया को वेबर का विरोधाभास (Weber's Paradox) कहते हैं।

(२) तापक्रम—शीत से स्थितिस्थापकता में कमी तथा उष्णता से उसमें वृद्धि होती है।

आग्नेय या तापसम्बन्धी परिवर्तन

संकोचकालीन यान्त्रिक तथा रासायनिक परिवर्तनों के कारण पेशी का तापक्रम संकोचकाल में कुछ अधिक हो जाता है। एक संकोच में लगभग .००१° से .००५° डिग्री सेंटीग्रेड तक तापक्रम बढ़ जाता है। इसके माप के लिए सूक्ष्मतापमापकयन्त्र (Thermopile) नामक यन्त्र का प्रयोग होता है। इस यन्त्र में दो असमान धातुओं तथा लौह और जर्मन सिलवर या ऐण्टीमनी और बिस्मथ को मिला कर उनको तार के द्वारा विद्युद्यन्त्र (Galvanometer) से संयोग कराया रहता है। यह यन्त्र इतना सूक्ष्मग्राही होता है कि तापक्रम में थोड़ा भी परिवर्तन होने पर विद्युद्धारा की उत्पत्ति होती है और विद्युद्यन्त्र द्वारा उसका पता चल जाता है।

पेशीसंकोच की दो अवस्थाओं में ताप उत्पन्न होता है :—

(१) प्रारम्भिक ताप (Initial heat)

यह पेशी के संकोचकाल की अवस्था में उत्पन्न होता है।

(२) विलम्बित या विश्रान्तिताप (Delayed heat or Recovery heat)

यह पेशी के विश्रान्तिकाल में होता है और इसका कारण पेशी में ओषजन की उपस्थिति में होने वाले परिवर्तन हैं। ओषजन की अनुपस्थिति में भी यह थोड़े परिमाण में होता है, इसे 'विलम्बित निरोषजन ताप' (Delayed anaerobic heat) कहते हैं। ओषजन की उपस्थिति में यह अधिक बढ़ जाता है।

रासायनिक परिवर्तन

पेशी का संकोच उसमें होनेवाले कुछ रासायनिक परिवर्तनों पर निर्भर करता है। दूसरे शब्दों में, रासायनिक शक्ति कार्य में परिणत हो जाती है :—

सङ्कोच के समय पेशी में निम्नांकित रासायनिक परिवर्तन होते हैं :—

(१) ओषजन का अधिक आहरण।

(२) मलभाग विशेषतः कार्बन द्विओषिद् की अधिक उत्पत्ति।

(३) शर्कराजन से दुग्धाम्ल की उत्पत्ति।

(४) अम्ल प्रतिक्रिया।

(५) उदजन-अणु-केन्द्रीभवन में वृद्धि।

(६) फौस्फेजन का क्रियेटिन और फास्फेट में जलीय विश्लेषण।

(७) ऐडिनिलपाइरोफॉस्फेट का फास्फरिक अम्ल, अमोनिया तथा इनोसिनिक अम्ल में जलीय विश्लेषण।

पेशी के संकोचकाल में ओषजन का अधिक आहरण नहीं होता, किन्तु विश्रान्तिकाल में उसका आहरण होता है जब कि पेशीसंकोच के बाद पुनः अपनी पूर्वावस्था में लौट आती है। इस प्रकार ओषजन की उपस्थिति के अनुसार इसकी दो अवस्थायें होती हैं :—

(क) निरोषजन अवस्था (Anaerobic phase)—

यह पेशी के सङ्कोच एवं प्रसारकाल में होती है। इस अवस्था में दुग्धाम्लजन शर्कराजन तथा दुग्धाम्ल में परिणत होता है।

(ख) सौषजन अवस्था (Aerobic phase)—

यह पेशी के विश्रान्तिकाल में होती है जब ओषजन का उपयोग पूरा होता है। इसमें शर्कराजन और दुग्धाम्ल पुनः दुग्धाम्लजन में परिवर्तित होता है।

पेशी से संकोच के समय दुग्धाम्ल की उत्पत्ति सबसे महत्वपूर्ण रासायनिक परिवर्तन है। पेशीसंकोच के रासायनिक सिद्धान्त के अनुसार दुग्धाम्ल की उत्पत्ति ही पेशीसंकोच को उत्पन्न करती है। किन्तु आधुनिक अनुसंधानों के अनुसार यह देखा गया है कि दुग्धाम्ल संकोच के लिये आवश्यक नहीं है, क्योंकि यह संकोच और प्रसार की अवस्थाओं के बाद उत्पन्न होता है।

दुग्धाम्ल की उत्पत्ति के लिये ग्लुटेथायोन (Glutathione) नामक द्रव्य की आवश्यकता होती है जो आयडो–एसिटिक अम्ल के द्वारा नष्ट हो जाता है। जब पेशी आयडोएसिटिक अम्ल से विषाक्त हो जाती है और दुग्धाम्ल का निर्माण नहीं होता, तब भी पेशी में संकोच उत्पन्न होता है और श्रम भी होता है।

दुग्धाम्ल का निर्माण

पेशी में उत्पन्न दुग्धाम्ल के परिमाण के अनुसार उसमें शर्कराजन की कमी हो जाती है। दुग्धाम्ल के निर्माण की कई अवस्थायें होती हैं और इसके लिए फास्फेट की उपस्थिति आवश्यक है।

(क) सर्वप्रथम शर्कराजन ($C_6H_{10}O_5$) हेक्सोज ($C_6H_{12}O_2$) में परिणत हो जाता है, जो फास्फेजन के जलीय विश्लेषण से उत्पन्न फॉस्फेटों के साथ मिलता है और इस प्रकार हेक्सोजफास्फेट या दुग्धाम्लजन (Hexose-phosphosphates & Lactacidogen) बनता है।

(ख) हेक्सोजफास्फेट पर 'हेक्सोकाइनेज' (Hexokinase) नामक किण्वतत्त्व की क्रिया होती है और वह मेथिल ग्लायोक्सल (Methyl Glyoxal) और स्फुरकाम्ल में परिवर्तित हो जाता है।

(ग) मेथिलग्लायोक्सल पर 'मेथिल ग्लायोक्सलेज' (Methyl glyoxalase) नामक किण्वतत्त्व की क्रिया होती है और इसमें ग्लुटेथायोन नामक सहकिण्वतत्त्व भी सहायक होता है। इस प्रकार वह दुग्धाम्ल ($C_3H_4O_5$) में परिणत हो जाता है और इसके अन्तिम द्रव्य फास्फेट और दुग्धाम्ल होते हैं।

यह ग्लुटेथायोन आयडोएसिटिक अम्ल से नष्ट हो जाता है, अतः इस अम्ल से विषाक्त पेशी जब संकुचित होती है, तब दुग्धाम्ल उत्पन्न नहीं होता। आधुनिक अनुसंधानों से यह सिद्ध हुआ है कि दुग्धाम्ल का सन्निहित पूर्ववर्ती द्रव्य ग्लायोक्सल नहीं, बल्कि पिरुविक अल्डीहाइड (Pyruvic aldehyde, $C_3H_4O_2$) है।

सामान्य अवस्थाओं में इस प्रकार उत्पन्न दुग्धाम्ल का केवल २० प्रतिशत ओषजनीकरण के द्वारा कार्बन द्विओषिद् तथा जल में परिवर्तित हो जाता है :—

$$C_3O_6H_3 + 3O_2 = 3\ CO_2 + \text{ˇ}H_{20}$$
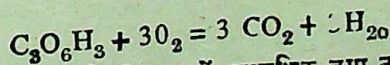
इस रासायनिक परिवर्तन के क्रम में अत्यधिक ताप उत्पन्न होता है और शक्ति भी उत्पन्न होती है जो अवशिष्ट ८० प्रतिशत दुग्धाम्ल को पुनः शर्कराजन में संश्लेषित कर देती है।

पेशी में उत्पन्न दुग्धाम्ल रक्त में शोषित होकर यकृत में पहुँच जाता है जहाँ वह शर्कराजन में परिणत हो जाता है। यकृत का यह शर्कराजन बाहर आकर रक्तगत सत्वशर्करा का रूप धारण करता है और पेशी में पहुँचने पर पुनः 'पेशीशर्कराजन' (Muscle Glycogen) में परिणत हो जाता है। इसे 'कोरीचक्र' (Cori cycle) कहते हैं। ओषजन की अनुपस्थिति में पेशी में दुग्धाम्ल का संचय होने लगता है।

जब शर्करा का दुग्धाम्ल में विश्लेषण होता है तब शक्ति नहीं उत्पन्न होती है किन्तु ओषजनीकरण से जब वह कार्बनद्विओषिद् और जल में परिणत होती है, तब शक्ति का प्रादुर्भाव होता है। इस प्रकार इसकी दो मुख्य अवस्थायें होती हैं:—

(क) हेक्सोज का दुग्धाम्ल में विश्लेषण।

(ख) ओषजनीकरण के द्वारा उसका कार्बनद्विओषिद् और जल में परिणाम।

द्वितीय अवस्था ओषजन की उपस्थिति पर निर्भर करती है। जब ओषजन की प्राप्ति कम होती है यथा यदि पेशी को नत्रजनयुक्त वायुमण्डल में संकुचित कराया जाय तो प्रथम अवस्था के उत्पन्न द्रव्य ज्यों के त्यों रह जाते हैं और उनसे श्रम की अवस्था उत्पन्न होती है। बाद में जब मांसतत्त्व जम जाता है तब मृत्युत्तरसंकोच की अवस्था उत्पन्न होती है। पेशी की अत्यधिक क्रिया ओषजन की कमी का मुख्य कारण है जिससे प्रथम मानसिक तथा बाद में मांसपेशियों में श्रम होता है। इस प्रकार अधिक परिमाण में उत्पन्न दुग्धाम्ल रक्त में प्रविष्ट होने पर रक्ताम्लता (Acidosis) उत्पन्न करता है। अम्लाधिक्य से प्रथम अवस्था में कार्य करने वाले किण्वतत्वों की क्रिया में बाधा होती है अर्थात् शर्कराजन का हेक्सोज और दुग्धाम्ल में विश्लेषण ठीक-ठीक नहीं हो पाता। फलस्वरूप शर्कराजन का कोष पूर्णतया रिक्त होने के पहले ही श्रम उत्पन्न हो जाता है।

फास्फेजन या फास्फोक्रिएटिन

दूसरी महत्त्वपूर्ण रासायनिक प्रतिक्रिया जो पेशी के संकोचकाल में होती है, वह है फास्फेजन या फास्फोक्रियेटिन के जलीय विश्लेषण से क्रियेटिन और फास्फेट का निर्माण। यह प्रतिक्रिया शर्कराजन की अपेक्षा अधिक तीव्रता एवं शीघ्रता से होती है और फास्फेट का उपयोग हेक्सोजफास्फेट के निर्माण में होता है। इस हेक्सोजफास्फेट का जब हेक्सोकाइनेज नामक किण्वतत्व के द्वारा मेथिल ग्लायोक्सल और फास्फेट में परिवर्तन होता है तब आवश्यक

शक्ति प्राप्त होती है । ओषजन की उपस्थिति में फास्फेट और क्रियेटिन पुनः मिलकर फास्फेजन में परिणत हो जाते हैं ।

जब पेशी श्रान्त हो जाती है तब फास्फेजन का विश्लेषण तो होता है, किन्तु उसका पुनः संश्लेषण नहीं होता और जब सब फास्फेजन का जलीय विश्लेषण हो चुकता है तब पेशी में कठिन संकोच (Rigor) उत्पन्न होता है । इससे स्पष्ट है कि फास्फेजन पेशी के संकोच के लिए अत्यावश्यक है और पेशी का संकोच फास्फेजन की मात्रा के अनुपात से ही होता है । इस प्रकार इससे यह भी स्पष्ट होता है कि ऐसी स्थिति में संकोच के लिये आवश्यक शक्ति शर्कराजन से दुग्धाम्ल में विश्लेषण से नहीं प्राप्त होती, बल्कि वह फास्फेजन के विश्लेषण से प्राप्त होती है । इस अवस्था में अम्ल के अभाव से पेशी की प्रतिक्रिया क्षारीय होती है ।

ऐडिनिल पाइरोफास्फेट (Adenyl pyrophosphate)

ऐडिनिलपाइरोफास्फारिक अम्ल, जिसे ऐडिनोसिट्राइफास्फारिक अम्ल भी कहते हैं, पेशीसंकोच की क्रिया में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण योग देता है । पेशीसंकोच के समय यह विश्लेषित होकर फास्फरिक अम्ल तथा ऐडिनिलिक अम्ल में परिवर्तित हो जाता है । ऐडिनिलिक अम्ल का पुनः निरामीकरण के द्वारा अमोनिया तथा इनौसिनिक अम्ल में परिवर्तन होता है । यथा—

ऐडिनोसिनट्राइफास्फरिक अम्ल
→ P_2O_5 + ऐडिनोसिनडाइफास्फेट
ऐडिनोसिनडाइफास्फेट
→ P_2O_5 + ऐडिनोसिनमोनोफास्फेट
ऐडिनोसिनमोनोफास्फेट
→ अमोनिया (NH_3) + इनौसिनिक अम्ल
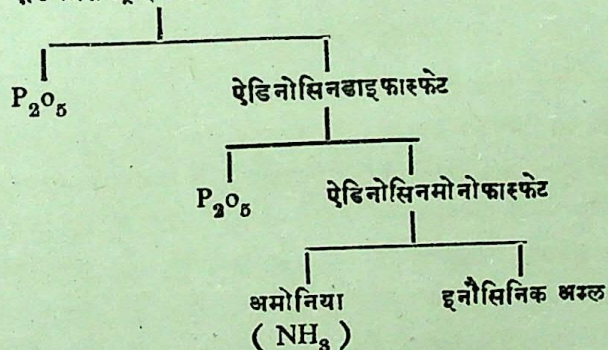
इसके विश्लेषण क्रम में उत्पन्न शक्ति का उपयोग क्रियेटिन और फास्फेट से फास्फेजन के संश्लेषण में होता है । ऐडिनिल पाइरोफास्फेट की उपस्थिति आवश्यक है, क्योंकि इसकी अनुपस्थिति में शर्कराजन का दुग्धाम्ल में परिवर्तन नहीं होता । इसके अतिरिक्त हेक्सोजफास्फेट के निर्माण में इस यौगिक का फास्फेट निरिन्द्रिय फास्फेटों की अपेक्षा अधिक परिमाण में तथा सुविधा से उपयुक्त होता है । इसके समुचित कार्य के लिए मैगनेशियम के अणुओं की उपस्थिति आवश्यक है ।

पेशीसङ्कोच के समय रासायनिक परिवर्तन

फास्फेजन — एडिनिलपाइरोफास्फेट — शर्कराजन ($C_6H_{10}O_5$)

क्रियेटिन P_2O_5 — P_2O_5 — हेक्सोज(C_6H_1

—एडिनिलिक अम्ल

एडिनिलपाइरोफास्फेट (पुनरुद्भूत)

हेक्सोजफास्फेट (दुग्धाम्लजन) + हेक्सोकाइनेज

P_2O_5 — मेथिलग्लायोक्सल

+ मेथिलग्लायोक्सलेज

+ ग्लुटेथायोन

फास्फेजन (पुनरुद्भूत)

पिरुविक अम्ल($C_3H_4O_2$)

दुग्धाम्ल (Lactic acid)

शर्कराजन (पुनरुद्भूत) (कोरीचक्र) — 3 CO_2 + 3H_2O
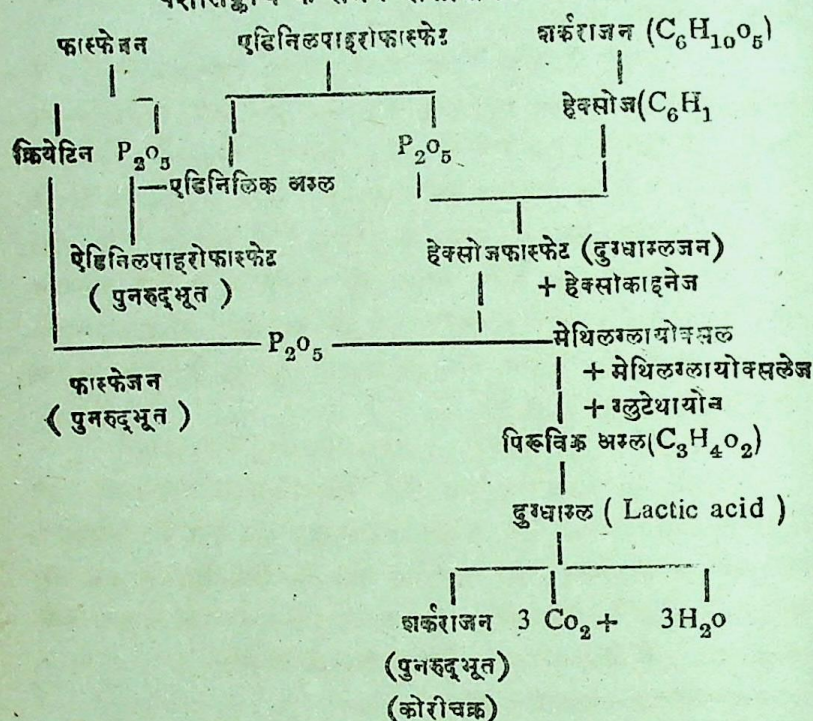
वैद्युत परिवर्तन

संकोच के समय पेशी में रासायनिक परिवर्तनों के साथ-साथ विद्युत् संबंधी परिवर्तन भी होते हैं। इस काल में शक्ति का प्रादुर्भाव केवल ताप के रूप में ही नहीं होता, बल्कि अत्यन्त सूक्ष्म परिमाण में विद्युत् भी प्रकट होता है। वैद्युत परिवर्तन पेशीसंकोच के अव्यक्त काल में प्रारम्भ होते हैं और संकोचकाल के समाप्त होने के पूर्व ही समाप्त हो जाते हैं। पेशी की विश्रामावस्था और संकोचावस्था के वैद्युत स्वरूपों में अन्तर होता है। अतः उनका पृथक् पृथक् अध्ययन सुविधाजनक होगा।

(१) विश्रामावस्था में पेशी की वैद्युत दशा।

यदि मांसपेशी के एक लम्बे टुकड़े को शरीर से पृथक् कर लिया जाय और इसके अनुलम्ब तथा कटे हुए पृष्ठ पर विद्युद्धारामापक यन्त्र लगाया जाय, तो उस यन्त्र की सुई कुछ घूम जाती है जिससे विद्युद्धारा का संकेत मिलता है। विद्युत की इस धारा को 'विश्राम की विद्युद्धारा' (Current of rest) कहते हैं। इस विद्युद्धारा की उत्पत्ति के कारण के सम्बन्ध में अनेक मत प्रचलित हैं, जिनमें दो मुख्य हैं :—

(क) डु ब्वायस रेमण्ड का मत (Du Bois Reymond's theory):—

इसका मत यह है कि मांसपेशी ऐसे अणुओं की बनी है जिसका मध्य भाग ऋण तथा प्रान्तभाग धन होते हैं। प्राकृत जीवित पेशी के मध्यभाग तथा प्रान्तभागों के वैद्युत दबाव में अन्तर सहज है, अतः जब पेशी बीच से काट दी जाती है, तो अनेक धन प्रान्त भाग बाहर निकल आते हैं। इस मत के अनुसार यह विद्युद्धारा स्वभावतः पेशियों में रहती है, किन्तु क्षत होने पर प्रकट हो जाती है।

(ख) हर्मन का मतः—(Hermann's theory)

इसके अनुसार पेशी के मध्य तथा प्रान्तभागों के वैद्युत दबाव में कोई अन्तर नहीं होता, अतः प्राकृत पेशी में कोई विद्युद्धारा नहीं होती। यदि दोनों ध्रुवों पर पेशी समान स्थिति में हो तो वैद्युत स्वरूप में कोई अन्तर नहीं दीखता जैसा कि जीवनकाल में स्वभावतः होता है। विद्युद्धारा की प्रतीति तभी होती है जब पेशी में क्षत होता है। इस प्रकार यह विद्युद्धारा वस्तुतः क्षतजन्य या विभाजक विद्युद्धारा (Current of injury or demarcation current) है जो क्षत भाग में रासायनिक परिवर्तनों के फलस्वरूप वैद्युत दबाव में परिवर्तन के कारण उत्पन्न होती है।

यदि दो असमान तन्तुओं का संयोग कराया जाय तो विद्युद्धारा उत्पन्न होती है। यथा पेशी धन तथा उसकी कण्डरा ऋण होती है और तभी उसमें विद्युत् का प्रवाह संभव है।

इस मत की पुष्टि में निम्नांकित प्रमाण दिये जाते हैं:—

(क) लम्बे सूत्रों वाली पेशी में विद्युद्धारा की अवधि लम्बी होती है। छोटे सूत्रों वाली पेशियों में यह शीघ्र समाप्त हो जाती है।

(ख) काटने के समान ही ताप, विष आदि पदार्थों के कारण क्षत का भी प्रभाव होता है।

विद्युद्धारा का काल

जब तक क्षत रहता है, तब तक यह विद्युद्धारा रहती है।

विद्युद्धारा की प्रतीति

विद्युद्धारा की प्रतीति या उसका निश्चय निम्नांकित यन्त्रों से होता है:—

१. परावर्तक विद्युद्धारा-मापक (Reflective galvanometer)

२. तार " " (String galvanometer)

३. केशिका विद्युन्मापक यन्त्र (Capillary electrometer)
४. केथोड किरण नलिका (Cathode ray tube)

चित्र २३—तारविद्युद्धारामापक
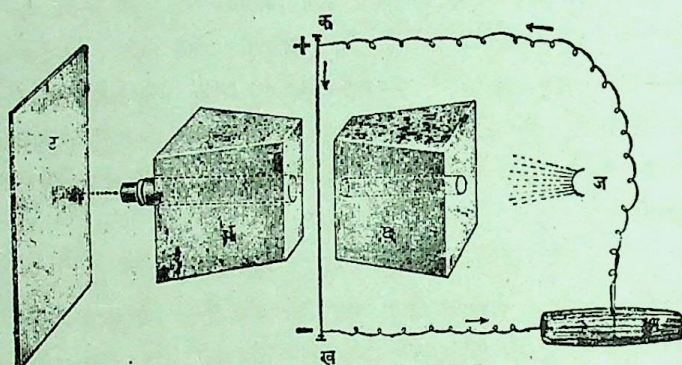
क ख-रजततार, च छ-विद्युत चुम्बक, ज-प्रकाश, ट-पर्दा, म-मांसपेशी।

इनके द्वारा पेशीगत विद्युत् का जो रेखांकित विवरण मिलता है उसे 'विद्युत्पेशी संकोचमाप' (Electromyogram) कहते हैं।

संकोचावस्था में पेशी की वैद्युत दशा

जब पेशी संकुचित होती है तब उसकी वैद्युत दशा में परिवर्तन होने से एक विद्युद्धारा उत्पन्न होती है, जिसे 'क्रियाजन्य विद्युद्धारा' (Current of action) कहते हैं। यह धारा संकुचित होने वाली प्रत्येक पेशी में, चाहे वह क्षत हो या स्वस्थ हो, पाई जाती है। चूँकि यह क्षतजन्य विद्युद्धारा की विपरीत दिशा में होता है, अतः इसे 'ऋणपरिवर्तनीय धारा' (Negative variation current) भी कहते हैं।

क्रियाजन्य विद्युद्धारा का कारण

जब पेशी संकुचित होती है तब उसमें कुछ ऐसे रासायनिक परिवर्तन होते हैं जिनसे उसके वैद्युत दबाव में अन्तर आ जाता है और वह विश्रामावस्था के पेशीसूत्रों की अपेक्षा धन हो जाता है। दूसरे शब्दों में, उत्तेजना का प्रभाव भी क्षत के समान ही होता है। यह प्रभाव अत्यन्त क्षणिक होता है और केवल एक सेकण्ड के हजारवें भाग तक रहता है।

विद्युद्धारा की अवधि

यह धारा तब तक रहती है जब तक कि पेशी में संकोचतरंग रहती है।

विद्युद्धारा का स्वरूप

द्व्यावस्थिक (Diphasic) :—संकोच पहले पेशी से एक प्रान्त भाग

में प्रारंभ होता है और फलस्वरूप वह प्रान्तभाग दूसरे प्रान्तभाग की अपेक्षा धन हो जाता है। क्रमशः जब संकोच तरंग दूसरे प्रान्त में पहुँचती है तब वह प्रान्त पूर्वप्रान्त की अपेक्षा धन हो जाता है। इस प्रकार इस विद्युद्धारा की दो अवस्थायें होती हैं। अतः इसे 'द्व्यावस्थिक परिवर्तनीय विद्युद्धारा' (Diphasic variation current) कहते हैं। यह अक्षत पेशी में मिलती है।

एकावस्थिक (Monophasic):—यह क्षत और अक्षत दोनों प्रकार की पेशियों में मिलती है :—(१) यदि विद्युत्तार के एक प्रान्त को पेशी के क्षतभाग से तथा दूसरे प्रान्त को पेशी के अक्षतभाग से जोड़ दिया जाय और तब पेशी में संकोच कराया जाय तो उसमें विद्युद्धारा एकावस्थिक ही होगी क्योंकि दूसरे प्रान्त में पेशीतन्तु के निर्जीव होने से वह उत्तेजना को ग्रहण नहीं करता फलतः उसमें धारा उत्पन्न नहीं होती। इसलिए दूसरी अवस्था इसमें नहीं होती।

(२) अक्षत पेशी के दीर्घसंकोच (Tetanus) की अवस्था में भी यह विद्युद्धारा मिलती है। इसका कारण यह है कि जिस भाग से संकोचतरंग का प्रारंभ होता है वहाँ बराबर नई-नई संकोचतरंगें उत्पन्न होती रहती हैं और इसलिए वहाँ धन विद्युत् भी बना रहता है।

क्रियाजन्य विद्युद्धारा की प्रतीति

इसकी प्रतीति निम्नांकित यन्त्रों से की जाती है :—

(१) विद्युद्धारामापक यन्त्र। (२) केशिका विद्युन्मापक यन्त्र

(३) क्रियात्मक विद्युन्मापक (Physiological Rheoscope)

द्वितीयक संकोच (Secondary contraction)—

क और ख दो नाडी–पेशी–यन्त्रों को लिया जाय जिनमें दोनों पेशियाँ अक्षत हों और ख की नाडी को क पेशी पर ऐसा रखा जाय कि वह उसके दोनों प्रान्तों के संपर्क में रहे। अब यदि क की नाडी को उत्तेजित किया जाय तो केवल क पेशी ही संकुचित नहीं होती, बल्कि ख की नाडी द्वारा उत्तेजना पहुँचने पर ख की पेशी भी संकुचित होती है। इसे द्वितीयक संकोच कहते हैं।

दो उत्तेजकों का प्रभाव

प्रथम उत्तेजना के बाद कुछ क्षण तक पेशी और नाडी इस स्थिति में रहती है कि यदि उसे पुनः उत्तेजित किया जाय तो उसमें संकोच नहीं होता। इस काल को विश्रामावस्था (Refractory period) कहते हैं। इस काल में पेशी अपनी क्षति की पूर्ति करती है जिससे वह आगामी संकोच कार्य में समर्थ हो सके। यह लगभग ०.०१ सेकण्ड होता है। अतः यदि इस काल में

द्वितीय उत्तेजक का प्रयोग किया जाय तो उसका कोई प्रभाव नहीं होता, किन्तु यदि यह उत्तेजना पर्याप्त समय के बाद पेशी में पहुँचाई जाय तो दो सामान्य पेशीरेखायें अलग अलग बनती हैं। इनमें दूसरी रेखा कुछ बड़ी होती है, इसे सङ्कोच का लाभकर परिणाम (Beneficial effect of contraction) कहते हैं। यदि पेशी में सङ्कोच के अव्यक्त काल में ही दूसरी उत्तेजना दी जाय तो दोनों उत्तेजनायें मिल कर एक सामान्य पेशी रेखा बनाती हैं जो दोनों उत्तेजनाओं की पृथक् पृथक् पेशी रेखाओं से बड़ी होती हैं। इसे उत्तेजकयोग (Summation of Stimuli) कहते हैं। यदि पहली उत्तेजना से उत्पन्न हुये सङ्कोच की अवस्था में ही दूसरी उत्तेजना दी जाय तो दूसरी पेशी रेखा पृथक् न बनकर पहली रेखा में ही जुट जाती है। इसे संयुक्त स्थिति या प्रभाव संयोग (Super position or summation of effects) कहते हैं। प्रथम और द्वितीय उत्तेजनाओं के बीच में कालव्यवधान के अनुसार प्रभाव में भी विभिन्नता होती है।

(क) यदि दोनों उत्तेजकों के बीच का व्यवधान पर्याप्त हो तो आक्षेपों के क्रम उत्पन्न होते हैं (Succesion of twitches)।

(ख) यदि उत्तेजक एक दूसरे के बाद अधिक शीघ्रता से प्रयुक्त किये जायँ तो निरन्तर प्रभाव संयोग देखने में आता है जब तक कि पेशी श्रान्त नहीं होती।

(ग) यदि और शीघ्रता में उत्तेजकों का प्रयोग किया जाय तो एक सुदीर्घ संकोच की अवस्था देखने में आती है जिसमें पेशी पूर्णतया अपनी पूर्वावस्था में कभी नहीं लौटती, किन्तु उसके संकोच की अवस्थायें पृथक् पृथक् स्पष्टरूप से प्रतीत होती हैं। इसे अपूर्ण दीर्घ संकोच (Incomplete tetanus) कहते हैं।

(घ) यदि संकोच और तीव्र और शीघ्र हों तो सभी संकोच की अवस्थायें परस्पर मिलकर एक हो जाती हैं और संकोच पृथक् पृथक् नहीं दिखलाई पड़ता। इसे पूर्ण दीर्घसंकोच (Complete tetanus) कहते हैं।

पेशीतरंग (Muscle-wave)

नाड़ी सूत्रों के द्वारा तरङ्ग का शीघ्र संवहन होने के कारण स्वभावतः पेशी के सभी सूत्र एक ही समय संकुचित होते हैं किन्तु कुरार नामक औषध के द्वारा नाड़ी को शून्य करने पर यह देखा गया है कि मेढक की पेशी में

इसकी गति प्रतिसेकण्ड ३ मीटर तथा मनुष्य की पेशियों में १०--१३ मीटर प्रतिसेकण्ड है। इसकी गति उष्णता से बढ़ती तथा शीत से घटती है।
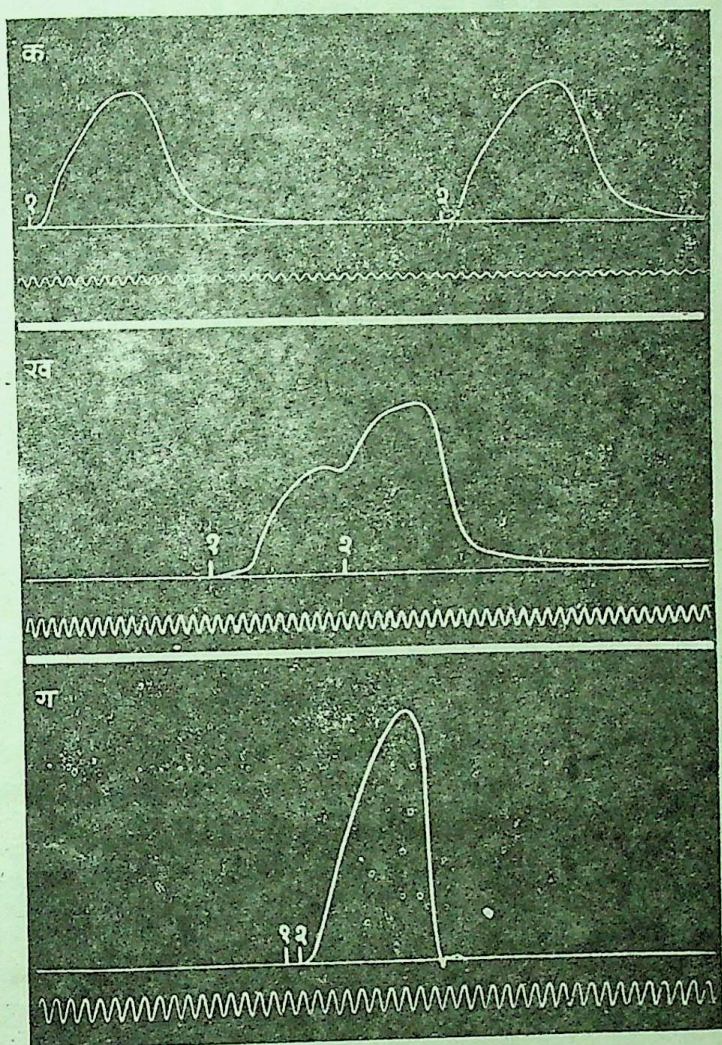
चित्र २४—दो उत्तेजकों का प्रभाव

१-प्रथम उत्तेजक, २-द्वितीय उत्तेजक

क—संकोच का क्रमकर परिणाम, ख—प्रभावसंयोग, ग-उत्तेजकयोग।

ऐच्छिक दीर्घसंकोच (Voluntary tetanus)

प्रयोगों द्वारा यह सिद्ध है कि परतन्त्र पेशियों में जो ऐच्छिक सङ्कोच होता

है वह वास्तव में अपूर्ण दीर्घसङ्कोच की ही अवस्था होती है क्योंकि नाडीकेन्द्रों से पेशी तक एक उत्तेजना नहीं बल्कि अनेक उत्तेजनाओं का समूह आता रहता है। ऐड्रियन तथा ब्रौन्क (Adrian & Bronk) के अनुसार प्रतिसेकण्ड ५० उत्तेजनायें आती हैं। भिन्न-भिन्न पेशियों से इसकी संख्या में अन्तर होता है। यथा महाप्राचीरा में इसकी संख्या ७० प्रतिसेकण्ड है। कुचला विष में इनकी संख्या में अन्तर नहीं होता, केवल संकोचतरङ्ग की ऊँचाई में वृद्धि हो जाती है।

पेशी का स्वाभाविक संकोच (Muscle tonus)

संकोच और प्रसार के अतिरिक्त सजीव पेशी दबाव या निरन्तर सङ्कोच की स्थिति में स्वभावतः रहती है जो सामान्यतः अल्पतप होता है और समय समय पर परिवर्तित होता रहता है। से पेशी का स्वाभाविक सङ्कोच (Muscle tonus) या स्थितिजन्य संकोच (Postural contraction) कहते हैं।

कारण :—

(१) यह पेशियों के नाडीकेन्द्रों के साथ सम्बन्ध पर निर्भर करता है। पेशियों की गति के कारण उनमें स्थित नाड़ियों के अग्रभाग सदैव उत्तेजित होते रहते हैं। अतः संज्ञावह या चेष्टावह नाडी के विच्छिन्न होने पर स्वाभाविक सङ्कोच नष्ट हो जाता है। यह उच्च केन्द्रों पर पूर्णतः निर्भर नहीं होता, किन्तु उनके द्वारा नियन्त्रित होता है।

(२) कुछ सीमा तक यह स्वस्थ रक्त द्वारा पेशियों के पोषण पर निर्भर करता है। अत एव पोषण की कमी से पेशी का स्वाभाविक संकोच कम हो जाता है और वह शिथिल हो जाती है।

महत्त्व :—

(१) इसके द्वारा पेशियाँ संकोच के लिए अनुकूल अवस्था में बनी रहती हैं।

(२) शाखाओं की स्थिति को बनाये रखने के लिए यह आवश्यक है। अतः जब पेशी का स्वाभाविक संकोच नष्ट हो जाता है, तब शाखाओं की सन्धियाँ शिथिल हो जाती हैं।

(३) पेशियों के निरन्तर स्वाभाविक संकोच के कारण शरीर में अत्यधिक परिमाण में ताप उत्पन्न होता है। अतः यह तापोत्पत्ति का बहुत महत्त्वपूर्ण साधन है।

सम्भारिक और समाकारिक संकोच
(Isotonic and isometric Contractions)

यदि पेशी को एक उठाने योग्य बोझ दिया जाय तो वह उस बोझ को उठा लेती है और उसका आकार संकुचित और छोटा हो जाता है। संचित-

चित्र २५—दीर्घसंकोच के विभिन्न रूप
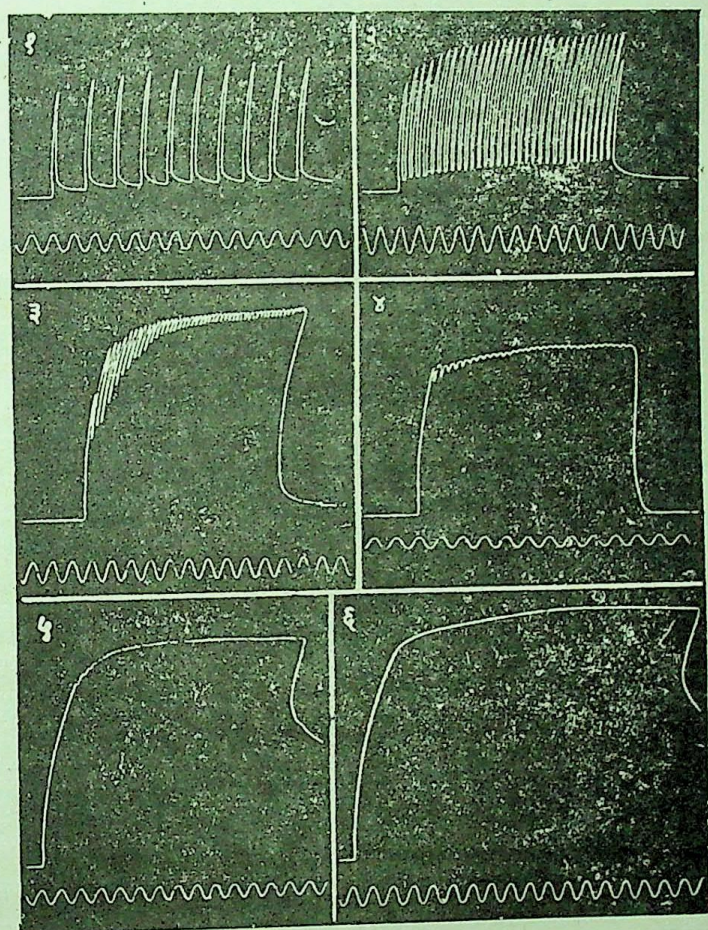
१-२-पृथक् आक्षेप सोपानक्रम में। ३-४-अपूर्ण दीर्घसंकोच।
५-६-पूर्ण दीर्घसंकोच।

शक्ति कार्यरूप में परिणत होती है। पेशी पर निरन्तर समान भार रहने के कारण इस संकोच को समभारिक कहते हैं।

इसके विपरीत, यदि पेशी एक मजबूत स्प्रिंग के विरुद्ध कार्य करे, तो वह संकुचित नहीं हो पाती और उसकी लम्बाई ज्यों की त्यों रहती है। सारा दबाव पेशी के स्थिर प्रान्त भागों पर पड़ता है। आकार में परिवर्तन नहीं होने के कारण इसे समाकारिक संकोच कहते हैं। इसमें लगभग सारी शक्ति ताप में परिणत हो जाती है।

इनका अंकित विवरण पेशीसंकोचमापकयंत्र के द्वारा प्राप्त किया जाता है। समाकारिक और समभारिक संकोच प्रायः समान ही होते हैं, किन्तु समभारिक की अपेक्षा समाकारिक में निम्नांकित विशेषताएँ होती हैं :—

(१) यह उच्चतम सीमा पर शीघ्र पहुँच जाता है।

(२) दबाव में वृद्धि अकस्मात् प्रारंभ होती है।

(३) संकोचकाल की अवधि लम्बी होती है।

(४) इसका अंकित विवरण भी स्पष्ट मिलता है।

पेशी-संकोच के समय प्रादुर्भूत शक्ति

जब पेशी संकुचित होती है तब शक्ति का प्रादुर्भाव निम्नांकित रूपों में होता है :—

(१) ताप की उत्पत्ति (२) वैद्युत शक्ति का विकास

(३) बाह्यक्रिया की परिसमाप्ति

इन तीनों प्रकार की शक्ति का मूल कारण संकोच के समय होने वाले रासायनिक परिवर्तन हैं। उन परिवर्तनों के क्रम में जटिल अणुओं का विश्लेषण होता है और उनसे साधारण अणु बनते हैं। इस प्रकार जटिल अणुओं के परमाणुओं को परस्पर धारण करने वाली रासायनिक या आभ्यन्तरिक शक्ति मुक्त होकर उपर्युक्त तीनों रूपों में प्रादुर्भूत होती है।

आभ्यन्तर और बाह्य शक्तियों का अनुपात

कुल शक्ति का १५ से ३३ प्रतिशत तक कार्यरूप में परिणत होता है। व्यायाम करने वाले व्यक्तियों में यह अधिक तथा अकर्मण्य व्यक्तियों में कम होता है। उन्मुक्त शक्ति का जितना भाग कार्यरूप में उपयुक्त होता है, उसे 'कार्यसामर्थ्य' (Mechanical efficiency) कहते हैं। अन्य भौतिक यन्त्रों से तुलना करने पर शरीरगत पेशियों का कार्य सामर्थ्य अधिक स्पष्ट प्रतीत होता है। वाष्प से चलने वाले इंजिन ८ से १० प्रतिशत तथा पेट्रोल से चलनेवाले इंजिन २० प्रतिशत ही शक्ति का उपयोग कार्य में कर पाते हैं, जब कि मानव शरीर में पेशीसंकोच के समय प्रादुर्भूत शक्ति का लगभग ४० प्रतिशत कार्यरूप में परिणत होता है। इसके अतिरिक्त भी ताप के रूप में जो

शक्ति अवशिष्ट रहती है वह व्यर्थ नहीं जाती, बल्कि शरीर का स्वाभाविक तापक्रम बनाये रखने में सहायक होती है।

दूसरा महत्त्वपूर्ण अन्तर पेशी तथा भौतिकयन्त्रों में यह है कि भौतिकयन्त्रों में इन्धन का ओषजनीकरण तथा शक्ति का प्रादुर्भाव साथ होता है, किन्तु पेशी में शक्ति के प्रादुर्भाव (संकोच) के बाद ओषजनीकरण होता है।

पेशीश्रम (Fatigue)

परिभाषा :—

पेशी के अत्यधिक परिश्रम के कारण उसके गुणकर्म में ह्रास हो जाता है। इसे श्रम की अवस्था कहते हैं। दूसरे शब्दों में, श्रम एक ऐसी अवस्था है जिसमें कार्याधिक्य के कारण पेशी की क्रियाओं का अवरोध हो जाता है तथा उसके उत्तेजनीयता, संकोचशीलता और वाहकता इन गुणों में कमी हो जाती है।

श्रमयुक्त पेशी का स्वरूप

१. उत्तेजनीयता में कमी। २. संकोचशीलता में कमी।

३. स्थितिस्थापकता में कमी। ४. संकोच की संख्या में कमी।

५. संकोच की शक्ति में कमी। ६. शक्ति के प्रादुर्भाव में कमी।

७. प्रसार के क्रम में अत्यधिक कमी।

८. जाड्य (Contracture)—यह एक ऐसी अवस्था है जिसमें पेशी संकुचित अवस्था में ही रहती है तथा उसी के अनुसार उसका आकार भी छोटा हो जाता है।

श्रम के कारण

(१) मलरूप पदार्थों का—

(क) केन्द्रीय नाडीसंस्थान (ख) पेशियों (ग) रक्त

(घ) उदजन-अणु-केन्द्रीभवन में वृद्धि के कारण पेशियों पर विषाक्त प्रभाव।

(२) शक्त्युत्पादक यौगिकों की (इंधन की कमी) तथा फास्फेजन के पुनः संश्लेषण का अभाव।

श्रम के कारणों का प्रमाण

(१) केन्द्रीय नाडीसंस्थान पर विषाक्त प्रभाव—

जब पेशी अत्यधिक कार्य करती है तब केवल शर्कराजन आदि शक्त्युत्पादक यौगिकों की ही कमी नहीं होती, बल्कि उन क्रियाओं के परिणामस्वरूप उत्पन्न हानिकारक रासायनिक मलपदार्थों का भी संचय होता है जिनका समुचित रूप से उत्सर्ग नहीं हो पाता। ये मलपदार्थ दुग्धाम्ल, कार्बनद्विओषिद

तथा अम्ल पोटाशियम फास्फेट (KH_2PO_4) है। इनका प्रभाव यों तो सम्पूर्ण शरीर पर होता है किन्तु मुख्यतः इनका विषाक्त प्रभाव केन्द्रीय नाडी-संस्थान पर पड़ता है। इन मलपदार्थों के सञ्चय का सबसे पहला प्रभाव होता है मानसिक श्रम (क्लम) की उत्पत्ति, जिससे कार्य के प्रति अनिच्छा उत्पन्न होती है, यद्यपि कार्य के प्रति असामर्थ्य इतना नहीं होता है। निम्नांकित प्रमाण इसके पक्ष में हैं :—

(१) श्रम की अवस्था में चाय, कॉफी आदि लेने से केन्द्रीय नाडीसंस्थान की उत्तेजना के कारण कार्य में क्षणिक वृद्धि हो जाती है।

(२) अत्यधिक मानसिक परिश्रम से भी पेशीश्रम उत्पन्न हो जाता है। इसका कारण यह है कि नाडीकोषाणुओं में अधिक उत्तेजना पहुँचने से उसकी क्रिया में भी अवरोध हो जाता है। उच्च केन्द्रों के इस प्रकार क्रियानिरोध से पेशियों का अत्यधिक क्षय नहीं होने पाता और दूसरे शब्दों में, वह रक्षक प्रत्यावर्तित चेष्टा के समान कार्य करता है।

(२) पेशियों पर विषाक्त प्रभाव—

(क) श्रान्त पेशियों के सत्व का स्वाभाविक पेशियों में अन्तःक्षेप करने से श्रम उत्पन्न होता है, किन्तु स्वाभाविक पेशीके सत्व का अन्तःक्षेप करने से ऐसा कोई परिणाम नहीं होता।

(ख) स्वस्थ पेशी में पेशीदुग्धाम्ल का प्रवेश करने से श्रम उत्पन्न होता है और क्षारीय विलयन से धो देने पर वह दूर हो जाता है।

पेशी के सङ्कोचकाल में यदि उत्पन्न दुग्धाम्ल को बाहर निकालते रहने का प्रबन्ध किया जाय तो जब तक पेशीगत शर्कराजन का पूरा कोष समाप्त नहीं हो जाता तब तक श्रम की अवस्था उत्पन्न नहीं होती। स्वभावतः शरीर में विषपदार्थों के निराकरण का कार्य रक्त प्रवाह के द्वारा सम्पादित होता है। अभ्यङ्ग आदि का प्रभाव भी इसी के द्वारा होता है। ओषजनीकरण के द्वारा भी यह पदार्थ नष्ट होते हैं। पेशी में जब दुग्धाम्ल का परिमाण ०.२५ से ०.४ प्रतिशत तक होता है, तब वह श्रमयुक्त हो जाती है और उत्तेजकों का उस पर कोई प्रभाव नहीं होता। इसे 'उच्चतम दुग्धाम्ल की सीमा' (Lactic acid Maximum) कहते हैं। इस अम्ल की अल्प मात्रा से पेशी में सोपानक्रम के समान उत्तेजना होती है, किन्तु शनैः-शनैः मात्रा बढ़ाते जाने से श्रम उत्पन्न हो जाता है। श्रम के रासायनिक सिद्धान्त के अनुसार ये विषपदार्थ ही श्रम के लिये उत्तरदायी हैं, किन्तु साथ-साथ पेशी को पूर्ण अशक्त होने से बचाते भी हैं। यदि प्राणी आयडो एसिटिक अम्ल नामक विष से पीड़ित हो तो दुग्धाम्ल उत्पन्न नहीं होता और तब पेशी का सङ्कोच फास्फेजन के विश्ले-

षण से होता रहता है। ऐसी स्थिति में, जब पेशी में फास्फेजन का परिमाण कम हो जाता है तब श्रम की अवस्था उत्पन्न होती है।

(३) रक्त पर विषाक्त प्रभाव—

(क) संकोच के समय पेशी में उत्पन्न दुग्धाम्ल रक्तप्रवाह में प्रविष्ट हो जाता है और यह भी देखा गया है कि पेशी से बाहर जाने वाले सिरागत रक्त में दुग्धाम्ल अधिक रहता है।

(ख) श्रान्त प्राणी का रक्त, जिसमें दुग्धाम्ल अधिक परिमाण में होता है, स्वस्थ प्राणी में प्रविष्ट करने से श्रम उत्पन्न करता है।

(ग) पेशियों के एक समूह का संकोच केवल उसी समूह की पेशियों में श्रम उत्पन्न नहीं करता, बल्कि शरीर की अन्य सभी पेशियों में श्रम उत्पन्न करता है।

(४) उद्जन-अणु केन्द्रीभवन में वृद्धि का विषाक्त प्रभाव—

जब उद्जन-अणु-केन्द्रीभवन में वृद्धि होती है तब पेशी में श्रम उत्पन्न होता है। इसका प्रमाण यह है कि यदि पेशी को किंचित् अम्ल विलयन में रक्खा जाय तो दुग्धाम्ल की उच्चतम सीमा के कम होने से पेशी श्रान्त हो जाती है, यद्यपि उसमें दुग्धाम्ल का परिमाण केवल ०·१ प्रतिशत होता है।

शक्त्युत्पादक द्रव्यों की कमी

(क) श्रान्तपेशी के श्रम के निराकरण में मलपदार्थों के निर्हरण के लिए आवश्यक समय से बहुत अधिक समय लगता है। इससे सिद्ध होता है कि मलपदार्थों के अतिरिक्त भी श्रम के कारण हैं, यथा :—

(१) ओषजन की कमी।
(२) शर्कराजन, क्रियेटिन आदि में कमी।
(३) फास्फेजन के पुनः संश्लेषण का अभाव।

(ख) यदि पेशी में दीर्घ सङ्कोच की अवस्था उत्पन्न हो जाय तब भी शर्करा और ओषजन देते रहने से देर में श्रम उत्पन्न होता है।

(ग) श्रान्त पेशी के श्रम का निराकरण शीघ्र होता है यदि उसे ओषजन और शर्करा दी जाय।

शक्त्युत्पादक द्रव्यों की अत्यधिक कमी से पेशी अशक्त हो जाती है।

श्रम का अधिष्ठान

नाडीपेशी समुदाय के किस भाग में प्रभाव होने से श्रम की अवस्था उत्पन्न होती है, यह एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न है। निम्नांकित प्रयोग से यह देखा गया है कि श्रम का सर्वप्रथम स्थान केन्द्रीय नाडीसंस्थान है :—

(१) यदि कोई व्यक्ति कोई बोझ निरन्तर उठाता रहे तो थोड़ी देर के

बाद प्रबल ऐच्छिक प्रयत्नों के होते हुए भी वह उसे उठाने में असमर्थ हो जाता है। किन्तु यदि नाडी को उत्तेजित किया जाय तो ऐसी स्थिति में भी पेशी में संकोच होता है और बोझ उठा लिया जाता है। इससे सिद्ध है कि केन्द्रीय नाडीसंस्थान द्वारा नाडी को उत्तेजना न मिलने से ही श्रम उत्पन्न होता है, यद्यपि नाडी, नाडी के अग्रभाग तथा पेशी प्राकृत स्थिति में रहती है। इसीलिये नाड़ी को सीधे उत्तेजित करने से श्रान्त पेशी में भी संकोच होता है।

यदि नाड़ी को अधिक देर तक उत्तेजित किया जाय तो एक समय के बाद पेशी में पुनः सङ्कोच बन्द हो जाता है। इसका कारण नाड़ियों के अन्तः-स्थलों (Endplates) का श्रम है। प्रयोग द्वारा यह देखा गया है कि केन्द्रीय नाड़ीसंस्थान के बाद नाड़ियों के अन्तःस्थलों का श्रम होता है।

(२) नाड़ियों के अन्त्य भाग :—

यदि श्रान्त पेशी, जिसका सङ्कोच नाड़ियों की निरन्तर उत्तेजना के बाद पुनः बन्द हो गया है, सीधे उत्तेजित की जाय, तो उसमें फिर संकोच होता है। इससे स्पष्ट है कि पेशी की उत्तेजनीयता बनी रहती है और श्रम का स्थान नाड़ियों या उनके अन्तःस्थलों में हो सकता है। निम्नांकित प्रयोग से यह सिद्ध है कि श्रम का स्थान नाड़ियों के अन्तःस्थल हैं :—

मेढक में कुरार नामक औषध के दो प्रतिशत विलयन की कुछ बून्दों को प्रविष्ट करके एक नाड़ी पेशीयन्त्र बना लें। इसमें नाड़ी को उत्तेजित करने से पेशी में संकोच नहीं होता क्योंकि कुरार की क्रिया से नाड़ियों के अन्तःस्थल शून्य और क्रियाहीन हो जाते हैं। इस पर भी यदि नाड़ी को लगातार लगभग २ घण्टों तक उत्तेजित किया जाय तो तब तक कुरार का प्रभाव समाप्त हो जाने के कारण पेशी में पुनः सङ्कोच होने लगता है। इससे सिद्ध है कि नाड़ी को लगातार दो घण्टों तक उत्तेजित करते रहने पर भी उसमें श्रम उत्पन्न नहीं होता और जैसे ही कुरार का प्रभाव अन्तःस्थलों से हटता है वैसे ही इसके द्वारा पेशी में उत्तेजना पहुँचने लगती है। अतः श्रम का स्थान नाड़ियों के अन्तःस्थल हैं।

(३) पेशी :—

केन्द्रीय नाडी संस्थान तथा अन्तःस्थलों के बाद श्रम का तीसरा स्थान पेशी है। इधर बतलाया गया है कि कुरार के अन्तःक्षेप के बाद नाड़ी की उत्तेजना के बाद भी पेशी में संकोच नहीं होता। ऐसी स्थिति में, यदि पेशी को सीधे उत्तेजित किया जाय तो उसमें संकोच होता है किन्तु कुछ समय

तक निरन्तर उत्तेजित करते रहने से संकोच बन्द हो जाता है। इसका कारण पेशी का श्रम है।

(४) नाड़ी—नाडी सबसे अन्तिम भाग है जिसमें श्रम की अवस्था उत्पन्न होती है। वैलर नामक विद्वान् के मत में नाड़ियों में श्रम उत्पन्न नहीं होता क्योंकि उसमें विनाश की क्रिया बहुत कम तथा संधानात्मक क्रिया अधिक होती है, कारण कि मेदस कोष से उन्हें पोषक पदार्थ अधिक परिमाण में मिलता रहता है। हैलिबर्टन और ब्रौडी ने यह सिद्ध किया है कि अमेदस नाड़ी में मेदस नाडी के समान श्रम नहीं उत्पन्न होता। उनमें जो भी उत्ते-जना-जन्यश्रम (Stimulation fatigue) होता है, वह स्थानिक होता है तथा उसका कारण निरन्तर उत्तजना के कारण नाडी धातु का क्षत होना है।

मृत्यूत्तर सङ्कोच (Rigor mortis)

परिभाषा:—मृत्यु के बाद पेशी में उत्तरोत्तर तीन अवस्थायें होती हैं :—

(१) संकोचशीलता के साथ प्रसार।

(२) संकोचहीनता और काठिन्य।

(३) विघटन के साथ प्रसार।

दूसरी अवस्था का नाम मृत्यूत्तर संकोच है। दूसरे शब्दों में, मृत्यूत्तर संकोच पेशीद्रव्य में रासायनिक परिवर्तन का परिणाम है जिससे उसके गुण-धर्म सदा के लिए नष्ट हो जाते हैं।

मृत्यूत्तर सङ्कोच में पेशी का स्वरूप

मृत्यूत्तर संकोच में पेशी में निम्नांकित परिवर्तन होते हैं :—

१. पारभासकता एवं चमक का अभाव। २. क्रमिक संकोच।

३. ताप की उत्पत्ति। ४. आम्लिकता का विकास।

५. कार्बन द्विओषिद् तथा अन्य मलपदार्थों की उत्पत्ति।

६. पेशियों का स्पर्श कठिन और दृढ। ७. प्रसार्यता में कमी।

८. स्थिति-स्थापकता में कमी। ९. उत्तेजनीयता का नाश।

१०. स्वस्थ पेशी के प्रति धनविद्युत् युक्त। ११. पेशीगत मांससार का जमना।

कारण

इसका कारण पेशी के सङ्गठन में रासायनिक परिवर्तन है जिसके द्वारा पेशी के विलेय मांससार 'मायोसिन' किण्व तत्त्व के द्वारा अविलेय रूप में होकर जम जाते हैं।

उत्पत्ति और विनाश का क्रम

मृत्यूत्तर सङ्कोच सभी पेशियों में एक साथ नहीं होता। इसकी उत्पत्ति निम्नांकित क्रम से होती है :—

१. ग्रीवा और हनु। २. ऊर्ध्वशाखायें।
३. मध्यकाय। ४. अधःशाखायें।

विशिष्ट अङ्गों में यह सामान्यतः ऊपर से नीचे की ओर बढ़ता है और उसी क्रम से नष्ट भी होता है।

उत्पत्ति का काल और अवधि

यह मृत्यु के बाद १० मिनट से ७ घण्टे तक होता है। यह जितना ही शीघ्र होता है उतना ही शीघ्र समाप्त भी होता है।

मृत्यूत्तर संकोच के प्रारम्भ का प्रभावित करने वाले कारण

(१) पेशी का स्वरूप :—शीतरक्त प्राणियों की अपेक्षा उष्णरक्त प्राणियों में शीघ्र होता है। लाल पेशियों की अपेक्षा पीत पेशियों में तथा प्रसारक पेशियों की अपेक्षा संकोचक पेशियों में पहले होता है।

(२) पेशी की दशा :—यह बलवान् और शक्तिशाली पेशियों में विलम्ब से तथा क्षययुक्त या श्रान्त पेशियों में शीघ्रतर प्रारम्भ होता है। यह देखा गया है कि युद्ध के आरम्भिक भाग में मरनेवाले सैनिकों में मृत्यूत्तर संकोच देर से शुरू होता है तथा थक कर युद्ध के अन्तिम भाग में मरने वाले सैनिकों में यह जल्दी शुरू होता है।

(३) तापक्रम :—यह शुष्क और शीत वायु में देर से तथा उष्ण और आर्द्रवायु में शीघ्र प्रारम्भ होता है।

(४) पेशी की विषयुक्त अवस्था :—विरेट्रिन, कैफीन, हाईड्रोसायनिक अम्ल तथा क्लोरोफार्म जैसे विषों से युक्त होने पर पेशी में मृत्यूत्तर संकोच शीघ्र प्रारम्भ होता है। शंखिया के कारण यह देर से होता है और देर तक रहता है।

(५) नाड़ीसंस्थान के साथ संबन्ध :—चेष्टावह नाड़ी के विच्छिन्न या रुग्ण होने पर मृत्यूत्तर संकोच विलम्ब से तथा मन्दगति से होता है।

प्राकृत संकोचयुक्त तथा मृत्यूत्तर संकोचयुक्त पेशी में समानता

प्राकृत संकोचयुक्त तथा मृत्यूत्तर संकोचयुक्त पेशी में निम्नांकित समानता ध्यान देने योग्य है :—

१. आकृतिगत परिवर्तन। २. स्थिति स्थापकता में कमी।
३. ताप की उत्पत्ति। ४. ओषजन का अधिक उपयोग।
५. मलपदार्थों की अधिक उत्पत्ति। ६. दुग्धाम्ल का निर्माण।
७. अम्ल प्रतिक्रिया। ८. शर्कराजन का शर्करा में परिणाम।

प्राकृत सङ्कोचयुक्त तथा मृत्यूत्तर सङ्कोचयुक्त पेशी में अन्तर

प्राकृतिक संकोचयुक्त पेशी	मृत्यूत्तर संकोचयुक्त पेशी
१. मांससार विलेय	१. मांससार जमा हुआ
२. पारभासक	२. अपारदर्शक
३. कोमल और संकोचशील	३. कठिन और दृढ
४. संकोच अकस्मात् और तीव्र	४. संकोच मन्द और क्रमिक
५. संकोच का क्षेत्र कम	५. संकोच का क्षेत्र अधिक
६. अधिक प्रसार्य	६. कम प्रसार्य
७. श्रम शीघ्र होता है तथा अन्त में प्रसार होता है।	७. अधिक कालतक संकुचित रहता है।

शविक काठिन्य (Cadaveric rigidity)

मृत्यु के समय मृत्यु के ठीक पहले पेशियों में जो काठिन्य होता है उसे शविक काठिन्य कहते हैं। यह मृत्यु के कुछ देर बाद तक रहता है और फिर मृत्यूत्तर संकोच में परिणत हो जाता है। इसमें अचानक शरीर की पेशियों में स्तम्भ होता है और मृत्यु के समय मनुष्य की जो स्थिति होती है वही बाद तक बनी रहती है। यह साधारणतः निम्नांकित कारणों से होता है :—

(१) मृत्यु के पूर्व अत्यधिक व्यायाम।

(२) केन्द्रीय नाडीसंस्थान की प्रबल विकृति के कारण मृत्यु यथा मस्तिष्कगत रक्तस्राव।

(३) अचानक मृत्यु

(४) श्वासावरोधजन्य मृत्यु यथा जलनिमज्जन आदि।

पेशी का रासायनिक संघटन

जल ७८% ठोस भाग, २२%

मांसतत्त्व १७–२०

अलब्यूमिन (क) मायोजन या मायोसिनोजन। (ख) मायो-अलब्युमिन।

ग्लोब्यूलिन (क) मायोसिन या पैरामायोसिनोजन।

(ख) ग्लोब्यूलीन एक्स (X)

स्ट्रोमा मांसतत्त्व

केन्द्रक मांसतत्त्व (Nucleoprotein)

रञ्जक मांसतत्त्व–मांसरञ्जक (Myochrome)

(Chromoprotein) कोषरञ्जक (Cytochrome)

कोलेजन (Collagen)

स्नेह—स्फुरकस्नेह (Phoshpolipids) के रूप में २–५%

Olein, Stearin, Palmitin.

शाकतत्त्व—द्राक्षाशर्करा, शर्कराजन (३%)

सत्त्वपदार्थ—(Fxtractives):—(नत्रजनरहित) ०·५%।

Inositol (०·००३%)

दुग्धाम्ल

(नत्रजनयुक्त)—क्रिएटिन क्रिएटिनिन

क्रिएटिनफास्फरिक अम्ल (फास्फेजन)

हेक्सोजफास्फेट

एडिनिल पाईरोफास्फरिक अम्ल (Adenyl pyrophosphoric acid)

कार्नोसिन (०·२५%)

ऐन्सरीन

प्यूरिन—जैन्थीन, हाइपो जैन्थीन, ऐडिनीन, ग्वैनीन।

ग्लुटाथायोन, हिस्टेमीन

अकार्बनिक लवण— १·२%

पोटाशियम, सोडियम, सुधा, मैगनेशियम, लौह के क्लोराइड, सल्फेट तथा फास्फेट।

किण्वतत्त्व—मांसतत्त्वविश्लेषक (Proteolytic)

शाकतत्त्वविश्लेषक (Amylolytic)

शर्कराजनविश्लेषक (Glycolytic)

स्कन्दक (Coagulative) ओषजनीकरण (Oxidative)।

पेशी-व्यायाम का शरीर पर प्रभाव

पेशी-व्यायाम का लगभग शरीर के सभी अङ्गों एवं उनकी क्रियाओं पर पड़ता है।[1]

---

१. 'स्वेदागमः श्वासवृद्धिर्गात्राणां लाघवं तथा।
हृदयाद्युपरोधश्च इति व्यायामलक्षणम्॥
लाघवं कर्मसामर्थ्यं स्थैर्यं क्लेशसहिष्णुता।
दोषक्षयोऽग्निवृद्धिश्च व्यायामादुपजायते॥' —च० सू० ७
शरीरोपचयः कान्तिर्गात्राणां सुविभक्तता।
दीप्ताग्नित्वमनालस्यं स्थिरत्वं लाघवं मृजा॥
श्रमक्लमपिपासोष्णशीतादीनां सहिष्णुता।'
आरोग्यं चापि परमं व्यायामादुपजायते॥

(१) पेशियों में परिवर्तन—

(क) भीतरी अवकाशों में द्रव के आधिक्य के कारण पेशीभार में २० प्रतिशत तक वृद्धि ।

(ख) पेशियाँ छोटी और कठिन हो जाती हैं ।

(ग) शर्कराजन तथा क्रिएटिन फास्फेट की मात्रा में कमी।

(घ) क्रिएटिन, अकार्बनिक फास्फेट तथा लैक्टेट में वृद्धि ।

(ङ) दुग्धाम्ल तथा कार्बनद्विओषिद् की वृद्धि, फलतः रक्तरञ्जक द्रव्य से ओषजन के पृथक्करण में सुविधा ।

(च) दुग्धाम्ल के कारण श्रम की अवस्था तथा उसके कारण ओषजन-ऋण की उत्पत्ति ।

(छ) तापसम्बन्धी तथा विद्युत्सम्बन्धी परिवर्तन ।

(२) श्वसनसंबन्धी परिवर्तन—

(क) श्वास की संख्या और गम्भीरता में वृद्धि, फलतः

(ख) फुफुसीय व्यजन में अत्यधिक वृद्धि लगभग १०० लिटर तक; यह निम्नांकित कारणों से श्वसनकेन्द्र के प्रभावित होने से होते हैं :—

(१) रक्त में दुग्धाम्ल तथा कार्बनद्विओषिद की अधिक वृद्धि के कारण उदजन-अणु केन्द्रीभवन में वृद्धि ।

न चास्ति सदृशं तेन किंचित् स्थौल्यापकर्षणम् ।
न च व्यायामिनं मर्त्यमर्दयन्त्यरयो भयात् ॥
न चैनं सहसाक्रम्य जरा समधिरोहति ।
स्थिरीभवति मांसं च व्यायामाभिरतस्य च ॥
व्यायामक्षुण्णगात्रस्य पद्भ्यामुद्वर्तितस्य च ।
व्याधयो नोपसर्पन्ति सिंहं क्षुद्रमृगा इव ॥
वयोरूपगुणैर्हीनमपि कुर्यात् सुदर्शनम् ।
व्यायामं कुर्वतो नित्यं विरुद्धमपि भोजनम् ॥
विदग्धमविदग्धं वा निर्दोषं परिपच्यते ॥
व्यायामो हि सदा पथ्यो बलिनां स्निग्धभोजिनाम् ।
स च शीते वसन्ते च तेषां पथ्यतमः स्मृतः ॥
सर्वेष्वृतुष्वहरहः पुम्भिरात्महितैषिभिः ।
बलस्यार्धेन कर्तव्यो व्यायामो हन्त्यतोऽन्यथा ।
हृदि स्थानस्थितो वायुर्यदा वक्त्रं प्रपद्यते ।
व्यायामं कुर्वतो जन्तोस्तद् बलार्धस्य लक्षणम् ॥' —सु० चि० २४

(२) फुफुसों में अतिशीघ्रता से प्रवाहित होने वाले रक्त के अपूर्ण ओष-जनी के कारण ओषजन की कमी।

(ग) अत्यन्त गम्भीर अवस्थाओं में दुग्धाम्ल-निर्माण के कारण कोषगत वायु में कार्बन द्विओषिद् का परिमाण बहुत कम हो जाना।

(३) रक्तवहसंस्थानसंबन्धी परिवर्तन—

(क) हृत्प्रतीघात की संख्या में वृद्धि।

इसके निम्नांकित कारण हैं :—

(१) सांवेदनिक नाड़ीसूत्रों की उत्तेजना।

(२) हृदय के मन्दक केन्द्र का अवसाद।

(३) प्रश्वास की गहराई तथा केशिकाओं और सिराओं में रक्त का दबाव बढ़ जाने से अधिक रक्त हृदय की ओर लौटना, फलतः अलिन्दों में रक्त अधिक भरना।

(ख) रक्तभार की वृद्धि।

इसके निम्नांकित कारण हैं :—

(१) अधिक मात्रा में अद्रिनिलीन की उत्पत्ति।

(२) हृत्प्रतिघात की संख्या और शक्ति में वृद्धि।

(३) कार्बनद्विओषिद् का दबाव बढ़ने तथा ओषजन का दबाव घटने से रक्तसञ्चालक केन्द्र पर प्रभाव, फलतः रक्तवहस्रोतों का संकोच विशेषतः उदर के स्रोतों का।

(ग) हृदय के निर्यात में वृद्धि

इसके निम्नांकित कारण हैं :—

(१) निलयसंकोच की शक्ति में वृद्धि।

(२) अलिन्द में रक्त का अधिक भरना (अलिन्दीय उत्तेजना)

(घ) हृत्पोषक रक्तसंवहन में वृद्धि।

महाधमनी के भीतर रक्त का दबाव बढ़ जाने से हृत्पोषक धमनियों में रक्त अधिक आना।

(४) रक्त में परिवर्तन

(क) सामान्य परिश्रम से रक्तगत शर्करा में कोई परिवर्तन नहीं होता किन्तु अत्यधिक परिश्रम से यह अत्यधिक बढ़ जाती है और लगभग १० से ६६ प्रतिशत तक हो जाती है। इसका कारण यह है कि अद्रिनिलीन का स्राव बढ़ जाने के कारण यकृत से सत्वशर्करा का निर्गम अधिक मात्रा में होता है। यदि इस प्रकार का परिश्रम अधिक देर तक किया जाय तो यकृत् स्थित शाक-तत्त्व का कोष समाप्त हो जाने से रक्तगत शर्करा बहुत कम हो जाती है।

(ख) उदजन-अणुकेन्द्रीभवन में वृद्धि हो जाती है।

(ग) दुग्धाम्ल की मात्रा बढ़ जाती है किन्तु कार्बनद्विओषिद् की मात्रा कुछ कम हो जाती है।

(घ) परिश्रम के अनुसार रक्तकणों का अपेक्षाकृत आधिक्य । इसका कारण रक्तकणों का संवहन में अधिक प्रवेश तथा रक्त के द्रव भाग का धातुओं की ओर जाना है ।

(५) पाचनसंस्थान में परिवर्तन :-

(क) पाचन-नलिका के स्रावों तथा परिसरणगति में अवरोध ।

(६) मूत्रसम्बन्धी परिवर्तन :—

(क) मूत्र की राशि तथा क्लोराइड में कमी ।

मूत्र की राशि में कमी का कारण यह है कि परिश्रम के समय वृक्क के रक्तवह स्रोतों का संकोच होने से वृक्क की क्रियाओं का अवरोध हो जाता है । दूसरे विद्वानों के मत में इसका कारण पोषणक ग्रन्थि के पश्चिम पिंड का एक अन्तःस्राव है । क्लोराइड में कमी का कारण यह है कि कुछ क्लोराइड पसीने के साथ बाहर निकल जाता है तथा कुछ जल के साथ रक्त से पेशियों में चला जाता है ।

(ख) अम्लों, उदजन अणुओं, अमोनिया तथा फास्फेट की वृद्धि ।

(७) तापसम्बन्धी परिवर्तन :—

पेशियों में सत्वशर्करा, स्नेह, इन शक्त्युत्पादक द्रव्यों के अधिक ओषजनीकरण के कारण शरीर का तापक्रम कुछ बढ़ जाता है । व्यायाम के समय उपयुक्त शक्ति का ८० प्रतिशत ताप के रूप में रहता है । इस अतिरिक्त ताप के निराकरण के लिए निम्नांकित परिवर्तन होते हैं :—

(क) त्वचा के रक्तवह स्रोतों का प्रान्तीय प्रसार ।

(ख) फुफ्फुसीय व्यजन में वृद्धि ।

(ग) स्वेदागम में वृद्धि—इसमें ताप बाष्पीभवन द्वारा नष्ट होता है ।

(८) सांवेदनिक नाड़ीसंस्थान पर प्रभाव :—

(क) सांवेदनिक नाड़ियों की उत्तेजना से अधिक स्वेदागम ।

(९) अद्रिनिलीन पर प्रभाव :—

(क) अद्रिनिलीन के स्राव में वृद्धि, फलतः सांवेदनिक नाड़ीसंस्थान की पेशियों की शक्ति में वृद्धि ।

स्वतन्त्र पेशियाँ

स्वतन्त्र पेशियों की क्रियाओं का अध्ययन करने के लिए उन्हें मनुष्य शरीर के बराबर तापक्रमवाले लवणविलयन (Ringer's Solution) में डुबोने के बाद उनकी परीक्षा की जाती है। कभी-कभी पूर्वोक्त नाडीपेशी-यन्त्र के द्वारा भी उनकी परीक्षा होती है। ऐसी स्थिति में, बहुधा आमाशय और अन्त्र के टुकड़ों को प्राणदा तथा अन्त्रीय नाड़ियों के साथ पृथक् कर लेते हैं।

स्वतन्त्र पेशियों के गुण-धर्म का अध्ययन इवान्स, ब्राक्लहर्स्ट तथा विन्टन नामक विद्वानों ने विशेष रूप से किया है। उन्होंने स्वतन्त्र तथा परतन्त्र पेशियों का तुलनात्मक अध्ययन करने के बाद स्वतन्त्र पेशियों के गुणधर्म निश्चित किये हैं। अतः पहले स्वतन्त्र तथा परतन्त्र पेशियों के विभेदक लक्षण बतलाये जायेंगे।

स्वतन्त्र तथा परतन्त्र पेशियों में भेद

स्वतन्त्र तथा परतन्त्र पेशियों में अन्तर उनके नामों से ही स्पष्ट है। परतन्त्र पेशियाँ केन्द्रीय नाड़ीसंस्थान के उस भाग के नियन्त्रण में रहती हैं जिसकी क्रिया व्यक्ति की इच्छा के अधीन रहती है। इसके विपरीत, स्वतन्त्र पेशियाँ स्वतन्त्रतया कार्य करती हैं और केन्द्रीय नाड़ीसंस्थान के उस भाग के नियन्त्रण में रहती हैं जिसकी क्रिया इच्छा के अधीन नहीं है।[1] इन दोनों में दूसरा भेद यह है कि स्वतन्त्र पेशियों में क्रिया और विश्राम की अवधि नियमित होती है। यद्यपि यह गुण सभी स्वतन्त्र पेशियों में वर्तमान है तथापि हृदय में स्पष्ट रूप में देखा जा सकता है।

स्वतन्त्र पेशियों के विशिष्ट लक्षण

उपर्युक्त भेदों के अतिरिक्त स्वतन्त्र पेशियों के निम्नलिखित विशिष्ट लक्षण और होते हैं :—

(१) विद्युत् के द्वारा इनमें उत्तेजना कम होती है तथा रासायनिक उत्तेजकों का बहुत अधिक प्रभाव पड़ता है।

---

१. स्वतन्त्राः परतन्त्राश्च द्विधा कर्मानुसारतः।
यासां क्रियासु नास्माकमिच्छायाः प्रभुता ततः॥
ताः स्वतन्त्राः मताः पेश्यो यथान्त्रहृदयादिषु।
अस्मदिच्छावशीभूताः क्रिया यासां च सर्वदा॥
परतन्त्राभिधाः ज्ञेया यथा शाखादिसंस्थिता।'
'चेष्टावाहकनाडीभिः शिरोमूलाभिरीरिताः।
स्वाकुञ्चनप्रसाराभ्यां पेश्यश्चेष्टाप्रवर्त्तिकाः॥' स्व०

(२) दीर्घसंकोच की अवस्था इनमें बहुत स्पष्ट रूप से होती है। ऐसे स्थायी संकोच को 'चिरकालीन दीर्घसंकोच' (Tonus) कहते हैं। बृहदन्त्र में क्षोभ होने पर यह अवस्था उत्पन्न होती है और इसके कारण अत्यधिक वेदना होती है। कुछ व्यक्तियों में जिनके उदर की पेशियाँ बहुत पतली होती हैं, संकुचित तथा कठिन बृहदन्त्र का बाहर से भी अनुभव किया जा सकता है। प्रसव के बाद गर्भाशय का इस प्रकार का संकोच रक्तस्राव बन्द करने में सहायक होता है। धमनियों में भी ऐसा संकोच देखने में आता है।

(३) निरन्तर अव्यवहित रूप से अनेक उत्तेजनायें पहुँचाने पर उनका संकोच बहुत स्पष्ट दिखलाई पड़ता है।

(४) परतन्त्र पेशियों के समान इनके सूत्र पृथक्-पृथक् नहीं होते, बल्कि ये सब मिलकर एक समूह में स्थित रहते हैं। अतः उत्तेजना शीघ्र ही संपूर्ण पेशी में फैल जाती है और इसीलिए विभिन्न शक्तिवाले उत्तेजकों का प्रयोग करने से उसमें परतन्त्र पेशियों के समान क्रमिक संकोच भी नहीं दिखलाई पड़ता।

(५) दबाव या कर्षण का प्रभाव इस पर यान्त्रिक उत्तेजक के रूप में विशेष पड़ता है। लवणयुक्त विरेचकों के द्वारा अन्त्रों के प्रबल संकोच का कारण उनका कर्षण ही है क्योंकि लवण के द्वारा आकर्षित होकर द्रवांश अन्त्रस्रोत में चला जाता है और इस प्रकार उस पर कर्षण प्रभाव पड़ता है। शाकों और फलों, जिनके कोषावरण का पाचन नहीं हो पाता, का प्रभाव अन्त्रगति पर इसी प्रकार होता है। गर्भाशय में भी मर्दन के द्वारा संकोच इसी आधार पर उत्पन्न होता है।

(६) सामान्यतः ताप के द्वारा इनमें प्रसार तथा शीत के द्वारा संकोच उत्पन्न होता है। इसलिए अन्त्र आदि अंगों की कठिन संकोचजन्य पीड़ा की शांति स्वेदन द्वारा की जाती है।

(७) नाड़ीमंडल से पृथक् करने पर इसके संकोच अनियमित हो जाते हैं। शरीर में अंगों की स्वतन्त्र पेशियों का नियन्त्रण स्वतन्त्र नाड़ी मंडल की नाड़ियों के अधीन रहता है और इसलिए उनकी क्रियायें शरीर की साधारण आवश्यकताओं के अनुसार होती हैं। सामान्यतः उनमें दो प्रकार की नाड़ियाँ होती हैं—एक मन्दक (Inhibitory) और दूसरी तीव्रक (Augmentory)।

(८) इन पेशियों में भी परतन्त्र पेशियों के समान ही रासायनिक तथा तापक्रमसंबंधी परिवर्तन होते हैं किन्तु यह आश्चर्य का विषय है कि

चिरकालीन सुदीर्घ संकोच की अवस्था में भी शक्ति का न तो अधिक व्यय ही होता है और न श्रम की अवस्था ही प्रकट रूप से होती है।

(९) मृत्यूत्तर संकोच की क्रिया का अध्ययन इन पेशियों के सम्बन्ध में उतनी पूर्ण रीति से नहीं किया गया है तथापि दोनों का रासायनिक संघटन समान होने के कारण मृत्यु के बाद पेशियाँ अकड़ हो जाती हैं। आमाशय, गर्भाशय तथा मलाशय में मृत्यूत्तर काठिन्य देखा गया है और संभवतः यह सभी प्रकार की स्वतन्त्र पेशियों में होता है, किन्तु यह सम्भवतः तापक्रम की कमी से होता है।

शारीरिक चेष्टायें

पेशियों का कार्य शरीर में गति उत्पन्न करता है। अतः सभी शारीरिक चेष्टायें पेशियों के कारण ही होती है।

शारीरिक चेष्टाओं का वर्गीकरण निम्नांकित रूप से किया गया है :—
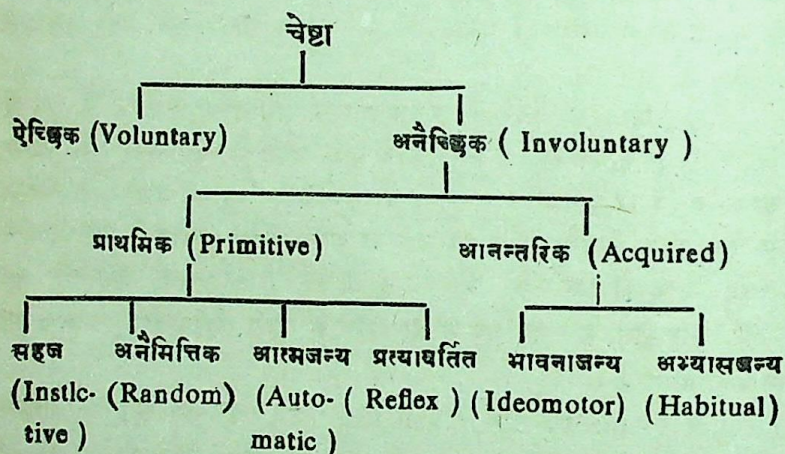
सर्वप्रथम चेष्टाओं के दो विभाग किये गये हैं—ऐच्छिक और अनैच्छिक। ऐच्छिक चेष्टायें व्यक्ति की इच्छा के अधीन होती हैं और परतन्त्र पेशियों के द्वारा उत्पन्न होती हैं यथा घूमना, टहलना, बोलना इत्यादि। अनैच्छिक चेष्टायें व्यक्ति की इच्छा के बिना ही होती हैं, अतः स्वतन्त्र पेशियों द्वारा उनकी उत्पत्ति होती है यथा आभ्यन्तर अंगों की क्रियायें निरन्तर हमारी इच्छाओं के बिना ही हुआ करती हैं।

अनैच्छिक चेष्टायें दो प्रकार की होती हैं। कुछ तो जन्मकाल से ही स्वभावतः देखी जाती हैं उन्हें प्राथमिक चेष्टा कहते हैं और कुछ जन्म के बाद विकसित होती हैं उन्हें आन्तरिक चेष्टा कहते हैं। प्राथमिक चेष्टा ४ प्रकार की होती हैं :—

१. अनैमित्तिक (Random or spontaneous)
२. आत्मजन्य (Automatic)
३. सहज (Instinctive)
४. प्रत्यावर्तित (Reflex)

(१) अनैमित्तिक—अङ्गों में संचित शक्ति के आकस्मिक प्रादुर्भाव के कारण यह चेष्टायें उत्पन्न होती हैं। इनके लिए किसी बाह्य उत्तेजक की स्थिति अपेक्षित नहीं रहती और न इन चेष्टाओं का कोई विशेष उद्देश्य ही होता है। इस वर्ग में नवजात शिशु की प्रारम्भिक चेष्टायें यथा हाथपाँव फेंकना, आँखें घुमाना आदि आती हैं।

(२) आत्मजन्य—नवजात शिशु में कुछ चेष्टायें जन्मकाल से ही होने लगती हैं और अन्त तक निरन्तर होती रहती हैं, उन्हें आत्मजन्य चेष्टायें कहते हैं यथा श्वसन, रक्तसंवहन और पाचन। यह तीन चेष्टायें प्रारम्भ से ही होती हैं। कुछ लोग इसका क्रियात्मक प्रत्यावर्तित चेष्टा में अन्तर्भाव करते हैं।

(३) सहज—अन्तिम लक्ष्य का ध्यान रक्खे बिना जीवन या जाति की रक्षा के लिए सहज अन्तःप्रवृत्तियों के द्वारा जो चेष्टायें होती हैं उन्हें सहज चेष्टायें कहते हैं। यह अन्तःप्रवृत्तियाँ पोषण, उत्पादन, रक्षा, आक्रमण और समाज के सम्बन्ध में होती हैं। यह चेष्टायें प्राणियों को सिखलानी नहीं पड़तीं क्योंकि यह सहज और परम्परागत होती हैं।

(४) प्रत्यावर्तित चेष्टा—जिस प्रकार रचनाविज्ञान की दृष्टि से नाड़ी कोषाणु नाड़ीसंस्थान की इकाई माना गया है, उसी प्रकार क्रियाविज्ञान की दृष्टि से उसकी इकाई प्रत्यावर्तित चेष्टा है। मनुष्य में परिस्थिति के अनुकूल अपने को बनाये रखने की जो क्षमता है उसका यह सर्वसाधारणरूप है। संज्ञात्मक उत्तेजक के परिणामस्वरूप उत्पन्न अतिशीघ्र पेशीजन्य या ग्रन्थि-जन्य प्रतिक्रिया को प्रत्यावर्तित चेष्टा कहते हैं। तीव्र प्रकाश में आँखें बन्द कर लेना, तीक्ष्ण गन्ध से छींकें आना, शीत से कास की उत्पत्ति, यह पेशीजन्य प्रतिक्रिया के उदाहरण हैं। आँखों में धूल पड़ने से आँसू आना, इमली आदि अम्लपदार्थ खाने से अधिक लालास्राव होना आदि ग्रन्थिजन्य प्रतिक्रिया के उदाहरण हैं। इसी प्रकार कम्प, हिक्का, वमन, जृम्भा, लज्जा, हास्य, कास, निगरण, रोदन, स्वेदागम, लालास्राव आदि शरीर में ५० से अधिक प्रत्या-वर्तित चेष्टायें हैं, जो जन्म से ही निश्चित हो जाती हैं। इसके सम्पादन के लिए निम्नांकित पाँच भाग आवश्यक होते हैं—

(१) ज्ञानेन्द्रिय या ग्राहक अङ्ग (Sense organ)
(२) संज्ञावह नाड़ीकोषाणु (Sensory neurone)

(३) नाड़ीकेन्द्र (Nerve centre)
(४) चेष्टावह नाड़ीकोषाणु (Motor neurone)
(५) पेशी या कर्मेन्द्रिय (Muscle)

इन सभी भागों को मिलाकर प्रत्यावर्तित चक्र (Reflex arc) कहते हैं। उदाहरण के लिए, यदि एक पिन त्वचा में चुभोया जाय तो वह त्वचा में स्थित नाड़ी के अग्रभागों को उत्तेजित करेगा और वह उत्तेजना नाड़ीशक्ति में परिणत होकर संज्ञावह नाड़ी के द्वारा सुषुम्ना तक पहुँचती है। यहाँ यह चेष्टावह नाड़ीसूत्र के साथ सम्बन्धित होकर उस नाड़ी के द्वारा पेशी तक जाती है और पेशी के संकुचित होने से त्वचा पिन से पृथक् खिंची जाती है। प्रत्यावर्तित चेष्टा का यह एक साधारण चित्र है, किन्तु जीवनकाल में नाड़ीसूत्रों के अनेक जटिल सम्बन्ध होते हैं और उन्हीं के अनुसार चेष्टाओं की अभिव्यक्ति होती है। यथा उपर्युक्त उदाहरण में ही यदि नाड़ियों का सम्बन्ध स्वरयन्त्र से होगा, तो साथ ही साथ चीखने की आवाज भी निकल सकती है।

प्रत्यावर्तित क्रिया के सामान्य लक्षण

१. वे शरीर को सम्भावित आघातों से बचाती हैं।

जब कोई वस्तु आँख के पास पहुँचे और पलकें बन्द न हों, तब वह आँख में प्रविष्ट होकर आघात पहुँचा सकती है। इसी प्रकार यदि बहुत तीव्र प्रकाश आँख पर पड़ता हो तो उसमें विकृति हो सकती है, इसलिए दृष्टिरन्ध्र छोटा हो जाता है और आवश्यकता से अधिक प्रकाश आँख के भीतर नहीं जाने देता। हानिकारक वस्तुयें भी छींक के द्वारा नाक से इसी प्रकार बाहर निकाली जाती हैं।

२. व्यक्ति की इच्छाओं का इन पर कोई नियन्त्रण नहीं रहता।

प्रत्यावर्तित चेष्टाओं पर व्यक्ति का कोई नियन्त्रण नहीं रहता। इनको रोकने की चेष्टा व्यर्थ हो जाती है।

३. यह चेष्टायें बहुत शीघ्र सम्पन्न होती हैं।

ये चेष्टायें इतनी शीघ्र होती हैं कि उनकी समाप्ति के बाद ही व्यक्ति का ध्यान उस ओर जाता है। विलम्ब होने से शरीर को क्षति हो सकती है, अतः उत्तेजनायें सुषुम्नाकाण्ड तक जाकर वहीं से लौट आती हैं।

४. इन चेष्टाओं को सीखने की आवश्यकता नहीं होती।

इन चेष्टाओं को सीखने के लिए अभ्यास की आवश्यकता नहीं होती और न उससे उनमें कुछ मौलिक परिवर्तन ही सम्भव है। वस्तुतः नाड़ीसंस्थान के

विकासकाल में ही कुछ ऐसे आवश्यक सम्बन्धों की स्थापना हो जाती है कि उत्तेजक के द्वारा शीघ्र ही उत्तेजना का प्रारम्भ होता है।

५. यह एक स्थानिक प्रतिक्रिया है।

शरीर के अत्यन्त सीमित क्षेत्र में यह चेष्टायें होती हैं। सामान्यतम चेष्टाओं से लिए केवल दो नाड़ीकोषाणुओं की आवश्यकता होती है।

प्रत्यावर्तित चेष्टा के विभाग

इसके दो विभाग किये हैं :—

१. क्रियात्मक (Physiological)　　२. संज्ञात्मक (Sensation)

जो चेष्टायें बिलकुल अनजाने होती हैं उन्हें क्रियात्मक कहते हैं यथा दृष्टिरन्ध्र की चेष्टा। इनमें उत्तेजनायें नियमित रूप से आती रहती हैं। इसी आधार पर कुछ विद्वानों ने पाचन, श्वसन, रक्तसंवहन आदि क्रियाओं को भी इसी के भीतर रखा है।

जिन चेष्टाओं का ज्ञान हमें होता है उन्हें संज्ञात्मक परावर्तित चेष्टा कहते हैं यथा पलक गिरना, छींकना, खाँसना इत्यादि।

विकास की दृष्टि से इसके दो विभाग किये गये हैं :—

१. सामान्य (Simple)　　२. आवस्थिक (Conditioned)

जो चेष्टा जन्म से मृत्यु पर्यन्त शरीर में उसी रूप में वर्तमान रहती है उसे सामान्य परावर्तित चेष्टा कहते हैं—यथा हिक्का, वमन आदि पूर्वोक्त लगभग ५० चेष्टायें। इसके अतिरिक्त अधिकांश चेष्टायें जटिल स्वरूप की होती हैं और उनमें निरन्तर परिवर्तन होता रहता है। अवस्थाओं के अनुसार निरन्तर परिवर्तन होते रहने के कारण ही थोड़े समय में मनुष्य के व्यक्तित्व में महान् अन्तर हो जाता है। बचपन में मनुष्य का जो रूप रहता है वह युवावस्था और वृद्धावस्था में नहीं रह पाता। बाह्य परिस्थितियों से उसे अनुभव होता है और उसके कारण उसकी चेष्टाओं में अनुकूल परिवर्तन होते रहते हैं। मनुष्य की शिक्षा-दीक्षा, उसका विकास बहुत कुछ इन्हीं चेष्टाओं पर निर्भर रहता है। इन्हें आवस्थिक परावर्तित चेष्टा कहते हैं।

उदाहरण के लिए, यदि एक कुत्ते को मांस का एक टुकड़ा दिखलाया जाय तो उसके मुँह में पानी आ जायगा, किन्तु घण्टी बजाने से उसके मुँह में पानी नहीं आयगा। अर्थात् मांस लालास्राव के लिए पर्याप्त उत्तेजक है और घण्टी नहीं है। किन्तु यदि लगातार कई दिनों तक कुत्ते को मांस दिया जाय और उसी समय घण्टी भी बजाई जाय तो उसके बाद मांस नहीं देने पर भी केवल घण्टी बजाने से ही लालास्राव उत्पन्न होगा। ऐसी स्थिति में

घण्टी की आवाज पर लाला का स्राव आवस्थिक प्रत्यावर्तित चेष्टा कही जाती है, क्योंकि घण्टी में उस चेष्टा को उत्पन्न करने की शक्ति अवस्थाजन्य ही है, स्वाभाविक नहीं।

किसी ज्ञानेन्द्रिय की उत्तेजना के फलस्वरूप अनेक प्रकार की प्रतिक्रियायें हो सकती हैं :—

(१) केवल सीधी और सामान्य प्रत्यावर्तित चेष्टा हो सकती है जिसमें केवल एक संज्ञावह और एक चेष्टावह नाड़ीकोषाणु का भाग रहता है।

(२) उत्तेजना और ऊपर की ओर जाकर सुषुम्नाकाण्ड के केन्द्रीय नाड़ीकोषाणु में पहुँचती है और ऊपर की पेशी को उत्तेजित करती है।

(३) दोनों पेशियों के द्वारा संयुक्त प्रतिक्रिया हो सकती है।

(४) इसके आगे बढ़ने पर मस्तिष्क के कोषाणु प्रभावित हो सकते हैं।

प्रत्यावर्तित चेष्टा का विषय महत्त्वपूर्ण और गम्भीर है। अतः इसका विस्तृत वर्णन नाड़ीसंस्थान के अन्तर्गत किया जायगा।

आनन्तरिक चेष्टायें :—

(५) भावनाजन्य चेष्टायें—चेष्टा की भावना से ही जिन चेष्टाओं की उत्पत्ति होती है, उन्हें भावनात्मक चेष्टायें कहते हैं। इन पन्नों को पढ़ते समय यदि हमारे शरीर पर मक्खी बैठ जाती है तो हमारा हाथ उसे हटाने के लिए स्वयं घूम जाता है। अनुकरणात्मक चेष्टायें भी इसी के अन्तर्गत आती हैं। आप बच्चे को देखकर हँसिये, वह भी हँस देगा। किसी सभा में वक्ता के भाषण पर इसी प्रवृत्ति से लोग तालियाँ पीटते या हँसते हैं।

(६) अभ्यासजन्य चेष्टायें—ये चेष्टायें अपने प्रारम्भिक रूप में ऐच्छिक होती हैं किन्तु सतत परिशीलन के द्वारा वह अपने आप होने लगती हैं और अनैच्छिक हो जाती हैं यथा घूमना, लिखना, गाना, तैरना आदि।

सप्तम अध्याय

मेद-अस्थि-मज्जा

मेद की निरुक्ति

मेद्यति स्नेहयति इति मेदः। स्नेहार्थक 'ञिमिदा स्नेहने' धातु से 'मेदस्' शब्द निष्पन्न हुआ है।

मेद का स्वरूप एवं स्थान

मेद धातु जमे हुये घृत के समान स्नेहधातु है। यह विशेषतः उदर में तथा छोटी अस्थियों में स्थित होता है। मेद का धारण करनेवाली कला मेदोधरा कला कहलाती है।[1]

मेद का भौतिक संघटन

मेद में जल तथा पृथिवी महाभूतों का आधिक्य होता है।[2]

मेद के कर्म

मेद का कार्य शरीर में स्नेह, स्वेद और दृढ़ता तथा अस्थियों को पुष्ट करना है।[3]

मेद का प्रमाण

शरीर में मेद का प्रमाण २ अञ्जलि माना गया है।[4]

मेदः क्षय

मेद का क्षय होने पर प्लीहावृद्धि, सन्धियों में वेदना एवं शून्यता, रूक्षता अवसाद, नेत्रों की ग्लानि तथा उदर की कृशता ये लक्षण होते हैं।[5] मेदयुक्त मांस खाने की भी इच्छा होती है।

---

१. तृतीया मेदोधरा कला; मेदो हि सर्वभूतानामुदरस्थमण्वस्थिषु च।
—सु. शा. ४।९

सान्द्रसर्पिर्निभः स्नेहधातुस्तुर्यः शरीरजः।
पेश्यन्तराले स्वगधः उदरान्तश्च तिष्ठति॥ स्व०

२. मेदस्यम्बुभुवोः—डल्हण, सु. सू. १५।१०

३. मेदः स्नेहस्वेदौ दृढत्वं पुष्टिमस्थ्नां च करोति—सु. सू. १५।४(१)

४. द्वौ मेदसः—च. शा. ७।१७

५. मेदःक्षये प्लीहाभिवृद्धिः सन्धिशून्यता रौक्ष्यं मेदुरमांसप्रार्थना च—
सु० सू० १५।९

मेदःक्षय दूर करने के लिये मेद तथा तत्समानगुण वाले द्रव्यों का प्रयोग करना चाहिए।[1]

मेदोवृद्धि

मेद अत्यधिक बढ़ जाने से अंगों में चिकनाहट, उदर तथा पार्श्वभाग में वृद्धि, सांस फूलना, दौर्गन्ध्य आदि लक्षण उत्पन्न होते हैं।[2]

मेदोज विकार

व्यायाम न करना, दिवास्वप्न, स्नेह पदार्थों तथा मद्य का अतिसेवन इनके कारण मेदोगत रोग उत्पन्न होते हैं। मेदोज विकारों में ग्रंथि, वृद्धि, गलगण्ड, मधुमेह, अतिस्थौल्य आदि प्रमुख हैं।[3]

इन्हें दूर करने के लिए संशोधन, निदानपरिवर्जन तथा क्षपण प्रयोग करना चाहिए[4]।

मेदःसार के लक्षण

मेदःसार पुरुष के मूत्र, स्वेद तथा स्वर में स्निग्धता, शरीर में बृहत्त्व, श्रमासहिष्णुता आदि लक्षण होते हैं।[5]

मेद के उपधातु और मल

मेद का उपधातु स्नायु तथा मल स्वेद कहा गया है।[6]

सन्धीनां स्फुटनं ग्लानिरक्ष्णोरायास एव च।
लक्षणं मेदसि क्षीणे तनुत्वमुदरस्य च॥ —च० सू० १७।६७

१. मेदो मेदसा—च० शा० ६।१०, सु० सू० १५।१०

२. मेदः स्निग्धाङ्गतामुदरपार्श्ववृद्धिं कासश्वासादीन् दौर्गन्ध्यं च।
—सु० सू० १५।१४

३. अव्यायामाद् दिवास्वप्नान् मेद्यानां चातिसेवनात्।
मेदोवाहीनि दुष्यन्ति वारुण्याश्चातिसेवनात्॥
—च० वि० ५।१६

ग्रन्थिवृद्धिगलगण्डार्बुदमेदोजौष्ठप्रकोपमधुमेहातिस्थौल्यातिस्वेदप्रभृतयो मेदोदोषजाः। सु० सू० २४।७; च० सू० २८।५

४. सु० सू० १५।१७, च० सू० २१

५. स्निग्धमूत्रस्वेदस्वरं बृहच्छरीरमायासासहिष्णुञ्च मेदसा।
—सु० सू० ३५।१६, च० वि० ८।१०६

६. मेदसः स्नायुसंभवः—च० चि० १५।१७, मेदसस्तु सूक्ष्मस्नायुपोषणम् स्वेदः (मलः)—सु० सू० ४६।५२ चक्र०

अस्थि

अस्थि की निरुक्ति

अस्यते क्षिप्यते इति अस्थि। मरणोपरान्त अस्थि अवशिष्ट रहने पर प्रवाहित कर दी जाती है। गति में सहायक होने तथा शरीर का ठोस ढाँचा बनाने के कारण कीकस तथा कुल्य इसके पर्याय हैं।[1]

अस्थि का स्वरूप

यह शरीर का पञ्चम धातु है जिसकी विशेषता काठिन्य एवं दृढ़ता है जिस पर शरीर अवलम्बित रहता है।[2]

अस्थि का भौतिक संघटन

अस्थि में पृथिवी, वायु तथा तेज महाभूतों की प्रधानता होती है।[3]

अस्थि के कर्म

अस्थि का कार्य देह का धारण करना तथा अग्रिम धातु (मज्जा) का पोषण करना है।[4] जिस प्रकार वृक्षों के तने में सार भाग होता है उसी प्रकार शरीर में अस्थि हैं।[5] दाँत भी अस्थि का एक प्रकार (रुचक) माना गया है जिसका कार्य अन्न का चर्वण कर उसे रुचिकर बनाना है।

अस्थिक्षय

अस्थि धातु का क्षय होने पर अस्थियों में वेदना, दन्त और नख का टूटना और गिरना, संधियों में शिथिलता तथा बाल का झड़ना ये लक्षण होते हैं।[6]

अस्थिक्षय दूर करने के लिए विशेषतः तरुणास्थि या तत्समानगुण द्रव्यों का प्रयोग करना चाहिए।[7]

१. कीकसं कुल्यमस्थि च—अमरकोष २।६।६८

२. दृढत्वसंश्रयो धातुर्देहस्यास्थि निरुच्यते।
यमाश्रित्य समग्रं हि शरीरमवतिष्ठते ॥—स्व०

३. अस्थिन पृथिव्यनिलतेजसाम्—डल्हण, सु० सू० १५।१०

४. अस्थि देहधारणं मज्ज्ञः पुष्टिं च—सु० सू० १६।४ (१)

५. सु० शा० ५।१८–२०

६. अस्थिक्षयेऽस्थितोदो दन्तनखभंगो रौक्ष्यं च—सु० सू० १५।९
केशलोमनखश्मश्रुद्विजप्रपतनं श्रमः।
ज्ञेयमस्थिक्षये लिंगं संधिशैथिल्यमेव च ॥—च० सू० १७।६८

७. अस्थि तरुणास्थ्ना—च० शा० ६।१० सू० १५।१०

अस्थिवृद्धि

अस्थि की अतिवृद्धि होने पर अध्यस्थि तथा अधिदन्त उत्पन्न होते हैं। डल्हण के अनुसार केश और नखों की भी अतिवृद्धि होती है।[1]

इसे दूर करने के लिए संशोधन, निदानपरिवर्जन तथा क्षपण चिकित्सा करनी चाहिए।[2]

अस्थिज विकार

अतिव्यायाम, अतिसंक्षोभ, अस्थियों के परस्पर कर्षण तथा वातल आहार-विहार का अतिसेवन इन कारणों से अस्थिवह स्रोत दूषित होते हैं। अध्यस्थि, अधिदन्त, अस्थितोद, कुनख तथा केशश्मश्रुदोष आदि अस्थिज विकार होते हैं।[3]

अस्थिसार के लक्षण

अस्थिसार पुरुष का शिर और कन्धा बड़ा होता है, तथा दांत, नख, अस्थि और हनु दृढ़ होते हैं।[4]

अस्थि का मल

नख, केश और रोम अस्थि के मल कहे गये हैं।[5]

मज्जा

मज्जा की निरुक्ति

मज्जति अस्थिषु इति मज्जा। जो अस्थियों के भीतर निमग्न रहे उसे मज्जा कहते हैं।[6]

---

१. अस्थि अध्यस्थ्यधिदन्तांश्च—सु० सू० १५।१४, चकारात् केशनखयोरप्यतिवृद्धिर्ज्ञेया—डल्हण

२. सु० सू० १५।१७

३. व्यायामादतिसंक्षोभादस्थ्नामतिविघट्टनात्।
अस्थिवाहीनि दुष्यन्ति वातलानां च सेवनात्॥—च० वि० ५।१७
अध्यस्थ्यधिदन्तास्थितोदशूलकुनखप्रभृतयोऽस्थिदोषजाः—सु०सू०२४।२
अध्यस्थिदन्तौ दन्तास्थिभेदशूलं विवर्णता।
केशलोमनखश्मश्रुदोषाश्चास्थिप्रदोषजाः॥—च० सू० २८।१६

४. महाशिरःस्कन्धं दृढदन्तहन्वस्थिनखमस्थिभिः—सु० सू० ३५।१६,
च० वि० ८।१०७

५. स्यात् किट्टं केशलोमास्थ्नः—च० चि० १५।१९, सु० सू० ४६।५२

६. हलायुधकोष पृ० ५०६

मज्जा का स्वरूप एवं स्थान

यह अस्थिमध्यगत स्नेहद्रव्य है। मेद के सदृश होने पर भी कर्म और रचना की दृष्टि से यह पृथक् धातु माना गया है। यह दो प्रकार का है पीत और रक्त। बड़ी नलकास्थियों के भीतर विशेषतः पीत मज्जा होती है इसमें मेद के कण अधिक होते हैं। रक्तमज्जा अस्थियों के प्रान्तभाग में विशेषतः होती है। इसमें रक्त के रक्त एवं श्वेत कणों का निर्माण होता है।[1]

मज्जा का भौतिक संघटन

मज्जा में जल महाभूत की बहुलता होती है।[2]

मज्जा के कर्म

शरीर में स्नेह, बल उत्पन्न करना, शुक्रधातु का पोषण तथा अस्थियों का पूरण मज्जा के कार्य हैं।[3]

मज्जा का प्रमाण

शरीर में मज्जा का प्रमाण १ अञ्जलि कहा गया है।[4]

मज्जा का क्षय

मज्जा के क्षीण होने पर शुक्रधातु की अल्पता, पर्वभेद तथा अस्थियों में पीड़ा ये लक्षण होते हैं।[5]

इसे दूर करने के लिए मज्जा का पान कराने का विधान है।[6]

---

१. अस्थिमध्यगतः स्नेहः मज्जेति कथितो बुधैः।
पीतो रक्तश्च स द्वेधा रक्तो रक्तकणाप्लवः॥
स्थूलास्थिषु विशेषेण पीतस्त्वभ्यन्तराश्रितः।
अथेतरेषु सर्वेषु तत्प्रान्तेषु च लोहितम्॥
आपाततस्त्वभिन्नोऽपि मेदसः पृथगेव सः।
कर्मनिर्माणवैशेष्यात् धातुत्वेनाभिसंज्ञितः॥—स्व०
स्थूलास्थिषु विशेषेण मज्जा त्वभ्यन्तराश्रितः।
अथेतरेषु सर्वेषु सरक्तं मेद उच्यते॥—सु० शा० ४।१०

२. मज्जि...सोमस्य।—सु० सू० १५।१० (डल्हण)

३. मज्जा स्नेहं बलं शुक्रपुष्टिं पूरणमस्थ्नां करोति।—सु० सू० १५।४ (१)

४. एको मज्ज्ञः।—च. शा. ७।१७

५. मज्जक्षयेऽल्पशुक्रता पर्वभेदोऽस्थिनिस्तोदोऽस्थिशून्यता च।
—सु० सू० १५।९

शीर्यन्त इव चास्थीनि दुर्बलानि लघूनि च।
प्रततं वातरोगीणि क्षीणे मज्जनि देहिनाम्॥—च० सू० १७।६८

६. मज्जा मज्जा—च. शा. ६।१०; च. सू. १३।१७

मज्जा की वृद्धि

मज्जा की अतिवृद्धि होने पर शरीर में विशेषतः नेत्रों में भारीपन प्रतीत होता है।[1]

इसे दूर करने के लिए संशोधन तथा क्षपण चिकित्सा करनी चाहिए।[2]

मज्जागत विकार

कुचल जाने से, आघात से, अभिष्यन्दी पदार्थों के सेवन से, दब जाने से तथा विरुद्ध भोजन करने से मज्जवह स्रोत दूषित हो जाते हैं। मूर्च्छा, पर्वशूल, पर्वों में स्थूलमूल व्रणों की उत्पत्ति आदि मज्जगत विकार होते हैं।[3]

मज्जसार पुरुष

कृशतारहित, बलिष्ठ, स्निग्धगम्भीरस्वर, महानेत्र, स्थूलदीर्घवृत्तसन्धि पुरुष मज्जसार होते हैं।[4]

मज्जा का मल

नेत्र का मल (दूषिका) तथा त्वचागत स्नेह मज्जा का मल माना गया है।[5]

---

१. मज्जा सर्वाङ्गनेत्रगौरवं च—सु. सू. १५।१४

२. सु. सू. १५।१७

३. उत्पेषादत्यभिष्यन्दादभिघातात् प्रपीडनात्।
मज्जवाहीनि दुष्यन्ति विरुद्धानां च सेवनात्॥—च. वि. ५।१८
तमोदर्शनमूर्च्छाभ्रमपर्वस्थूलमूलारुर्जन्मनेत्राभिष्यन्द-
प्रभृतयो मज्जदोषजाः।—सु. सू. २४।९; च. सू. २८।१७-१८

४. अकृशमुत्तमबलं स्निग्धगंभीरस्वरं सौभाग्योपपन्नं महानेत्रं च मज्जा।
—सु. सू. ३५।१६; च. वि. ८।१०८

५. मज्ज्ञः स्नेहोऽक्षिविट्त्वचाम्—च. चि. १५।१९; सु. सू. ४६।५२

अष्टम अध्याय

शुक्र

शुक्र की निरुक्ति एवं पर्याय

निर्मल एवं शुक्लवर्ण होने से इसकी संज्ञा 'शुक्र' है। तेज, रेतस्, बीज, वीर्य आदि इसके पर्याय हैं।[1]

शुक्र का स्वरूप

प्राकृत शुक्र स्फटिकतुल्य, स्निग्ध, घनद्रव, पिच्छिल, मधुर, अविदाही तथा मधुगन्धी होता है। कुछ लोग तैल तथा मधु के सदृश शुक्र को भी प्राकृत मानते हैं। बहल, मधुर, स्निग्ध, अविस्र, गुरु, पिच्छिल, शुक्लवर्ण तथा प्रभूत शुक्र कार्यकारी माना गया है।[2]

भौतिक संघटन

शुक्रमें जल महाभूत का आधिक्य होता है अतएव यह सौम्य कहा गया है।[3]

शुक्र का स्थान

शुक्र समस्त शरीर में व्याप्त रहता है। जिस प्रकार दूध में घी, ईख में रस तथा तिल में तैल सर्वांगतः व्याप्त रहता है उसी प्रकार शरीर में शुक्र की स्थिति कही गई है। सात कलाओं में एक शुक्रधरा कला होती है जो समस्त शरीर में व्याप्त होकर शुक्र का धारण करती है।[4]

---

१. अमरकोष २।६।६२

२. स्फटिकाभं द्रव स्निग्धं मधुरं मधुगन्धि च।
शुक्रमिच्छन्ति केचित्तु तैलक्षौद्रनिभं तथा॥—सु. शा. २।११
स्निग्धं घनं पिच्छिलं च मधुरं च विदाहि च।
रेतः शुद्धं विजानीयाच्छ्वेतं स्फटिकसंनिभम्॥—च. चि. ३०।१४५
बहलं मधुरं स्निग्धमविस्रं गुरु पिच्छिलम्।
शुक्लं बहु च यच्छुक्रं फलवत्तदसंशयम्॥—च. चि. २।५०

३. सौम्यं शुक्रम्—सु. शा. ३।३

४. सप्तमी शुक्रधरा नाम या सर्वप्राणिनां सर्वशरीरव्यापिनी।
—सु. शा. ४।१७-१८

यथा पयसि सर्पिस्तु गूढश्चेक्षौ रसो यथा।
शरीरेषु तथा शुक्रं नृणां विद्याद् भिषग्वरः॥—च. चि. २।४६

शुक्र की प्रवृत्ति

समस्त शरीर में व्याप्त शुक्र स्त्रीसंयोग के समय तथा अन्य ऐसे अवसरों पर हर्ष के कारण बाहर निकलता है।[१] शुक्रवह स्रोतों से शुक्र की प्रवृत्ति होती है। इन स्रोतों का मूल वृषण तथा शिश्न कहा गया है।[२] सुश्रुत ने दो धमनियां शुक्रप्रादुर्भाव के लिए तथा दो शुक्रविसर्ग के लिए मानी हैं।[३] अन्त में शुक्रवह स्रोतों के द्वारा शुक्र मूत्रमार्ग में पहुँच कर वहाँ से बाहर निकलता है।[४] शुक्र की प्रवृत्ति में मानसिक कारण (हर्ष) मुख्य होता है। जिस प्रकार पुत्र को देखकर नारी के स्तन्य- की प्रवृत्ति होती है उसी प्रकार नारी को देखकर पुरुष के मन में हर्ष तथा तज्जन्य शुक्रप्रवृत्ति होती है।[५]

कुछ विद्वान् सर्वाङ्गव्याप्त शुक्र को अंतःशुक्र तथा बहिःप्रवृत्त शुक्र को बहिःशुक्र कह कर समाधान करते हैं।

शुक्र की अभिव्यक्ति

बालकों में शुक्र होता है किन्तु सूक्ष्मता के कारण व्यक्त नहीं होता वही युवावस्था में व्यक्त होकर गर्भाधान में समर्थ होता है। जिस प्रकार कलिका की अवस्था में जो गन्ध अव्यक्त रहती है वही विकसित पुष्प में व्यक्त हो

---

१. कृत्स्नदेहाश्रितं शुक्रं प्रसन्नमनसस्तथा।
स्त्रीषु व्यायच्छतश्चापि हर्षात् तत् संप्रवर्त्तते ॥—सु. शा. ४।२०
स्रोतोभिः स्यन्दते देहात् समन्ताच्छुक्रवाहिभिः।
हर्षेणोदीरितं वेगात् संकल्पाच्च मनोभवात् ॥
विलीनघृतवद् व्यायामोष्मणा स्थानविच्युतम्।
बस्तौ संभृत्य निर्याति स्थलान्निम्नादिवोदकम् ॥
—च. चि. १५।३५-३६
तत् स्त्रीपुरुषसंयोगे चेष्टासंकल्पपीडनात्।
शुक्रं प्रच्यवते स्थानात् जलमार्द्रात् पटादिव ॥
हर्षात्तर्षात् सरत्वाच्च पैच्छिल्याद् गौरवादपि।
अणुप्रवणभावाच्च द्रुतत्वान्मारुतस्य च ॥
अष्टाभ्यः एभ्यो हेतुभ्यः शुक्रं देहात् प्रसिच्यते।—च. चि. २।४७-४९
२. शुक्रवहानां स्रोतसां वृषणौ मूलं शेफश्च— च. वि. ५।१०
३. द्वे शुक्रवहे द्वे (धमन्यौ) शुक्रप्रादुर्भावाय, द्वे विसर्गाय—सु. शा. ९।५
४. वृषकुले दक्षिणे पार्श्वे बस्तिद्वारस्य चाप्यधः।
मूत्रस्रोतःपथाच्छुक्रं पुरुषस्य प्रवर्त्तते ॥—सु. शा. ४।१९
५. सु. नि. १७।१७-२१

जाती है। अतएव चरक ने सोलह वर्ष के पूर्व तथा सत्तर वर्ष के बाद स्त्री-संयोग का निषेध किया है।[1]

स्त्रियों में भी शुक्रधातु की स्थिति मानी गई है, किन्तु गर्भाधान में यह अकिंचित्कर एवं निष्प्रयोजन होता है। सुश्रुत ने इससे अनस्थि गर्भ के आधान का निर्देश किया है।[2]

शुक्र का प्रमाण

शुक्र का प्रमाण आधी अञ्जलि माना गया है।[3]

शुक्र का कर्म

शुक्र का प्रमुख कर्म सन्तानोत्पत्ति है उसमें यह बीज का काम करता है किन्तु इसके अतिरिक्त भी इसके अनेक महत्वपूर्ण कर्म हैं यथा धैर्य, प्रसन्नता, देहबल तथा हर्ष।[4]

शुक्रक्षय

वार्धक्य, चिन्ता, रोग, अति परिश्रम, अनशन तथा अत्यधिक मैथुन से शुक्र क्षीण हो जाता है।[5] इसके कारण शिश्न और वृषण में पीड़ा, मैथुन में शक्तिहीनता, देर में शुक्रच्युति तथा शुक्र के साथ रक्तनिर्गम ये लक्षण होते हैं।[6] इसके अतिरिक्त, अन्य शारीरिक लक्षण यथा दौर्बल्य, मुखशोष, पाण्डु, अवसाद, श्रम उत्पन्न होते हैं।[7]

---

१. यथा हि पुष्पमुकुलस्थो गन्धो⋯केवलं सौक्ष्म्यान्नाभिव्यज्यते, स एव विवृतपत्रकोशे पुष्पे कालान्तरेणाभिव्यक्तिं गच्छति; एवं बालानामपि वयःपरिणामाच्छुक्रप्रादुर्भावो भवति रोमराज्यादयश्च विशेषाः नारीणाम्।
सु. सू. १४।१२; च. चि. २।३९-४०

२. स्त्रीणां शुक्रं न गर्भाय भवेद् गर्भाय चार्त्तवम्—चक्र. सु. सू. १४।१५
यदा नार्यावुपेयातां वृषस्यन्त्यौ कथंचन।
मुञ्चन्त्यौ शुक्रमन्योन्यमनस्थिस्तत्र जायते ॥—सु. शा. २।४३

३. शुक्रस्य तावदेव (अर्धाञ्जलिः) प्रमाणम्—च. शा. ७।१७

४. शुक्रं धैर्यं च्यवनं प्रीतिं देहबलं हर्षं बीजार्थञ्च।—सु. सू. १५।५

५. जरया चिन्तया शुक्रं व्याधिभिः कर्मकर्षणात्।
क्षयं गच्छत्यनशनात् स्त्रीणां चातिनिषेवणात् ॥—च. चि. २।४३

६. शुक्रक्षये मेढ्रवृषणवेदनाऽशक्तिर्मैथुने चिराद् वा प्रसेकः प्रसेके चाल्परक्तदर्शनम् ॥—सु. सू. १५।९

७. दौर्बल्यं मुखशोषश्च पाण्डुत्वं सदनं श्रमः।
क्लैब्यं शुक्राविसर्गश्च क्षीणशुक्रस्य लक्षणम् ॥—च. सू. १७।७०

शुक्रक्षय होने पर शुक्र को बढ़ाने के लिए पशुओं एवं जन्तुओं के शुक्र और वृषण तथा पक्षियों के अण्डों का प्रयोग विहित है। अभाव में शुक्र के समानगुण मधुरस्निग्ध द्रव्यों का उपयोग करना चाहिए।[1]

शुक्रवृद्धि

शुक्र की वृद्धि होने से शुक्राश्मरी उत्पन्न होती है तथा शुक्र का अति-प्रादुर्भाव होता है।[2]

शुक्रगत विकार

अकाल, अप्राकृतिक तथा अतिमैथुन से, शुक्रनिग्रह से तथा शस्त्र, क्षार तथा अग्नि के कारण शुक्रवह स्रोत दूषित हो जाते हैं। इसके कारण क्लैब्य, अप्रहर्ष, शुक्राश्मरी, शुक्रमेह, शुक्रदोष आदि विकार उत्पन्न होते हैं। दूषित होने पर शुक्र न केवल पुरुष को बल्कि स्त्री तथा पुत्र को भी विकार ग्रस्त बनाता है।[3] वातादि दोषों से दूषित शुक्र के लक्षणों का भी विचार किया गया है।[4]

शुक्र का मल एवं उपधातु

शुक्र का पाक होने पर कोई मल या उपधातु नहीं बनता है।[5] शार्ङ्गधर ने ओज को शुक्र का उपधातु माना है किन्तु[6] वस्तुतः वह इससे भिन्न है।

शुक्रसार पुरुष

जिसके अस्थि, दन्त और नख स्निग्ध, संहत तथा श्वेत हों, जिसमें

---

१. च. सू. २५।४०; शा० ६।१०; चि. २।२१०; सु. सू. १५।१०; चि. २६।२६

२. शुक्रं शुक्राश्मरीमतिप्रादुर्भावञ्च—सु. सू. १५।११

३. अकालयोनिगमनान्निग्रहादतिमैथुनात्।
शुक्रवाहीनि दुष्यन्ति शस्त्रक्षाराग्निभिस्तथा ॥—च. चि. ५।२५
'क्लैब्याप्रहर्षशुक्राश्मरी-शुक्रमेह-शुक्रदोषादयश्च तद्दोषजाः।
—सु. सू. २४।१०
'शुक्रं हि दुष्टं सापत्यं सदारं बाधते नरम्—च. सू. २८।१८

४. च. चि. ३०।१००-१४२; सु. शा. २।२

५. शुक्रं हि स्वाग्निपच्यमानमपि निर्मलसुवर्णवत् सहस्रशः पच्यमानमप्येकमेव—सु. सू. ४।१० (भानुमती)

६. शा. पू. ५।१६

कामेच्छा प्रबल हो तथा जिसकी सन्तान अधिक हो उसे शुक्रसार समझना चाहिए।[1]

शुक्र का महत्त्व

शुक्र के जो कर्म बतलाये गये हैं उन्हींसे इसका महत्त्व स्पष्ट हो जाता है। सृष्टि के लिए शुक्र बीज का काम करता है अतः प्रजनन की दृष्टि से इसका अत्यधिक महत्त्व है।[2] चेतना को साकार बनाने के कारण इसे उसका रूप-द्रव्य कहा गया है।[3]

इसके अतिरिक्त, अन्य शारीरिक कार्यों पर भी इसका महत्त्वपूर्ण प्रभाव होता है। अतएव आचार्यों ने इसे जीवन का आधार माना है तथा ब्रह्मचर्य को शरीर के उपस्तम्भों में स्थान दिया गया है।[4]

पुरुष प्रजननयन्त्र

शिश्न, दो वृषण, दो शुक्रवाहिनी, दो शुक्रप्रपिका, पौरुषग्रन्थि और दो शिश्नमूल पार्श्विक ग्रन्थियाँ इन दस अवयवों से प्रजनन यन्त्र बना है।

शिश्न (Penis)

यह पुरुषों में मैथुन का साधन है तथा मूत्रप्रसेक को भी धारण करता है[5]। यह लम्बी दण्डाकृति तीन मांसपेशियों से बनी है। दो पेशियाँ पार्श्व-भागों में रहती हैं जिन्हें शिश्नपार्श्विका (Corpora cavernosa) कहते हैं। इन पेशियों के नीचे मध्यरेखा में एक पेशी स्थित है जिसे 'मूत्रप्रसेकधरा' (Corpus spongiosum) कहते हैं। इस पेशी का अग्रभाग छत्र के समान फैला हुआ होता है जो शिश्नपार्श्विका पेशियों के अग्रभाग को ढँकता है। इसे शिश्नमुण्ड या शिश्नमणि (Glans penis) कहते हैं। इसके सम्मुख बाहरमें मूत्रप्रसेक द्वार है जिससे शुक्र और मूत्र बाहर निकलता है। ऊपर शिश्नपृष्ठ के मध्य में एक या दो शिश्नशिरा, दोनों ओर शिश्नधमनियाँ और इनके दोनों ओर कामसंवेदिनी नाम की दो नाड़ियाँ दिखाई देती हैं।

वृषण (Testicles)

इन्हीं ग्रन्थियों में शुक्र उत्पन्न होता है।[6] ये ग्रन्थि अण्डकोष के भीतर

---

१. स्निग्धसंहतश्वेतास्थिदन्तनखं बहुलकामप्रजं शुक्रेण—सु. सू. ३५।१६

२. सु. शा. २।२९

३. चरतो विश्वरूपस्य रूपद्रव्यं यदुच्यते।—च. चि. २।४९

४. त्रयः उपस्तम्भाः शरीरस्य आहारः स्वप्नो ब्रह्मचर्यम्—च. सू. ११।३५

५. 'शुक्रवहानां स्रोतसां वृषणौ मूलं शेफश्च।'—च. वि. ५।१०

६. 'वीर्यवाहिसिराधारौ वृषणौ पौरुषावहौ।—शा. पू. ५।४२

वृषणबन्धनियों के द्वारा लटकते रहते हैं। अण्डकोष बाहर की ओर चर्म से आवृत होता है जिसे चर्मकोष कहते हैं। इसके भीतर एक स्थूल कलामय पुटक है जिसे प्रावरणकोष कहते हैं। मध्यस्थ कलाप्राचीर के द्वारा यह दो भागों में विभक्त है, प्रत्येक भाग में एक-एक वृषणग्रन्थि रहती है। वृषण-ग्रन्थि को आवृत करने वाला एक और कलापुटक होता है, जिसे 'अण्डधर पुटक' (Tunica vaginalis) कहते हैं। वस्तुतः यह उदर्या कला का ही एक अंश है। इस कोष में दोनों स्तरों के भीतर जलसञ्चय हो जाने पर 'मूत्रवृद्धि' (Hydrocele) नामक रोग हो जाता है।

वृषणग्रन्थि (Testes)

ये दोनों ग्रन्थियाँ कच्चे आम के फल के समान या अण्डे के समान हैं तथा बन्धनियों के साथ अण्डधरपुटक के भीतर रहती हैं। प्रत्येक ग्रन्थि के पार्श्व में एक अर्धचन्द्राकार भाग लगा हुआ है जिसे 'अधिवृषणिका' (Epididymus) कहते हैं। इसमें अण्डशिखर से निकले हुए अनेक सूक्ष्मवह स्रोत खुलते हैं। यह देखने में छोटी होने पर भी वस्तुतः अत्यन्त लम्बी शुक्रनलिका ही है जो संकुचित स्थिति में अण्ड के पार्श्व में रहती है। यह ऊपर की ओर स्थूल ग्रन्थि के समान है और नीचे की ओर पतली होकर शुक्रवाहिनी का रूप धारण करती है जो वृषणबन्धनी के साथ ऊपर जाकर वंक्षणसुरङ्गा में प्रवेश करती है।

सूक्ष्म शारीर

अनुलम्ब छेदन करने पर वृषणग्रन्थियों की सूक्ष्मरचना स्पष्टतः देखी जा सकती है। इनमें अण्डधर पुटक के भीतर वृषणग्रन्थि को आवृत करने वाला, पतली कला से बना हुआ अण्डच्छद (Tunica Albuginea) नामक एक कोष है। इसकी शाखायें १० या १२ स्नायुपत्रिकाओं के रूप में ग्रन्थिवस्तु के भीतर प्रविष्ट होकर उसको इतनी ही प्रकोष्ठिकाओं में विभक्त कर देती हैं। प्रत्येक प्रकोष्ठिका में शुक्रनिर्मापक ग्रन्थिवस्तु से निकला हुआ एक-एक सूक्ष्म शुक्रस्रोत दिखाई देता है जो मूल में कुण्डली के आकार का होता है। प्रत्येक प्रकोष्ठिका में ग्रन्थिवस्तु को वेष्टित किये सूक्ष्म रक्तवह स्रोतों का जाल दीखता है जिससे
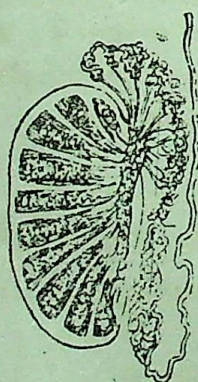
चित्र ६८—वृषणग्रन्थि

तत्र स्त्रीपुरुषसंयोगे चेष्टासंकल्पपीडनात्।
शुक्रं प्रच्यवते स्थानाज्जलमार्द्रात् पटादिव ॥'—च. चि. २।४७

शुक्रनिर्माणार्थ सदा लसीका का स्राव होता रहता है। इस प्रकार ग्रन्थिवस्तु में बना हुआ शुक्र सूक्ष्म शुक्रवह स्रोतों में बहता हुआ अण्डशिरःस्थित अधिवृषणिका में पहुँच जाता है। पुनः इसके द्वारा क्रमशः बढ़ता हुआ शुक्रवाहिनी से ऊपर ले जाया जाता है।

शुक्रवाहिनी (Ducta Deferentia)

ये अधिवृषणिका से निकली हुई स्नायु—बहुल मांसतन्तुनिर्मित दो नलिकायें हैं जो वृषण से निकले शुक्र को बस्तिद्वार तक ले जाती हैं।[1] वंक्षण-सुरंगाद्वार से श्रोणिगुहा में जाकर बस्तिपृष्ठ के आश्रय से बस्तिद्वार के दोनों ओर रहती हैं। इनके पार्श्वों में शुक्रप्रपिकायें दिखाई देती हैं। प्रत्येक ओर बस्तिद्वार के समीप शुक्रप्रपिका और शुक्रवाहिनी के मिलने से शुक्रप्रसेक बनता है जिसका द्वार मूत्रप्रसेक के भीतर दीखता है।

शुक्रप्रपिका (Vesicula seminalis)

ये स्नायुतन्तु—बहुल दो शुक्राधारिकायें हैं। ये प्रायः ४ अंगुल लम्बी तथा कनिष्ठिका के समान मोटी हैं और बस्तिपृष्ठ में शुक्रवाहिनियों के साथ रहती हैं। प्रत्येक शुक्रप्रपिका का अधोमुख पतला होकर शुक्रवाहिनी के मुख से मिल जाता है जो बस्तिद्वार के पार्श्व में रहता है। इसे शुक्रप्रसेक कहते हैं।[2]

पौरुषग्रन्थि (Prostate glands)

यह बस्तिद्वार तथा मूत्रप्रसेक के प्रथम भाग को घेर कर रहती है। इसके १० या १२ स्रोत अतिसूक्ष्म छिद्रों द्वारा मूत्रप्रसेक के अन्दर खुलते हैं।

शिश्नमूलिक ग्रन्थियाँ (Cowper's glands)

ये दो ग्रन्थियाँ मूँग के दाने के बराबर हैं। ये मूत्रप्रसेक के मध्यभाग के बाहर दोनों तरफ रहती हैं। इसके दोनों स्रोत मूत्रप्रसेक के भीतर दिखाई देते हैं।

शुक्रकीटाणु (Spermatozoon)

शुक्रकीटाणु वृषण के शुक्रस्रावी स्रोतों में विकसित होते हैं। इनमें शिर, ग्रीवा, संयोजक भाग तथा पुच्छ होते हैं।

---

१. 'शुक्रवहे द्वे तयोर्मूलं स्तनौ वृषणौ च।—सु. शा. ९।१२

२. विलीनं घृतवद् व्यायामोष्मणा स्थानविच्युतम्।
बस्तौ संभृत्य निर्याति स्थलान्निम्नादिवोदकम्॥'—च. चि. १५।३६
द्व्यंगुले दक्षिणे वामे बस्तिद्वारस्य चाप्यधः।
मूत्रस्रोतःपथाच्छुक्रं पुरुषस्य प्रवर्तते॥—सु. शा. ४।१९

शिर :—अण्डाकार और चपटा होता है जिससे यह सरलतापूर्वक स्त्री-बीज में प्रवेश कर जाता है। इसमें क्रोमेटिन का एक समूह होता है जो कोषाणु का केन्द्र तथा गर्भाधान के लिए आवश्यक तत्त्व माना जाता है।

ग्रीवा :—कुछ संकुचित होती है और इसके तथा शिर के सन्धिस्थल पर पूर्वीय आकर्षणमण्डल स्थित हैं जिसमें दो या तीन वृत्ताकार कण होते हैं।

संयोजक भाग :—इसे शरीर भी कहते हैं। यह दण्डसदृश होता है जिसका पश्चिम अंश मुद्रिका-भाग या अन्त्यकोष (Terminal Disc) से सीमित है। इसके तथा ग्रीवा के संधिस्थान पर पश्चिमीय आकर्षणमण्डल रहता है जिसमें एक सूत्र जिसे अक्षसूत्र (Axial filament) कहते हैं शरीर तथा पुच्छ से होकर पीछे की ओर चला जाता है। गात्र में यह सूत्र एक अन्य तरंगित सूत्र के द्वारा आवेष्टित है जिसके चारो ओर सूक्ष्मकणयुक्त द्रव्य का आवरण रहता है। इसे कणयुक्त पिधान (Mitochondrial sheath) कहते हैं।
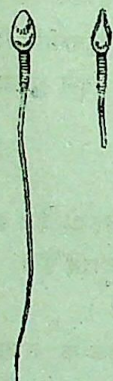
पुच्छ :—यह अधिक लम्बा होता है और तनु कोष से आवृत अक्षसूत्र से बनता है। इसका अन्तिम भाग केवल अक्षसूत्र से बना हुआ है और अन्त्य खण्ड (End piece) कहा जाता है। इसी पुच्छ की सहायता से शुक्रकीटाणु गति करने में समर्थ होते हैं।

चित्र ६९—शुक्रकीटाणु

शुक्रकीटाणुओं का विकास (Spermatogenesis)

शुक्रकीटाणुओं का विकास वृषण में होता है और वे अधिक संख्या में शुक्रस्राव में उपस्थित रहते हैं। इनमें स्पष्ट गतिशीलता होती है। ये एक मिनट में १ सेण्टीमीटर गति कर सकते हैं। इनका विकास प्राथमिक बीज-कोषाणुओं से होता है जो स्वच्छ एवं सकेन्द्र घनाकार कोषाणुओं का एक स्तर बनाते हैं। इनमें सामान्य साक्षात् विभजन होता है और ये विभाजित होकर विशिष्ट कोषाणुओं में परिणत हो जाते हैं जिन्हें शुक्रजनक कोषाणु (Spermatogonia) कहते हैं। इन कोषाणुओं के बीच-बीच में कुछ बड़े कोषाणु होते हैं जिन्हें पोषक कोषाणु (Cells of sertoli) कहते हैं। ये

पोषण का कार्य करते हैं। शुक्रजनक कोषाणुओं का विभजन भी समविभजन पद्धति के द्वारा होता है। तज्जन्य कोषाणु प्राथमिक शुक्रकोषाणु (Primary spermatocytes) कहलाते हैं। प्रत्येक प्राथमिक शुक्रकोषाणु विषमविभजन पद्धति से विभक्त होकर दो द्वितीयक शुक्रकोषाणुओं (Secondary spermatocytes) में परिवर्तित हो जाते हैं जिनके केन्द्र में क्रोमोजोम की संख्या आधी रह जाती है। ये द्वितीयक शुक्रकोषाणु पुनः समविभजन से तरुण शुक्रकीटाणु (Young spermatozoa) बनते हैं जो अन्त में अधिक विकसित होकर परिपक्व शुक्रकीटाणुओं में परिणत हो जाते हैं।
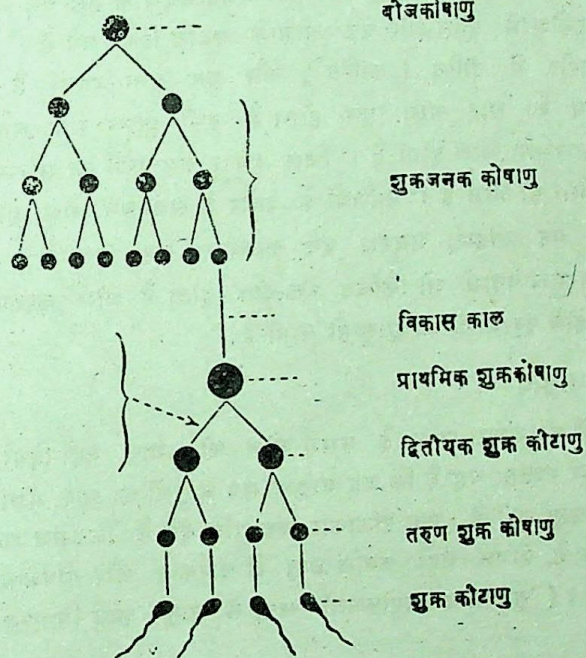
चित्र ७०—शुक्रकीटाणु का विकास

नवम अध्याय

ओज

स्वरूप

रस से शुक्र पर्यन्त सभी धातुओं का तेजोभूत (स्नेह) पदार्थ ओज कहलाता है। बल का हेतु होने के कारण अभेदोपचार से इसे बल भी कहते हैं।[1] अमरकोश में दीप्ति और बल ओज के पर्याय दिये गये हैं।[2] ओज के कारण शरीर में दीप्ति (कान्ति) और बल बना रहता है। जिस प्रकार दूध का सार भाग घृत होता है उसी प्रकार सब धातुओं का स्नेहभूत सारभाग ओज होता है। जिस प्रकार फल-पुष्पों का सारभाग मधु होता है वैसा ही ओज है।[3] प्राणियों के शरीर में सर्वप्रथम ओज ही उत्पन्न होता है। यह घृतवर्ण, मधुरस एवं लाजगन्धि कहा गया है। हृदय में रहने वाला शुभ्र पदार्थ जो किंचित् रक्त-पीत होता है ओज कहलाता है। इसके नष्ट होने पर प्राणी की मृत्यु हो जाती है।[4]

ओज का धातुत्व

धातुओं की संख्या सात है उसमें ओज को स्थान नहीं दिया गया। इसका कारण स्पष्टतः यह है कि यह वस्तुतः सब धातुओं का सार भाग ही है, पृथक् कोई धातु नहीं है। कुछ टीकाकार यह युक्ति देते हैं कि ओज शरीर का केवल धारक है, पोषक नहीं जबकि धातु में धारकत्व और पोषकत्व दोनों होने चाहिए। ('डुधाञ् धारणपोषणयोः' धातु से 'धातु' शब्द निष्पन्न है)।

---

१. रसादीनां शुक्रान्तानां धातूनां यत् परं तेजस्तत् खल्वोजस्तदेव बल-
मित्युच्यते, स्वशास्त्रसिद्धान्तात्। सु० सू० १५।१३

२. ओजो दीप्तौ बले—अमर० ३।३।२३३

३. भ्रमरैः फलपुष्पेभ्यो यथा संभ्रियते मधु।
एवमोजः स्वकर्मभ्यो गुणैः संभ्रियते नृणाम् ॥—च० सू० १७।७७

४. हृदि तिष्ठति यच्छुद्धं रक्तमीषत् सपीतकम्।
ओजः शरीरे संख्यातं तन्नाशान्ना विनश्यति ॥
प्रथमे जायते ह्योजः शरीरेऽस्मिन् शरीरिणाम्।
सर्पिर्वर्णं मधुरसं लाजगंधि प्रजायते ॥ —च० सू० १७।७५-७६

ओज उपधातु भी नहीं है क्योंकि उपधातुओं की मर्यादा धातुओं की अपेक्षा हीन है जब कि ओज उनका उत्कृष्ट अंश है। इसके अतिरिक्त, प्राणधारक होने के कारण उसका विशिष्ट महत्त्व है अतएव इसका पृथक् उल्लेख किया गया हैं।[1] सामान्यतः शुक्र के बाद ओज की गणना की गई है।[2] इस कारण कुछ लोग शुक्रविशेष को ओज मानते हैं किन्तु यह मत रुचिकर नहीं है।[3]

ओज का वस्तुनिरूपण

ओज शरीरस्थ कौन सा द्रव्य है इस संबंध में प्राचीन तथा अर्वाचीन आचार्यों में अत्यधिक मतभेद है। इस प्रसंग में निम्नांकित मत विचारणीय हैं :—

१. कुछ लोग प्राकृत श्लेष्मा को ही ओज मानते हैं क्योंकि इसके गुणकर्म ओज से मिलते-जुलते हैं।[4]

२. कहीं कहीं रस को ओज माना गया है।[5]

३' कुछ आचार्य जीवरक्त तथा कुछ ऊष्मा को ओज मानते हैं।[6]

४. कबिराज गणनाथसेन पोषणिका ग्रन्थि के अन्तःस्राव को प्राचीनों का ओज मानते हैं।[7]

५. कुछ लोग जीवन के आधारभूत द्रव्य ओजःसार (प्रोटोप्लास्म) को ओज मानते हैं।[8]

---

१. कुछ लोग ओज को उपधातु मानते हैं—देखें च० सू० १७, २८ तथा ३० अध्यायों के संबद्ध स्थलों पर चक्रपाणि-व्याख्या।

२. पुष्यन्ति त्वाहाररसाद् रसरुधिरमांसमेदोऽस्थिमज्जशुक्रौजांसि —च० सू० २८।४

३. केचित्तु शुक्रविशेषमोजः प्राहुः, तच्च न मनः प्रीणाति—चक्र०

४. प्राकृतस्तु बलं श्लेष्मा विकृतो मल उच्यते। स चैवौजः स्मृतः काये॥ —च० सू० १७।११७

५. रसश्चौजःसंख्यातः—च० नि० ४।७
'मलीभवति तत्प्रायः कल्पते किंचिदोजसे'—च० चि० ८।४१
यहाँ 'ओज' शब्द रस का वाचक है।

६. जीवशोणितमप्योजःशब्देनामनन्ति केचित्।
ऊष्माणमप्योजःशब्देनापरे वदन्ति।—डल्हण, सु० सू० १५।१९

७. प्रत्यक्षशारीर, भाग ३, पोषणिकाग्रंथि वर्णन

८. देखें मेरा लेख 'ओज की तुलनात्मक विवेचना' —सुधानिधि, मार्च १९५३

द्विविध ओज

सामान्यतः ओज दो प्रकार का मानते हैं—पर और अपर। पर ओज अष्टबिन्द्वात्मक-परिमाण है, हृदय में स्थित है और इसके थोड़े नाश से भी मृत्यु हो जाती है। अपर ओज अर्धाञ्जलिपरिमाण है, धमनियों के द्वारा समस्त शरीर में व्याप्त है तथा इसके नाश से मृत्यु नहीं होती। मधुमेह तथा ओजःक्षय में अपर ओज की ही विकृति होती है[1]।

गंगाधर कविराज ने इस मत का खण्डन किया है। उनका कथन है कि सुश्रुत में अर्धाञ्जलिमान ओज का क्षय तीन प्रकार का बतलाया है—विस्रंस, व्यापत् और क्षय। इनमें पहले दो की चिकित्सा तो बतलाई गई है किन्तु तीसरे को असाध्य एवं घातक कहा है। यदि अर्धाञ्जलिपरिमाण ओज के क्षय से मृत्यु नहीं होती तो ऐसा क्यों लिखा? इस प्रकार अष्टबिन्द्वात्मक तथा अर्धाञ्जलि दोनों प्रकार के ओज का प्रभाव समान होने के कारण दोनों में वस्तुतः कोई भेद नहीं है। दूसरे, 'बिन्दु' शब्द से यहाँ कर्ष का ग्रहण होता है और आठ कर्ष की अर्धाञ्जलि होती है। इस प्रकार परिमाण की दृष्टि से भी अर्धाञ्जलिमान अष्टबिन्द्वात्मक ओज में कोई भेद प्रतीत नहीं होता।

ओज का स्थान

ओज समस्त शरीर में व्याप्त है। हृदय में विशेषरूप से उसकी स्थिति मानी गयी है जहाँ से ओजोवह धमनियों द्वारा वह समस्त शरीर में प्रसारित होकर अपना कार्य करता है। द्विविध ओज की दृष्टि से पर ओज का स्थान हृदय[2] तथा अपर ओज का स्थान हृदयाश्रित धमनियाँ मानी गई

---

१. ईषदित्यल्पप्रमाणं, तेनाष्टबिन्दुकमोज इति दर्शयति, यदुक्तं तन्त्रान्तरे—'प्राणाश्रयस्यौजसोऽष्टौ बिन्दवो हृदयाश्रयाः' इति; एतच्चाष्टबिन्दुकं परमोजो ज्ञेयम्, अर्धाञ्जलिपरिमाणं तु यदोजस्तदप्रधानम्। यच्छारीरे वक्ष्यति—'तावच्चैव श्लेष्मण ओजसश्च प्रमाणम्' इत्यनेन, तस्माद् द्विविधमिहौजः। अतएव अर्थे दशमहामूलीये वक्ष्यति"—तत्परस्यौजसः स्थानम्" इति, परस्य श्रेष्ठस्याष्टबिन्दुकस्येत्यर्थः। इह च क्षयलक्षणमर्धाञ्जलिमानस्यैव ज्ञेयम्, अष्टबिन्दुकस्य त्ववयवनाशेऽपि मृत्युर्भवतीति 'हृदि' इत्यादिना ग्रन्थेन दर्शयति।

—चक्र० च० सू० १७।७४

इसके अतिरिक्त देखें चक्रपाणि-व्याख्या—च० सू० ३०।७

२. तत्परस्यौजसः स्थानं तत्र चैतन्यसंग्रहः।

हृदयं महदर्थश्च तस्मादुक्तं चिकित्सकैः॥—च० सू० ३०।७

प्रधानस्यौजसश्चैव हृदयं स्थानमुच्यते—च० चि० २४।३५

हैं[1] जिनके द्वारा वह समस्त शरीर में संचारित होता रहता है। इस प्रकार इसका स्थान समस्त शरीर भी हो जाता है।[2]

ओज के गुण

चरक में गुरु, शीत, मृदु, श्लक्ष्ण, बहल, मधुर, स्थिर, प्रसन्न, पिच्छिल तथा स्निग्ध ये दस गुण ओज के कहे गये हैं। सुश्रुत के मत से भी प्रायः ये ही गुण हैं।[3] पहले कह चुके हैं कि ओज का वर्ण घृतवत्, रस मधुवत् तथा गन्ध लाजवत् कहा गया है। ओज मधुर तथा सौम्य माना गया है।[4] गोदुग्ध ओज के समान गुण होने के कारण ओजोवर्धक कहा गया है[5] जब कि विष और मद्य विपरीत गुण होने के कारण ओज को नष्ट करने वाले कहे गये हैं।[6]

ओज के कर्म

१. ओज प्राण का धारक तत्त्व है। इसके बिना प्राणी जीवित नहीं रह सकता।[7] यह गर्भ का भी सार माना गया है, गर्भावस्था के अष्टम मास में

---

१. अर्धाञ्जलिपरिमितस्य धमन्य एव हृदयाश्रिताः स्थानम्'
—चक्र० च० सू० ३०।७

२. ओजोवहाः शरीरेऽस्मिन् विधम्यन्ते समन्ततः।
येनौजसा वर्त्तयन्ति प्रीणिताः सर्वजन्तवः॥—च० सू० ३०।
देहः सावयवस्तेन व्याप्तो भवति देहिनाम्।
तदभावाच्च शीर्यन्ते शरीराणि शरीरिणाम्॥—सु० सू० १५।२२
ओजस्तु तेजो धातूनां शुक्रान्तानां परं मतम्।
हृदयस्थमपि व्यापि देहस्थितिनिबन्धनम्॥—अ०हृ०सू० ११।३७

३. गुरु शीतं मृदु श्लक्ष्णं बहलं मधुरं स्थिरम्।
प्रसन्नं पिच्छिलं स्निग्धमोजो दशगुणं स्मृतम्॥—च०चि० २४।३१
ओजः सोमात्मकं स्निग्धं शुक्लं पीतं स्थिरं सरम्।
विविक्तं मृदु मृत्स्नं च प्राणायतनमुत्तमम्॥—सु० सू० १५।२१

४. ओजः पुनर्मधुरस्वभावम्—च० वि० ४।३७
ओजस्तु स्निग्धं सोमात्मकम्—अ० हृ० सू० ११।३८

५. च० सू० २७।२१७–२१८

६. च० चि० २३।२४–२७; च० चि० २४।३२–३४

७. येनौजसा वर्त्तयन्ति प्रीणिताः सर्वजन्तवः।
यदृते सर्वभूतानां जीवितं नावतिष्ठते॥
यस्य नाशात्तु नाशोऽस्ति धारि यद् हृदयाश्रितम्।
यच्छरीररसस्नेहः प्राणा यत्र प्रतिष्ठिताः॥—च० सू० ३०।९।११

ओज की ही अस्थिरता के कारण गर्भ की मृत्यु की आशंका रहती है।[1]

२. ओज शरीर का धारक तत्त्व है। सभी धातुओं का सार भाग होने के कारण समस्त शरीर के अवयवों की प्राकृत क्रिया के सञ्चालन में कारणभूत होता है। ओज के द्वारा शरीर में स्थिरोपचितमांसता, सभी चेष्टाओं का अप्रतिघात, स्वरवर्णप्रसाद तथा बाह्य एवं आभ्यन्तर करणों की स्व-स्व विषयों में प्राकृत रूप से प्रवृत्ति होती है।[2]

३. ओज शरीर का प्राकृत बल है जिसके कारण व्याधियों के प्रतिषेध की क्षमता शरीर में होती है। ओजःक्षय होने पर शरीर नाना व्याधियों से आक्रान्त होकर अन्ततः नष्ट हो जाता है।[3]

ओज का परिमाण

जैसा कि पहले कह चुके हैं, हृदयस्थ पर ओज का परिमाण अष्टबिन्दु है जब कि अपर ओज का परिमाण अर्धाञ्जलि कहा गया है। 'अष्टबिन्दु' शब्द पर ओज के अल्प प्रमाण का द्योतक है।[4] प्रमेह में अर्धाञ्जलिप्रमाण ओज का ही क्षय होता है।

ओज के विकार

सुश्रुतसंहिता में ओज के तीन प्रकार के विकार कहे गये हैं—विस्रंस, व्यापत् और क्षय। ये तीन विकार क्रमशः ओज के स्थान, स्वरूप तथा प्रमाण से सम्बन्ध रखते हैं। विस्रंस में ओज स्थानच्युत हो जाता है, व्यापत् में उसका स्वरूप विकृत होता है तथा क्षय में प्रमाणतः विकृति होती है। विस्रंस होने पर सन्धिविश्लेष, शैथिल्य, दोषों की अपने स्थान से च्युति, अंगों की क्रिया का अवरोध ये लक्षण होते हैं। व्यापत् में शरीर के अवयवों की स्तब्धता

---

१. यत् सारमादौ गर्भस्य यत्तद् गर्भरसाद् रसः।
संवर्त्तमानं हृदयं समाविशति यत् पुरा॥—च० सू० ३०।१०
अष्टमेऽस्थिरीभवत्योजस्तत्र जातश्चेन्न जीवेन्निरोजस्त्वात्।—सु० शा० ३

२. तत्र बलेन स्थिरोपचितमांसता सर्वचेष्टास्वप्रतिघातः स्वरवर्णप्रसादो बाह्यानामाभ्यन्तराणां च करणानामात्मकार्यप्रतिपत्तिर्भवति।
—सु० सू० १५।२०

३. प्राकृतस्तु बलं श्लेष्मा—च० सू० १७।११७
बलं ह्यलं निग्रहाय दोषाणाम्—च०

४. अल्पप्रमाणं तु परं;...'प्राणाश्रयस्यौजसोऽष्टौ बिन्दवो हृदयाश्रिताः'।
—चक्र० च० सू० ३०।७
तावदेव (अर्धाञ्जलिः) श्लेष्मणश्चौजसश्च—च० शा० ७।१७

एवं गौरव, वातशोफ, वर्णभेद, ग्लानि, तन्द्रा तथा निद्रा ये लक्षण होते हैं।[1] क्षय का लक्षण आगे कहा जायगा।

निदान एवं चिकित्सा

ओज के विस्रंस और व्यापत् ओजःक्षय के कारणों से ही होता है।[2] इसकी चिकित्सा में भी ओजोवर्धक, रसायन, वाजीकरण आदि क्रियाओं का उपयोग करना चाहिए।[3]

ओजःक्षय

कारण—ओजःक्षय के शारीरिक और मानसिक दोनों प्रकार के कारण होते हैं[4] :—

(क) शारीरिक कारण

१. अभिघात

२. शरीर में पोषण की कमी यथा क्षय, अत्यधिक श्रम

(ख) मानसिक कारण

अति क्रोध, शोक, चिन्ता आदि।

लक्षण

भय, घबड़ाहट, दौर्बल्य, अत्यधिक चिन्ता, इन्द्रियों में कष्ट, कान्ति नष्ट होना, मानसिक अवसाद, रूक्षता तथा कृशता ये ओजःक्षय के लक्षण होते हैं। प्रलाप, मूर्च्छा तथा संज्ञानाश भी होता है, अन्त में मृत्यु हो जाती है।[5]

---

१. त्रयो दोषा बलस्योक्ता व्यापद्विस्रंसनक्षयाः।
विश्लेषसादौ गात्राणां दोषविस्रंसनं श्रमः॥
अप्राचुर्यं क्रियाणां च बलविस्रंसलक्षणम्।
गुरुत्वं स्तब्धताङ्गेषु ग्लानिर्वर्णस्य भेदनम्॥
तन्द्रा निद्रा वातशोफो बलव्यापदि लक्षणम्। —सु. सू. १५।१८-१९

२. ओजः संक्षीयते ह्येभ्यो धातुग्रहणनिःसृतम्।
तेजःसमीरितं तस्माद् विस्रंसयति देहिनः॥ —सु. सू. १५।१

३. तत्र विस्रंसे व्यापन्ने च क्रियाविशेषैरविरुद्धैर्बलमाप्याययेत्।
—सु. सू. १५।२१

क्रियाविशेषैः रसायनवाजीकरणादिभिः—डल्हण

४. अभिघातात् क्षयात् कोपाच्छोकात् ध्यानात् श्रमात् क्षुधः।
ओजः संक्षीयते ह्येभ्यो धातुग्रहणनिःसृतम्॥—सु. सू. १५।१६

५. बिभेति दुर्बलोऽभीक्ष्णं ध्यायति व्यथितेन्द्रियः।
दुश्छायो दुर्मना रूक्षः क्षामश्चैवौजसः क्षये॥ —च. सू. १७।७३

चिकित्सा

(१) ओजःक्षय में ओजोवर्धक पदार्थों का सेवन कराना चाहिए। ओज श्लेष्मप्रकृति, सौम्य एवं मधुर है अतः ओज के गुणों से सम्पन्न द्रव्य ओजस्य होते हैं।[1]

(२) ओज के प्रमुख स्थान हृदय की रक्षा करनी चाहिए तथा उसकी शक्ति बढ़ाने के लिये हृद्य द्रव्यों का प्रयोग करना चाहिए।

(३) स्रोतोरोध को दूर करना चाहिए तथा ऐसा कोई पदार्थ न ले जिससे स्रोतों में अभिष्यन्द हो।

(४) मानसिक शान्ति एवं संतुलन बनाने का यत्न करना चाहिए।

मूर्च्छा मांसक्षयो मोहः प्रलापोऽज्ञानमेव च।
पूर्वोक्तानि च लिंगानि मरणं च बलक्षये॥ —सु. सू. १५।२७

१. मधुरस्निग्धशीतानि लघूनि च हितानि। ओजसो वर्धनान्याहुः
—का. सू. २७।१६

तन्महत्ता महामूलास्तच्चौजः परिरक्षता।
परिहार्या विशेषेण मनसो दुःखहेतवा॥
हृद्यं यत् स्याद् यदोजस्यं स्रोतसां च प्रसादनम्।
तत्तत् सेव्यं प्रयत्नेन प्रशमो ज्ञानमेव च॥ —च. सू. ३०।१३-१४

जीवनीयौषधक्षीररसाद्यास्तत्र च भेषजम्—अ. हृ. सू. ११।१४

दशम अध्याय

उपधातु

विभिन्न धातुओं से पोषित उपधातुओं का परिगणन किया जा चुका है यथा रस से आर्त्तव और स्तन्य; रक्त से कण्डरा और सिरा, मांस से वसा और त्वचा तथा मेद से स्नायु[1]। इस अध्याय में उपधातुओं में प्रमुख आर्त्तव तथा स्तन्य का वर्णन किया जायगा।

आर्त्तव

रस धातु से यह उत्पन्न होता है और एक मास पर शुक्र के समान इसकी अभिव्यक्ति होती है। आर्त्तव स्त्री की गर्भधारणयोग्यता का सूचक होता है अतः यह युवावस्था के प्रारम्भ से वृद्धावस्था के पूर्व तक दृष्टिगोचर होता है। सामान्यतः आचार्यों ने १२ वर्ष के बाद और पचास वर्ष की आयु तक इसकी अवधि मानी है।[2] यही काल स्त्रियों के गर्भधारण का होता है। कालविशेष में होने के कारण इसका आर्त्तव, भावी फल (गर्भ) का सूचक होने से पुष्प तथा रञ्जन करने के कारण रज संज्ञा है।

आर्त्तव की प्रकृति

अत्यन्त सूक्ष्म केशसदृश बीजरक्तवह सिराओं द्वारा रक्त गर्भाशय में भरता रहता है और एक मास में व्यक्त होता है जिससे बीजधारण की स्थिति उत्पन्न होती है।[3] आर्त्तव ईषत् कृष्णवर्ण तथा गन्धरहित होता है। यह अपान वायु से प्रेरित होकर आर्त्तववह धमनियों के द्वारा योनिमुख में पहुँच कर बाहर निकलता है।[4] सामान्यतः तीन से पाँच दिन तक इसका समय

---

१. रसात् स्तन्यं ततो रक्तमसृजः कण्डराः सिराः।
मांसाद् वसा त्वचः षट् च मेदसः स्नायुसंभवः॥ —च. चि. १५।१७

२. रसादेव स्त्रिया रक्तं रजःसंज्ञं प्रवर्तते।
तद्वर्षाद् द्वादशादूर्ध्वं याति पञ्चाशतः क्षयम्॥
एवं मासेन रसः शुक्रो भवति स्त्रीणाञ्चार्त्तवमिति—सु. सू. १४।९

३. सूक्ष्मकेशप्रतीकाशाः बीजरक्तवहाः सिराः।
गर्भाशयं पूरयन्ति मासाद् बीजाय कल्पते॥ —विश्वामित्र

४. मासेनोपचितं काले धमनीभ्यां तदार्त्तवम्।
ईषत्कृष्णं विगन्धं च वायुर्योनिमुखं नयेत्॥ —सु. शा. ३।१०

माना गया है। इस काल में योनि विवृत रहती है जो आर्त्तवकाल समाप्त होने पर संकुचित हो जाती है।[1]

आर्त्तववह स्रोत

आर्त्तववह स्रोत दो कहे गये हैं जिनके मूल गर्भाशय और आर्त्तववहा धमनियाँ हैं।[2]

स्त्री-प्रजननयन्त्र

अनेक अवयवों के साथ बीजकोष तथा गर्भाशय स्त्री-प्रजनन यंत्र कहलाते हैं।

गर्भाशय (Uterus) :—यह मासिक रजःस्राव का अंग है। गर्भावस्था में यह स्त्रीबीज का ग्रहण, धारण एवं पोषण करता है और प्रसवकाल में संकुचित होकर उसे बाहर निकाल देता है। इसके तीन भाग होते हैं :[3]—

१. गर्भाशय-मुख (os uteri)
२. गर्भाशय-ग्रीवा (Cervix)
३. गर्भाशय-शरीर (Body of the uterus)
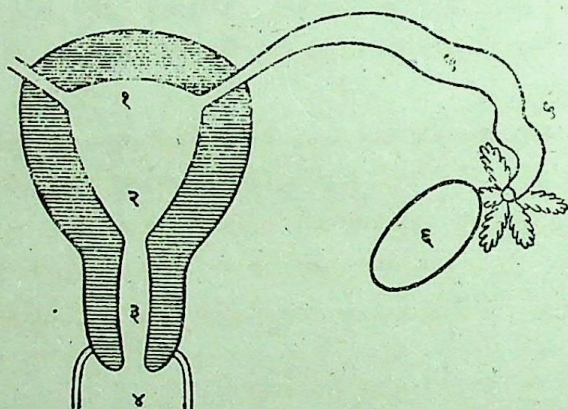
चित्र ७०—गर्भाशय और बीजकोष

१. गर्भाशय-शरीर। २. गर्भाशय-ग्रीवा। ३. गर्भाशय—मुख। ४. योनि। ५. बीजवाहिनी। ६. बीजकोष।

---

१. नियतं दिवसेऽतीते संकुचत्यम्बुजं यथा।
ऋतौ व्यतीते नार्यास्तु योनिः संव्रियते तथा॥ —सु. शा. ३।९

२. आर्त्तववहे द्वे, तयोर्मूलं गर्भाशय आर्त्तववाहिन्यश्च धमन्यः
—च. शा. ९।१२ देखें—सु. शा. ९।७

३. 'पित्तपक्वाशयमध्ये गर्भाशयो यत्र गर्भस्तिष्ठति'

गर्भाशयशरीर के भीतर त्रिकोणाकार रिक्त स्थान होता है। इस त्रिकोण के ऊपर दोनों पार्श्वस्थ कोण बीजवाहिनियों से मिले हैं और नीचे का कोण छिद्ररूप होकर ग्रीवासरणि से मिला है। गर्भाशय—शिखर का नाम गर्भतुम्बी (Fundus uteri) है। गर्भाशयशरीर का निर्माण स्नैहिक, पेशीमय तथा कलामय तीन स्तरों से हुआ है।

बीजवाहिनी (Fallopian tubes) :—बीजवाहिनियाँ स्वतन्त्र मांसपेशी से बनी हुई नलिकायें हैं जो गर्भाशय—शृङ्ग से बीजकोष तक बाहु की भाँति फैली रहती हैं। इनके बहिःप्रान्त विकसित कूष्माण्डकुसुम के समान हैं, इसलिए ये पुष्पित प्रान्त (Fimbriated ends) कहलाते हैं। बीजकोष के फटने से निकले हुए स्त्रीबीज प्रतिमास इनके द्वारा गृहीत होकर गर्भाशय तक पहुँचाये जाते हैं।

बीजकोष—(Ovary) :—छोटी चिड़िया के अण्डे के समान गर्भाशय के पार्श्व में स्थित दो ग्रन्थियाँ हैं। इनका मुख्य कार्य स्त्रीबीज का विकास एवं निर्हरण होता है। इनसे एक प्रकार का आभ्यन्तरिक स्राव निकलता है जिसे अन्तःस्राव कहते हैं। रजःक्षय के पश्चात् ये बहुत छोटे हो जाते हैं और वृद्धावस्था में मटर से अधिक बड़े नहीं रह जाते।

इसके दो भाग होते हैं :—

(१) बहिर्वस्तु (Cortex) (२) अन्तर्वस्तु (Medulla)

बहिर्वस्तु में स्त्रीबीज तथा कोष (Follicles) होते हैं। बहिर्वस्तु का सबसे बाहरी भाग धूसर होता है। जिसे कलापुट (Albuginea) कहते हैं। अन्तर्वस्तु का निर्माण शिथिल सौत्रिक तन्तु, अरेखांकित पेशीसूत्र तथा रक्तनलिकाओं से होता है।

बीजकोष का अन्तःस्राव दूसरे प्रजनन अंगों की पूर्णता को बनाये रखता है। प्रयोगों द्वारा यह देखा गया है कि बीजकोषों को निकाल देने पर गर्भाशय तथा योनि का क्षय हो जाता है, किन्तु इन बीजकोषों को शरीर के किसी भाग में स्थापित कर देने पर योनि तथा गर्भाशय का क्षय नहीं होता। इस प्रकार जन्तुओं एवं स्त्रियों के बीजकोषों का छेदन कर शरीर के अन्य भागों में या उसी वर्ग के अन्य जन्तुओं में प्रस्थापन किया जाता है जहाँ रक्तवाहिनियों से सम्बन्ध स्थापित कर वे अपनी प्राकृत क्रियाओं का सम्पादन करते रहते हैं।

'शंखनाभ्याकृतिर्योनिस्त्र्यावर्ता सा प्रकीर्तिता।
तस्यास्तृतीये त्वावर्ते गर्भशय्या प्रतिष्ठिता॥
यथा रोहितमत्स्यस्य मुखं भवति रूपतः।
तत्संस्थानां तथारूपां गर्भशय्यां विदुर्बुधाः॥' —सु० शा० ५

गुरुकोष (Graafian follicles)

जन्म से मैथुनी जीवन के अन्त तक गुरुकोष निरन्तर वृद्धि करते रहते हैं। युवावस्था के पूर्व ये बहिर्वस्तु के गम्भीरतर भाग में रहते हैं और बीजकोष के पृष्ठ तक नहीं आते। इसके बाद बहिर्वस्तु के बाह्यभाग में आकर बीजकोष के पृष्ठभाग पर पहुँच जाते हैं और पारदर्शक कणों के रूप में प्रकट होते हैं। ज्यों ज्यों गुरुकोष बीजकोष के पृष्ठभाग पर पहुँचता जाता है, इसकी दीवालें पतली होती जाती हैं। इसके उठे और नुकीले भाग को नाभि (Stigma) कहते हैं। इसी स्थान पर यह विदीर्ण होता है।

गुरुकोष में निम्नाङ्कित रचनायें पाई जाती हैं :—

बाह्य दीवाल जिसे आधारकला (Theca folliculi) कहते हैं। यह सौत्रिक तन्तु से बनी हुई है। इस कला के बाह्य और अन्तः दो भाग होते हैं। अन्तः भाग के भीतर की ओर कणयुक्त कला (Membrana-granulosa) पाई जाती है जो बीजावरणकला से उत्पन्न कोषाणुओं के अनेक स्तरों से बनी होती है। इसके और आधारकला के बीच में स्तम्भाकार कोषाणुओं का एक स्तर होता है जिसे प्राचीर स्तर (Boundary layer) कहते हैं। इसके भीतर एक द्रव भरा होता है जिसे कोषद्रव (Liguor folliculi) कहते हैं। यह द्रव बीजकोषाणुओं से स्रावित होता है और इसमें स्त्रीबीज का विशिष्ट अन्तःस्राव होता है जिसे कोषान्तः स्राव (Follicular or oestrin hormone) कहते हैं। इस द्रवके कारण कणयुक्तकला बीजकलाकोष (Discus Proligerus); जो कुछ कोषाणुस्तरों से निर्मित तथा स्त्रीबीज को घेरे हुये हैं, से पृथक् रहती है।

स्त्रीबीज (Ovum)

यह बीजकलाकोष से आवृत एक छोटा कोषाणु है जिसके चारों ओर निम्नाङ्कित रचनायें होती हैं:—
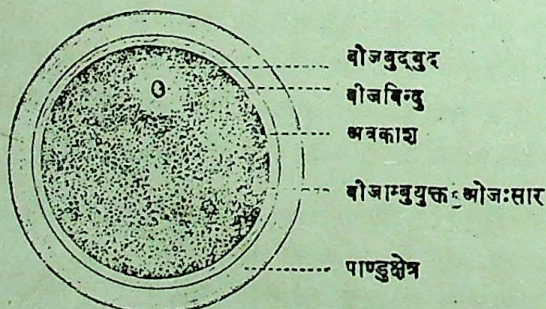
चित्र ७१—स्त्रीबीज

(१) विसारिकिरणमण्डल (Corona radiata)
(२) पाण्डुक्षेत्र (Zona Pellucida)
(३) परिवृत्तिक्षेत्र (Perivitteline space)
(४) ओजःसार का एक स्वल्प स्वच्छ क्षेत्र
(५) ओजःसार का विस्तृत कणयुक्त क्षेत्र
(६) केन्द्रीय अन्तःसार क्षेत्र (Central deutoplasmic zone)

केन्द्र तथा केन्द्राणु क्रमशः बीजबुद्बुद (Germinal vesicle) तथा बीजबिन्दु (Germinal spot) कहे जाते हैं।

कोषद्रव मात्रा में बढ़ता है और उसकी वृद्धि के साथ ही साथ गुरुकोष भी आकार में बढ़ता जाता है। इस प्रकार वह बीजकोष के पृष्ठभाग पर पहुँच कर एक उभार उत्पन्न करता है जिसे नाभि (Stigma) कहते हैं। गुरुकोष में रक्तनलिकाओं की वृद्धि के कारण रक्ताधिक्य हो जाता है जिससे यह फट जाता है और स्त्रीबीज बाहर आ जाता है। बीजवाहिनियों के पुष्पित अंशों द्वारा वह पकड़ लिया जाता है और इस प्रकार वह गर्भाशय में पहुँचता है। पहले ऐसा समझा जाता था कि गुरुकोष अन्तर्वर्त्ती द्रव के शीघ्र संचय के कारण दबाव बढ़ जाने से फट जाता है, किन्तु अब यह एक जटिल प्रक्रिया मानी जाती है, जो मुख्यतः रक्तसंवहन सम्बन्धी परिवर्तनों के कारण होती है। बीजकोष रक्तकोष से भर जाता है और उसके भीतर दबाव अत्यधिक बढ़ जाने से स्त्रीबीज बाहर पृष्ठ पर चला जाता है। गुरुकोष के सबसे अधिक प्रसारित भाग में रक्तसंवहन समुचित रूप से नहीं हो पाता, जिससे उसकी नाभि गल जाती है और अन्त में उसके फट जाने से स्त्रीबीज बाहर निकल आता है।

बीजकिणपुट (Corpus luteum)

विदीर्ण गुरुकोष के स्थान में ही यह रचना बनती है। आधारकला के अन्तःस्तर में स्थित रक्तनलिकाओं के फट जाने से गुरुकोष रक्त से भर जाता है तथा कणयुक्त कला से कुछ पीतवर्ण के कोषाणु बन कर इसमें आ जाते हैं और बीजकिणपुट में परिणत हो जाते हैं। ये पीतकोषाणु, जिनमें ल्यूटिन (Lutein) नामक पीतरञ्जक द्रव्य तथा केन्द्र होते हैं, संख्या में वृद्धि करते हैं और स्तरों में व्यवस्थित हो जाते हैं। आधारकला के अन्तःस्तर की रक्तवाहिनियाँ भी संख्या में बढ़ने लगती हैं, जिससे बीजकिणपुट के आकार में भी वृद्धि होती है और इस प्रकार इस संहत रचना का निर्माण होता है।

यदि गर्भाधान नहीं हुआ तो बीजकिणपुट में पश्चोन्मुख परिवर्तन होने

लगते हैं। उसके कोषाणु क्षीण होने लगते हैं और अन्त में क्रमशः लुप्त हो जाते हैं तथा बीजकोष के पृष्ठ पर केवल व्रणवस्तु रह जाती है। गर्भाधान हो जाने पर वह क्षीण न होकर बढ़ता जाता है। यह क्रम उस समय तक होता रहता है जब तक स्त्रीबीज की वृद्धि पर्याप्त नहीं हो जाती। गर्भावस्था के अन्त में उसका व्यास ½ इञ्च की हो जाती है। तुलनात्मक अध्ययन के लिए निम्नांकित कोष्ठक नीचे दिया जाता है:—

काल	सामान्य बीजकिणपुट	गर्भाधानोत्तर बीजकिणपुट
तीन सप्ताह के अंत में	¾ इञ्च व्यास, केन्द्रीय रक्तस्कंद रक्ताभ, बाह्य-भित्ति पीताभ	
एक मास	छोटा, बाह्यभित्ति चमकीली पीली, स्कंद रक्ताभ	कुछ बड़ा, बाह्य भित्ति चमकीली पीली, स्कंद रक्ताभ
दो मास	स्वल्प व्रणवस्तु के रूप में परिणत	⅞ इञ्च व्यास, भित्ति चमकीली पीली, स्कन्द विवर्ण
६ मास	अनुपस्थित	पूर्ववत् आकार, भित्ति पाण्डुतर, स्कंद सूत्रमय
९ मास		½ इञ्च व्यास, स्कन्द व्रणवस्तु में परिणत, बाह्यभित्ति स्थूल और पीतवर्ण से रहित

बीजकिणपुट से एक अन्तःस्राव निकलता है जिसके कार्य निम्नाङ्कित हैं:—

(१) गर्भाशय के रक्तप्रवाह को नियमित करना।

(२) मासिक रजःस्राव तथा गर्भाशय की श्लेष्मलकला से परिवर्तनों को नियन्त्रित करना जिससे गर्भाशय ऐसी स्थिति में आ जाय कि वह स्त्रीबीज को ग्रहण कर उसका पोषण कर सके।

(३) गर्भावस्था में स्तनग्रन्थियों की वृद्धि को उत्तेजित करना।

स्त्रीबीज का विकास और परिपाक
(Oogenesis and Maturation of Ovum)

स्त्रीबीज गर्भाधान के योग्य हो उसके इसके लिये वृद्धिशील गुरुकोष में उसका परिपाक होता है। स्त्रीबीज का परिपाक निम्नांकित क्रम से होता है:—

स्त्रीबीज का उद्गम बीजकोष को घेरे हुए बीजस्तर (Germinal epithelium) के कोषाणुओं से होता है। इन कोषाणुओं को स्त्रीबीजजनक (Oogonia) कहते हैं। ये सामान्य विभजनपद्धति से विभाजित और पुनः

विभाजित होकर प्राथमिक स्त्रीबीजकोषाणुओं का निर्माण करते हैं। प्रत्येक प्राथमिक स्त्रीबीजकोषाणु (Primary oocyte) पुनः दो विषम आकार के कोषाणुओं में विभक्त हो जाते हैं जिन्हें द्वितीयक स्त्रीबीजकोषाणु (Secondary oocyte) तथा प्रथम परित्यक्त भाग (First polar body)

बीजकोषाणु

स्त्रीबीजजनक कोषाणु

विकास काल

प्राथमिक स्त्रीबीजकोषाणु

द्वितीयक स्त्रीबीजकोषाणु

प्रथम परित्यक्त भ :

परिपक्व स्त्रीबीज
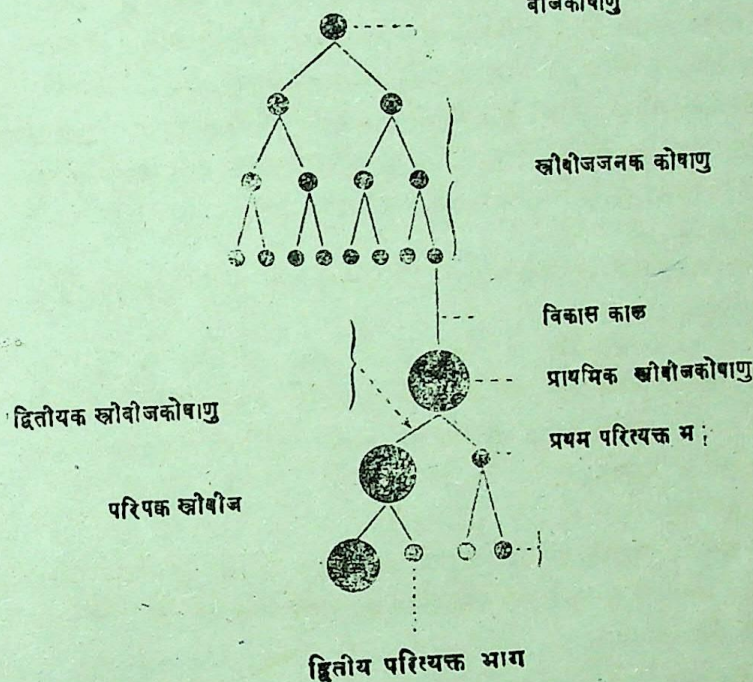
द्वितीय परित्यक्त भाग

चित्र ७२—स्त्रीबीज का विकास

कहते हैं। द्वितीयक स्त्रीबीजकोषाणु पुनः विभक्त होते हैं जिससे परिपक्व स्त्रीबीज तथा द्वितीय परित्यक्त भाग (Second Polar body) बनते हैं। यह विभजन विषम विभजनपद्धति से होता है जिसका कारण स्त्रीबीज में क्रोमोजोम की संख्या ४८ (जैसा कि प्राथमिक स्त्रीबीजकोषाणु में होता है) न होकर २४ ही रह जाती है। परिपक्व स्त्रीबीज का केन्द्र स्त्रीपूर्वकेन्द्र (Female Pronucleus) कहलाता है।

स्त्रीबीज का गर्भाशय में गमन

गुरुकोष के विदीर्ण होने के समय बीजवाहिनी के पुष्पित प्रान्त बीजकोष पर आ जाते हैं। नलिका में रोमों की गति के कारण एक प्रवाह उत्पन्न होता है जिससे स्त्रीबीज नलिका में पहुँचकर गर्भाशय की ओर प्रेरित होता है।

आर्त्तव का भौतिक संघटन

शुक्र सौम्य तथा आर्त्तव आग्नेय होता है। दोनों के संयोग से अग्नीषोमीय सृष्टि का प्रारंभ होता है।[1]

शुद्ध आर्त्तव का लक्षण

सुश्रुत का कथन है कि जो आर्त्तव खरगोश के रक्त के समान या लाक्षारस के समान रक्तवर्ण हो तथा जिसके दाग वस्त्र पर से आसानी से धुल जाँय वह शुद्ध समझना चाहिए।[2] चरक गुञ्जाफल, पद्म, लाक्षारस तथा बीरबहूटी के सदृश वर्ण वाले आर्त्तव को शुद्ध मानते हैं। इसके अतिरिक्त, जो एक मास पर आवे, पाँच दिन रहे, जो न बहुत कम हो न बहुत ज्यादा तथा जिसमें पिच्छिलता, दाह या वेदना न हो उस आर्त्तव को शुद्ध समझे।[3]

आर्त्तव के कर्म

गर्भधारण में यह सहायक होता है।[4] अनुद्भूत रज गर्भकृत् होता है।

आर्त्तवक्षय

आर्त्तव के क्षीण होने पर उचित काल में आर्त्तव का प्रकट न होना या कम मात्रा में आना तथा योनि में पीड़ा होना ये लक्षण होते हैं। इसके उपचार में अवरुद्ध दोष का संशोधन तथा आग्नेय द्रव्यों का विधिपूर्वक उपयोग करना चाहिये[5]।

आर्त्तववृद्धि

अत्यधिक आर्त्तव होने पर अङ्गमर्द, अतिप्रवृत्ति (प्रदर) तथा दुर्गन्ध उत्पन्न करता है।[6] इसके निवारण के लिए रक्तपित्त तथा प्रदर की चिकित्सा करनी चाहिए।

---

१. आर्त्तवं शोणितं त्वाग्नेयं, अग्नीषोमीयत्वाद् गर्भस्य।
—सु. सू. १४।७ देखें—सु. शा. ३।३

२. शशासृक्प्रतिमं यत्तु यद्वा लाक्षारसोपमम्।
तदार्त्तवं प्रशंसन्ति यद्वासो न विरंजयेत्॥—सु. शा. २।१७

३. मासान्निष्पिच्छदाहार्त्ति पञ्चरात्रानुबन्धि च।
नैवाति बहु नात्यल्पमार्त्तवं शुद्धमादिशेत्॥
गुञ्जाफलसवर्णं च पद्मालक्तकसंनिभम्।
इन्द्रगोपकसंकाशमार्त्तवं शुद्धमादिशेत्॥—च. चि. ३०।२२५-२२६

४. रक्तलक्षणमार्त्तवं गर्भकृच्च—सु. सू. १५।५

५. आर्त्तवक्षये यथोचितकालादर्शनमल्पता वा योनिवेदना च; तत्र संशोधनमाग्नेयानां च द्रव्याणां विधिवदुपयोगः—सु. सू. १५।१२

६. आर्त्तवमंगमर्दमतिप्रवृत्तिं दौर्गन्ध्यञ्च—सु. सू. १५।११

गर्भकाल में आर्त्तव

गर्भधारण होने पर आर्त्तववह स्रोतों के मुख अवरुद्ध हो जाते हैं अतः गर्भिणी स्त्रियों में आर्तव नहीं दिखलाई पड़ता। अवरुद्ध आर्त्तव के कुछ अंश से अपरा का निर्माण होता है और कुछ स्तनों में आकर उन्हें स्तन्य के लिए प्रस्तुत करता है।[1]

स्तन्य

यह रस का उपधातु है, रस से इसका पोषण होता है। रस का प्रसादभाग जो समस्त शरीर से स्तनों में प्राप्त होता है वह स्तन्य कहलाता है।[2] प्रवृत्ति की दृष्टि से स्तन्य की उपमा शुक्र से दी गई है। जिस प्रकार शुक्र समस्त शरीर में व्याप्त होने पर भी स्त्री के द्वारा प्रहृष्ट होने पर शिश्नमार्ग से अभिव्यक्त होता है उसी प्रकार रस का प्रसादभाग समस्त शरीर में व्याप्त होते हुए भी पुत्र के सम्पर्क से वात्सल्यप्रेम के कारण स्तनों से फूट निकलता है। बालाओं तथा अगर्भा स्त्रियों में स्तनाश्रित धमनियों के द्वार बन्द रहते हैं जब कि प्रजाता और गर्भिणी स्त्रियों में खुले रहते हैं जिनके द्वारा स्तन्य बाहर प्रकट होता है।[3]

---

१. सु. शा. ४

स्तन्य का आर्त्तव से संबंध आधुनिक विज्ञान भी मानता है। यह देखा गया है कि दो आर्त्तवकालों के बीच में जब आर्त्तव संचित होता रहता है, स्तनों में रक्ताधिक्य, नये कोषाणुओं की उत्पत्ति तथा कोषावकाशों में वृद्धि हो जाती है। गर्भावस्था में अपरा स्तन्यविकास में विशेष भाग लेता है। इससे एक स्तन्यजनक पदार्थ स्रुत होता है जिससे स्तन्यजनक अङ्ग का विकास होता है।

२. रसात् स्तन्यं प्रसादजम्—च. चि. १५

रसप्रसादो मधुरः पक्वाहारनिमित्तजः।
कृत्स्नदेहात् स्तनौ प्राप्तः स्तन्यमित्यभिधीयते ॥—सु. नि. १०।१६

३. धमन्यः संवृतद्वाराः कन्यानां स्तनसंश्रिताः।
तासामेव प्रजातानां गर्भिणीनां च ताः पुनः ॥
स्वभावादेव जायन्ते··· ··· ···
··· ··· ···स्नेहो निरन्तरस्तत्र प्रसवे हेतुरुच्यते ॥

—सु. नि. १०।१४–२१

स्तन के विकार में अनेक अन्तःस्राव यथा ईस्ट्रोजन, प्रोजेस्टरोन, प्रोलैक्टीन (पुरःपोषणिकाग्रंथिस्राव), कॉर्टिसोल और थाइरॉक्सीन निमित्तभूत होते हैं। आधुनिकों ने भी स्तन्य प्रवृत्ति में मनोभावों का महत्व माना है।

शुद्ध स्तन्य का लक्षण

जल में डालने पर जो बिलकुल मिल जाय तथा जो पाण्डुर, मधुर, अवि-वर्ण और स्वच्छ हो और जिसके वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श प्राकृत हों वह स्तन्य शुद्ध कहा जाता है; यह पुष्टिकर एवं आरोग्यकर होता है।[1]

स्तन्य का संघटन

स्तन्य रसप्रसादज होने के कारण श्लेष्मल तथा जलभूयिष्ठ होता है। स्तन्य में प्रोटीन (कैप्सिनोजन तथा लैक्टालब्यूमिन), स्नेह, दुग्धशर्करा, सुधा, पोटाशियम, सोडियम, क्लोरीन तथा स्फुरक पाये जाते हैं। लौह की मात्रा अत्यल्प होती है। गोदुग्ध की तुलना में नारीस्तन्य में प्रोटीन तथा लवण कम और कार्बोहाइड्रेट अधिक होता है। जीवनीय द्रव्यों में विटामिन ए ३०० यु०, थायामिन ०·०१ मि. ग्रा., सी ६ मि. ग्रा. तथा डी १० युनिट होते हैं। गोदुग्ध में विटामिन सी अपेक्षाकृत कम होता है।

स्तन्य के कर्म

स्तन्य स्तनों में पीनता (स्थूलता) तथा बच्चों में जीवनी शक्ति बढ़ाता है।[2]

स्तन्यक्षय

स्तन्य का क्षय होने पर स्तनों की शुष्कता तथा स्तन्य की कमी या अप्रवृत्ति होती है। इसके उपचार में श्लेष्मल स्तन्यजनन द्रव्यों का प्रयोग करना चाहिए[3]।

स्तन्यवृद्धि

स्तन्य की वृद्धि होने पर स्तनों में स्थूलता, पीड़ा तथा बार-बार प्रवृत्ति होती है। इसकी चिकित्सा के लिए संशोधन तथा क्षपण उपायों का अवलम्बन करना चाहिए।[4]

स्तन्यदोष

वातादि दोषों के प्रकुपित होने से विभिन्न दोष स्तन्य में प्रकट होते हैं।[5] इनके निवारण के लिए स्तन्य शोधन द्रव्यों का प्रयोग करना चाहिए।

---

१. यत् क्षीरमुदके क्षिप्रमेकीभवति पाण्डुरम्।
मधुरं चाविवर्णं च प्रसन्नं तद् विनिर्दिशेत्॥—सु. नि. १०।२५
स्तन्यसंपत् तु प्रकृतवर्णगन्धरसस्पर्शम्···
प्रकृतिभूतत्वात् तत् पुष्टिकरमारोग्यकरं चेति—च. शा. ८।५४
२. स्तन्यं स्तनयोरापीनत्वजननं जीवनं चेति—सु. सू. १५।५
३. स्तन्यक्षये स्तनयोर्म्लानता स्तन्यासंभवोऽल्पता वा; तत्र श्लेष्मवर्धन द्रव्योपयोगः—सु. सू. १५।१२
४. स्तन्यं स्तनयोरापीनत्वं मुहुर्मुहुः प्रवृत्तिं तोदं च।—सु. सू. १५।१६
५. च. चि. ३०।२३६–२३७; सु. नि. १०।२१-२२

एकादश अध्याय

प्रजनन

अमर जीव

जीव की नित्यता दार्शनिक ग्रन्थों में प्रतिपादित की गई है। यद्यपि स्थूल दृष्टि से पाञ्चभौतिक शरीर का रूपान्तर प्रतीत होता है तथापि उसका आभ्यन्तर तत्त्व सदैव एक समान रहता है, उसकी तात्त्विक एकता सदैव अक्षुण्ण रहती है। दार्शनिक दृष्टिकोण से ही नहीं, क्रियाशारीर की दृष्टि से भी जीव अमर है। यद्यपि उसका वर्तमान शरीर नष्ट हो जाता है, तथापि भविष्य में भी सन्तति के रूप में उसकी स्थिति बनी रहती है। इसीलिए प्राचीन शास्त्रों में लिखा है—'आत्मा वै जायते पुत्रः'। पत्नी को 'जाया' इसी कारण कहते हैं कि पुरुष उससे पुत्ररूप में उत्पन्न होता है। पुत्र वस्तुतः पिता का ही अपना नवीन रूप है। इस प्रकार सूक्ष्म दृष्टि से यदि देखा जाय तो प्रजनन भी पुरुष की सहज रक्षात्मक भावना का ही एक रूप है। जिस प्रकार पुरुष अपने वर्तमान जीवन की रक्षा में तत्पर रहता है, उसी प्रकार भविष्य में भी वह अपनी सत्ता बनाये रखना चाहता है और उसकी यही इच्छा प्रजनन के रूप में प्रकट होती है। प्रजनन सृष्टि की स्थिति के लिए एक आवश्यक कार्य है जिसकी सिद्धि पुरुष की इसी सहज भावना के द्वारा होती है।

पाश्चात्य देशों में विकसित आधुनिक विकासवाद के विचारों से भी इस पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है। प्रत्येक जाति के जनक कोषाणुओं में क्रोमोजोम की संख्या निश्चित होती है। इन्हीं क्रोमोजोम के द्वारा पिता के आनुवंशिक संस्कार पुत्र में संक्रान्त होते हैं। दूसरे शब्दों में, पुत्र की शारीरिक और मानसिक स्थिति की आधारशिला इन्हीं से बनती है। विभजनपद्धति से पुरुष के शुक्र में क्रोमोजोम की संख्या आधी रह जाती है और इसी प्रकार स्त्रीबीज में भी उनकी संख्या आधी हो जाती है। पुनः दोनों के मिलने से गर्भ में क्रोमोजोम की संख्या स्वाभाविक हो जाती है। यद्यपि मानवशरीर नश्वर है तथापि उसके जनक कोषाणु अमर होते हैं जिनका उत्तरोत्तर विकास नये नये रूप में होता रहता है। अमीबा में पृथक् प्रजनन कोषाणु नहीं होते, केवल सामान्य विभजन के द्वारा उनमें संतानोत्पत्ति का कार्य सम्पादित होता है। एक अमीबा विभाजित होते-होते असंख्य रूपों में स्थित हो जाता है और इस

विराट् रूप में वह भी अमर हो जाता है। अतः यह कहा जा सकता है कि मानव मरणशील है, किन्तु महामानव अमर है।

मनुष्य का जन्मोत्तर विकास

गर्भरूप में मनुष्य गर्भाशय में स्थित होकर माता के रक्त से ही पोषक तत्त्वों का ग्रहण करता है, किन्तु प्रसव के बाद नाभिच्छेदन के द्वारा माता से उसका सम्बन्ध विच्छिन्न हो जाता है। अतः श्वास-प्रश्वास की क्रिया प्रारंभ हो जाती है; जिससे शिशु को ओषजन प्राप्त होता है तथा माता के दूध से पोषण मिलता है। अन्नप्राशन के बाद शनैः शनैः अन्य भोज्यपदार्थों के ग्रहण से भी पोषण प्राप्त होने लगता है।

अंगों की रचना में परिवर्तन होने लगते हैं। जन्म के बाद शुक्तिछिद्र बन्द हो जाता है तथा सेतुसिरा एवं सेतुधमनी के स्रोत भी बन्द हो जाते हैं। नाभिनालगत रक्तवह स्रोत भी कार्य न रहने से बन्द हो जाते हैं और सौत्रिक रज्जु के रूप में परिणत हो जाते हैं। ये परिवर्तन जन्म के कुछ दिनों के भीतर हो जाते हैं।

इनके अतिरिक्त, शिशु का विकास निरन्तर होता जाता है। अनेक अंगों और धातुओं का, जिनका निर्माण अपूर्ण रहता है पूर्ण हो जाता है। यथा केन्द्रीय नाडीमण्डल के नाडीसूत्रों में मेदस पिधान लगने लगते हैं और अस्थि-विकास का भी कार्य होता रहता है जब तक कि अस्थिकंकाल पूर्ण विकसित नहीं हो जाता।

गर्भाशय में विकास की गति जितनी तीव्र रहती है, उतनी जन्म के बाद नहीं होती। प्रारंभिक वर्षों में बालकों की अपेक्षा बालिकाओं का विकास शीघ्रता से होता है, किन्तु युवावस्था के बाद स्थिति उलट जाती है। सामान्यतः युवावस्था में स्त्री और पुरुष दोनों का विकास बढ़ जाता है, किन्तु बाद में क्रमशः यह घटने लगता है और अन्त में एकदम बन्द हो जाता है।

युवावस्था में प्रजनन अंग परिपक्व और क्रियाशील हो जाते हैं। बालिकाओं में, १४ या १५ वर्ष की आयु में इसका प्रारम्भ मासिक स्राव के साथ होता है। मासिक स्राव प्रायः ५० वर्ष की आयु तक जारी रहता है जिसके बाद क्रमशः या सहसा बन्द हो जाता है। फलतः उसके बाद सन्तानोत्पत्ति बन्द हो जाती है। इनके अतिरिक्त, युवावस्था में अन्य विशिष्ट लक्षण भी उत्पन्न होते हैं—यथा स्त्रियों में स्तन-वृद्धि और यौवन के अन्य मानसिक और शारीरभाव तथा पुरुषों में दाढ़ी मूँछ का उदय, कक्षा आदि

अन्य स्थानों में केश का प्रादुर्भाव, स्वरयंत्र के आकार में वृद्धि जिससे स्वर में भारीपन आदि।

प्रजनन (Reproduction)

प्राणियों में प्रजनन की दो पद्धतियाँ मानी गई हैं।

(१) अमैथुनी—(Asexual) (२) मैथुनी—(Sexual)

एक-कोषाणवीय वनस्पतियों और प्राणियों में अमैथुनी पद्धति ही प्रजनन की प्रधान पद्धति है। इसके कई रूप हैं :—

(१) साक्षात् विभजन (Direct division)

(२) अंकुरण (Gemenetion)

(३) बहुविभजन और बीजनिर्माण (Endogenous cell formation) साक्षात् विभजन अमीबा-सदृश एक-कोषणवीय प्राणियों में पाया जाता है। कोषाणु का ओजःसार केन्द्र सहित लगभग दो समान भागों में विभक्त होकर एक दूसरे से पृथक् हो जाता है। इस प्रकार जनक का शरीर दो सन्ततियों के रूप में परिणत हो जाता है और ये सन्ततियाँ भी बाद में बढ़कर स्वयं जनक बन जाती हैं।

मैथुनी प्रजनन पारस्परिक संयोग है जिसमें दो समान व्यक्तियों का शरीर पूर्णतया एक दूसरे से मिल कर एकाकार हो जाता है और पुनः कई बीज सदृश कणों में विभक्त होकर युवा कोषाणु बनते हैं। इस प्रकार का संयोग हेटरोमिटा नामक सूक्ष्म जीव में पाया जाता है। मनुष्य आदि उच्च प्राणियों के विशिष्ट मैथुनी प्रजनन में एक ही वर्ग के दो भिन्न लिङ्गवाले व्यक्ति होते हैं जिनमें शरीर-रचना एवं शरीरक्रिया संबंधी पर्याप्त भिन्नता पाई जाती है। प्रत्येक व्यक्ति में शरीरगत ओजःसार दो प्रकार का होता है :—

(१) सामान्य कोषाणु—(Somatic cells)

(२) बीजकोषाणु—(Germinal cells)

सामान्य कोषाणु साधारण पोषण तथा जीवनसंबंधी अन्य कार्य करते हैं और बीजकोषाणु प्रजनन में भाग लेते हैं। पुरुष के बीजकोषाणु को शुक्रकीट तथा स्त्री के बीजकोषाणु को डिम्ब कहते हैं।

जीवनकाल में सामान्य तथा बीजकोषाणुओं में परोक्ष विभजन होता है, किन्तु यह विभजन भी दो प्रकार का होता है :—

(१) समविभजन (Homotypical)—सामान्य कोषाणुओं में

(२) विषम विभजन (Heterotypical)—बीजकोषाणुओं में

(१) सम विभजन—इसमें सर्वप्रथम केन्द्र के बीच में एक संकोच उत्पन्न होता है जो धीरे-धीरे गहरा होने लगता है और अन्त में केन्द्र बीच से टूटकर दो भागों में विभक्त हो जाता है। बाद में इसी प्रकार ओजःसार तथा कोषाणु के आवरण में भी संकोच होता है जो गहरा होकर कोषाणु को दो भागों में विभक्त कर देता है। इस विभजन में क्रोमेटिन में कोई विशेष परिवर्तन नहीं होता। कभी-कभी इसमें केन्द्र तो विभक्त हो जाता है, किन्तु ओजःसार विभक्त नहीं होता। ऐसी अवस्था में कोषाणु के भीतर दो या अधिक केन्द्र पाये जाते हैं।

(२) विषम विभजन (Heterotypical or reduction) शरीर के सभी सामान्य कोषाणुओं में इस प्रकार का विभजन होता है। इसकी विशेषता यह है कि इसमें केन्द्र में एक विशिष्ट प्रकार का परिवर्तन मिलता है। इस परिवर्तन में निम्नांकित अवस्थायें होती हैं :—

(१) पूर्वावस्था (Prophase)
(२) विभिन्नावस्था (Metaphase)
(३) परावस्था (Anaphase)
(४) अन्तावस्था (Telophase)

(१) पूर्वावस्था—प्रथम परिवर्तन केन्द्र में होता है जिससे क्रोमेटिन का जाल एक लपेटे हुए लम्बे सूत्र के रूप में हो जाता है। इसी अवस्था को गुच्छावस्था (Spirem phase) कहते हैं। इसके साथ ही केन्द्रावरण अस्पष्ट होकर अन्त में लुप्त हो जाता है और केन्द्र के बाहर स्थित आकर्षण-मण्डल विभक्त होकर इसके दोनों सिरों पर चला जाता है। प्रत्येक आकर्षणमण्डल के चारों ओर कोषाणु का ओजःसार ज्योतिर्मण्डल के रूप में स्थित हो जाता है जिसे 'तारक' (Aster) कहते हैं। सूक्ष्म सूत्रों का वेमाकार भाग (Spindle) दोनों आकर्षणमण्डलों को मिलाता है जिसे वर्णरहित वेमा (Achromatic spindle) कहते हैं।

क्रोमेटिन का सूत्र टूटकर V की आकृति के अनेक तरंगित खण्डों में विभक्त हो जाता है। इन खण्डों को क्रोमोजोम (Chromosomes) कहते हैं। जाति के अनुसार इनकी संख्या में भिन्नता होती है, किन्तु एक जाति में इनकी संख्या निश्चित होती है। मनुष्य में ४० क्रोमोजोम होते हैं जिनमें आधे पिता तथा आधे माता से उत्पन्न होते हैं।

केन्द्राणु का भी लोप हो जाता है तथा क्रोमजोम दोनों आकर्षकमण्डलों के बीच में वेमा की मध्यरेखा पर वृत्ताकार व्यवस्थित होकर तारा के

रूप में इकट्ठे हो जाते हैं। इस अवस्था को तारकावस्था (Aster phase) कहते हैं।

(२) विभिन्नावस्था—इस अवस्था में प्रत्येक क्रोमोजोम लम्बाई में दो भागों में विभक्त हो जाते हैं और इस प्रकार उनकी संख्या दूनी हो जाती है। ये विभक्त क्रोमोजोम दो समूहों में पृथक होकर वेमा के दोनों ध्रुवों की ओर आकर्षणमण्डल के निकट चले जाते हैं और आकर्षणमण्डल को घेर कर तारासदृश आकृति बनाते हैं। इस प्रकार वर्णरहित वेमा के दोनों किनारों पर दो तारे बन जाते हैं। इस अवस्था को द्वितारक अवस्था (Diaster phase) कहते हैं।

(३) परावस्था :—इस अवस्था में क्रोमोजोम संयुक्त होकर क्रोमेटिन का जाल बनाते हैं। केन्द्राणु तथा केन्द्रावरण का पुनः निर्माण हो जाता है। कोषाणु के प्रान्तभाग में चारों ओर संकोच दिखाई पड़ने लगता है।

(४) अन्तावस्था :—कोषाणु में चारों ओर से संकोच गहरा होने लगता है जिससे क्रमशः कोषाणु दो भागों में विभक्त हो जाता है और इस प्रकार एक कोषाणु से दो सन्ततिकोषाणु (Daughter cells) बनते हैं। प्रत्येक सन्तति-कोषाणु में केन्द्र एवं आकर्षणमण्डल होता है।

मैथुनी प्रजनन में केन्द्रसहित दो कोषाणुओं का मिलन होता है। यदि दोनों कोषाणुओं में क्रोमोजोम की सामान्य संख्या वर्तमान हो तो संयुक्त कोषाणु में इनकी संख्या प्रत्येक सन्तति में दूनी हो जायगी। अतः क्रोमोजोम की संख्या दूनी न हो, इसके लिए शुक्रकीटाणु तथा स्त्रीबीज में एक विशेष प्रकार का विभजन होता है, जिसके परिणामस्वरूप परिपक्व बीजकोषाणु में वर्गविशेष के लिए निश्चित क्रोमोजोम की संख्या आधी हो जाती है। कोषाणु विभजन की इस पद्धति को विषम विभजन या ह्रासोन्मुख विभजन (Division by reduction) कहते हैं।

ह्रास निम्नाङ्कित प्रकार से होता है :—

विभिन्नावस्था में क्रोमोजोम दो भागों में विभक्त न होकर युग्मरूप में अवस्थित हो जाते हैं। बाद में ये क्रोमोजोम दो भागों में विभक्त होकर प्रत्येक वेमा के ध्रुवों की ओर चले जाते हैं। इस प्रकार प्रत्येक सन्तति कोषाणु में इनकी संख्या आधी रह जाती है।

गर्भाधान (Fertilisation)

शुक्रकीटाणु के साथ परिपक्व स्त्रीबीज के संयोग को गर्भाधान कहते हैं। यह सामान्यतः बीजवाहिनी के ऊपरी भाग में होता है। स्त्रीबीज अपनी विशिष्ट

शक्ति से शुक्रकीटाणुओं को अपनी ओर आकर्षित करता है और इस प्रकार गर्भाधान की क्रिया सम्पन्न होती है। परिपक्व स्त्रीबीज के आवरण में अनेक शुक्रकीट प्रवेश करने की चेष्टा करते हैं, किन्तु जब एक शुक्रकीटाणु स्त्रीबीज में प्रविष्ट हो जाता है तब स्त्रीबीज के बाहरी स्तर में कुछ इस प्रकार की प्रतिक्रिया होती है कि अवशिष्ट शुक्रकीटाणु शीघ्र उससे पृथक् हो जाते हैं। स्त्रीबीज में प्रवेश कर जाने के पश्चात् शुक्रकीटाणु का पुच्छ क्षीण होकर शोषित हो जाता है। शुक्रकीटाणु का शिर पुरुष-पूर्वकेन्द्र (Male pronucleus) कहलाता है जो स्त्रीपूर्वकेन्द्र से मिलकर एक हो जाता है। इस प्रकार पुरुष तथा स्त्री पूर्व-केन्द्र के संयोग से एक कोषाणु बनता है जिसे गर्भकेन्द्र (Segmentation Nucleus) कहते हैं। परिपक्व स्त्रीबीज तथा शुक्रकीटाणु के मिलने से गर्भकेन्द्र में क्रोमोज़ोम की संख्या पूरी हो जाती है। यही कारण है कि गर्भ में क्रोमो-ज़ोम की संख्या अधिक न होने पर भी उसके पैतृक तथा मातृक गुण चले आते हैं। स्त्रीबीज तथा शुक्रकीट का मिलन बीजवाहिनी के पार्श्वभाग में होता है, किन्तु कभी-कभी अन्य स्थानों में भी यह क्रिया होती है। कभी-कभी इन दोनों का मिलन बीजकोष में ही हो जाता है और वहीं गर्भकेन्द्र वृद्धि करता है। बीजवाहिनी, उदरगुहा इन स्थानों में भी गर्भकेन्द्र रुक कर वृद्धि करता है।

सामान्यतः गर्भकेन्द्र गर्भाशय में चला जाता है और वहीं उसकी श्लेष्मल-कला में गर्भकेन्द्र का अन्तर्वपन होता है। अन्तर्वपन तथा अपरा का निर्माण बीजकोष तथा बीजकिणपुट के अन्तःस्राव की सहायता से होता है। इसका प्रमाण यह है कि यदि गर्भाधान के बाद शीघ्र ही बीजकोष तथा बीजकिणपुट को पृथक् कर दिया जाय तो अन्तर्वपन शीघ्र ही नष्ट हो जाता है।

गर्भविकास (Segmentation)

गर्भकेन्द्र लगभग दो समान भागों में विभक्त हो जाता है। इस प्रकार ये पुनः विभक्त होते चले जाते हैं और अन्त में इनसे शहतूत के आकार की एक रचना बनती है जिसे कलल (Morula) कहते हैं। तत्पश्चात् इसमें एक कोटर बन जाता है जिससे कलल कोष में परिणत हो जाता है। इसमें गर्भ-कोष (Blastodermic Vesicle) कहते हैं। कलल के कोषाणु व्यवस्थित होकर अन्तः एवं बाह्य कोषाणुओं में विभक्त हो जाते हैं। बाह्य कोषाणु क्रमबद्ध होकर बाह्यस्तर का निर्माण करते हैं जिसे गर्भपरिधि (Trophoblast) कहते हैं और इससे युक्त गर्भकोष को एक-पत्रक गर्भकोष (Unilaminar blasto-cyst) कहते हैं। अन्तकोषाणु एक स्थान पर एकत्रित हो जाते हैं जिसे गर्भ-ध्रुव (Embryonic pole) कहते हैं। इसी स्थान पर भावी भ्रूण की वृद्धि

होती है। अनेक स्तनधारी प्राणियों में, गर्भपरिधि और गर्भध्रुव के बीच में द्रव सञ्चित हो जाता है और इस प्रकार एक गर्भकोष (Segmentation Cavity) बन जाता है।

गर्भपरिधिः—यह भ्रूण के निर्माण में कोई योग नहीं देती, इससे केवल क्रोडीन (Chorion) नाम की एक कला बनती है जिसके कुछ अंश से अपरा का निर्माण होता है। गर्भपरिधि दो स्तरों में विभक्त हो जाती है। बाह्यस्तर को बाह्यपरिधि (Syncitium) तथा अन्तःस्तर को अन्तःपरिधि (Layer of Langhans) कहते हैं। गर्भपरिधि स्त्रीबीज को गर्भाशय की श्लेष्मल कला में स्थापित करने में प्रधान भाग लेती है।

आन्तरिक कोषाणुसमूह :—इस समूह के कोषाणु एक स्तर में व्यवस्थित हो जाते हैं और इस प्रकार गर्भकोष द्विपत्रक गर्भकोष (Bilaminar blastocyst) में परिणत हो जाता है। ये कोषाणु दो भागों में विभक्त हो जाते हैं। बाह्यभाग को बाह्यस्तर (Ectoderm) तथा आभ्यन्तर भाग को अन्तःस्तर (Entoderm) कहते हैं। बाद में इन दोनों भागों में कोटर बन जाते हैं। बाह्यस्तर में स्थित कोटर को बाह्यकोटर (Amniotic cavity) तथा अन्तःस्तर में स्थित कोटर को अन्तःकोटर (Archenteron) कहते हैं।

मध्यस्तर (Mesoderm) :—बाह्यस्तर के कुछ कोषाणु संख्या में वृद्धि कर समीपस्थ कोषाणुओं से मिलकर अपारदर्शक रेखा के रूप में परिणत हो जाते हैं जिसे प्राथमिक रेखा (Primitive streak) कहते हैं। इससे कोषाणुओं का तीसरा स्तर बनता है और बाह्यस्तर तथा अन्तःस्तर के बीच में रहता है। इस स्तर को मध्यस्तर कहते हैं।

नाडीपरिखा (Neural groove) जो मध्यरेखा के दोनों ओर बाह्यस्तर की वृद्धि से बनती है, के दोनों पार्श्वों में मध्यस्तरीय कोषाणु समूहों में स्थित होते हैं, जिन्हें मध्यस्तरीय कोषाणुसमूह (Mesoblastic Somites or Protovertebrae) कहते हैं।

इसके बाद मध्यस्तरीय कोषाणु बाह्य तथा अन्तःस्तर के बीच में फैलते हैं और क्रमशः इसमें एक विदार बन जाता है जिससे यह दो भागों में विभक्त हो जाता है। बाहर का स्तर जिसे परिसरीय स्तर (Somatic layer) कहते हैं, बाह्यस्तर से लगा रहता है और ये दोनों मिलकर परिसरीय भाग (Somatopleur) का निर्माण करते हैं। भीतरी स्तर, जिसे आशयिकस्तर (Splanchnic layer) कहते हैं, अन्तःस्तर से लगा रहता है और

ये दोनों मिलकर आशयिक भाग (Spianchnopleur) बनाते हैं। परिसरीय एवं आशयिक भाग के बीच का स्थान कायगुहा (Body cavity or Coelom) कहलाता है।

इस अवस्था में स्त्रीबीज में बाहर से भीतर की ओर निम्नांकित रचनायें पाई जाती हैं :—

१. बाह्यस्तर जो
२. परिसरीय स्तर से आवृत रहता है और दोनों मिलकर परिसरीय भाग बनाते हैं।
३. कायगुहा—यह परिसरीय तथा आशयिक भाग के बीच का स्थान है। आशयिक भाग का निर्माण अन्तःस्तर के साथ आशयिक स्तर के मिलने से होता है।
४. आशयिक स्तर।
५. अन्तःस्तर।

आशयिक भाग की केन्द्रीय गुहा अन्तःकोटर बनाती है।

प्राथमिक रेखा के पूर्वभाग में बाह्यस्तर के कोषाणु मोटे तथा स्तरों में व्यवस्थित होने लगते हैं जिन्हें नाडीस्तर (Neural fold) कहते हैं। इन स्तरों से नाडीपरिखा (Neural groove) बनती है। ये स्तर नाडीपरिखा के दोनों पार्श्वों में ऊपर की ओर बढ़कर अन्त में भीतर की ओर मुड़ जाते हैं और एक दूसरे से पूर्णतया मिल जाते हैं जिससे उनके मध्य में एक अवकाश रह जाता है जिसे नाडीनलिका (Neural canal or Neural tube) कहते हैं।

अब बीज के चारों ओर एक संकोच आरम्भ होता है जिससे वह ऊर्ध्व और अधः दो भागों में विभक्त हो जाता है। ऊपर के भाग से भ्रूण का विकास होता है और नीचे के भाग से उसके अन्य अंग बनते हैं। ये दोनों भाग बढ़ते जाते हैं और संकोच अधिक गहरा होता जाता है। इसी स्थान पर भ्रूण की नाभि बनती है। ऊर्ध्वभाग, जिसे भ्रूणभाग (Embryonic part) कहते हैं, बढ़कर लम्बा हो जाता है। इसका पूर्व अंश शिरोभाग (Head fold) तथा पश्चिम अंश पुच्छभाग (Tail fold) कहलाता है। अन्तःकोटर का पृष्ठभाग, जो भ्रूण के भीतर रहता है, प्राथमिक पाचननलिका बनाता है। यह नलिका भी पूर्व (Foregut), मध्य (Midgut) तथा अन्त्य (Hindgut) भागों में विभक्त हो जाती है।

भ्रूण में स्थित कायगुहा के एक अंश से फुफुसावरण, उदरावरण तथा हृदयावरण की गुहायें बनती हैं। नाडीपरिखा के नीचे अन्तःस्तर के कोषाणुओं के स्थूल होने के कारण एक धारा बन जाती है जिसे कंकाल-धारा

(Notochord) कहते हैं। यही अस्थि कंकाल के अक्ष का उद्गम बिन्दु है। कंकालधारा अन्तःस्तर से पृथक् होकर एक वृत्ताकार रज्जु के समान भाग बनाती है जो बनने वाले भावी मेरुदण्ड की पूरी लम्बाई में फैला रहता है।

नाडीनलिका एवं कंकालधारा को घेरे हुए मध्यस्तरीय कोषाणुओं से कपाल, मस्तिष्क, सुषुम्ना तथा कशेरुकाओं के आवरण बनते हैं। नाडीनलिका से नाडी-संस्थान बनता है। नाडीनलिका के शिरोभाग में तीन प्रसार होते हैं जिनसे अग्रमस्तिष्क तथा मध्यममस्तिष्क तथा पश्चिम-मस्तिष्क बनते हैं। नाडीनलिका के अवशिष्ट भाग से सुषुम्ना बनती है। गर्भ के बाह्य, मध्य तथा अन्तःस्तरों से शरीर की निम्नांकित रचनाओं का निर्माण होता है :—

बाह्यस्तर :—

१. संपूर्ण नाडीसंस्थान २. त्वचा का बाह्यस्तर ३. केश-नख

४. स्नेह, स्वेद तथा स्तन्यग्रन्थियों के आवरकतन्तु

५. नासापथ के आवरकतन्तु ६. मूत्रप्रसेक द्वार के निकटवर्ती आवरकतन्तु

७. मुख के ऊर्ध्वभाग एवं कपोलों के आवरकतन्तु

८. मलाशय के अन्तिम भाग के आवरकतन्तु

९. दन्त का बाह्य आवेष्टन १०. ज्ञानेन्द्रियों के नाडयावरक तन्तु

११. नेत्र के अग्रिमभाग के आवरण में स्थित आवरकतन्तु

१२. अश्रुस्रोत तथा अश्रुग्रन्थियों का आवरकतन्तु

१३. तारामण्डल की संकोचक एवं विस्फारक पेशियाँ

१४. स्वेदग्रंथियों की पेशियाँ १५. पोषणकग्रन्थि का अग्रखण्ड

१६. अधिवृक्क ग्रन्थि का अन्तःभाग १७. पीयूषग्रन्थि

अन्तःस्तर :—

१. अन्ननलिका के आवरकतन्तु

२. पाचननलिका में खुलनेवाली ग्रन्थियों के आवरकतन्तु

३. स्वरयन्त्र, श्वासनलिका, श्वासप्रणालिका एवं फुफ्फुस के वायुकोषों के आवरकतन्तु

४. पटहपूरणिका तथा कर्णपटह के आवरकतन्तु

५. मूत्राशय तथा मूत्रप्रसेक के आवरकतन्तु

६. अवटु तथा ग्रैवेयक ग्रन्थि के कोषों के आवरकतन्तु

मध्यस्तर :—

(क) परिसरीय स्तर :—अस्थि, पेशी तथा संयोजक तन्तु

(ख) आशयिक स्तर :—पाचननलिका, रक्तवहसंस्थान तथा मूत्र—प्रजननसंस्थान।
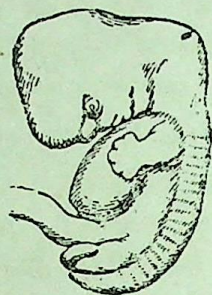
पाँच सप्ताह का भ्रूण

गर्भकला (Decidua)

गर्भाशय की परिवर्तित श्लेष्मल कला को गर्भकला कहते हैं। स्त्रीबीज के अन्तर्वपन के पूर्व श्लेष्मल कला में रक्तसंचय होने लगता है और वह मोटी हो जाती है। इसके सौत्रिकतन्तु के कोषाणुओं की संख्या अधिक हो जाती और गर्भाशय की ग्रंथियाँ विस्तृत हो जाती हैं।

जब शुक्रगर्भित स्त्रीबीज गर्भाशयगुहा में पहुँचता है तब वह सामान्यतः कललावस्था में होता है। गर्भाशय की श्लेष्मल कला में बीज का अन्तर्वपन हो जाने के पश्चात् श्लेष्मल कला मोटी हो जाती है और उसका रक्तसंवहन बढ़ जाता है। गर्भाशय की ग्रन्थियाँ लम्बी हो जाती हैं और कीपाकार (Funnel shaped) मुखों से पृष्ठभाग पर खुलती हैं।

आठ सप्ताह का भ्रूण

स्त्रीबीज के अन्तर्वपन के पश्चात् श्लैष्मिक कला निम्नांकित तीन भागों में विभक्त हो जाती है :—

(१) बीजावरक गर्भकला (Decidua Capsularis)
(२) अपरीय गर्भकला (Decidua basalis)
(३) अवशिष्ट गर्भकला (Decidua vera)

बीजावरक गर्भकला श्लैष्मिक कला के उस भाग को कहते हैं जो स्त्रीबीज को आवृत करता है। अपरीय गर्भकला श्लैष्मिक कला तथा स्त्रीबीज के मध्यभाग को कहते हैं। शेष श्लैष्मिक कला को अवशिष्ट गर्भकला कहते हैं।

स्त्रीबीज ज्यों ज्यों बढ़ता है, बीजावरक गर्भकला पतली होती जाती है और तीसरे मास तक अवशिष्ट गर्भकला से मिल जाती है तथा पांचवें मास तक पूर्णतया लुप्त हो जाती है।

भ्रूणावरण
(Amnion)

यह सबसे भीतर की चिकनी कला है जो भ्रूण को आवृत करती है। इसका निर्माण परिसरीय भाग के शिरोभाग तथा पुच्छभाग से होता है जो भ्रूण की पूर्वावस्था में इसके शिर तथा पुच्छ भागों के रूप में होते हैं।

ज्यों-ज्यों भ्रूण बीजाम्बु (Yolk) में डूबता जाता है, त्यों त्यों इन स्तरों की वृद्धि होती जाती है और अन्त में ये एक दूसरे से मध्यरेखा में मिलकर दो स्पष्ट कलाओं का निर्माण करते हैं :—

(क) मिथ्या भ्रूणावरण (False amnion)—यह पाण्डुक्षेत्र (Zona-pallucida) के बचे हुए भाग से बनता है।

(ख) वास्तविक गर्भकला (True amnion)—यह भीतर का भाग है जो भ्रूणकोष (Amniotic sac) बनाता है। इसी कोष में भ्रूण रहता है। ज्यों ज्यों वृद्धि होती जाती है, इसका आकार बढ़ता जाता है और अन्त में यह क्रोडीन के साथ मिल जाता है। इसमें एक प्रकार का तरल पदार्थ जिसे गर्भोदक (Liguor amnii) कहते हैं, इकट्ठा हो जाता है। इस तरल का निर्माण निम्नांकित प्रकार से होता है :—

(१) माता की रक्तवाहिनियों के स्राव से

(२) भ्रूण की त्वचा एवं वृक्क के मलोत्सर्ग से

(३) नाभिनाल तथा अपरा के स्राव से

गर्भोदक के कार्य

(१) गर्भावस्था एवं प्रसव की प्रथमावस्था में भ्रूण एवं नाभिनाल के ऊपर अत्यधिक दबाव को रोकता है।

(२) भ्रूणावस्था के स्तरों को परस्पर तथा भ्रूण में चिपकने से रोकता है।

गर्भाशयस्थित प्रगल्भ गर्भ
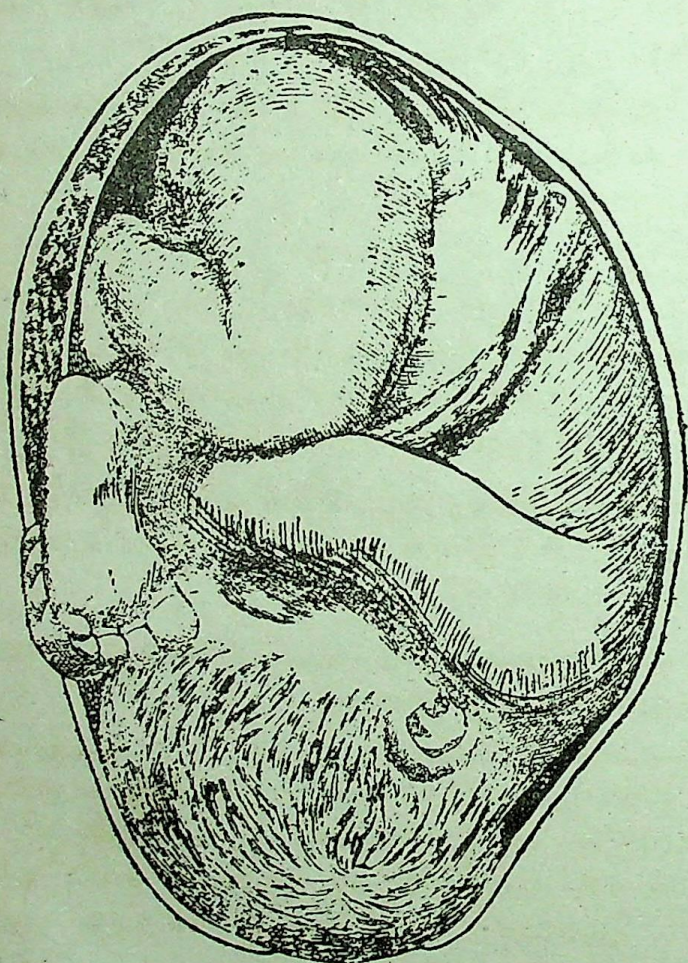
(३) प्रसवकाल में गर्भाशय—ग्रीवा का प्रसारण करता है और योनि का प्रक्षालन करता है ।

(४) भ्रूण को चारों ओर से सहारा देता है ।

(५) आघात से भ्रूण की रक्षा करता है ।

अपरा (Placenta)

यह एक अवयव है जिससे गर्भाशय की कला तथा भ्रूण की कलाओं के बीच निकटतम सम्पर्क स्थापित होता है ।[1] इसी के द्वारा पोषक पदार्थ माता से भ्रूण में जाते हैं और उत्सृष्ट मलपदार्थ भ्रूण से माता में आते हैं । इसी रचनाविशेष से भ्रूण को पोषकतत्त्व तथा ओषजन मिलता है । इसके दो भाग होते हैं :—

(१) भ्रूणभाग (Foetal part) यह कोरीन तथा इसके अंकुरों से बनता है ।

(२) मातृभाग (Maternal part)—यह अपरीय गर्भकला से बनता है ।

पूर्णावस्था में यह वृत्ताकार होता है । इसका भार १ पौण्ड होता है । यह बीच में मोटा और किनारे पर पतला होता है । इसका अन्तःपृष्ठ चिकना तथा भ्रूणावरण से आवृत रहता है जिसके नीचे से नाभिनाल की बड़ी-बड़ी रक्तवाहिनियाँ अपरा में प्रवेश करती हैं । इसका बाह्यपृष्ठ गर्भकला तथा गर्भाशय की दीवाल से मिला रहता है और प्रसवकाल में इनसे पृथक् हो जाता है । चतुर्थ मास के अन्त में इसकी बनावट पूर्ण हो जाती है ।

अपरा के कार्य

(१) यह भ्रूण के लिए श्वसनयन्त्र का कार्य करता है जिससे उसको ओषजन मिलता रहता है ।

(२) यह पोषक अंग है जिसके द्वारा पोषक पदार्थ माता के रक्त से भ्रूण के रक्त में आते हैं ।[2]

---

१. 'गृहीतगर्भाणामार्तववहानां स्रोतसां वर्त्मान्यवरुध्यन्ते गर्भेण, तस्माद् गृहीतगर्भाणामार्त्तवं न दृश्यते । ततस्तदधः प्रतिहतमूर्ध्वमागतमपरञ्चोपचीयमानमपरेत्यभिधीयते । शेषश्चोर्ध्वतरमागतं पयोधरावभिप्रतिपद्यते तस्माद् गर्भिण्यः पीनोन्नतपयोधरा भवन्ति ।'

२. 'मातुस्तु खलु रसवहायां नाड्यां गर्भनाभिनाडी प्रतिबद्धा साऽस्य मातुराहाररसवीर्यमभिवहति ।' —सु० शा० ३

(३) यह मलोत्सर्ग का भी कार्य करता है जिससे भ्रूण त्याज्य वस्तुओं को बाहर निकालता है।

(४) इससे अन्तःस्राव निकलता है। जिससे स्तनों का विकास होता है।

(५) यह रक्षक अंग के समान कार्य करता है जिससे जीवाणु तथा विष भ्रूण में नहीं जा पाते।

गर्भस्थ शिशु का रक्तसंवहन

माता का ओषजनयुक्त रक्त संवाहिनी सिरा द्वारा भ्रूण में पहुँच कर निम्नलिखित तीन मार्गों से अधरा महासिरा में पहुँचता है:—
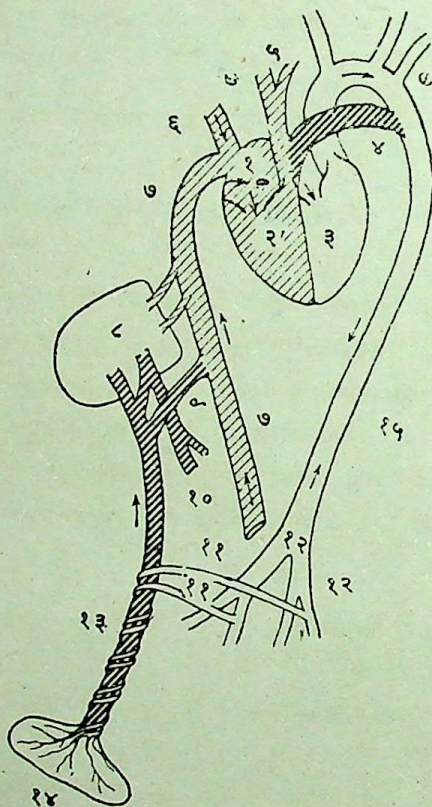
भ्रूण का रक्तसंवहन

१. दक्षिण अलिन्द २. दक्षिण निलय ३. वाम निलय ४. सेतुधमनी ५. फुफुसी धमनी ६. उत्तरा महासिरा ७. अधरा महासिरा ८. यकृत ९. सेतु-सिरा १०. प्रतीहारिणीसिरा ११. संवाहिनी धमनी १२. अवरोहिणी महाधमनी १३. नाभिनाल १४. अपरा १५. महाधमनी।

(१) कुछ रक्त यकृत के वाम खण्ड, चतुरस्रपिंडिका तथा दीर्घपिंडिका में सीधा चला जाता है और वहाँ से याकृती सिरा के द्वारा अधरा महासिरा में पहुँचता है।

(२) रक्त की अधिक मात्रा प्रतीहारिणी सिरा के द्वारा यकृत् में होता हुआ याकृती सिरा के द्वारा अधरा महासिरा में पहुँचता है।

(३) बचा हुआ रक्त सेतुसिरा से अधरा महासिरा में सीधे पहुँच जाता है। सेतुसिरा संवाहिनी सिरा की एक शाखा है। बालक की गर्भावस्था में यह खुला रहता है, किन्तु जन्म के पश्चात् बन्द होकर यकृत् की सिराबन्धनी का निर्माण करता है।

इस प्रकार अधरा महासिरा में आया हुआ रक्त अधःशाखाओं से आये हुये रक्त के साथ मिलकर हृदय के दक्षिण अलिन्द में पहुंचता है। इस कोष्ठ से रक्त दक्षिण निलय में जाकर शुक्तिकपाट से प्रेरित होकर शुक्तिखात के द्वारा वाम अलिन्द में जाता है। वाम अलिन्द से वामानिलय में रक्त आकर महाधमनी में चला जाता है और वहाँ से शिर तथा ग्रीवा को जाता है। इसी समय थोड़ा रक्त अवरोहिणी महाधमनी में चला जाता है। शिर और ग्रीवा की रक्तवाहिनियों से होता हुआ रक्त उत्तरा महासिरा के द्वारा दक्षिण अलिन्द में जाता है और वहाँ से दक्षिण निलय से होता हुआ फुफ्फुसाभिगा धमनी से होकर फुफ्फुस में जाता है।
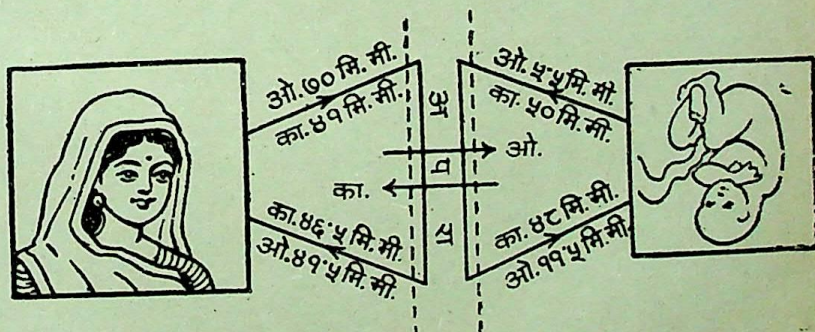
भ्रूण में वायव्य विनिमय

का० = कार्बन द्विओषिद्, ओ० = ओषज

रक्त की अत्यल्प मात्रा भ्रूण के क्रियाहीन फुप्फुसों में जाता है। बचा हुआ रक्त सेतुधमनी के द्वारा, जो भ्रूणावस्था में खुला रहता है, महाधमनी में प्रविष्ट होता है। यह सेतुधमनी श्वसनकार्य आरम्भ होने पर संकुचित होने लगती है और जन्म के पाँचवें दिन पूर्णतया बन्द हो जाती है। इसी से धमनी बन्धनी का निर्माण होता है जो वाम फुप्फुसाभिगा धमनी को महाधमनी के तोरणभाग से मिलाती है।

अवरोहिणी महाधमनी में स्थित रक्त का थोड़ा अंश उदर के आशयों तथा अधःशाखाओं में घूमता है और बचा हुआ रक्त संवाहिनी धमनियों द्वारा अपरा में लौट जाता है।

द्वितीय खण्ड

दोषविज्ञानीय

प्रथम अध्याय

त्रिदोष-परिचय

पुरुष लोकसम्मित माना गया है। अतः लोक (बाह्य प्रकृति) का संचालन जिस प्रकार चन्द्र, सूर्य और वायु क्रमशः विसर्ग, आदान तथा विक्षेप इन तीन क्रियाओं के द्वारा करते हैं उसी प्रकार पुरुष के शारीर व्यापारों का संचालन कफ, पित्त और वात ये तीन तत्त्व उपर्युक्त तीन क्रियाओं के द्वारा करते हैं। पुरुष-शरीर में कफ, पित्त और वात क्रमशः लोक के चन्द्र, सूर्य और वात का प्रतिनिधित्व करते हैं।[1] यों शरीर पाञ्चभौतिक है किन्तु सजीव प्राणियों में जैव व्यापारों का संचालन करने के लिए उनसे वात-पित्त-कफ इन तीन तत्त्वों का प्रादुर्भाव होता है। मुख्यतः वायु से वायु, अग्नि से पित्त तथा जल से कफ का संघटन होता है।[2] वात में वायु के साथ आकाशीय तत्त्व तथा कफ में जल के साथ पृथिवी तत्त्व भी अनुप्रविष्ट रहता है। जन्म से लेकर मृत्युपर्यन्त प्राणियों के शारीर व्यापारों का संचालन इनके द्वारा होता रहता है।

प्राकृत स्थिति में शरीर का धारण करने के कारण इन्हें धातु, विकृत स्थिति में शरीर को दूषित करने के कारण दोष तथा स्थूल रूप में बाहर उत्कृष्ट होने के कारण मल कहते हैं[3]; किन्तु फिर भी 'दोष' संज्ञा इनमें रूढ है। प्रकृति का आरंभक होते हुये भी ये शरीर में विकार उत्पन्न करने की क्षमता रखते हैं अतएव इन्हें दोष कहा जाता है।[4]

कफ का मुख्य कर्म विसर्ग, पित्त का आदान तथा वात का विक्षेप माना गया है। विसर्ग का अर्थ वृद्धि, उपचय या बलाधान है अतः शरीर में उपचयात्मक जो तत्त्व है उसे कफ कहा गया है। दूसरा तत्त्व पित्त है जिसका प्रमुख कर्म आदान, परिणमन या सात्मीकरण है जिससे बाह्य या आभ्यन्तर

---

१. विसर्गादानविक्षेपैः सोमसूर्यानिला यथा।
धारयन्ति जगद्देहं कफपित्तानिलास्तथा॥—सु. सू. २१।८

२. तत्र वायुर्वाय्वात्मा, पित्तमाग्नेयं, श्लेष्मा सौम्यः—सु. सू. ४२।१

३. शरीरदूषणाद् दोषाः धातवो देहधारणात्।
वातपित्तकफा ज्ञेया मलिनीकरणान् मलाः॥—शा० पू० ५।२४

४. प्रकृत्यारम्भकत्वे सति दुष्टिकर्तृत्वं दोषत्वम्—मधुकोष-व्याख्या

पदार्थों का विविध रूपान्तरण होकर शरीर के विभिन्न उपादानों की रचना होती है तथा शारीर व्यापारों के लिए शक्ति उद्भूत होती है। वात का प्रमुख कर्म विक्षेप (चेष्टा) है जो शरीर के अङ्ग-प्रत्यंगों में चेष्टा उत्पन्न करने के साथ-साथ आदान एवं विसर्ग की क्रियाओं का नियमन भी करता है जिससे इनका पारस्परिक संतुलन बना रहे।

त्रिदोष को कुछ लोग शक्ति, कुछ लोग द्रव्य और कुछ वर्ग मानते हैं। गुणकर्माश्रय होने से ये द्रव्य हैं[१] तथा शरीरस्थ विभिन्न द्रव्य जो तत्तत् क्रियाकारी हैं उस उस वर्ग में आते हैं यथा विसर्गाधायक सभी शारीर द्रव्य कफ के अन्तर्गत हैं; इस दृष्टि से ये वर्ग के द्योतक भी हैं।

यद्यपि दोष सर्वशरीरचर हैं तथापि उत्कर्षानुसार उनके कुछ स्थान नियत किये गये हैं।[२] हृदय के ऊपर कफ, हृदय और नाभि के बीच में पित्त तथा नाभि के नीचे वात की स्थिति बतलाई गई है।[३]

वात

निरुक्ति—'वा गतिगन्धनयोः' धातु से 'वात' शब्द निष्पन्न होता है।[४] इसके अनुसार शरीर में गत्यात्मक (शारीरिक तथा मानसिक) तत्त्व वात है। यह शरीर को गतिशील बनाता है और मन को प्रेरित करता है।

गुण—रूक्ष, शीत, लघु, सूक्ष्म, चल, विशद, खर ये वात के गुण कहे गये हैं। इन गुणों वाले द्रव्य वातवर्धक तथा विपरीत द्रव्य वातशामक होते हैं।[५]

कर्म—उत्साह, उच्छ्वास, चेष्टा, धातुगति, मलों का उत्सर्ग ये वात के प्राकृत कर्म हैं।[६] इसके अतिरिक्त, वात तन्त्र-यन्त्रधर कहा गया है।[७]

---

१. क्रियागुणवत् समवायिकारणं द्रव्यम्—सु. सू. ४०।३; च. सू. १।५१

२. सर्वशरीरचरास्तु वातपित्तश्लेष्माणः—च. सू. २०।९

३. ते व्यापिनोऽपि हृन्नाभ्योरधोमध्योर्ध्वसंश्रयाः—अ. हृ. सू. १।७

४. सु. सू. २१।३

५. रूक्षः शीतो लघुःसूक्ष्मश्चलोऽथ विशदः खरः।
विपरीतगुणैर्द्रव्यैः मारुतः संप्रशाम्यति॥ —च. सू. १।५९;
और देखें—सु. सू. ४२।१; नि. १।६–८; च. सू. २०।१२

६. उत्साहोच्छ्वासनिःश्वासचेष्टाः धातुगतिः समा।
समो दोषो गतिमतां वायोः कर्माविकारजम्॥
—च. सू. १८।; सु. नि. १।९–१०

७. च. सू. १२।८

वात के प्रकार

कर्मानुसार वात के पाँच प्रकार कहे गये हैं :—प्राण, उदान, समान, व्यान और अपान।[1] शार्ङ्गधर ने इसके स्थान क्रमशः कण्ठदेश, नाभिप्रदेश, सर्वशरीर, गुदप्रदेश निर्धारित किये हैं।[2]

प्राण वायु का कर्म मुख्यतः अन्न को भीतर प्रविष्ट करना तथा प्राणों का धारण करना है। उदान वायु कण्ठदेशस्थ होकर भाषण, गायन आदि क्रियाओं का निमित्त होता है। समान वायु अन्न के पाचन तथा रसमल-विवेचन में सहायक होता है। व्यान वायु सर्वशरीरचेष्टा, रससंवहन, स्वेदरक्तादि स्राव में कारणभूत होता है। अपान वायु मूत्र, पुरीष, गर्भ, शुक्र, आर्त्तव को नीचे की ओर अपने मार्ग में प्रवृत्त करता है।[3]

वातप्रकोप—प्रकुपित वात का मुख्य लक्षण वेदना है। वेदना कहीं भी हो बिना वात के नहीं होती।[4]

पित्त

निरुक्ति—'तप सन्तापे' धातु से 'पित्त' बनता है।[5] इससे पित्त के संताप, (ऊष्मा), पाक, परिणमन आदि क्रियाओं का बोध होता है।

गुण—सनतिस्नेह, लघु, उष्ण, तीक्ष्ण, द्रव, अम्ल-कटु रस, सर, पूति, नील-पीत वर्ण ये पित्त के गुण कहे गये हैं।[6] अविदग्ध पित्त का रस कटु तथा विदग्ध का तिक्त कहा गया है।[7]

कर्म—दर्शन, पाचन, ऊष्मा, क्षुधा, तृष्णा, देहमार्दव, प्रभा, प्रसन्नता, मेधा ये पित्त के प्राकृत कर्म कहे गये हैं।[8]

---

१. प्राणोदानसमानव्यानापानात्मा (वायुः)
—च. सू. १२।८; सु. नि. १।११

२. मलाशये चरेत् कोष्ठे वह्निस्थाने तथा हृदि।
कण्ठे सर्वांगदेशेषु वायुः पंचप्रकारतः॥ —शा. पू. ५।२७

३. सु. नि. १।१२–१९

४. नर्तेऽनिलाद्रुक्—मा. नि. ४१।१२; च. सू. २०।१९

५. सु. सू. २१।३

६. सस्नेहमुष्णं तीक्ष्णं च द्रवमम्लं सरं कटु।
विपरीतगुणैः पित्तं द्रव्यैराशु प्रशाम्यति॥—च. सू. १।६०,
और देखें—सु. सू. ४१।३; च. सू. २०।१५

७. कटुरसं चैव विदग्धं चाम्लमेव च—सु. सू. २१।८

८. दर्शनं पक्तिरूष्मा च क्षुत्तृष्णा देहमार्दवम्।
प्रभा प्रसादो मेधा च पित्तकर्माविकारजम्॥—च. सू. १८।५३

प्रकार—पित्त भी पाँच प्रकार का माना गया है—पाचक, रञ्जक, साधक, आलोचक और भ्राजक[१]।

पाचक पित्त का स्थान पक्वाशय और आमाशय के मध्य (ग्रहणी) में कहा गया है। यहीं पित्तधरा कला की स्थिति है। पाचक पित्त सभी प्रकार के आहार का पाचन करता है तथा रस, दोष और मूत्र-पुरीष के विवेचन (पृथक्करण) में भी सहायक होता है। इसमें पाचन संस्थान के विभिन्न अवयवों के स्रावों तथा पाचक तत्वों का समावेश हो जाता है।

रञ्जक पित्त का स्थान यकृत-प्लीहा माना गया है जिससे रञ्जित होकर रस रक्त में परिणत होता है। साधक पित्त हृदय में स्थित होकर मानसिक भावों की पूर्ति करता है। आलोचक पित्त दृष्टि में रहता है और दर्शन में कारणभूत होता है। भ्राजक पित्त त्वचा में स्थित है और अभ्यंग, परिषेक, अवगाह, आलेपन आदि क्रियाओं का संवाहक तथा कान्ति का प्रकाशक होता है।[२]

पित्तप्रकोप—प्रकुपित पित्त का प्रमुख लक्षण दाह या सन्ताप है। इसीसे विद्रधि में पाक होता है।[३]

श्लेष्मा (कफ)

निरुक्ति—'श्लिष् आलिङ्गने' धातु से 'श्लेष्मा' शब्द निष्पन्न होता है।[४] इसके अनुसार शरीर में जो संश्लेषक (उपचयात्मक) तत्व है वह श्लेष्मा कहलाता है। 'कफ' (के जले फलति) शब्द उसकी जलीयता तथा सौम्य स्वभाव का द्योतक है।

गुण—गुरु, शीत, मृदु, स्निग्ध, मधुर, स्थिर, पिच्छिल, मृदु, श्वेत ये श्लेष्मा के गुण कहे गये हैं।[५] अविदग्ध कफ का रस मधुर तथा विदग्ध कफ का लवण माना गया है।[६]

---

१. सु. सू. २१।७
२. सु. सू. २१।७
३. च. सू. २०।१५
४. सु. सू. २१।३
५. गुरुशीतमृदुस्निग्धमधुरस्थिरपिच्छिलाः।
श्लेष्मणः प्रशमं यान्ति विपरीतगुणैर्गुणाः॥
और देखें—च. सू. २०।१८; सु. सू. २१।१२, ४२।४—च. सू. १।६१
६. मधुरस्त्वविदग्धः स्याद् विदग्धो लवणः स्मृतः—सु. सू. २१।१२

कर्म—स्निग्धता बन्धन, स्थिरता, गौरव, वृषता (यौन शक्ति), बल क्षमा, धैर्य तथा अलोभ ये कफ के प्राकृत कर्म हैं।[1]

प्रकार—कफ भी पाँच प्रकार का माना गया है—क्लेदक, अवलम्बक, बोधक, तर्पक और श्लेषक।

क्लेदक कफ महास्रोत के विभिन्न भागों, विशेषतः आमाशय, में स्थित होकर अन्न का क्लेदन करता है। अवलम्बक कफ हृदय में स्थित हो उसका अवलम्बन करता है। बोधक कफ जिह्वा में स्थित हो रसज्ञान में सहायक होता है। तर्पक कफ शिर में स्थित हो स्नेहन और सन्तर्पण करता है। श्लेषक कफ संधियों में स्थित हो उनका संश्लेषण कर उनकी क्रिया में सहायक होता है।[2]

कफप्रकोप—प्रकुपित कफ का प्रमुख लक्षण गौरव है। व्रणों में पूय भी कफ के कारण होता है।[3]

---

१. स्नेहो बन्धः स्थिरत्वं च गौरवं वृषता बलम्।
क्षमा धृतिरलोभश्च कफकर्माविकारजम्॥—च. सू. १८।५४

२. सु. सू. २११९-११; अ. हृ. सू. १२।१५-१८

३. च. सू. २०।१८

वातखण्ड

द्वितीय अध्याय

श्वसन

(Respiration)

उच्छ्वास-निःश्वास वात का प्राकृत कर्म माना गया है। वात के पाँचों प्रकारों में से प्राणवायु का सम्बन्ध श्वसन-क्रिया से है। इसका स्पष्ट वर्णन शार्ङ्गधर ने किया है।[1] प्राण इसी पर अवलम्बित है।[2] प्राणावह स्रोतों का मूल हृदय और रसवहा धमनियाँ बतलाई गई हैं।[3] अन्न के निगरण आदि में सहायक होने से चरक ने इनका मूल महास्रोत भी माना है।[4] फुफ्फुसों से प्राणवायु रक्त में मिलकर हृदय में पहुँचता है और वहाँ से रसवहा धमनियों द्वारा समस्त शरीर में संचारित होता है।

मनुष्य के जीवन के लिए वायु सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण तत्त्व है। इस वायु के आहरण और निर्हरण की शारीर क्रिया का नाम श्वसन है। श्वसन उन सभी क्रियाओं का समुदाय है जिनसे शरीर के कोषाणुओं को ओषजन प्राप्त होता है तथा शारीरिक क्रियाओं द्वारा उत्पन्न कार्बन द्विओषिद् का निर्हरण होता है। दूसरे शब्दों में, इसे शरीर और वायुमण्डल के बीच वायवीय विनिमय की क्रिया कहा जा सकता है। यह वायवीय विनिमय ही श्वसन का प्रधान उद्देश्य है, किन्तु यह शरीर के तापक्रम के नियमन में भी सहायक होता है। श्वसन की क्रिया सभी जीवों में होती है। निम्न श्रेणी के प्राणी वायुमण्डल से सीधे ओषजन ग्रहण करते हैं, किन्तु उच्च वर्ग के प्राणी जिनमें रक्तसंवहन की व्य-

---

१. नाभिस्थः प्राणपवनः स्पृष्ट्वा हृत्कमलान्तरम्,
कण्ठाद् बहिर्विनिर्याति पातुं विष्णुपदामृतम्।
पीत्वा चाम्बरपीयूषं पुनरायाति वेगतः
प्रीणयन् देहमखिलं जीवयन् जठरानलम्॥—शा. पू. ५

२. वायुर्यो वक्त्रसञ्चारी स प्राणो नाम देहधृक्।
सोऽन्नं प्रवेशयत्यन्तः प्राणांश्चाप्यवलम्बते॥—सु. नि. १।१२

३. तत्र प्राणवहे द्वे तयोर्मूलं हृदयं रसवाहिन्यश्च धमन्यः।
—सु. शा. ९।१०

४. तत्र प्राणवहानां स्रोतसां हृदयं मूलं महास्रोतश्च—च. वि. ५।७

वस्था होती है, रक्त के द्वारा ओषजन प्राप्त करते हैं। इस प्रकार उच्च वर्ग के प्राणियों में श्वसन की दो अवस्थायें होती हैं :—

(१) बाह्य श्वसन (External respiration)

इसमें फुफ्फुसी केशिकाओं में स्थित रक्त तथा फुफ्फुस के वायुकोषगत वायु के बीच आदान प्रदान होता है। रक्त वायु से ओषजन ग्रहण करता तथा कार्बन द्विओषिद् का परित्याग करता है।

(२) अन्तःश्वसन (Internal or tissue respiration)

इसमें सार्वकायिक केशिकाओं में रक्त तथा शरीरधातुओं के बीच वायवीय विनिमय होता है।

श्वसन कर्म से सम्बद्ध शरीर का जो भाग है उसे श्वसन तंत्र (Respiratory system) कहते हैं। इसमें दोनों फुफ्फुसों तथा श्वास-नलिकाओं का ग्रहण होता है।

श्वसन-यन्त्र

श्वासपथ और श्वासनलिकायें:—श्वासपथ सौत्रिक एवं स्थितिस्थापक तन्तु से निर्मित एक नलिका है जिसके स्तरों के बीच तरुणास्थिमय मुद्रिकायें व्यवस्थित रहती हैं। ये मुद्रिकायें श्वासपथ के सामने और पार्श्व में होती हैं और इनके पश्चिम भाग में सौत्रिक कला से आच्छादित स्वतन्त्र पेशियों का एक स्तर होता है। मुद्रिकाओं के कारण ही श्वासपथ बराबर खुला रहता है। श्वासपथ का आभ्यन्तर पृष्ठ रोमिकामय आवरक तन्तु से युक्त रहता है और इसकी आधारकला तथा उसके नीचे स्थित संयोजक तन्तु से श्लेष्मल कला का निर्माण होता है। श्लेष्मल कला के पृष्ठ भाग पर उसके नीचे स्थित श्लेष्मल ग्रन्थियों की नलिकायें खुलती हैं।

आगे जाकर श्वासपथ दो शाखाओं में विभक्त हो जाता है जिन्हें श्वासनलिकायें कहते हैं। इनकी रचना प्रायः श्वासपथ के समान होती है, अन्तर केवल यही है कि इनकी श्लेष्मल कला के नीचे स्वतन्त्र पेशियों का एक सुस्पष्ट स्तर वृत्त रूप में क्रमबद्ध रहता है।

श्वासनलिकायें भी अन्य शाखाओं में विभक्त हो जाती हैं इन्हें श्वासप्रणालिकायें कहते हैं। इनमें जो बड़ी होती हैं उनकी दीवालें सौत्रिक तन्तु की बनी होती हैं तथा उनमें तरुणास्थिमय मुद्रिकाओं के भाग, स्वतन्त्र पेशीसूत्र तथा स्थितिस्थापक तन्तु के अनुलम्ब गुच्छ होते हैं। उनके अन्तःपृष्ठ में श्लेष्मल कला होती है जो रोमिकामय आवरक तन्तु से ढकी रहती है। इस कला में श्लेष्मल ग्रन्थियों का भी निवास होता है जिनसे श्लेष्मा ऊपर की ओर श्वासपथ में स्वरयन्त्र तक पहुंच जाता है जहाँ से वह या तो बाहर निकाल दिया

जाता है या निगल लेने पर उदर में चला जाता है। श्वसनमार्ग के व्रणशोथ की अवस्था में यह श्लेष्मस्राव अत्यधिक बढ़ जाता है।
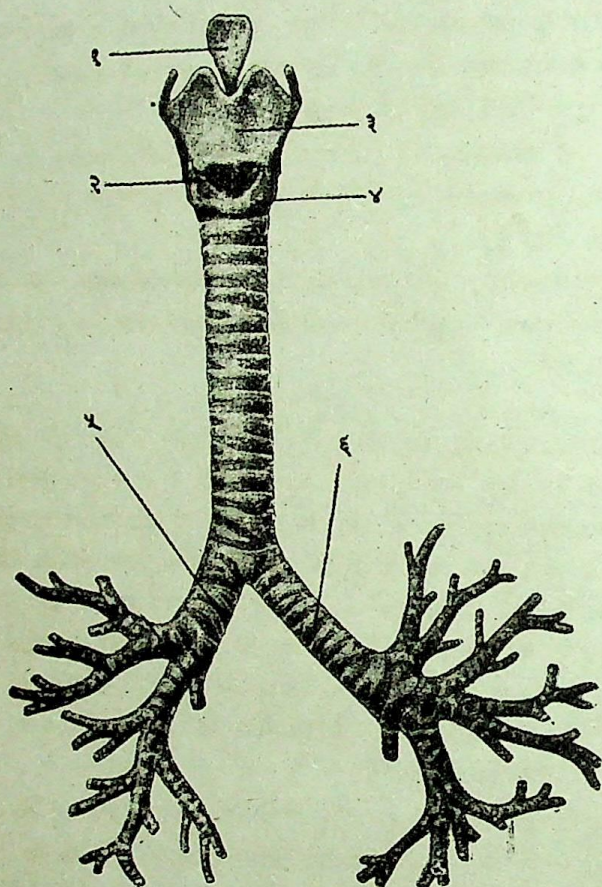
श्वासपथ

१—अधिजिह्विका २—कृकाटिकाबटुक स्नायु ३—अवटु ४—कृकाटिका
५—दक्षिण श्वासप्रणालिका ६—वाम श्वासप्रणालिका

श्वासप्रणालिका की सूक्ष्म शाखाओं में क्रमशः तरुणास्थि का भाग कम होता जाता है और अन्त में एकदम नहीं रहता। इस प्रकार इन तरुणास्थि-विहीन शाखाओं में केवल सौत्रिक तथा स्थितिस्थापक तन्तु से निर्मित कला होती है जिसमें चक्राकार पेशीसूत्रों का आधिक्य रहता है। ये पेशियाँ प्राणदा नाड़ी के द्वारा संकुचित तथा सांवेदनिक नाड़ी और अड्रिनिलीन के द्वारा प्रसा-

रित हो जाती हैं। अतः श्वासरोग में श्वास-प्रणालिकाओं को प्रसारित करने के लिए अद्रिनिलीन तथा सांवेदनिक नाडी को उत्तेजित करनेवाले अन्य द्रव्यों का उपयोग किया जाता है।

फुफ्फुस (Lungs)

वक्ष में दोनों ओर फुफ्फुस की स्थिति है।[1] यह एक स्नैहिक कला से आच्छादित रहता है जिसे फुफ्फुसावरण कहते हैं। इसके दो स्तर होते हैं :— एक फुफ्फुस के पृष्ठ पर लगा रहता है और दूसरा वक्ष की आभ्यन्तर दीवाल पर लगा होता है। पहला स्तर आशयिक तथा दूसरा परिसरीय कहलाता है। स्वस्थावस्था में, ये दोनों स्तर एक दूसरे के सम्पर्क में रहते हैं और इनके बीच में बहुत थोड़ा अवकाश रहता है। इस अवकाश में थोड़ा श्लेष्मा का अंश रहता है जिससे फुफ्फुसों के फैलने और सिकुड़ने में सुविधा होती है।

फुफ्फुस स्वभावतः स्थितिस्थापक होते हैं। श्वासप्रणालिकाओं में स्थित दबाव के कारण वह सिकुड़ने नहीं पाता और पर्शुकाओं के सम्पर्क में रहता है, किन्तु जब किसी प्रकार फुफ्फुसावरण के दोनों स्तरों के बीच में वायु या द्रव का प्रवेश हो जाता है तब फुफ्फुस बहुत सिकुड़ जाते हैं और वक्ष तथा उनके बीच में बहुत स्थान रिक्त रह जाता है।

प्रत्येक फुफ्फुस के कई खण्ड होते हैं। दक्षिण फुफ्फुस में तीन तथा वाम फुफ्फुस में दो खण्ड होते हैं। प्रत्येक खण्ड में भी और छोटे भाग होते हैं जिन्हें अनुखण्ड कहते हैं। इन अनुखण्डों में श्वासप्रणालिका की छोटी-छोटी शाखायें फैली रहती हैं। इन शाखाओं में क्रमशः पेशीभाग भी अनुपस्थित होने लगता है और अन्तिम शाखायें अनियमित कोषों के रूप में फैली रहती हैं। इन्हें वायुकोष कहते हैं। वायुकोषों से युक्त श्वासप्रणालिका की अन्तिम शाखा को वायुकोषसंघात (Infundibulum) कहते हैं। उनकी दीवालें बहुत पतली कला की बनी होती हैं और एक दूसरे से प्रायः मिली रहती हैं। वायु-कोषों के बाहर की ओर फुफ्फुसी केशिकाओं का एक सघन जाल फैला रहता है

---

१. 'शोणितकफप्रसादजं हृदयं······तस्याधो वामतः प्लीहा फुफ्फुसश्च दक्षिणतो यकृत् क्लोम च।' —सु. शा. ४

'शोणितफेनप्रभवः फुफ्फुसः।' —सु. शा. ४

'उदानवायोराधारः फुफ्फुसः प्रोच्यते बुधैः।'—शा॰

'स्थानान्यामाग्निपक्वानां मूत्रस्य रुधिरस्य च।
हृदुण्डुकः फुफ्फुसश्च कोष्ठ इत्यभिधीयते ॥' —सु. चि॰ २

जिससे फुफ्फुसगत वायु और केशिकागत रक्त के बीच में कोई व्यवधान नहीं
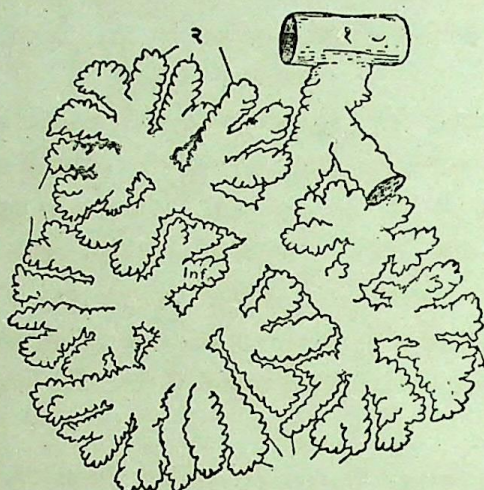
फुफ्फुस के वायुकोष

१. श्वासप्रणालिका २. वायुकोष

होता और वायु तथा रक्त के बीच आदान-प्रदान का कार्य पूर्णता से सम्पादित होता है।

रक्तसंवहन—फुफ्फुसों में रक्त दो मार्गों से आता है—एक फुफ्फुसी धमनी द्वारा और दूसरा श्वासनलिकीय धमनियों द्वारा। प्रथम मार्ग से अशुद्ध रक्त शुद्ध होने के लिए आता है और दूसरे मार्ग से फुफ्फुस आदि अंगों के पोषण के लिए रक्त आता है। रक्त शुद्ध होकर फुफ्फुसी सिराओं द्वारा हृदय के वाम अलिन्द में लौट जाता है और द्वितीय मार्ग से आया हुआ रक्त मुख्यतः श्वासनलिकीय सिराओं तथा कुछ फुफ्फुसी सिराओं द्वारा लौटता है।

श्वसनक्रिया

प्राणियों की जीवन-रक्षा के लिए आवश्यक है कि फुफ्फुसगत वायु निरंतर विशोधित होती रहे। यह कार्य कुछ हद तक श्वासमार्ग में स्थित वायु के द्वारा होता है, किन्तु प्राकृत अवस्थाओं में यह इतना अपर्याप्त होता है कि उसकी कोई गणना नहीं की जाती। वायु के इस विशोधन का कार्य उरोगुहा के क्रमिक संकोच और प्रसार, फलतः फुफ्फुसों के संकोच और प्रसार से सम्पन्न होता है। फुफ्फुसों के आकुञ्चन के समय वायु भीतर ली जाती है जिसे उच्छ्वास (Inspiration) तथा इनके प्रसार के समय वायु बाहर निकाल दी जाती

है जिसे निःश्वास (Expiration) कहते हैं। इस प्रकार उच्छ्वास और निःश्वास श्वसनक्रिया के दो भाग होते हैं।

श्वसनक्रिया में पेशियों का सहयोग

श्वसनक्रिया में मांसपेशियाँ भी महत्त्वपूर्ण योग देती हैं। पेशियों के संकोच से उरोगुहा के आकार में क्रमिक परिवर्तन होते हैं, जिनसे फुफ्फुसों को अधिक फैलने का स्थान और अवसर मिलता है। उच्छ्वास में निम्नांकित पेशियाँ भाग लेती हैं :—

सामान्य उच्छ्वास :—

१. महाप्राचीरा २. बाह्य पर्शुकान्तराल
३. आभ्यन्तर पर्शुकान्तराल ४. पर्शुकोन्नमनी
५. पश्चिमोत्तरा अरित्रा ६. पर्शुकाकर्षणी पुरोगा, मध्यमा और पश्चिमा

गम्भीर उच्छ्वास—इसमें उपर्युक्त पेशियों के अतिरिक्त ये पेशियाँ भी भाग लेती हैं :—

१. उरःकर्णमूलिका २. अरित्रा गुर्वी ३. कटिपार्श्वच्छदा
४. उरश्छदा बृहती ५. उरश्छदा लघ्वी ६. पृष्ठच्छदा
७. अंसोन्नमनी ८. अंसापकर्षणी गुर्वी
९. स्वरयंत्रीय पेशियाँ:—उरःकण्ठिका, उरोऽवटुका, कृकाटिकावटुका
१०. ग्रसनिका पेशियाँ—तालुतोलनी, काकलकिनी, ग्रसनिका की संकोचक पेशियाँ

११. मुखमंडल की पेशियाँ १२. नासाविस्फारिणी १३. नासापुटोन्नमनी

इन सब में उच्छ्वास की मुख्य पेशी महाप्राचीरा है। उच्छ्वास के समय यह नीचे की ओर दब जाती है और इस प्रकार उरोगुहा में अवकाश बढ़ जाता है। उच्छ्वासकाल में उरोगुहा का आयतन ऊर्ध्वाधः, पूर्वपश्चिम तथा बाह्यान्तः तीनों दिशाओं में बढ़ता है। वक्ष की आकृति में भी श्वसनकाल में परिवर्तन होते हैं। उच्छ्वास के समय यह प्रायः वृत्ताकार और निःश्वास के समय अण्डाकार हो जाता है।

निःश्वास की पेशियाँ

प्रत्येक उच्छ्वास के बाद वक्षभित्ति के पुनः पूर्वावस्था में लौट आने के कारण उरोगुहा का आयतन कम हो जाता है। यह विवादास्पद विषय है कि निःश्वास सक्रिय है या निष्क्रिय। उच्छ्वास के बाद उच्छ्वास की पेशियों का प्रसार होता है और फुफ्फुस, वक्ष तथा उदर पर से दबाव हट जाने के कारण वे पूर्वावस्था

को लौट आते हैं। इस प्रकार निःश्वासक्रिया मुख्यतः फुप्फुसों की स्थितिस्थापकता और उपपर्शुकाओं तथा उदरभित्ति की स्थितिस्थापकता के कारण होती है। कुछ विद्वानों के मत में प्राकृत निःश्वासकाल में आभ्यन्तर पर्शु कान्तराला पेशियों का संकोच होता है।

सामान्य निःश्वास कर्म स्वतः संपन्न होने पर भी गम्भीर निःश्वास के समय निम्नांकित पेशियाँ भी काम करने लगती हैं :—

१. उदर्य पेशियाँ २. उरस्त्रिकोणिका ३. अरिम्रा पश्चिमाधरा ४. कटिचतुरस्रा

श्वास की संख्या

श्वास की संख्या सामान्यतः युवा व्यक्ति में १८ प्रतिमिनट होती है। श्वास और नाडी का अनुपात १:४ होता है। अत्यधिक ज्वर के समय जब नाडी वेगवती हो जाती है तब श्वास की संख्या भी बढ़ जाती है और अनुपात पूर्ववत् सुरक्षित रहता है। न्यूमोनिया रोग में यह अनुपात बदल जाता है और १:३ तथा १:२ तक हो जाता है, क्योंकि उसमें श्वास की संख्या तो बढ जाती है पर नाडी उतनी नहीं बढ़ती है। श्वास की संख्या व्यायाम, ज्वर तथा मानसिक भावावेश की अवस्थाओं में बढ़ जाती है। आयु के अनुसार भी विभिन्नतायें होती हैं। नवजात शिशु में ४०-७० प्रतिमिनट और ५ वर्ष की आयु में लगभग २५ प्रतिमिनट होता है। स्त्रियों में प्रतिमिनट २-४ अधिक तथा निद्राकाल में कम होता है।

श्वसन के प्रकार

१. उदर्य (Abdominal)—इसमें मुख्यतः महाप्राचीरा की गति होती है। यह बालकों में देखा जाता है और इसमें उदर आगे की ओर उच्छ्वास के समय विशेष रूप से निकल जाता है।

२. ऊर्ध्वपर्शुकीय (Superior thoracic)—इसमें प्रधानतः महाप्राचीरा तथा ऊर्ध्वपर्शुकाओं की गति होती है। यह स्त्रियों में देखा जाता है।

३. अधःपर्शुकीय (Inferior thoracic)—इसमें मुख्यतः महाप्राचीरा और अधःपर्शुकाओं की गति होती है। यह पुरुषों में देखा जाता है।

श्वसनकाल में वक्ष की गति नापने के लिये विभिन्न यंत्रोंका प्रयोग होता है।

नीचे एक पात्र में जल भरा रहता है जिसमें एक दूसरा हलका धातुपात्र उलट कर रख दिया जाता है। ऊपर की ओर एक घिरनी पर होते हुये दूसरी ओर इसका सम्बन्ध एक भारयुक्त वस्तु से होता है। उसके भीतर एक नलिका

लगी रहती है जिसके मुंह पर फूँक कर वायु भीतर भेजी जाती है। उलटे पात्र से सम्बन्धित एक सुई होती है जो एक मापनयन्त्र से लगी रहती है।

श्वसित वायु का आयतन

श्वसितवायुमापक यन्त्र

१. धातुपात्र १. भार ३. नलिका ४. मापनयन्त्र
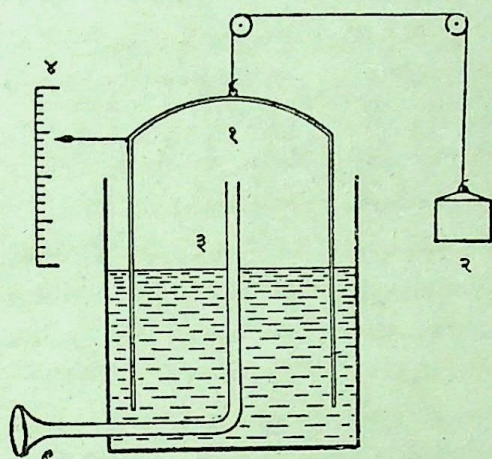
श्वसित वायु का आयतन अवस्थाओं के अनुसार बदलता रहता है। इसकी निश्चिति वायुमापक यन्त्र (Spirometer) के द्वारा होती है। इसकी बनावट निम्नांकित होती है।

श्वसित वायु का आयतन नापने के सम्बन्ध में निम्नलिखित शब्द प्रयुक्त होते हैं :—

१. सामान्य वायु (Tidal air)—(५०० सी० सी०)—वायु की वह मात्रा जो प्रत्येक श्वसनकाल में साधारणतः शरीर के भीतर जाती है उसे सामान्य वायु कहते हैं। उसमें से ३६० सी०सी० फुफ्फुसों में तथा १४० सी० सी० श्वासनलिकाओं में रह जाता है। श्वासनलिकागत वायु के अवकाश को मृतावकाश (Dead space) कहते हैं।

२. पूरक वायु (Complemental air)—(१६००-२००० सी० सी०) वह मात्रा जो सामान्य वायु के अतिरिक्त गम्भीरतम उच्छ्वास क्रिया के द्वारा ली जाती है।

३. सञ्चित वायु (Reserve or supplemental air)–(१६००-२००० सी० सी०)—वह मात्रा जो सामान्य वायु के अतिरिक्त अधिकतम निःश्वास क्रिया के द्वारा बाहर निकाली जाती है।

४. अवशिष्ट वायु (Residual air)—(१५०० सी० सी०)—वह मात्रा जो अधिकतम निःश्वास के बाद भी अवशिष्ट रहती है।

५. कोषगत वायु (Alveolar air)—(३२०० सी० सी०)—सामा-

न्यतः फुफ्फुस के वायुकोषों में एक संचित कोष रहता है जो संचित और अव-शिष्ट वायु का योग होता है। इसे प्राकृत धारणाशक्ति या क्रियात्मक धारणा-शक्ति कहते हैं।

६. न्यूनतम वायु (Minimal air)—वायु की वह न्यूनतम मात्रा जो वायुकोषों में स्थिर रहती है। इसी के कारण फुफ्फुसखण्ड पानी में तैरते हैं।

७. पूर्ण व्यजन (Total ventilation)—यह वायु की वह मात्रा है जो प्रतिमिनट श्वसन संस्थान में जाती और आती है।

यह विश्राम के समय स्वस्थ युवा व्यक्ति में ५ से १० लिटर प्रतिमिनट तथा अधिक परिश्रम के समय १०० लिटर प्रतिमिनट तक हो जाती है।

८. श्वसन-धारणाशक्ति (Vital capacity of lungs)—वायु की वह मात्रा जो गम्भीरतम उच्छ्वास के द्वारा ली जाय और गम्भीरतम निःश्वास के बाद निकाली जाय। यह पूरक, सामान्य तथा संचित वायु का योग होता है। ६० डिग्री फारनहीट तापक्रम पर यह औसतन ३०००—४००० सी० सी० रहती है। यह शारीरिक स्वास्थ्य का सूचक है और व्यायामशील व्यक्तियों में अधिक तथा रुग्ण व्यक्तियों में कम हो जाती है। शरीर की स्थिति का भी इसपर प्रभाव पड़ता है। खड़े रहने पर अधिक तथा लेटने पर कम हो जाती है।

९. पूर्ण धारणाशक्ति (Total capacity)—(५३०० सी० सी०) यह श्वसन-धारणाशक्ति तथा अवशिष्ट वायु का योग है।

श्वसनकर्म का नाड़ीजन्य नियन्त्रण

श्वसन की पेशियों की क्रिया सुव्यवस्थित तथा क्रमबद्ध रूप से होने का कारण यह है कि उनमें चेष्टावह नाड़ियों द्वारा क्रमिक उत्तेजनायें पहुंचती रहती हैं। यह क्रिया एक नाड़ीकेन्द्र के नियन्त्रक प्रभाव के अधीन है। अतएव यह परावर्तित क्रिया है न कि स्वयंजात। इस परावर्तित क्रिया के निम्नांकित भाग हैं :—

१. केन्द्र २. संज्ञावह नाड़ी ३. चेष्टावह नाड़ी

(१) केन्द्र

श्वसनसम्बन्धी उत्तेजना मस्तिष्कगत पिण्डकेन्द्र में उत्पन्न होती है और वहाँ से क्रमशः निम्नस्थ सुषुम्नाकेन्द्रों में आती है। इस केन्द्र के दो भाग होते हैं और प्रत्येक भाग में दो केन्द्र (उच्छ्वासकेन्द्र और निःश्वासकेन्द्र) होते हैं। सामान्य अवस्थाओं में दोनों क्रमशः एक दूसरे के बाद कार्य करते हैं। क्लोरल हाइड्रेट विष में दोनों स्वतन्त्रतया निरपेक्ष रूप से कार्य करने लगते हैं।

आजकल यह प्रमाणित किया गया है कि संज्ञावह उत्तेजनाओं के बिना भी

पिण्डकेन्द्र स्वतन्त्र रूप से कार्य कर सकता है। यह देखा गया है कि पिण्डकेन्द्र को नाडीसम्बन्धों से पृथक् कर देने पर भी उच्छ्वास होते हैं। इससे सिद्ध होता है कि इसकी क्रिया हृदय की सिरालिन्दग्रन्थि के समान स्वयंजात है।

केन्द्र को साक्षात् रूप से उत्तेजित करने वाले कारण

१. साक्षात् उत्तेजक-विद्युद्वारा

२. औषधें—(क) स्ट्रिकनीन, कैफीन, एट्रोपीन, लोबीलिन, न्यूमिन ये औषधें केन्द्र को उत्तेजित करती हैं और फलतः श्वासक्रिया बढ़ जाती है।

(ख) मौर्फिन, हिरोइन, कोडीन तथा क्लोरल हाइड्रेट केन्द्र पर अवसादक प्रभाव डालती हैं।

३. रक्त की मात्रा—रक्त की मात्रा बढ़ने से यथा रक्त-अन्तःक्षेप तथा लवणविलयन-अन्तःक्षेप की अवस्थाओं में श्वास की संख्या बढ़ जाती है। इसके विपरीत, अत्यधिक रक्तस्राव होने पर श्वास की संख्या कम हो जाती है।

४. रक्त का तापक्रम—ज्वर इत्यादि में रक्त का तापक्रम बढ़ने से हृदय-गति के साथ साथ श्वास की संख्या बढ़ जाती है। इसके विपरीत, शीत के कारण यथा मातृकाधमनियों पर बर्फ रखने से श्वसन की संख्या कम हो जाती है।

५. रक्त के उदजनकेन्द्रीभवन में परिवर्तन—

रक्त की अम्लता बढ़ने पर श्वासक्रिया बढ़ जाती है। अब तो यह भी समझा जाता है कि कार्बन द्विओषिद् नहीं बल्कि रक्त का उदजन-केन्द्रीभवन ही केन्द्र का विशिष्ट उत्तेजक है।

६. रक्त में गैसों की वृद्धि या ह्रास का भी श्वास की गम्भीरता और संख्या पर अत्यधिक प्रभाव पड़ता है जो आगे बतलाया जायगा।

केन्द्र को प्रत्यावर्तित रूप से उत्तेजित करने वाले कारण

(क) मस्तिष्क के उच्च केन्द्रों की उत्तेजना—यथा आवेश या इच्छा शक्ति।

(ख) रक्तभार—रक्तभार के आधिक्य से केन्द्र पर अवसादक प्रभाव पड़ता है और इसकी कमी से उत्तेजक प्रभाव पड़ता है।

(ग) प्राणदा नाड़ी की फुफ्फुसी शाखायें।

(घ) शरीर की प्रायः सभी संज्ञावह नाड़ियों की उत्तेजना का प्रभाव केंद्र पर पड़ता है :—

(१) शीत आदि के द्वारा त्वचा की उत्तेजना से उच्छ्वास गम्भीर और अधिक हो जाता है।

(२) दृष्टिनाड़ी की उत्तेजना से यथा तीव्र प्रकाश में उच्छ्वास अधिक हो जाता है।

(३) घ्राणनाडी की उत्तेजना से छींक आती है या उच्छ्वास अवरुद्ध हो जाता है।

(४) नासानाड़ियों की उत्तेजना से छींक आती है।

(५) श्रुतिनाड़ी की उत्तेजना से हाँफ आने लगती है या श्वासावरोध हो जाता है।

(६) कण्ठरासनी नाड़ी से श्वास रुक जाता है जिससे भोजन श्वासपथ में नहीं जाने पाता।

(७) ऊर्ध्वस्वरयन्त्रीय नाडियाँ—निःश्वास को उत्तेजित करती हैं और कास उत्पन्न होता है। जब अन्न स्वरयन्त्र में जाता है तब इसी क्रिया के द्वारा वह बाहर निकाल दिया जाता है। इस प्रकार श्वासमार्ग तथा श्वास नलिकाओं में प्रविष्ट हुए हानिकर पदार्थों को निकालने के लिए कास का शरीर की रक्षा के लिए अत्यधिक महत्व है।

८. गुदसङ्कोचनी का प्रसार—इसमें उच्छ्वासाधिक्य होता है।

९. मातृकापरिवाहिका (Carotid sinus) की उत्तेजना से भी श्वास-क्रिया में परिवर्तन होते हैं। कार्बनद्विओषिद् के आधिक्य या ओषजन की कमी से श्वासाधिक्य तथा इसके विपरीत, कार्बनद्विओषिद् की कमी और ओषजन के आधिक्य से श्वास की कमी या अवरोध हो जाता है।

१०. प्राणदा नाडी के संज्ञावह सूत्रों की उत्तेजना से भी केन्द्र पर प्रभाव पड़ता है।

(२) संज्ञावह नाडी

प्राणदा नाड़ी में दो प्रकार के सूत्र होते हैं :—

(१) उच्छ्वास सूत्र (२) निःश्वाससूत्र

विशेषता :—

(१) निःश्वाससूत्र दुर्बल उत्तेजकों से अधिक प्रभावित होते हैं। मध्यम या तीव्र उत्तेजकों से दोनों प्रकार के सूत्र उत्तेजित होते हैं विशेषतः उच्छ्वास-सूत्र अधिक उत्तेजित होते हैं।

(२) उच्छ्वाससूत्र बहुत शीघ्र शान्त हो जाते हैं। इसलिए यदि तीव्र

उत्तेजकों से प्राणदा को उत्तेजित किया जाय तो पहले उच्छ्वास बढ़ जाते हैं किन्तु बाद में निःश्वास अधिक हो जाते हैं।

(३) रासायनिक उत्तेजक यथा क्लोरल हाइड्रेट निःश्वास सूत्रों को उत्तेजित करता है।

ये सूत्र दो प्रकार से उत्तेजित होते हैं :—

(१) वायु कोषों के क्रमिक संकोच और प्रसार के द्वारा—

हेरिंग ब्रेयर सिद्धान्त के अनुसार वायुकोषों का प्रसार दुर्बल उत्तेजक के रूप में कार्य करता है और इसलिए निःश्वाससूत्रों को उत्तेजित करता है। इसके विपरीत, वायुकोषों का संकोच तीव्र उत्तेजक के रूप में उच्छ्वाससूत्र को उत्तेजित करता है '

(२) वायुकोषों के दबाव के आधिक्य या न्यूनता के द्वारा—

वायुकोषों के क्रमिक संकोच और प्रसार के परिणामस्वरूप फुफ्फुसी वायु कोषों में दबाव की वृद्धि या कमी होती है। दबाव के बढ़ने से उच्छ्वाससूत्र होते हैं और घटने से निःश्वाससूत्र उत्तेजित होते हैं।

प्राणदा नाड़ी में चेष्टावह सूत्र भी कुछ होते हैं जो श्वास-प्रणालिकाओं की स्वतन्त्र पेशियों से संबद्ध रहते हैं। ये श्वासनलिकासंकोचक सूत्र स्वभावतः क्रियाशील होते हैं और श्वासप्रणालिकाओं को संकोच की स्थिति में रखते हैं। प्राणदा के फुफ्फुसी सूत्रों को काट देने पर यह क्रिया नष्ट हो जाती है और फलस्वरूप श्वासप्रणालिकाओं का प्रसार हो जाता है और फुफ्फुस आयतन में बढ़ जाते हैं।

जब यह संकोचक सूत्र उत्तेजित होते हैं तब श्वासनलिकास्थित पेशियों के संकोच से उनका मार्ग संकीर्ण हो जाता है और फुफ्फुसों में वायु का अवकाश कम हो जाने से श्वास में कष्ट होने लगता है। यह विकृति श्वास रोग में होती हैं। हिस्टेमिन से इन पेशियों का संकोच तथा अड्रिनिलीन से प्रसार होता है।

(३) चेष्टावह नाड़ी—श्वसनसंबन्धी चेष्टावह नाड़ियाँ जो श्वसन की बिभिन्न पेशियों में जाती हैं, सुषुम्ना के धूसरभाग में स्थित अपने-अपने चेष्टावह नाड़ी-केन्द्रों से उदय लेती हैं। ये नाड़ीकेन्द्र श्वसन के सहायक केन्द्र हैं जो पिण्डस्थ प्रधान श्वसनकेन्द्र के नियन्त्रण में रहते हैं। निम्नांकित कोष्ठक में श्वसन की चेष्टावह नाड़ियाँ तथा पेशियों से उनका सम्बन्ध दिखलाया गया है :—

नाड़ी	पेशी
१. मौखिक	१. ओष्ठ तथा नासा की पेशियाँ
२. प्राणदा (ऊर्ध्वस्वरयंत्रीय नाड़ी की बाह्यशाखायें)	२. कृकाटिकाबटुका
३. प्राणदा (अधःस्वरयंत्रीय शाखा)	३. अवशिष्ट स्वरयंत्रीय पेशियाँ
४. प्राणदा (अधःस्वरयंत्रीय शाखा)	४. श्वासनलिका की पेशियाँ
५. सुषुम्नीय सहायिका नाड़ी की शाखायें—	५. ग्रीवा तथा अंस की पेशियाँ
६. द्वितीय से सप्तम ग्रैवेयक मूलों की शाखायें—	६. पर्शुकाकर्षणी पेशियाँ
७. प्राचीरिका नाड़ी (चतुर्थ से सप्तम ग्रैवेयक मूलों से)	७. महाप्राचीरा
८. द्वितीय ग्रैवेयक से वक्षीय मूलों तक पर्शुकान्तरालीय नाड़ियाँ	८. पर्शुकान्तराला तथा उदरपेशियाँ
९. प्रथम कटिनाड़ी की शाखायें	९. उदर्य तथा वंक्षणीय पेशियाँ

श्वसनकेन्द्रों पर गैसों का प्रभाव

श्वसन का रासायनिक नियन्त्रण

(क) कार्बनद्विओषिद् का प्रभाव :—यह सबसे प्रबल उत्तेजक है। कोषगत वायु में इसका दबाव प्रायः स्थिर रहता है और प्राकृत वायुमंडल के दबाव का ५·५ प्रतिशत होता है। इसमें थोड़ा भी परिवर्तन होने से श्वसन-केन्द्र को सूचना मिल जाती है और वह इसको सम रखने का प्रबन्ध करता है।

प्रभाव :—१. प्राकृत परिमाण में श्वसनकेन्द्र प्राकृत गम्भीरता और क्रम से कार्य करता है। इसे प्राकृत श्वसन (Eupnoea) कहते हैं।

२. इसकी बहुत थोड़ी वृद्धि होने पर श्वसन की गहराई बढ़ जाती है। इसे गंभीर श्वसन (Deeper breathing) कहते हैं।

३. और अधिक परिमाण बढ़ने पर गहराई और संख्या दोनों बढ़ जाती है। इसे अतिश्वसन (Hyperpnoea) कहते हैं।

४. और अधिक बढ़ने पर श्वसन की सहायक पेशियों पर भार पड़ने लगता है और श्वास में कष्ट (Dyspnoea) होने लगता है।

५. और वृद्धि होने पर श्वासावरोध (Asphyxia) की स्थिति उत्पन्न होती है।

६. कार्बन द्विओषिद् का भार कम होने पर श्वसन की गहराई में कमी (Shallow breathing) हो जाती है।

७. और अधिक कमी होने पर श्वसन की गहराई और संख्या दोनों में कमी हो जाती है। इसे क्षीणश्वास (Hypopnoea) की अवस्था कहते हैं।

८. और कम होने पर श्वास तक रुक जाता है। इसे श्वासलोप (Apnoea) कहते हैं।'[1]

(ख) ओषजन का प्रभाव :—१. ओषजन का आधिक्य—इससे एक प्रकार की विषमता उत्पन्न हो जाती है। इसके कारण रक्तभार में कमी और मूर्च्छा इत्यादि लक्षण उत्पन्न होते हैं।

२. और आधिक्य होने से—फुफ्फुसों में क्षोभ, फुफ्फुसशोथ, आक्षेप आदि लक्षण होते हैं।

शरीर में ओषजन की कमी दो प्रकार की होती है। रक्त में ओषजन की कमी को रक्तौषजनाल्पता (Anoxaemia) तथा धातुओं में ओषजन की कमी का धात्वोषजनाल्पता (Anoxia) कहते हैं। रक्तौषजनाल्पता कई कारणों से उत्पन्न होती है और उसी के अनुसार इसके कई प्रकार किये गये हैं :—

(क) भाराल्पताजन्य रक्तौषजनाल्पता :—धमनीरक्त में ओषजन-भार की कमी होने से यह अवस्था उत्पन्न होती है यथा पार्वत्यप्रदेशों में। इसके अतिरिक्त ओषजनभार को कम करने वाले निम्नांकित कारणों से भी यह अवस्था उत्पन्न होती है—

१. उत्तान श्वसन २. श्वासपथ में अवरोध ३. फुफ्फुसकला में क्षति।

४. कोषगत वायु के अवकाशों में कमी यथा जलनिमज्जन और न्यूमोनिया।

(ख) रक्ताल्पताजन्य रक्तौषजनाल्पता :—इसके निम्नांकित कारण हैं—

१. रक्तरञ्जक द्रव्य की कमी।

२. रक्तरञ्जक द्रव्य तथा ओषजन के संयोग में बाधा यथा कार्बन एकोषिद् विष।

३. रक्तरञ्जक द्रव्य का कपिल रक्तरञ्जक में परिवर्तन।

(ग) मन्दप्रवाहजन्य रक्तौषजनाल्पता :—रक्तप्रवाह मन्द होने पर यह अवस्था उत्पन्न होती है यथा रक्तस्राव या अवसाद।

---

१. 'अतिसृष्टमतिबद्धं कुपितमल्पाल्पमभीक्ष्णं वा सशब्दशूलमुच्छ्वसन्तं दृष्ट्वा प्राणवहान्यस्य स्रोतांसि प्रदुष्टानीति विद्यात्।' —च० वि० ५

(घ) धातुविषजन्य रक्तौषजनाल्पता :—यह अवस्था शारीर धातुओं के विषाक्त होने पर उत्पन्न होती है। जब कोषाणु पोटाशियम सायनाइड, मद्य इत्यादि द्रव्यों से विषाक्त हो जाते हैं तब वे ओषजन का उचित उपयोग नहीं कर पाते।

पर्वतरोग (Mountain sickness)

समुद्र के समतल में ओषजन का दबाव १५२ मिलीमीटर होता है, किन्तु ज्यों ज्यों ऊँचाई बढ़ती जाती है त्यों त्यों उसका दबाव भी कम होता जाता है, फलतः वायुकोषगत वायु का भार भी कम होता जाता है। यहाँ तक कि अचानक १०००० फीट की ऊँचाई पर, जहाँ ओषजनभार १०६ मिलीमीटर है, चले जाने पर पर्वतरोग उत्पन्न हो जाता है। उसके प्रधान लक्षण निम्नलिखित हैं :—

१. शिरःशूल २. क्लम ३. निद्रानाश ४. चिड़चिड़ापन ५. वमन ६. अवसाद।

हृदयश्वसन केन्द्र के अवरोध द्वारा मृत्यु भी हो सकती है। ये लक्षण ओषजनभार में सहसा कमी करने से ही होते हैं। यदि ओषजनभार क्रमशः कम कर दिया जाय तो ये लक्षण उत्पन्न नहीं होते, केवल श्वसन गंभीर हो जाता है।

रक्तसंवहन पर प्रभाव

१. जब ओषजनभार ६५ मिलीमीटर तक कम हो जाता है तब हृदय की गति बढ़ जाती है, क्योंकि मस्तिष्क—केन्द्र की उत्तेजना के कारण प्लीहा में संकोच होता है और रक्त निकल कर संस्थान में चला जाता है। रक्त का परिमाण बढ़ जाने से अधिक रक्त सिराओं द्वारा हृदय में आता है। फलतः हृदय की गति बढ़ जाती है।

२. श्वेतकणों की संख्या में वृद्धि हो जाती है।

३. रक्तरञ्जकद्रव्य २० प्रतिशत बढ़ जाता है जिससे रक्त का रङ्ग गहरा हो जाता है।

उपर्युक्त क्रियायें रक्तमज्जा की क्रिया बढ़ जाने से होती हैं।

ओषजन में क्रमशः कमी होने से मनुष्य अपने को उसके अनुकूल बना लेता है। यहाँ तक कि १५००० फीट की ऊँचाई पर, जहाँ ओषजनभार ८६ मिलीमीटर है, मनुष्य जीवित रह सकते हैं। इस अवस्था में निम्नांकित परिवर्तन होते हैं :—

१. गंभीर और अधिक श्वसन २. रक्त का अधिक निर्यात
३. रक्तकणों तथा रक्तरञ्जकद्रव्य में वृद्धि

४. रक्तरञ्जक द्रव्य के ओषजन से संयुक्त होने की शक्ति में वृद्धि
५. रक्त में ओषजन का अधिक शोषण

कार्बन एकोषिद् का प्रभाव

यह मादक विष है और कार्बन द्विओषिद् से अधिक तीव्र है। वायु के १००० भाग में ०.५ भाग रहने से ही लक्षण प्रकट होने लगते हैं और २–३ भाग रहने से तो मनुष्य की मृत्यु हो जाती है। इसके कारण निम्नांकित लक्षण उत्पन्न होते हैं :—

१. शिरःशूल २. हृदयावसाद ३. संन्यास ४. आक्षेप ५. हृदयावरोध

मृत्यु होने पर रक्त का रङ्ग चमकीला लाल पाया जाता है जब कि कार्बन द्विओषिद् विष में रक्त गहरे रङ्ग का हो जाता है।

श्वसनप्रक्रिया का स्वरूप

पीछे बतलाया जा चुका है कि श्वसनकेन्द्र की क्रिया स्वतः होती रहती हैं किन्तु स्वभावतः यह इतनी कम होती है कि उसे संज्ञावह नाड़ियों द्वारा प्राप्त उत्तेजनाओं पर निर्भर रहना पड़ता है। इसके अतिरिक्त रक्त की स्थिति का भी उन पर प्रभाव पड़ता है। जब मातृका धमनियों में गरम रक्त बहता है, तब श्वास की क्रिया बढ़ जाती है और जब शीतल रक्त बहता है तब श्वास मन्द हो जाता है। हूकर नामक विद्वान का मत है कि श्वसन केन्द्रों की क्रिया मुख्यतः अकार्बनिक लवणों पर निर्भर रहती है। सुधा और पोटाशियम का साम्य होने पर केन्द्र की क्रिया समुचित रूप से होती रहती है। सुधा की अधिकता से केन्द्र उत्तेजित हो जाता है तथा पोटाशियम के आधिक्य से केन्द्र की क्रिया का अवरोध होता है।

संक्षेप में, फुफ्फुसों में उच्छ्वासोत्तेजना उत्पन्न होकर प्राणदा के श्वसन संज्ञावह सूत्रों के द्वारा पिण्डकेन्द्र में पहुँचती है और वह श्वसनकेन्द्र की संख्या तथा क्रम का नियमन करते हैं। रक्तगत कार्बन द्विओषिद् श्वास के गाम्भीर्य का नियमन करता है।

इस प्रकार श्वसनकेन्द्र को प्रभावित करनेवाले निम्नांकित कारण हैं :—

१. धमनीगत रक्त में ओषजन का परिमाण २. कार्बन द्विओषिद् का भार
३. उदजन केन्द्रीभवन ४. रक्त की मात्रा
५. रक्त का तापक्रम ६. प्राणदा की संज्ञावह फुफ्फुसी शाखायें
७. अन्य संज्ञावह नाड़ियाँ ८. महाधमनी से प्रारब्ध उत्तेजनायें
९. मातृका परिवाहिका से प्राप्त उत्तेजनायें
१०. उच्च मस्तिष्ककेन्द्रों से उद्भूत उत्तेजनायें

श्वसन का रक्तसंवहन पर प्रभाव

(क) हृदयगति पर :-हृदयगति उच्छ्वास काल में प्राणदा तथा अलिन्द प्रत्यावर्तन के कारण बढ़ जाती है और निःश्वास काल में कम हो जाती है।

(ख) रक्तभार पर :—प्राकृत उच्छ्वासकाल में रक्तभार पहले कम होकर फिर बढ़ता है और निःश्वासकाल में पहले बढ़कर फिर कम होता है। उच्छ्वास के समय रक्तभार बढ़ने के मुख्य कारण हैं हृदयगति की तीव्रता, रक्तवहसंचालक की उत्तेजना तथा रक्तनिर्यात में वृद्धि। इसके पूर्व प्रारंभिक ह्रास का कारण यह है कि श्वास के प्रारंभ होते फुप्फुसों का प्रसार अचानक होता है और वहाँ रक्त की कमी हो जाती है। इस प्रकार हृदय के वाम भाग में पूरा रक्त नहीं पहुंचने से हृदय का रक्तनिर्यात कम हो जाता है। इसके बाद फिर हृदय के दक्षिण भाग में सिराओं द्वारा रक्त अधिक आने से रक्तनिर्यात बढ़ जाता है और फलतः रक्तभार की भी वृद्धि होती है।

(ग) नाड़ी पर :—हृदय का रक्तनिर्यात बढ़ने से उच्छ्वासकाल में नाडी का आयतन बढ़ हो जाता है तथा निःश्वासकाल में रक्तनिर्यात कम होने से नाडी का आयतन कम हो जाता है।

श्वासावरोध (Asphyxia)

प्राकृत श्वसन में बाधा होने से शरीर में ओषजन की कमी तथा कार्बन द्विओषिद् का संचय होने लगता है। इन दोनों कारणों की एककालिक उपस्थिति से श्वासावरोध की अवस्था उत्पन्न होती है।

कारणः—(क) श्वासमार्ग में बाधा :—

(१) श्वासनलिका में कोई बाह्य वस्तु (२) गलपाश

(३) श्वासप्रणालिकाओं में श्लेष्मा का संचय

(४) वायुकोषों में व्रणशोथजन्य स्राव का संचय

(५) उरस्याकोष के वेधन द्वारा फुप्फुसों का आकुञ्चन

(ख) अन्य गैसों का आहरण :—

(१) हाइड्रोजन तथा अन्य गैस सूँघना (२) कार्बनद्विओषिद् से युक्त वायु।

(ग) वायवीय विनिमय में बाधा :—

यथा कार्बन एकोषिद् रक्तरंजक द्रव्य के साथ मिलकर एक स्थिर यौगिक बनता है जिसका धातुओं के संपर्क में आने पर विश्लेषण नहीं हो पाता और इस प्रकार वायवीय विनिमय में बाधा उपस्थित हो जाती है।

अवस्थायें :—श्वासावरोध की तीन अवस्थायें होती हैं :—

१. प्रथम अवस्था :—श्वासकृच्छ्र की अवस्था :—इसमें उच्छ्वास तथा निःश्वास की अतिरिक्त पेशियाँ भी कार्य करने लगती हैं जिससे उच्छ्वास तथा निःश्वास गंभीर होते हैं। इसके अतिरिक्त, अक्षिगोलक बाहर निकलना, लालास्राव, स्वेदाधिक्य, श्रोष्ठनीलिमा आदि लक्षण होते हैं। कार्बन द्विओषिद् के आधिक्य से श्वसनकेन्द्र के उत्तेजित होने के कारण श्वास की संख्या भी बढ़ जाती है।

२. द्वितीय अवस्था :—आक्षेपावस्था :—इसमें कार्बन द्विओषिद् की मात्रा अधिक होने से श्वसनकेन्द्र के अतिरिक्त सुषुम्नाकेन्द्रों पर भी उसका प्रभाव पड़ता है जिससे परतन्त्र पेशियों में आक्षेप आने लगते हैं। यह अवस्था कुछ मिनटों तक रहती है।

३. तृतीय अवस्था :—श्रम या प्रसार की अवस्था :—रक्त में कार्बन द्विओषिद् अत्यधिक हो जाने से श्वसनकेन्द्र तथा अन्य सुषुम्नाकेन्द्र निश्चेष्ट हो जाते हैं, पेशियाँ प्रसारित हो जाती हैं, श्वास घटते जाते हैं और अन्त में श्वासलोप होने से मृत्यु हो जाती है। यह अवस्था तीन मिनट या उससे कुछ अधिक रहती है।

श्वासमार्ग में अवरोध के कारण रक्त में निम्नांकित परिवर्तन होते हैं :—

१. कार्बन द्विओषिद् का अतिशय आधिक्य
२. ओषजन का नितान्त अभाव
३. दुग्धाम्ल का संचय और क्षारीय कोष में वृद्धि

श्वासावरोध का रक्तभार पर प्रभाव

प्रथम तथा द्वितीय अवस्थाओं में रक्त की अशुद्धि बढ़ने से रक्तवहसंचालक केन्द्र उत्तेजित हो जाता है तथा कार्बन द्विओषिद् की वृद्धि से अधिवृक्क ग्रंथियों के उत्तेजित होने से रक्त में अड्रिनिलीन की मात्रा अधिक हो जाती है जिससे रक्तवह स्रोत संकुचित हो जाते हैं। अतः इन अवस्थाओं में रक्तभार बढ़ जाता है। तृतीय अवस्था में हृदयावसाद के कारण धमनीगत रक्तभार अचानक कम हो जाता है।

श्वासलोप (Apnoea)

नियमित श्वसन का क्षणिक लोप दो प्रकार से होता है :—

(१) नाडीजन्य—अधिक कार्य करने के बाद श्वसनकेन्द्र का श्रम होने से।

(२) रासायनिक—रक्त में कार्बन द्विओषिद् की कमी होने से।

श्वासलोप तीन प्रकार का होता है :—

(१) ऐच्छिक:—जब मनुष्य अपनी इच्छा से अधिक गम्भीर तथा तीव्र साँस लेता है तब यह अवस्था उत्पन्न होती है।

(२) प्रायोगिक :—जन्तुओंमें तीव्र कृत्रिम श्वसन के बाद यह अवस्था आती है।

(३) गर्भसंबन्धी :—यह गर्भावस्था के अन्तिम मासों में गर्भ में देखा जाता है जब फुफ्फुसों का पूर्णतः निर्माण हो जाता है और श्वसन की प्रवृत्ति भी उत्पन्न होती है।

ऐच्छिक और प्रायोगिक ये दोनों प्रकार नाडीजन्य तथा रासायनिक इन दोनों कारणों से होते हैं। गर्भसम्बन्धी प्रकार में केवल रासायनिक कारण ही होता है क्योंकि श्वसनकेन्द्र में उस समय कोई उत्तेजना नहीं पहुंच पाती।

सान्तर श्वसन (Cheyne-stoke's respiration)
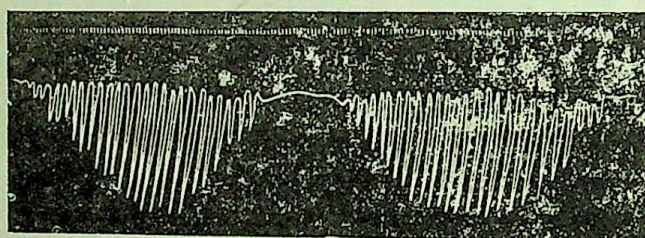
सान्तर श्व—

कारण:—ओषजन की कमी से केन्द्र उत्तेजित होने के कारण अतिश्वसन की अवस्था उत्पन्न होती है जिससे शरीर को ओषजन अधिक मिलने के कारण अम्लों का ओषजनीकरण होता है और कार्बन द्विओषिद् में कमी हो जाती है। इस कमी से श्वास-लोप हो जाता है। इस अवस्था में शरीर संचित ओषजन का उपयोग करता है और इस प्रकार कार्बन द्विओषिद् की वृद्धि हो जाती है। इससे केन्द्र पुनः उत्तेजित होता है और अतिश्वसन की अवस्था उत्पन्न होती है। इस रीति से अतिश्वसन तथा श्वासलोप की अवस्थायें क्रमशः आती जाती रहती हैं। इसे सान्तर श्वसन कहते हैं।[1]

यह निम्नांकित अवस्थाओं में पाया जाता है :—

१. छोटे बच्चों में निद्राकाल में स्वभावतः

१. 'यस्तु श्वसिति विच्छिन्नं सर्वप्राणेन पीडितः।
न वा श्वसिति दुःखार्तो मर्मच्छेदरुजार्दितः॥'—च० चि० १७।

१. मेढक आदि उद्भिज्ज प्राणियों में स्वभावतः
३. पर्वतीय प्रदेशों में ओषजन की कमी होने से
४. ऐच्छिक श्वासलोप के बाद प्रारम्भिक श्वसन में
५. रक्तसंवहन की विकृति में
६. मूत्रविषमयता, मस्तिष्काघात, अहिफेनविष आदि विषजन्य अवस्थाओं में
७. फुप्फुस, मातृकापरिवाहिका तथा महाधमनी से उद्भूत उत्तेजना के द्वारा श्वसनकेन्द्र का प्रत्यावर्तित और नियमित क्षोभ तथा अवसाद

यह अवस्था केन्द्र का पोषण करने के लिए ओषजन तथा केन्द्र की उत्तेजना के लिए कार्बन द्विओषिद् देने से दूर की जा सकती है।

अनियमित श्वसन (Irregular breathing)

एक विशिष्ट प्रकार का अनियमित श्वसन क्षयज मस्तिष्कावरणशोथ आदि रोगों में देखा जाता है जिसे 'बायट का श्वसन' भी कहते हैं। इसमें श्वसन बिल्कुल अनियमित होता है तथा दो-तीन गम्भीर और तीव्र श्वसन के बाद एक लम्बी श्वासलोप की अवधि आती है। यह अवस्था मस्तिष्कपिण्ड के आघात की निर्देशिका है और सान्तर श्वसन की अपेक्षा अधिक गम्भीर होती है।

रक्त में गैसों की स्थिति

रक्त में स्थित प्रधान गैस ओषजन, कार्बन द्विओषिद् तथा नत्रजन हैं। ये निम्नांकित कोष्ठक के अनुसार रक्त में उपस्थित होते हैं :—

	धमनीरक्त (शुद्ध)		सिरारक्त (अशुद्ध)	
	मात्रा	भार	मात्रा	भार
ओषजन	१९.५ %	१०६ मि०मी०	१४.५%	४० मि. मी.
नत्रजन	१–१%	—	१-२%	—
कार्बोनिक अम्ल	५०%	३५ मि०मी०	५५%	४६ मि. मी.

धमनीरक्त में ओषजन १९·५ से २०·६ प्रतिशत तक उपस्थित रहता है तथा कार्बन द्विओषिद ४८·३ से ५२·८ प्रतिशत तक होता है। सिरागत रक्त में ओषजन तथा कार्बनद्विओषिद् का परिमाण धातुओं की क्रियाशीलता तथा धातुओं में प्रवाहित होने वाले रक्त के परिमाण पर निर्भर करती है।

गैसों का निश्चित परिमाण देखने के लिए अनेक विधियों और यन्त्रों का प्रयोग होता है। इनके अनुसार यह देखा गया है कि धमनीगत रक्त में प्रति

१०० सी० सी० २० सी० सी० ओषजन तथा ५० सी० सी० कार्बन द्विओषिद् रहता है और सिरागत रक्त में १५ सी० सी० ओषजन तथा ५५ सी० सी० कार्बन द्विओषिद् रहता है। सिरागत रक्त में इन गैसों का निश्चित परिमाण शरीर के विभिन्न भागों में उन-उन अङ्गों की क्रियाशीलता के अनुसार भिन्न-भिन्न होता है। केशिकाओं में जब रक्त बहता है तब उसमें से प्रति १०० सी० सी० ५ सी० सी० ओषजन निकलकर धातुओं में चला जाता है। अतः यह वह परिमाण विश्रामावस्था में धातुओं द्वारा गृहीत ओषजन का निर्देशक है। सिरागत रक्त में ओषजन का परिमाण विश्रामावस्था में अधिक से अधिक १५ सी० सी०, कठिन परिश्रम के समय ८ सी० सी० तथा अत्यधिक व्यायाम के समय ३.५ सी० सी० तक हो जाता है। व्यायाम के समय सिरागत रक्त में ६५ सी० सी० तक कार्बन द्विओषिद् मिलता है।

रक्त में गैसों का दबाव नापने के लिए एक यन्त्र का प्रयोग होता है जिसे क्रोग का रक्तवायुभारमापक यंत्र (Krogh's Micro-aerotonometer) कहते हैं। इस यन्त्र का एक नलिका द्वारा रक्तवह स्रोत से सम्बन्ध कर दिया जाता है, जिससे रक्त भीतर प्रविष्ट होता है और पार्श्ववर्ती नलिका से बाहर निकल जाता है। यंत्र के भीतर कोष्ठ में एक वायु का बुलबुला रहता है। इसलिए कोष्ठ में रक्त के जाने पर रक्त तथा उस बुलबुले के बीच वायवीय विनिमय होता है जब तक कि साम्य स्थापित न हो जाय। साम्यस्थिति हो जाने पर बुलबुला सूक्ष्म केशिकानलिका द्वारा ऊपर खिंच जाता है और वहाँ उसका विश्लेषण हो जाता है। उसका विश्लेषण होने पर उसमें ४ प्रतिशत कार्बन द्विओषिद् तथा १२ प्रतिशत ओषजन की उपस्थिति मिलती है। अब निम्नांकित आधार पर उसका भार निश्चित किया जाता है :—

रक्तभार	१२०
वायुमण्डल का दबाव	७६०
	८८०

८८० का ४% = ३५

८८० का १२%=१०६

इसलिए कार्बन द्विओषिद् का भार ३५ मिलीमीटर तथा ओषजन का भार १०६ मिलीमीटर निश्चित होता है।

रक्त में गैसों की स्थिति

रक्त में गैस दो रूपों में रह सकते हैं :—

(१) भौतिक विलयन (२) रासायनिक संयोग

द्रव पदार्थ में गैसों के विलयन के सम्बन्ध में निम्नांकित नियम हैं :—

(१) विलयनाङ्क :—यह गैस का वह परिमाण है जो एक सी० सी० जल में प्राकृत वायुभार पर घुल जाता है।

ओषजन का विलयनाङ्क = ०·०४ सी० सी०

कार्बन द्विओषिद् का „ = १·०० „ „

भूयाजन का „ = ०·०१ „ „

(२) गैस का दबाव :—अधिक दबाव होने से गैस का अधिक अंश तथा कम दबाव होने से कम अंश विलीन होता है। इसके सम्बन्ध में एक विशिष्ट नियम है जिसे 'डाल्टन-हेनरी नियम' कहते हैं। वह इस प्रकार है :—

$$\text{गैसपरिमाण} = \text{विलयनाङ्क} \times \frac{\text{गैस का दबाव}}{\text{वायुभार}}$$

(३) तापक्रम—द्रव का अधिक तापक्रम होने से कम तथा कम होने से अधिक गैस विलीन होता है।

(४) विलयन में ठोस भाग—ठोस भाग की उपस्थिति में जल की विलायक क्षमता कम हो जाती है।

(५) गैसों का मिश्रण :—द्रव पदार्थ में अनेक गैसों का मिश्रण होने से प्रत्येक गैस का दबाव पृथक्-पृथक् उस पर पड़ता है। इस प्रकार उस मिश्रण का कुल दबाव पृथक्-पृथक् गैसों के दबाव का योगफल है।

रक्त में ओषजन की स्थिति

रक्त में ओषजन केवल विलयन के रूप में ही नहीं, बल्कि एक शिथिल रासायनिक संयोग के रूप में रहता है। यह ओषजन तथा रक्तरञ्जकद्रव्य का एक यौगिक है जो दोनों के सम्पर्क से बनता है जो ओषरक्तरञ्जक कहलाता है। इस यौगिक पदार्थ में यह गुण है कि जब पार्श्ववर्ती धातुओं में ओषजन की कमी होती है तब उसका विश्लेषण होता है और ओषजन स्वतन्त्र होकर धातुओं में चला जाता है। शुद्ध वायु में जब ओषजन का दबाव १५२ मिली-मीटर हो तब रञ्जकद्रव्य ओषजन से पूर्णतः संतृप्त हो जाता है। इसे रक्त का 'ओषजन-सामर्थ्य' (Oxygen capacity) कहते हैं। यदि ओषजन का दबाव इससे अधिक किया जाय तो वह भौतिक विलयन के रूप में रक्त में आने लगता है और आवश्यकता पड़ने पर पहले यही धातुओं में जाता है। रक्त-संवहन के समय यही क्रिया होती है। केशिकाओं में जब रक्त प्रविष्ट होता है तब १०० सी० सी० रक्त में २० सी० सी० ओषजन होता है, किन्तु एक सेकण्ड के बाद ही जब वह सिरा में पहुंचता है तो १२ सी० सी० ही रह

जाता है। रक्त अधिक क्षारीय होने पर ओषजन रक्तरञ्जकद्रव्य से अधिक परिमाण में मिल पाता है। चूंकि कार्बनद्विओषिद् अम्ल है, अतः उसका दबाव बढ़ने पर ओषजन रक्तरञ्जक के साथ कम मात्रा में मिलता है। रक्त में रञ्जकद्रव्य का ओषजन के साथ संयोग तथा ओषरक्तरञ्जक का विश्लेषण निम्नांकित कारणों पर निर्भर रहता है :

१. तापक्रम (३७ सेण्टीग्रेड) २. अकार्बनिक लवणों की उपस्थिति

३. उद्जन केन्द्रीभवन (कार्बनद्विओषिद् का भार)

इन कारणों से रक्त एक समान रूप से ओषजन का ग्रहण तथा परित्याग करता है।

सारांश यह है कि रक्त के १०० सी० सी० में २० सी० सी० से कुछ अधिक ओषजन रहता है। रक्त के १०० सी० सी० में केवल ०.३९३ सी. सी. भौतिक विलयन के रूप में रक्तरस में रहता है। शेष ओषरक्तरञ्जक के रूप में रहता है।

रासायनिक संयोग के रूप में रहने का प्रमाण

(१) रक्त में ओषजन की मात्रा इतनी अधिक है कि उतना विलयन के रूप में नहीं रह सकता। विलयन के रूप में १०० सी० सी० रक्तमें केवल ०.३९३ सी. सी. ओषजन रहता है जब कि रक्त में वह २० सी. सी. होता है।

(२) ओषजन का दबाव साधारण दबाव से कुछ कम कर दिया जाय तो बहुत अल्प परिमाण में ओषजन अलग होता है, किन्तु उसका दबाव ३० मिलीमीटर तक कम करने से शीघ्र ही अधिक मात्रा में वह विश्लेषित हो जाता है। यह क्रिया केशिकाओं में रक्तसंवहन के समय होती है।

रक्त में कार्बन द्विओषिद् की स्थिति

यदि रक्त शुद्ध ओषजन की उपस्थिति में रक्खा जाय तो वह उसका ५१ प्रतिशत भाग शोषित कर लेगा। कओ^2 का $\frac{1}{3}$ भाग रक्तकण में तथा $\frac{2}{3}$ भाग रक्तरस में रहता है। यह रक्त में दो रूपों में रहता है :—

(१) कुछ अंश भौतिक विलयन के रूप में :—

रक्तरस तथा रक्तकणों में कार्बोनिक अम्ल ($Co_2 + H_2o = H.Hco_3$) के रूप में विलीन रहता है। यह कओ^2 की पूर्ण मात्रा का ५–६ प्रतिशत लगभग २.५ सी. सी. से ३ सी. सी. तक होता है।

(२) कुछ अंश रासायनिक यौगिक के रूप में :—

(क) लगभग २० सी० सी० रक्तरस में क्षार से संयुक्त होकर सोडियम बाइकार्बनेट के रूप में रहता है।

$$H.HCo_3 + Nacl = Na\,Hco_3 + Hcl$$
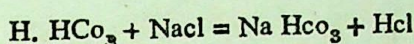
(ख) अवशिष्ट भाग लगभग ३०–३२ सी० सी० रक्तरस तथा रक्तकणों के मांसतत्त्व में मिलकर कार्बरक्तरञ्जक के रूप में रहता है।

जब धातुओं में रक्तप्रवाह होता है उसी समय उसमें कार्बन द्विओषिद् मिल जाता है और फुप्फुसों में जाने पर इस रासायनिक रूप से संयुक्त कओ^2 का विश्लेषण होता और इस प्रकार कओ^2 कोषगत वायु में मिल जाता है और फिर बाहर निकल जाता है। फुप्फुसों में उसका विश्लेषण दो प्रकार से होता है :—

(१) रक्तरस तथा रक्तकणों में कओ^2 क्षारीय कार्बोनेट के रूप में रहता है। फुफ्फुसों में जो ओषरक्तरञ्जक बनता है वह दुर्बल अम्ल के रूप में कार्य करता है और बाह्कार्बोनेट को कार्बनिक अम्ल में परिवर्तित कर देता है।

$$H.Hb + Na\,Hco_3 = Na\,Hb + H_2\,Co_3$$

इस कार्बनिक अम्ल का पुनः कओ^2 तथा जल में परिणमन होता है।

$$H_2\,Co_3 = Co_2 + H_2o$$
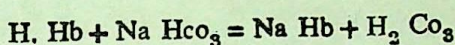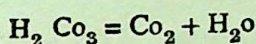
रफटन नामक विद्वान् का मत है कि रक्तकणों में स्थित कार्बनिक परिवर्तक नामक किण्वतत्त्व की सहायता से यह क्रिया शीघ्र संपन्न होती है तथा यह किण्वतत्त्व प्रवर्तक के रूप में कार्य करता है। इसका स्वरूप सामान्य किण्व तत्त्व के समान है और एक प्रकार का मांसतत्त्व है। इसकी रचना में कुछ यशद का भी अंश होता है। इसकी क्रिया मध्यम प्रतिक्रिया से होती है। अतः अधिक अम्ल या क्षारीय विलयनों में इसकी क्रिया नहीं होती।

(२) रक्तकणों में वर्तमान कुछ कओ^2 रक्तरञ्जक के साथ मिलकर मांसतत्त्वों के साथ एक विश्लेषणीय कार्बामिष यौगिक बनाता है जिससे कओ^2 फुप्फुसों में विश्लेषित हो जाता है।

हैम्बर्गर की प्रतिक्रिया (Hamberger's reaction)

हैम्बर्गर नामक विद्वान् ने प्रयोगों द्वारा यह देखा है कि रक्तरस संपूर्ण रक्त की अपेक्षा कओ^2 का शोषण अधिक करता है। इसका कारण यह है कि कणों से अधिक क्षारीय अणु रक्तरस में चले जाते हैं, इसलिए इस प्रकार के रक्तरस से अधिक कओ^2 का शोषण होता है। कणों से रक्तरस में क्षारीय अणुओं की गति को हैम्बर्गर प्रतिक्रिया कहते हैं।

क्लोराइड क्रमण

उपर्युक्त विधि से रक्तरस में पहुँचे हुए क्षार वहाँ कओ^2 से मिल कर

बाइकार्बोनेट बनाते हैं। रक्तरस में इसके अतिरिक्त एक अन्य पद्धति से अधिक बाइकार्बोनेट बनता है जिसे 'क्लोराइड क्रमण' (Chloride shift) कहते हैं। इसके द्वारा रक्तरस से क्लोराइड निकल कर रक्तकणों में पहुंच जाते हैं। यथा :—

(१) रक्तरस में कओ² के जल में घुलने से पहले कार्बोनिक अम्ल बनता है :—

$$Co_2 = H_2o = H \cdot Hco_3$$
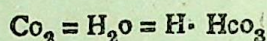
(२) यह कार्बनिक अम्ल पोटाशियम क्लोराइड से मिलकर बाइकार्बोनेट बनाता हैं :—

$$H, Hco_3 + Kcl = KHco_3 + Hcl.$$
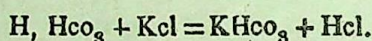
(३) रक्तकणों में अम्ल पोटाशियम फास्फेट तथा रक्तरञ्जक द्रव्य होता है, जो दुर्बल अम्ल के रूप में कार्य करता है। इस प्रकार पोटाशियम क्लोराइड जो उपर्युक्त प्रतिक्रिया में समाप्त हो गया था पुनः अम्ल फास्फेट तथा मांसतत्वों से मिलकर बन जाता है :—

$$Hcl \times K_2H\ Po_4 = Kcl + Ka\ H_2\ Po_4$$
$$Hcl = KHb = Kcl + H.\ Hb$$
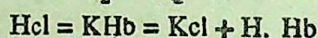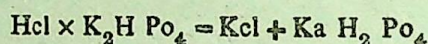
इस प्रकार निर्मित पोटाशियम क्लोराइड कोषाणु के भीतर ही रहती है, क्योंकि उसकी कला पोटाशियम अणुओं के लिए प्रवेश्य नहीं होती और इस प्रकार क्लोराइड रक्तरस से अलग होकर कणों के भीतर चले जाते हैं। रक्तरस से क्लोराइड के पृथक् हो जाने से कओ² के द्वारा अधिक बाइकार्बनेट बनते हैं।

जब रक्त में कओ² का आधिक्य होता है तब रक्तरस से रक्तकणों में क्लोराइड चले जाते हैं तथा जब कओ² की कमी हो जाती है, तब वे कणों से रक्तरस में चले आते हैं। इसीलिए सिरागत रक्त में रक्तरस के भीतर कणों की अपेक्षा कम क्लोराइड होते हैं तथा धमनीगत रक्त में इसके विपरीत होता है।

रक्तरञ्जकद्रव्य के द्वारा कओ² का वहन

ऊपर बतलाया जा चुका है कि रक्त धातुओं से कओ² का ग्रहण करता है तथा कोषगत वायु में इसका परित्याग कर देता है। इस प्रकार रासायनिक संयोग में स्थित कओ² फुप्फुसों में विश्लेषित हो जाता है। ओषजन के समान ही कार्बन द्विओषिद् का परिमाण भी अम्ल से कम तथा क्षार से बढ़ जाता है। अम्ल मिलाने पर यह अधिक शीघ्रता से क्षारतत्वों के साथ संयुक्त हो जाता है

और कओ² से संयुक्त होने के लिए क्षारतत्व कम बच जाते हैं और जो (कओ²) बाहर निकल जाता है।

रक्तरंजक द्रव्य अन्य अम्ल पदार्थों की भाँति क्षारों के साथ संयुक्त होता है। रक्तकणों में यह पोटाशियम के साथ संयुक्त होता है और पोटाशियम हिमोग्लोबिनेट नामक यौगिक के रूप में रहता है। जब यह यौगिक धातुओं में स्थित कओ² के सम्पर्क में आता है तब मूल पोटाशियम कओ² के साथ मिल कर पोटाशियम बाइकार्बनेट बनाता है। ओषरक्तरंजक रक्तरंजक की अपेक्षा तीव्र अम्ल है अतः फुप्फुसों में स्थित ओषरक्तरञ्जक के सम्पर्क में आने पर पोटाशियम बाइकार्बनेट विश्लेषित हो जाता है और कओ² मुक्त हो जाता है। पृथक् हुआ पोटाशियम पुनः रक्तरञ्जक से मिलकर पोटाशियम हिमोग्लोबिनेट बनाता है। इस प्रकार रक्तरंजक द्रव्य कओ² के वाहक के रूप में कार्य करता है।

रक्त में नत्रजन की स्थिति

रक्त में १ या २ प्रतिशत नत्रजन केवल भौतिक विलयन के रूप में रहता है। धमनी तथा सिरा दोनों के रक्त में इसकी मात्रा समान होती है। इससे स्पष्ट है कि शारीरिक क्रियाओं में नत्रजन का कोई साक्षात् भाग नहीं होता है। कुछ अनुपात में यह रक्त में शोषित होकर रक्त के साथ परिभ्रमण करता है। इसका साक्षात प्रभाव धातुओं पर नहीं होता। अब यह माना जाता है कि इसका बहुत थोड़ा अंश रक्तकणों के साथ मिलकर एक अस्थिर यौगिक बनाता है।

कोषगत वायु

कोषगत वायु (३२०० सी० सी०) सञ्चित तथा अवशिष्ट वायु का योग है। यह फुप्फुस के उस अंश में स्थित है जहाँ केशिकाओं द्वारा प्रवाहित होने वाले रक्त से इसका निकटतम सम्पर्क होता है और गैसों का पारस्परिक विनिमय होता है।

कोषगत वायु धमनीगत रक्त में गैसों के दबाव का नियमन करता है और इसीलिए कोषगत वायु का प्रायः निश्चित संगठन प्राकृत श्वसन के द्वारा स्थिर और समान रहता है।

कोषगत वायु का परिमाण एक विशिष्ट यन्त्र द्वारा निश्चित किया जाता है जिसमें एक बार पुरुष प्राकृत उच्छ्वास के बाद गम्भीर निःश्वास करता है तथा दूसरी बार प्राकृत निःश्वास के बाद गंभीर उच्छ्वास करता है। इन दोनों प्रकारों से एकत्रित वायु का विश्लेषण किया जाता है और उसके मध्यम परिणाम के अनुसार कोषगत वायु का संगठन निश्चित किया जाता है :—

औसत संगठन	कोषगत वायु प्रतिशत आयतन	प्रश्वसित वायु प्रतिशत आयतन	निःश्वसित वायु प्रतिशत आयतन
नत्रजन	८०·०	७९·०२	७९·६०
ओषजन	१४·५	२०·९५	१६·०२
कओ²	५·५	०·०३	४·३८

कोषगत वायु में कओ² का औसत दबाव प्रायः ३५ से ४५ मिलीमीटर तथा ओषजन का १०५ से १२० मिलीमीटर है।

फुफ्फुसों में वायवीय विनिमय की प्रक्रिया
(Gaseous exchange in Lungs)

फुफ्फुसों में ओषजन वायुकोष से फुफ्फुसगत रक्तप्रवाह में चला जाता है और कओ² फुफ्फुसीय रक्तवह स्रोतों से वायुकोषों में चला जाता है। इन गैसों का गमन दो कलाओं से होता है :—

(१) वायुकोषों की दीवाल, (२) रक्तकेशिकाओं का अन्तःस्तर।

इस वायवीय विनिमय के सम्बन्ध में दो सिद्धान्त हैं :—

(१) भौतिक सिद्धान्त

(२) रासायनिक सिद्धान्त

(१) श्वसन का भौतिक सिद्धान्त

फुफ्फुसों तथा धातुओं में वायवीय विनिमय वायुप्रसरण के भौतिक नियमों के अनुसार होता है। रक्त से ओषजन धातुओं में भौतिक प्रसरणविधि जाता है। दूसरे शब्दों में, वायवीय विनिमय की प्रक्रियायें मध्यस्थ कला में निष्क्रिय भाग लेती है जो निर्जीव कला के रूप में कार्य करती हैं। यदि एक प्रवेश्य कला दो भिन्न दबाव वाले गैसों तथा उनके विलयनों को पृथक् करती है तब गैस के अणु दोनों दिशाओं में तब तक आते-जाते रहते हैं जब तक दोनों ओर दबाव समान नहीं हो जाता। गैसों की यह गति अधिक दबाव से कम दबाव की ओर होती है। इन कलाओं के द्वारा गैसों को गति केवल दबाव के अन्तर के अनुसार ही निश्चित नहीं होती, बल्कि गैस तथा कला के स्वरूप पर भी बहुत कुछ निर्भर रहती है। प्रसरण का क्रम गैसों के घनत्व के विपर्यस्त अनुपात में होता है। उदाहरणार्थ, कओ² का प्रसरण ओषजन की अपेक्षा अधिक शीघ्रता से होता है।

कला के दोनों ओर गैसों का दबाव बराबर हो जाने के कारण साम्यावस्था स्थापित हो जाने पर गैसों की प्रसरण क्रिया रुक जाती है। इस सिद्धान्त के अनुसार वायवीय विनिमय की क्रिया में शरीर की भौतिक परिस्थिति भी अनु-

कूल होती है क्योंकि ओषजन तथा कओ^2 का दबाव इसे अन्तर पर रहता है कि विनिमय आसानी से हो सके ।

ओषजन	कार्बनिक अम्ल
बाह्य वायु—१५९ मिलीमीटर	धातु—५०-७० मिलीमीटर
कोषगत वायु—१०५-१२० ,,	सिरारक्त—४६ ,,
धमनीरक्त—१०४ ,,	कोषगत वायु—३६ ,,
धातु—२० ,,	बाह्य वायु—०·४ ,,

परिमाण	प्रश्वसित वायु	निःश्वसित वायु	कोषगत वायु	धमनी रक्त	सिरारक्त	धातु
ओषजन	२०·९५	१६·०२	१४·८	१९·५	१४·५	२०
कओ^2	०·०४	४·३८	५०·५	५०·५	५५·०	५०–५०
नत्रजन	७१·०२	७९·६०	७९·७	१·२	१–२	
दबाव						
ओषजन मि.मी.	१५९	१००	१०५·२०	१०४	५०–४०	२०
क ओ^2 ,,	०·२३	४०	३५–४५	४६	४६	५०–७०

(२) श्वसन का रासायनिक सिद्धान्त

इस सिद्धान्त के अनुसार गैसों के विनिमय में कलायें स्रावक क्रिया के द्वारा सक्रिय भाग लेती हैं । इस मत के पक्ष तथा विपक्ष दोनों ओर पर्याप्त प्रमाण हैं तथापि पक्ष में प्रमाण अधिक हैं ।

धातुश्वसन (Tissue respiration)

इसे कोषाणुश्वसन (Cellular respiration) या अन्तःश्वसन (Internal respiration) भी कहते हैं । यह निम्न प्रकार से होता है :—

(क) ओषजन केशिकाओं के रक्त से निकल कर धातुओं के कोषाणुओं में चला जाता है । यह क्रिया रक्त में ओषजन के दबाव पर निर्भर रहती है ।

(ख) कओ^2 की विरुद्ध दिशा में गति ।

इन गैसों का विनिमय शारीर प्रक्रिया द्वारा न होकर प्रसरण की भौतिक विधि द्वारा होता है ।

ओषजन का दबाव धमनीगत रक्त में १०४ मि० मी० रहती है । ५० मि. मी. से कम दबाव होने पर ओषजन पृथक् होने लगता है और १० से २० मि. मी. तक बिलकुल पृथक् हो जाता है । अतः जब रक्त धातुओं में अल्पभार युक्त ओषजन के संपर्क में आता है तब ओषजन रक्त से निकल कर धातुओं में प्रसरण के सामान्य नियम के अनुसार चला जाता है ।

इस प्रक्रिया की तीन अवस्थायें होती हैं :—

(१) धातु के अवयव निरन्तर लसीका से ओषजन ग्रहण करते रहते हैं।

(२) परिणामस्वरूप, लसीका में ओषजन का दबाव कम हो जाता है तथा रक्तरस की अपेक्षा लसीकास्थित ओषजन का दबाव कम होने से गैस रक्तरस से केशिका की दीवालों से होकर लसीका में चला जाता है।

(३) फलस्वरूप, रक्तकणों के चारों ओर रक्तरस में ओषजन का दबाव कम हो जाता है, तथा ओषरक्तरञ्जक का विश्लेषण होने लगता है।

इस प्रकार धातुओं को ओषजन की प्राप्ति रक्तरस से ही होती है। ओषरक्तरञ्जक से ओषजन निकल कर रक्तरस में चला जाता है और इस प्रकार इसमें ओषजन का दबाव समान रूप से स्थिर रहता है। रक्त से धातुओं में जानेवाला ओषजन का परिणाम इनके दबाव के अन्तर के अनुपात के अनुसार होता है।

जब मांसपेशी विश्रामावस्था में होती है तब उसमें ओषजन का दबाव पेशीसूत्र के दबाव के समान, प्रायः २० मि. मी. होता है।

जब पेशी सक्रिय होती है तब उसमें ओषजन का दबाव अत्यन्त कम हो जाता है और रक्त से अधिक ओषजन आकर्षित होता है। धातुओं की क्रिया जितनी अधिक होती है, ओषजन का दबाव उतना ही कम होता है, अतः अधिक परिमाण में ओषजन रक्त से खींचा जाता है। इस अवस्था में रक्तसंवहन भी बढ़ जाता है। संकोचकालीन पेशी में निम्नांकित परिवर्तन होते हैं :—

(१) अधिक क्रियाशीलता, (२) कओ² की अधिक उत्पत्ति।

(३) अधिक ओषजन का उपयोग तथा ताप का प्रादुर्भाव।

ओषजन का उपयोग निम्नांकित कारणों पर निर्भर है :—

(क) क्रिया का स्वरूप (ख) धातु का स्वरूप (ग) तापक्रम।

पेशियों की अपेक्षा ग्रन्थियां ओषजन का उपयोग अधिक करती हैं तथा संयोजक तन्तु सब से कम उपयोग करते हैं।

प्रतिकिलोग्राम प्रतिमिनट ओषजन का उपयोग :—

लालाग्रंथि	२५ सी. सी.	वृक्क	२६ सी. सी.
अग्न्याशय	४० ,, ,,	यकृत्	३० ,, ,,
अन्त्र	१३ ,, ,,	पेशी	४ ,, ,, से ८० सी. सी.

ऐच्छिक मांसपेशी के द्वारा ओषजन का उपयोग इसकी स्थिति पर निर्भर करता है। विश्रामकाल में ४ सी. सी. साधारण परिश्रम के समय १० सी. सी. तथा अत्यधिक परिश्रम के समय ८० सी. सी. तक ओषजन का उपयोग

होता है। मांसीपेशीय सात्मीकरण के परिणामस्वरूप रक्त में कओ² तथा दुग्धाम्ल का आधिक्य हो जाता है जिसके कारण रक्तगत ओषजन तथा पेशीगत ओषजन के दबाव का अन्तर बढ़ जाता है।

रक्तरञ्जकद्रव्य का ओषजनसामर्थ्य

ओषजनसामर्थ्य ओषजन का वह परिमाण है जो १०० सी० सी० रक्त द्वारा गृहीत होता है। रक्तरंजक द्रव्य का विशिष्ट ओषजनसामर्थ्य ओषजन तथा रक्तरञ्जक द्रव्य के लोह के सम्बन्ध का द्योतक है। लोह का एक अणु ओषजन के दो अणुओं से और १ ग्राम लोह ४०० सी० सी० ओषजन से मिलता है।

श्वसनाङ्क (Respiratory quotient)

शरीर में शक्ति आहार द्रव्यों के कार्बन तथा उदजन के ओषजनीकरण से उत्पन्न होती है तथा ओषजन का आहरण और कार्बन द्विओषिद् का निर्हरण फुफ्फुसीय व्यजन से होता है।

सामान्यतः धातुओं के द्वारा उपयुक्त ५ सी० सी० ओषजन—धमनीगत (२० सी० सी०) तथा सिरागत (१५ सी० सी०) का अन्तर—के लिये ४ सी० सी० कओ² निःश्वास के द्वारा बाहर निकाला जाता है। अतः—

$\frac{\text{निःश्वसित कओ}^2}{\text{उच्छ्वसित ओषजन}}$ का अनुपात ४.५ है। ओषजन का उपयोग केवल कार्बन के ओषजनीकरण में नहीं होता बल्कि जल, मूत्रलवण आदि पदार्थ भी ओषजनीकरण के द्वारा बनते हैं। ओषजन का परिमाण जो जल तथा मूत्र-लवण बनाने के काम में आता है, वह निःश्वसित वायु में गैस के रूप में बाहर नहीं निकलता। अतः उच्छ्वसित वायु के कुल आयतन से निःश्वसित वायु का आयतन कम होता है।

$\frac{\text{निःश्वसित कओ}^2}{\text{उच्छ्वसित ओ}}$ का अनुपात श्वसनाङ्क कहलाता है। यह आहार के स्वरूप पर निर्भर करता है।

(१) जब सरवशर्करा का शरीर में ओषजनीकरण होगा तब गृहीत ओष-जन तथा परित्यक्त कओ² का परिमाण समान होगा :—

$$C_6 H_{12} O_6 + 6O_2 = 6CO_2 + 6H_2O =$$
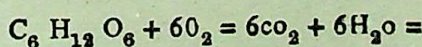
स्नेह तथा मांसतत्वों में उदजन के अनेक अणु ओषजनीकृत होते हैं, अतः कुछ ओषजन उन्हीं अणुओं के ओषजनीकरण में उपयुक्त हो जाता है अतः सब ओषजन निःश्वसित वायु में कओ² के रूप में नहीं आ पाता।

(२) स्नेहप्रधान आहार में $\frac{\text{कओ}^2}{\text{ओ}^2}$ $\frac{५७}{८०}$ = ·७ होता है :—

$$C_3H_5 (C_{18} H_{33}O_2)_3 + 80 O_2 = 57 Co_2 + 52H_2o$$

(३) मांसतत्व के आहार में $\frac{\text{कओ}^2}{\text{ओ}^2}$ $\frac{६३}{७७}$ = ·८२ होता है :—

$$C_{72} H_{112} N_{18} OS + 77 O_2 = 63 Co_2 + 9 Co (NH_2)_2 + 38 H_2 o + So_3$$
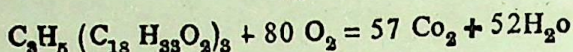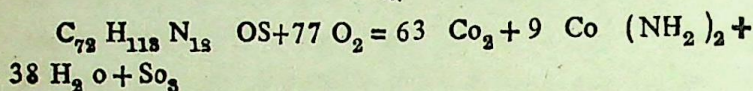
आहारद्रव्यों की भिन्नता से श्वसनाङ्क में भिन्नता होने पर भी साधारणतः मिश्रित आहार करने पर एक व्यक्ति में स्वाभाविक अवस्थाओं में श्वसनाङ्क $\frac{४५}{५०}$ = ०·९ होता है।

तृतीय अध्याय

वायुस्तन्त्रयन्त्रधरः

नाडीसंस्थान

नाडीसंस्थान मुख्यतः नाडीकोषाणु तथा उनसे निकले हुए प्रवर्धनों से बना है। इसके दो भाग होते हैं :—

(१) मस्तिष्क–सौषुम्निक संस्थान (Cerebrospinal System)

(२) सांवेदनिक संस्थान (Sympathetic System)

मस्तिष्क–सौषुम्निक संस्थान में सुषुम्नाकाण्ड, मस्तिष्क और उनसे संबद्ध नाड़ियों तथा नाडीगण्डों का समावेश होता है।[1] इसके भी पुनः दो विभाग किये गये हैं :—

(१) केन्द्रीय नाडीसंस्थान (Central Nervous System)—इसमें मस्तिष्क और सुषुम्ना आते हैं।

(२) प्रान्तीय नाडीसंस्थान (Peripheral nervous system)—इसमें मस्तिष्कीय तथा सौषुम्निक नाड़ियों तथा उनके मार्ग में स्थित नाडीगण्डों का समावेश होता है।

नाडीसंस्थान का मुख्य कार्य शरीर की विभिन्न प्रक्रियाओं की सहयोगिता के आधार पर नियन्त्रित और सञ्चालित करना है। शरीर में दो प्रकार की क्रियायें होती हैं—परिसरीय (Somatic) और आशयिक (Splanchnic)। परिसरीय क्रियाओं के द्वारा प्राणी बाह्य वातावरण के सम्पर्क में रहता है और उसके अनुकूल अपने को बनाये रखने में समर्थ होता है। यह कार्य त्वचा, पेशियों, सन्धियों और कण्डराओं में स्थित संज्ञावह प्रान्तभागों के द्वारा संपन्न

---

१. प्राणाः प्राणभृतां यत्र श्रिताः सर्वेन्द्रियाणि च।
यदुत्तमाङ्गमङ्गानां शिरस्तदभिधीयते ॥—च० सू० १७

'शिरसि इन्द्रियाणि इन्द्रियप्राणवहानि च स्रोतांसि सूर्यमिव गभस्तयः संश्रितानि।'—च० सि० ९

'शिरस्यभिहते मन्यास्तम्भार्दितचक्षुर्विभ्रममोहवेष्टनचेष्टानाशकासश्वासहनुग्रहमूकगद्गदत्वाक्षिनिमीलनगण्डस्पन्दनजृम्भणलालास्रावस्वरहानिवदनजिह्मत्वादीनि।—च० सि० ९

होता है। इन क्रियाओं का नियमन मस्तिष्क-सौषुम्निक संस्थान से होता है। आशयिक क्रिया में शरीर की जीवनीय क्रियायें यथा रक्तसंवहन, श्वसन, पाचन तथा मलोत्सर्ग से सम्बन्धित होती है। इन क्रियाओं का नियमन सांवेदनिक संस्थान से होता है।

केन्द्रीय नाडीमण्डल का निर्माण

मस्तिष्क और सुषुम्ना का निर्माण दो प्रकार की वस्तुओं से हुआ है जिन्हें शुभ्रवस्तु (White matter) और धूसर वस्तु (Grey matter) कहते हैं।

श्वेत वस्तु सुषुम्ना के बाहरी भाग में तथा मस्तिष्क के भीतरी भाग में रहती है। इसमें सूक्ष्म मेदस नाडीसूत्र होते हैं जिनके साथ साथ कुछ सामान्य संयोजक तन्तु भी होता है। धूसर वस्तु में नाडीकोषाणु होते हैं। यह मस्तिष्क के बाह्य भाग तथा सुषुम्ना के आभ्यन्तर भाग में रहती है।

सुषुम्नाकाण्ड (Spinal cord)

यह स्थूल कमलनाल के आकार का लम्बा और गोल सुषुम्नाशीर्षक से प्रारम्भ होकर $\frac{2}{3}$ कशेरुनलिका में रहता है।[1] यह लगभग १८ इञ्च लम्बा है और इसका भार २$\frac{1}{2}$ तोला है। यह सामने और पीछे की ओर चपटा (सामने की ओर अधिक चपटा) होता है। यह ऊपर की ओर करोटि के महाविवर से निकल कर द्वितीय कटिकशेरुका तक जाता है जहाँ यह कोणाकार प्रान्तभाग में समाप्त हो जाता है. इसे सुषुम्नामूलिका (Conus medullaris) कहते हैं। यहाँ से एक पतला सूत्रवत भाग निकल कर अनुत्रिक तक जाता है जिसे मूलसूत्रिका (Filum Terminale) कहते हैं। यह २० सेण्टीमीटर लम्बा होता है और अनेक नाडी-गुच्छों से घिरा होने के कारण घोड़े की पूँछ के समान दिखाई देता है। इसे तुरङ्गपुच्छिका (Cauda equina) कहते हैं। द्वितीय त्रिककशेरुक तक मूलसूत्रिका बराशिका (Duramater) नामक सुषुम्नावरण के भीतर रहती है और उसके बाद अनुत्रिक तक आवरणरहित होकर अस्थ्यावरण से लगी रहती है। ऊपरी भाग को उत्तरा मूलसूत्रिका (Internal Filum) और निचले भाग को अधरा मूलसूत्रिका (external Filum) कहते हैं।

ग्रीवा तथा कटिप्रदेश में यह कुछ स्थूल हो जाता है। इसे क्रमशः अनुग्रीविका स्फीति (Cervical enlargement) तथा अनुकटिका स्फीति (Lumbar enlargment) कहते हैं। प्रथम स्फीति तृतीय ग्रैवेयक से द्वितीय वक्षीय कशेरुक तक तथा द्वितीय स्फीति ९वीं वक्षीय कशेरुक से सुषुम्नामूलिका तक होती है।

---

१. सुषुम्ना पृष्ठवंशेऽस्थि मेरुमध्ये परिस्थिता—शारदातिलक

गर्भावस्था में सुषुम्नाकाण्ड समस्त कशेरुनलिका में होता है, किन्तु नलिका की वृद्धि होने से वह ऊपर की ओर खिंच जाता है। इसके कारण उससे निकलने वाले नाडीसूत्रों की दिशा में अन्तर आ जाता है। ग्रैवेयक प्रदेश में नाडीसूत्रों की दिशा अनुप्रस्थ होती है, किंतु वक्षप्रदेश में तिर्यक् तथा त्रिक-प्रदेश में नीचे की ओर हो जाती है। त्रिकप्रदेश में तुरंगपुच्छिका बनने का यही कारण है।

सुषुम्नाकाण्ड के आवरण

सुषुम्नाकाण्ड को चारों ओर से ढँकने वाले तीन आवरण होते हैं—बाह्य, मध्यम और आभ्यन्तर। इन्हें क्रमशः वराशिका (Duramater), नीशारिका (Arachnoid) और चीनांशुक (Piamater) कहते हैं। ये आवरण रिक्त स्थानों के द्वारा एक दूसरे से पृथक् रहते हैं। पृष्ठवंश और वराशिका के बीच का अवकाश परिवराशिक (Epidural space) कहलाता है। इसमें सिराजाल और मेद भरा रहता है। इसी प्रकार वराशिका और नीशारिका के बीच का अवकाश अन्तर्वराशिक (Subdural Space) कहलाता है। इसमें लसीका भरी रहती है। नीशारिका और चीनांशुक के मध्य का अवकाश ब्रह्मोदकुल्या (Subarachnoid Cavity) कहलाता है जिसमें ब्रह्मवारि (Crebrospinal Fluid) रहता है। इसी अवकाश के बीच में सुषुम्नाकाण्ड अवलम्बित होती है। चीनांशुक पतला और सुषुम्नाकाण्ड से बिलकुल सटा हुआ रहता है।

बाह्य रचना

सुषुम्नाकाण्ड अग्रिमान्तरा (Anteromedian) तथा पश्चिमान्तरा (Posteromedian) नामक दो सीताओं के द्वारा दो पिण्डार्धों में विभक्त है। इनमें अग्रिमान्तरा सीता अधिक गहरी और स्पष्ट होती है। ये दोनों पिण्डार्ध बीच में सेतुभाग से मिले रहते हैं। सेतुभाग आगे की ओर नाडीसूत्रों तथा पीछे की ओर धूसर वस्तु से बना होता है (Anterior & Posterior or White & Grey Commisures)। प्रत्येक पिण्डार्ध दो लम्बी सीताओं, जिन्हें पार्श्वपश्चिमान्तरा (Posterolateral) तथा पार्श्व अग्रिमान्तरा (Anterolatersl) कहते हैं, के द्वारा पूर्व, पश्चिम तथा पार्श्व तीन भागों में विभक्त होता है। पूर्व और पार्श्व भागों के बीच से सौषुम्निक नाडियों के पूर्व मूल तथा पश्चिम और पार्श्व भागों के बीच से पश्चिम मूल निकलते हैं। ऊर्ध्ववक्षीय और ग्रैवेयक प्रदेश में एक और हलकी सीता होती है जिसे पश्चिम-गुच्छान्तरीया (Postero-intermsdiate Fissure) कहते हैं। इसके द्वारा पश्चिम भाग बाह्य और आभ्यन्तर दो विभागों में बँट जाता है।

आभ्यन्तर रचना

सुषुम्नाकाण्ड धूसर और शुभ्रवस्तु से बना है। धूसर वस्तु भीतर की ओर दो अर्धचन्द्राकार भागों में व्यवस्थित है जो परस्पर शृङ्गसेतु के द्वारा मिले रहते हैं। उनके मध्य में एक नलिका होती है जिसे ब्रह्ममार्ग (Central canal) कहते हैं। इसमें ब्रह्मवारि रहता है और यह चिक्रिणी (Substantia gelatinosa centralis) नामक धूसरवस्तुमय भाग से आवृत रहता है। यह ब्रह्ममार्ग समस्त सुषुम्नाकाण्ड में व्याप्त है और ऊपर की ओर सुषुम्नाशीर्षक में स्थित प्राणगुहा में खुलता है।

अर्धचन्द्राकार धूसर वस्तु के परस्पर मिलने से दो आगे की ओर तथा दो पीछे की ओर शृंगवत् भाग दिखाई पड़ते हैं। इन्हें क्रमशः अग्रिम शृङ्ग (Antior cornu or horns) तथा पश्चिम शृंग (Posterior horns) कहते हैं। इन दोनों को मिलाने वाला धूसरवस्तु का भाग जो ब्रह्ममार्ग के पीछे की ओर होता है पश्चिम शृङ्गसेतु (Posteriorior grey commisure) तथा जो आगे की ओर होता है अग्रिम शृङ्गसेतु (Anterior grey commisure) कहलाता है। अग्रिम शृङ्गों को मिलाने वाला शुभ्रवस्तु का भाग 'सितसेतु' (Anterior white commisure) कहलाता है। इनमें अग्रिम शृङ्ग विशेषकर चेष्टावह तथा पश्चिमशृङ्ग संज्ञावह नाड़ियों का उद्गम स्थान है।

शुभ्र वस्तु

यह चेत्रवस्तु से परिवृत अनुकस्थ नाड़ीसूत्रों से बना है। ये नाड़ीसूत्र अनेक गुच्छों में विभक्त रहते हैं जिन्हें नाड़ीतन्त्रिका (Tracts or columns) कहते हैं। सुषुम्नाकाण्ड के विभिन्न विभागों में निम्नांकित नाड़ीतन्त्रिकायें होती हैं।

पूर्वभाग

१. सरला मुकुलतन्त्रिका (Direct Pyramidal tract)
२. विषाणिका तन्त्रिका (Vestibulo-spinal tract)
३. अग्रिम दीर्घगुच्छ (Anterior ground bundle)
४. अग्रिम आज्ञाभिगा तन्त्रिका (Anterior spinothalamic tract)
५. सीताधारिका तन्त्रिका (Sulcomarginal tract)

पार्श्वभाग

१. कुटिला मुकुलतन्त्रिका (Crossed Pyramidal tract)

७. शोणजा तन्त्रिका (Rubrospinal tract)
८. पार्श्वपूर्वा तन्त्रिका (Tectospinal tract)
९. लवली-सौषुम्निकी तन्त्रिका (Bundle of Helweg)
१०. पार्श्वान्तिका तन्त्रिका (Dorsal spino-cerebellar tract)
११. पार्श्वमध्या तन्त्रिका (Ventral spino-cerebellar tract)
१२. आज्ञाभिगा तन्त्रिका (Lateral spinothalamic tract)
१३. पृष्ठपार्श्विकी तंत्रिका (Dorsilateral tract)
१४. पूर्वपार्श्विकी तंत्रिका (Spino-tectal tract)
१५. पार्श्विक दीर्घगुच्छ (Lateral ground bundle)

पश्चिम भाग

१६. पश्चिमपार्श्विकी तंत्रिका (Column of Goll or Fasciculus gracilis)
१७. पश्चिमान्तिका तंत्रिका (Column of Burdach or Fasciculus cuneatus)
१८. अंकुशतंत्रिका (Comma tract)
१९. पटलाधारिका तंत्रिका (Septomarginai bundle)
२०. अनुवृत्त गुच्छ (Oval bundle)
२१. पश्चिम दीर्घगुच्छ (Posterior ground bundle)

इन तंत्रिकाओं को दिशा के अनुसार दो वर्गों में विभाजित किया गया है :—

(क) आरोही (Tracts of ascending degeneration)
(ख) अवरोही (Tracts of descending degeneration)

निम्नांकित तंत्रिकायें आरोही होती हैं :—

१. पश्चिमपार्श्विकी तंत्रिका २. पश्चिमान्तिका तंत्रिका
३. आज्ञाभिगा तंत्रिका (पूर्वा) ४. आज्ञाभिगा तंत्रिका (पार्श्वीया)
५. पूर्वपार्श्विकी तंत्रिका ६. अनुवृत्त गुच्छ ७. पटलाधारिका तंत्रिका
८. पृष्ठपार्श्विकी तंत्रिका ९. पार्श्वान्तिका तंत्रिका १०. पार्श्वमध्या तंत्रिका

निम्नलिखित तंत्रिकायें अवरोही होती हैं :—

१. सरला मुकुलतंत्रिका २. कुटिला मुकुलतंत्रिका ३. विषाणिका तन्त्रिका
४. लवलीसौषुम्निकतंत्रिका ५. शोणजा तंत्रिका ६. पार्श्वपूर्वा तन्त्रिका
७. अंकुशतंत्रिका ८. पटलाधारिका तंत्रिका ९. अनुवृत्त गुच्छ

निम्नांकित तालिका से सुषुम्नाकाण्ड की नाडीतंत्रिकाओं की स्थिति, उत्पत्ति तथा क्रियाओं का स्पष्ट परिचय मिलेगा :—

आरोही नाड़ीतन्त्रिकायें

नाम	स्थिति	उत्पत्ति	मार्ग और अन्त	कार्य
१. पश्चिमीपार्श्विकी तन्त्रिका	पश्चिमान्तरा सीता के पार्श्व में	त्रिक, कटि तथा निम्न-वक्षप्रदेश के पश्चिम मूलों के गण्डकोषाणुओं से	पहले सम्पूर्ण पश्चिम भाग में रहती है किन्तु ऊपर जाने पर कुछ पार्श्व में हट जाती है। इसका अन्त सुषुम्नाशीर्षक की दशाकन्दिका (Nucleus gracilis) में होता है।	स्पर्शनि[illegible]य तथा पेशी-संज्ञाओं, पीड़ा तथा ताप की संज्ञाओं का शरीर के अधोभाग से मस्तिष्क तक वहन
२. पश्चिमान्तिका तन्त्रिका	पश्चिमपार्श्विकी तन्त्रिका के बाहर की ओर	ऊर्ध्ववक्ष तथा ग्रैवेयक प्रदेश के पश्चिम मूलों के गण्डकोषाणुओं से	सुषुम्नाशीर्षक की कोण-कन्दिका (Nucleus cuneatus) में समाप्त होती है।	शरीर के ऊपरी भाग से स्पर्शनिर्णय, पेशीसंज्ञा, पीड़ा एवं ताप की संज्ञाओं का मस्तिष्क तक वहन।
३. आज्ञाभिगा तन्त्रिकाएँ तथा सुषुम्नाकलायिका तन्त्रिका	पार्श्वमध्या तन्त्रिका के भीतर की ओर	विपरीत पार्श्व के पश्चिम शृङ्ग के कोषाणुओं से	ऊपर की ओर जाकर आज्ञाकन्द तथा कलायिका चतुष्टय में समाप्त होती हैं।	विपरीत पार्श्व की त्वचा से पीड़ा, शीत, उष्ण तथा स्पर्श संज्ञाओं का वहन।

४. पार्श्वान्तिका तन्त्रिका	कुटिला मुकुल तन्त्रिका के बाहर की ओर ग्रैवेयक और वक्षीय प्रदेश में	उसी पार्श्व की पृष्ठ-कन्दिका से	अधरवृन्तिका में प्रविष्ट होकर धम्मिल्लक में समाप्त होती है।	संज्ञारहित उत्तेजनाओं को त्वचा और पेशियों से धम्मिल्लक तक ले जाना
५. पार्श्वमध्या तन्त्रिका	ग्रैवेयक तथा वक्ष प्रदेश में पूर्व भाग की धारा के पास एक गुच्छ के रूप में	दोनों पार्श्वों की पृष्ठ-कन्दिका से	(क) कुछ सूत्र उत्तर-वृन्तिका से होकर उसी पार्श्व के धम्मिल्लक में समाप्त होती है। (ख) कुछ सूत्र मध्य-वृन्तिका से होकर विपरीत पार्श्व के धम्मिल्लक में समाप्त होती हैं।	"
६. पृष्ठपार्श्विकी तन्त्रिका	पश्चिमश्रृङ्ग के अग्र भाग पर छोटे वृत्त गुच्छ के रूप में	पश्चिम मूलों के गण्ड कोषाणुओं से ह्रस्व शाखाओं के रूप में	पश्चिम श्रृङ्ग के कोषाणुओं में समाप्त होती है।	प्रत्यावर्तित क्रिया
७. पटलाधारिका तन्त्रिका और ८. अनुवृत्त गुच्छ	पश्चिमान्तरा सीता के निकट	सुषुम्ना के धूसर वस्तु के कोषाणुओं से	सुषुम्नाकाण्ड के धूसर वस्तु के कोषाणुओं के चारों ओर (ऊर्ध्व या अधःस्तर में)	सुषुम्नाकाण्ड के विभिन्न खण्डों का संयोजन

अवरोही नाड़ीतन्त्रिकायें

नाम	स्थिति	उत्पत्ति	मार्ग और अन्त	कार्य
१. कुटिला मुकुल-तन्त्रिका	पश्चिम शृंग के बाहर पार्श्वभाग में	(क) विपरीत पार्श्व के मस्तिष्क के चेष्टाक्षेत्र के मुकुल कोषाणुओं से (ख) कुछ सूत्र उसी पार्श्व के मुकुल कोषाणुओं से	पूर्व शृङ्ग के कोषाणुओं में	इन सूत्रों से ऊर्ध्व चेष्टावह मार्ग बनता है जिससे ऐच्छिक चेष्टा के वेग पूर्व शृङ्ग के कोषाणुओं तक पहुंचते हैं।
२. सरला मुकुल-तन्त्रिका	पूर्व भाग में अग्रिमान्तरा सीता के पार्श्व में	उसी पार्श्व के चेष्टावह मुकुल कोषाणुओं से	पूर्व शृङ्गसेतु के द्वारा पूर्वशृङ्गकोषाणुओं में पहुंच कर समाप्त।	"
३. विषाणिका तन्त्रिका	अग्रिमान्तरा सीता के पार्श्व में पूर्व तथा पार्श्वभाग के किनारे तक	डीटर की कन्दिका (Deiters nucleus) से।	पूर्वशृङ्गीय कोषाणुओं में	सौपुम्निक चेष्टावह कोषाणुओंका शुम्बिकी कन्दिका से कार्यमूलक संयोजन तथा धम्मिल्लक के नाड़ीवेगोंको पूर्वशृङ्गीय कोषाणुओं तक पहुंचाना।

४. पार्श्वपूर्वा तन्त्रिका	श्रोणजा तन्त्रिका के सामने	विपरीत पार्श्व की उत्तरकलायिका से	पूर्वश्रृङ्गीय कोषाणुओं में	इच्छिसम्बन्धी प्रत्यावर्तित क्रियाओं का चेष्टावहन ।
५. श्रोणजा तन्त्रिका	कुटिला मुकुलतन्त्रिका के आगे	विपरीत पार्श्व के मध्य-मस्तिष्क की श्रोण-कन्दिका से	पूर्वश्रृङ्गीय कोषाणुओं में	उसी पार्श्व के धम्मिल्लक तथा राजिलपिण्ड से पूर्व श्रृङ्गीय कोषाणुओं तक चेष्टावेग का वहन
६. लवलीसौषुम्निक तन्त्रिका	ग्रीवाप्रदेश के पार्श्वभाग में त्रिकोणाकार	(क) अधरलवली कन्दिका के कोषाणुओं में (ख) सुषुम्ना की धूसर वस्तु के कोषाणुओं से	(ख) लवलीसूत्र नीचे की ओर आकर सुषुम्ना की धूसर वस्तु में समाप्त (ख) सौषुम्निक सूत्र ऊपर जाकर लवलीकन्दि-काओं में समाप्त	सौषुम्निक धम्मिल्लक नाड़ी-वेगों के लिए माध्यम सूत्र
७. अंकुश तन्त्रिका	पश्चिमपार्श्विकी तथा पश्चिमान्तिका तन्त्रि-काओं के बीच में अण्डा-कार गुच्छ	सौषुम्निक नाड़ियों के पश्चिम मूलों के नाड़ी-गण्डों से	नीचे की ओर उतर कर पश्चिमश्रृंगीय कोषाणुओं में समाप्त	प्रत्यावर्तित क्रिया
८. पटलाधारिका तन्त्रिका तथा ९. अनुवृत्त गुच्छ	पश्चिमान्तरा सीता के निकट	सुषुम्ना की धूसर वस्तु के कोषाणु से	सुषुम्ना की धूसर वस्तु के कोषाणुओं से ऊपर या नीचे के प्रदेश में	सुषुम्ना के विभिन्न खण्डों का संयोजन

धूसर वस्तु

सुषुम्नाकाण्ड की धूसर वस्तु मुख्यतः नाड़ीकोषाणुओं तथा उनके अक्षतन्तुओं और दन्द्रों से बनी होती है। अधिकांश नाड़ीकोषाणु विभिन्न समूहों में व्यवस्थित होते हैं जिनमें निम्नांकित मुख्य हैं :—

१. अग्रिमश्रृङ्ग-कोषाणु (Anterior horn cells)—ये पूर्व और पश्चिम दो समूहों में व्यवस्थित होते हैं जिन्हें अग्रिमान्तरीय और पश्चिमान्तरीय कहते हैं।

२. पृष्ठकन्दिका (Dorsal nucleus or clarke's column cells)—यह सप्तम ग्रैवेयक से द्वितीय कटिकशेरुक के प्रदेश में पाई जाती है।

३. पार्श्विक कोषाणु (Intermedio-lateral group)—ये कोषाणु अग्रिमश्रृङ्ग-कोषाणुओं की अपेक्षा आकार में छोटे होते हैं और पार्श्विक भाग की धूसरवस्तु में बाहर की ओर रहते हैं। ये समस्त वक्षप्रदेश तथा कुछ ग्रैवेयक प्रदेश में भी पाये जाते हैं।

४. मध्यदेशीय कोषाणु (Middle column cells)—ये धूसरवस्तु के मध्यभाग में रहते हैं।

५. पश्चिमश्रृङ्ग-कोषाणु (Posterior horn cells)—ये विभिन्न आकार के कोषाणु समस्त पश्चिम श्रृङ्ग में बिखरे हुये होते हैं।

६. संयोजक कोषाणु (Golgi type II cells)—ये पश्चिम श्रृङ्ग की धूसरवस्तु में पाये जाते हैं और सुषुम्ना के विभिन्न भागों को मिलाने का कार्य करते हैं।

सौषुम्निक नाड़ियाँ

सुषुम्नाकांड के अग्रिम और पश्चिम भाग से नाड़ीसूत्र निकलते हैं। ये ही सौषुम्निक नाड़ियों के मूल भाग हैं। पश्चिम नाड़ीमूल में ग्रंथि के समान फूला हुआ भाग होता है जिसे नाड़ीगण्ड (Ganglion) कहते हैं। इसके आगे जाकर अग्रिम और पश्चिम मूल परस्पर मिल जाते हैं जिसमें सौषुम्निक नाड़ी बनती हैं। ये नाड़ियाँ कुल ३१ जोड़ी होती हैं। यथा ग्रीवा में ८, पृष्ठ में १२, कटि में ५, त्रिक में ५ अनुत्रिक में १।

ब्रह्मवारि (Cerebro-spinal fluid)

यह सुषुम्ना के नीशारिका और चीनांशुक नामक आवरणों के मध्य अवकाश में भरा रहता है और सुषुम्नाकाण्ड को चारों ओर से घेरे रहता है। इसका स्राव मस्तिष्क की गुहाओं में वहाँ की रक्तवाहिनियों को ढँकने वाली आवरक कला से होता है।

यह एक वर्ण–गन्धरहित पारदर्शक द्रव है । यह इसका क्षारीय तथा इसका विशिष्ट गुरुत्व १·००७ (१·००६ से १·००९ तक) है । इसका रासायनिक संघटन इस प्रकार है :—

जल ९८.७ प्रतिशत
कोलेस्टरीन ०·२ ,,
खनिज लवण
(मुख्यतः सोडियम और पोटाशियम क्लोराइड) १·० प्रतिशत
शर्करा ०·०५ से ०·०८ प्रतिशत तक
प्रोटीन और यूरिया ०·०२ प्रतिशत
कुछ लसीकाणु

ब्रह्मवारि के कार्य

(१) यह मस्तिष्क और सुषुम्नाकाण्ड पर समान दबाव रखता है और उनकी कोमल रचनाओं की रक्षा करता है ।

(२) यह नाड़ीतन्तु का पोषण करता है ।

(३) यह करोटि के अन्तर्गत वस्तुओं का नियमन करता है अर्थात् जब रक्त का आयतन बढ़ जाता है तब उसकी मात्रा कम हो जाती तथा जब रक्त की मात्रा कम हो जाती है तब इसकी मात्रा बढ़ जाती है ।

ब्रह्मवारि तथा रक्तमस्तु के रासायनिक उपादानों का तुलनात्मक कोष्ठक

	रक्तमस्तु	ब्रह्मवारि
	मिलीग्राम प्रति १०० सी.सी.	मिलीग्राम प्रति १०० सी.सी.
प्रोटीन	६३००–८५००	१६–३८
आमिषाम्ल	४·५–९	१·५–३
क्रियेटिनीन	०·७–२·०	०·४५–२·२०
यूरिक अम्ल	२·९–६·९	०·५–२·८
कोलेष्टरोल	१००–१५०	अनुपस्थित
यूरिया	२०–४२	५–३९
शर्करा	७०–१२०	४५–८०
क्लोराइड (सोडियमक्लोराइड)	५६०–६३०	७२०–७५०
निरिन्द्रिय फास्फेट	२–५	१·२५–२·०
बाइकार्बनेट	४०–६०	४०–६०
उदजन अणु	७·३५–७·४०	७·३५–७·४०
सोडियम	३२५	३२५
पोटाशियम	२०	१२–१७
मैगनीशियम	१–३	३–३·६
खटिक	९·०–११·५	४·०–७·०
गुग्धाम्ल	१०–३२	४–२७

निर्माण

मञ्जरिका (Choroid plexus) का पृष्ठ अर्धप्रवेश्य कला का कार्य करता है और ब्रह्मवारि का निर्माण इसीके द्वारा प्रसरण की भौतिक प्रक्रिया से होता है। इसका व्यापनभार तथा उद्‌जन—अणुकेन्द्रीभवन रक्तमस्तु के समान ही हैं।

ब्रह्मवारि का दबाव लेटी हुई स्थिति में १०० से १५० मि. मी. (जल का) होता है तथा बैठने पर २५० मि० मी० तक हो जाता है। इसकी मात्रा युवावस्था में १०० से १५० सी. सी. होती है। गुहाओं में इसका संवहन होता है और इसका ⅘ भाग मस्तिष्क में चला जाता तथा ⅕ भाग सुषुम्नाकाण्ड में रहता है। स्वभावतः ब्रह्मवारि का सिरासरिताओं के रक्तप्रवाह में शोषण हो जाता है, किन्तु जब इसमें अल्ब्यूमिन होता है तो इस शोषण में बाधा होती है जिससे द्रव संचित होने लगता है और उसका दबाव बढ़ जाता है। ऐसा मस्तिष्कावरणशोथ में होता है।

मस्तुलुङ्गपिण्ड (Brain)

मस्तुलुङ्गपिण्ड के तीन विभाग किये गये हैं :—

१. अग्रिम मस्तुलुङ्ग (Fore-brain)—इसमें आज्ञाकन्द (Thalamus) राजिलपिण्ड (Corpus Striatum) तथा मस्तिष्क[1] (Cerebrum) सम्मिलित हैं।

२. मध्यम मस्तुलुङ्ग (Mib·-brain)—इसमें कलायिका-चतुष्टय (Corpora Quadrigemina) तथा मस्तिष्कमृणालक (Cerebral peduncles) होते हैं।

३. पश्चिम मस्तुलुङ्ग (Hind brain)—इसमें सुषुम्नाशीर्षक (Medulla oblongata), उष्णीषक (Pons) तथा धम्मिलक (Cerebellum) आते हैं।

पश्चिम मस्तुलुङ्ग

सुषुम्नाशीर्षक :—यह लगभग १ इञ्च लम्बा और मुकुलाकार है जो ऊपर की ओर अधिक चौड़ा होता है। अग्रिमान्तरा और पश्चिमान्तरा सीता के द्वारा सुषुम्नाकाण्ड के समान दो अर्धभागों में विभक्त है। प्रत्येक अर्धभाग पुनः

---

१. 'मूर्धानमस्य संसीव्याथर्वा हृदयं च यत्।
मस्तिष्कादूर्ध्वः प्रैरयत् पवमानोऽधिशीर्षतः।' —अथर्व० १०-२-२६

दो सीताओं के द्वारा तीन विभागों में बँटा है। पूर्वभाग, जिसे मुकुलिका (Pyramid) कहते हैं, अग्रिमान्तरा और अग्रिमपार्श्वगा सीताओं के बीच में रहता है। पार्श्वभाग अग्रिमपार्श्वगा तथा पश्चिमपार्श्वगा सीताओं के बीच में स्थित है, जहां से कण्ठरासनी, प्राणदा तथा
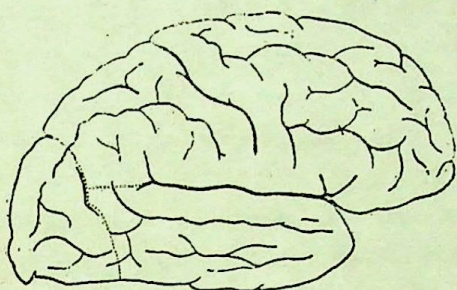
मस्तुलुंग-पिण्ड

ग्रीवापृष्ठगा नाड़ियाँ निकलती हैं। इसके ऊपरी भाग में एक अण्डाकार उठा हुआ भाग है जिसे लवलिका (Olivary body) कहते हैं। पश्चिम भाग ९ वीं, १० वीं ११ वीं शीर्षण्य नाड़ियों के सूत्रों तथा पश्चिमान्तरा सीता के बीच में रहता है। यह सीता ऊपर की ओर दो में विभक्त होकर प्राणगुहा के अधरार्ध की सीमा बनाती है। पश्चिम भाग के निचले हिस्से में पश्चिमान्तिका और पश्चिमपार्श्विकी नामक दो नाड़ीतन्त्रिकायें होती हैं जो ऊपर जाकर दो उत्सेधों में समाप्त हो जाती हैं। इन्हें क्रमशः दशाचूडिका (Clava) और कोणचूडिका (Cuneate tubercle) कहते हैं। यह उत्सेध उसके भीतर रहने वाले धूसरवस्तुसमूह के कारण होते हैं जिन्हे क्रमशः दशाकन्दिका और कोणकन्दिका कहते हैं। यहीं पर उपर्युक्त दोनों उत्सेधों के अतिरिक्त एक तृतीय उत्सेध होता है जिसे पोषणक वृन्तिका (Tuberculum cinerium) कहते हैं। यहाँ पञ्चम शीर्षण्य नाड़ी के संज्ञावह सूत्र समाप्त होते हैं। पश्चिम भाग का ऊपरी हिस्सा अधरवृन्तिका (Restiform body) बनाता है जो प्राणगुहा के तल तथा कण्ठरासनी और प्राणदा नाड़ियों के मूलों के बीच में रहती है। आगे चल कर यह धम्मिल्लक में प्रविष्ट हो जाती है और उसकी अधरवृन्तिका बनाती है।

शुभ्र वस्तु

इसकी शुभ्रवस्तु में निम्नांकित नाड़ीतन्त्रिकायें पाई जाती हैं :—

(क) पूर्वभाग :—

१. मुकुलिका

(ख) पार्श्वभाग :—

१. पार्श्वमध्या तन्त्रिका । २. आज्ञाभिगा तन्त्रिका ।
३. पार्श्वान्तिका तंत्रिका । ४. कोणगा तन्त्रिका ।
५. पश्चिम अनुलम्ब गुच्छ ।

(ग) पश्चिमभाग :—

१. पश्चिमान्तिका तंत्रिका । २. पश्चिमपार्श्विकी तंत्रिका ।

धूसर वस्तु

इसमें कोणकन्दिका तथा वृक्काकन्दिका और दन्तुरकन्दिका ये तीन कन्दिकायें मुख्य होती हैं। साथ ही इसमें प्रत्यावर्तित क्रिया के अनेक केन्द्र होते हैं जिनका जीवन की रक्षा के लिए अत्यधिक महत्त्व है—यथा प्रत्यावर्तित क्रियाओं में लालास्राव, चूषण, चर्वण, निगलना, वमन, कास, छींकना, निमेष तथा कनीनिका की गतियों के केन्द्र हैं तथा स्वतः जात क्रियाओं में हृदयमन्दक, रक्तवहसंचालक, श्वसन तथा स्वेदस्राव के केन्द्र हैं। इन केन्द्रों की उपस्थिति के कारण सुषुम्नाशीर्षक श्वसन, भाषण, हृदयक्रिया, निगरण, पाचन तथा सात्मीकरण की क्रियाओं पर नियन्त्रण करता है।

उष्णीषक (Pons)

यह पश्चिम मस्तिष्क का वह भाग है जो धम्मिल्लक के आगे और सुषुम्नाशीर्षक तथा मस्तिष्कमृणालकों के बीच में रहता है। बाहर की ओर यह उष्णीषकन्दिकाओं से उत्पन्न अनुप्रस्थ नाड़ीसूत्रों से बना है। प्रत्येक पार्श्व में ये सूत्र गुच्छ के रूप में होकर उसी पार्श्व के धम्मिल्लक में प्रविष्ट होते हैं। वे गुच्छ धम्मिल्लक की मध्यवृन्तिका कहलाते हैं। इन सूत्रों के द्वारा मस्तिष्क के बहिर्वस्तु के विभिन्न भागों से नाड़ीवेग आते हैं जिससे धम्मिल्लक मस्तिष्क के नियंत्रण में रहता है। इन उत्तानसूत्रों के नीचे गम्भीरसूत्र होते हैं।

इनके अतिरिक्त उष्णीषक की धूसरवस्तु में निम्नांकित शीर्षण्य नाड़ीकन्दिकायें होती हैं :—

१. पञ्चमी नाड़ीकन्दिका—१
२. षष्ठ नाड़ीकन्दिकायें—२
३. सप्तमी नाड़ीकन्दिका—१
४. श्रुतिनाड़ी की शम्बूकशाखा की कन्दिकायें—२
५. श्रुतिनाड़ी की तुम्बिका शाखा की कन्दिकायें—३

लघुमस्तिष्क या धम्मिल्लक (Cerebellum)

यह करोटि के पश्चिम महाखात में पश्चिम पिण्डिका के नीचे तथा सुषुम्नाशीर्षक के पीछे रहता है। इसके तीन भाग होते हैं—दो पार्श्व भाग और

एक मध्यभाग । पार्श्वभाग पक्षपिण्ड (Hemispheres) तथा मध्यभाग शलभिका (Vermis) कहलाता है। इसका भीतरी भाग प्राणगुहा की छत बनाता है। उत्तर, मध्यम तथा अधर वृन्तिकाओं (Superior, middle and inferior peduncles) के द्वारा यह मस्तिष्क, उष्णीषक तथा सुषुम्नाशीर्षक से सम्बद्ध रहता है। इसकी रचना मस्तिष्क के समान ही होती है। बाहर धूसरवस्तु, भीतर शुभ्रवस्तु तथा चार कन्दिकायें होती हैं। ये कन्दिकायें दो वर्गों में विभक्त हैं—आन्तरिक तथा पार्श्विक। आन्तरिक वर्ग में निम्नांकित तीन कन्दिकायें हैं :—

१. द्वारकन्दिका (Nucleus emboliformis)
२. वर्त्तुलकन्दिका (Nucleus globosus)
३. पटलकन्दिका (Nucleus fastigii)

पार्श्विक वर्ग में एक ही कन्दिका होती है जिसे दन्तुरकन्दिका (Dentate nucleus) कहते हैं। यह चारों कन्दिकाओं में सबसे बड़ी है और आकार में सुषुम्नाशीर्षक की लवलिका के समान है। इसमें एक अलिन्दभाग होता है जिसमें होकर नाड़ीसूत्र प्रविष्ट होते तथा बाहर निकलते हैं।

केन्द्रीय शुभ्रवस्तुसमूह के अतिरिक्त शुभ्रवस्तु नाड़ीसूत्रों से बना है जो तीनों वृन्तिकाओं के द्वारा बाहर से सम्बन्ध रखते हैं। ऊपर की ओर धम्मिल्लक जवनिका नामक कला से आवृत है।

मस्तिष्क के समान इसकी बहिर्वस्तु में भी तीन स्तर होते हैं—बाह्य, मध्य और आभ्यन्तर। विशेषता केवल इतनी है कि धम्मिलक के प्रत्येक क्षेत्र में ये समान रूप से होते हैं, किन्तु मस्तिष्क के विभिन्न भागों में इनके वितरण में विभिन्नता होती है।

(क) बाह्यस्तर :—इसमें निम्नांकित रचनायें होती हैं :—

१. प्रकिण्वय कोषाणुओं के दन्द्र
२. कणयुक्त कोषाणुओं के अक्षतन्तु
३. आरोहीसूत्र
४. मञ्जूषाकोषाणु (Basket cells)
५. क्षेत्रवस्तु कोषाणु

(ख) मध्यस्तर :—इसमें प्रकिण्वय कोषाणु एवं स्तर में व्यवस्थित होते हैं।

(ग) आभ्यन्तर स्तर :—इसमें निम्नांकित रचनायें होती हैं :—

१. कणयुक्त कोषाणु

२. संयोजक कोषाणु (Cells of Golgi type II)

३. छेनबस्तु कोषाणु

धम्मिल्लक के कार्य

यदि कबूतर में धम्मिल्लक को निकाल दिया जाय तो वह खड़ा नहीं रह सकता और न चल ही सकता है। इसका कारण यह है कि शरीर के सन्तुलन से सम्बद्ध विभिन्न पेशियों का कार्य समुचित रीति से सहयोगिता के आधार पर नहीं हो पाता। अतः धम्मिल्लक का सम्बन्ध शरीरसन्तुलन से स्पष्टतः प्रतीत होता है। इसके कार्य के विषय में विद्वानों में चार मत प्रचलित हैं :—

१. धम्मिल्लक ऐच्छिक चेष्टाओं का सहयोगमूलक सामान्य केन्द्र है जो उनके समय और शक्ति का नियमन करता है। यह फ्लोरेन नामक विद्वान् का मत (Flouren's theory) है।

२. वीर मिचेल नामक विद्वान् ने बतलाया कि धम्मिल्लक को पृथक् कर देने से जो शरीरसन्तुलन नष्ट हो जाता है वह धीरे धीरे ठीक हो जाता है, किन्तु पेशियाँ दुर्बल रह जाती हैं जिससे उनमें श्रम शीघ्र उत्पन्न हो जाता है। इस आधार पर उनका मत है कि धम्मिल्लक पेशियों में बल और शक्ति प्रदान करता है। (Weir mitchell's theory)।

३. लुसियानी नामक विद्वान् ने बतलाया कि धम्मिल्लक के पृथक् करने से जो गतिसम्बन्धी विकार होते हैं वे क्षणिक होते हैं, केवल निम्नांकित तीन विकार स्थायी हो जाते हैं :—

१. पेशीदौर्बल्य (Asthenia)

२. पेशी के प्राकृत संकोच का नाश (Atonia)

३. अस्थैर्य (Astasia) तथा तज्जन्य कम्पन।

अतः इस आधार पर उसने धम्मिल्लक के तीन कार्य बतलाये हैं :—

१. पेशीसंकोच को बनाये रखना (Tonic function)

२. कार्य के समय पेशी को दृढ़ रखना (Static function)

३. कार्यकाल में पेशी को शक्तिशाली बनाये रखना (Sthenic function)

४. शरीर की विभिन्न पेशियों में सहयोगिता के आधार पर गति उत्पन्न करना जिससे शारीरिक उद्देश्यों की पूर्ति में सफलता हो। (Theory of Synergic control)

मध्यम मस्तुलुङ्गपिण्ड (Mid-brain)

अग्रिम तथा पश्चिम मस्तुलुङ्गपिण्ड को मिलाने वाला यह सबसे छोटा भाग

है। इसके दोनों पार्श्वों से तीसरी, चौथी, पांचवीं और छठी नाड़ियाँ निकलती हैं। इसके तीन मुख्य भाग हैं :—

१. पुरःपार्श्विक भाग—जिसमें दोनों मस्तिष्क-मृणालक होते हैं।

२. पश्चिम भाग—जिसमें फलायिका-चतुष्टय होते हैं।

३. आभ्यन्तर भाग—इसमें ब्रह्मद्वारसुरंगा (Aqueduct of sylvius) होती है।

मस्तिष्कमृणालक :—इसके तीन भाग होते हैं :—

(क) अग्रिमांश—यह श्वेत सूत्रों के समूह बना होता है। इसे बिसवितान (Crusta or pes) कहते हैं।

(ख) मध्यमांश—यह श्यामवर्ण होता है। इसे श्यामपत्रिका (Substantia nigra) कहते हैं। यह ऊपर की ओर आज्ञाकन्द के मूल तक फैला हुआ है।

(ग) पश्चिमांश—इसमें जालक वस्तु की अधिकता होती है, इसे कुथवितान (Tegmentum) कहते हैं। इसमें दो मुख्य कन्दिकायें तथा तीन तन्त्रिकायें होती हैं।

कन्दिकायें :—

(१) शोणकन्दिका (Red nucleus)—यह आगे की ओर होती है तथा इसमें उत्तरवृन्तिका के सूत्र समाप्त होते हैं।

कार्य—शोणकन्दिका के निम्नांकित कार्य हैं :—

(क) यह धम्मिल्लक-सौषुम्निक-सूत्रों के मार्ग में एक स्टेशन का कार्य करती है जिससे धम्मिल्लक का नियन्त्रण ऐच्छिक पेशियों पर होता है। इसकी उत्तेजना से भ्रमण आदि सोद्देश्य चेष्टायें होती हैं।

(ख) राजिलपिण्डों से सम्बन्ध होने के कारण उन सूत्रों के मार्ग में सहायक का कार्य करती है जिससे परतन्त्र पेशियों का स्वतःजात संयुक्त नियन्त्रण होता है।

(ग) शरीर की स्थिति को बनाये रखने के लिए आवश्यक प्रत्यावर्तित क्रियाओं का यह केन्द्र होता है।

(घ) शरीर की स्थिति नष्ट होने पर पुनः पूर्ववत् स्थिति में लाने का प्रयास यहीं से होता है।

(च) मस्तिष्करहित पेशी-जाड्य उत्पन्न करने में अत्यधिक योग देती है।

(२) जंघान्तरीय ग्रन्थि (Interpeduncular ganglion)—यह

दोनों मृणालकों के बीच में स्थित है। इसके सूत्र आज्ञाकन्दाधिपीठ से मिलते हैं।

तन्त्रिकायें :—

१. उत्तरवृन्तिका
२. वल्लिका (Fillit or lemniscus)
३. पश्चिमान्तरीय अनुदीर्घसूत्र (Posterior longitudinal bundle)

ब्रह्मद्वारसुरङ्गा

यह एक सङ्कीर्ण मार्ग है जो कुथवितान होकर ब्रह्महृदय से प्राणगुहा तक आता है। इसके चारों ओर धूसर वस्तु है जिसके आगे तृतीय नाड़ी की कन्दिका है।

कलायिका-चतुष्टय (Corpora quadrigemina)

यह मध्यम मस्तुलुङ्गपिण्ड के पश्चिम भाग में रहती हैं। ये छोटी और वर्तुलाकार होती हैं तथा परस्पर स्वस्तिकाकार सीता से विभक्त हैं। इनमें उत्तरकलायिकायें दर्शनेन्द्रिय तथा अधरकलायिकायें श्रवणेन्द्रिय से सम्बन्धित हैं। इनसे बाहर की ओर नाड़ीसूत्रगुच्छ निकलते हैं जिन्हें उत्तरालिका (Superior brachium) तथा अधरालिका (Inferior brachium) कहते हैं। इनके प्रांत भाग में दो उत्सेध होते हैं जिन्हें क्रमशः उत्तरा अधिपीठिका (External geniculate body) तथा अधरा अधिपीठिका (Internal geniculate body) कहते हैं।

अग्रिम मस्तुलुङ्गपिण्ड या मस्तिष्क (Cerebrum)

वर्णन की सुविधा के लिए मस्तिष्क के दो भाग किये गये हैं।—

१. मस्तिष्क गोलार्ध (Cerebral hemispheres)

२. मस्तिष्क मूलपिण्ड (Basal ganglia)

मस्तिष्कमूलपिण्ड :—

(क) आज्ञाकन्द (Thalamus)

यह मस्तिष्कमूलपिण्ड का प्रधान अवयव है। यह दो की संख्या में ब्रह्मगुहा के दोनों ओर रहते हैं। इनका आकार पक्षी के अण्डे के समान है। विकास की दृष्टि से ये मस्तिष्क के परिसरीय भाग से अतिप्राचीन हैं तथा निम्न वर्ग के प्राणियों में उच्च संज्ञाधिष्ठान केन्द्रों के रूप में कार्य करते हैं। इसके दो भाग होते हैं :—

१. पार्श्विकभाग (केन्द्राकारभूमि) (Lateral part)—इनमें दो कन्दिकायें होती हैं :—

(क) पश्चिमपार्श्विक कन्दिका (Pulvinar)—

यहाँ दृष्टिनाड़ी के सूत्र आते हैं और इसके अक्षतन्तु मस्तिष्क की पश्चिम पिण्डिका में जाते हैं ।

(ख) पार्श्विककन्दिका (Lateral nucleus)

यह वष्णिका के सूत्रों से सम्बद्ध है तथा त्वचा से गम्भीर संज्ञाओं का ग्रहण करता है ।

(२) अग्रिमान्तरीय भाग (संवेदनभूमि) (Anteromedial part)—
इसमें भी दो कन्द्रिकायें होती हैं :—

(क) अग्रिम कन्दिका—इसके अक्षतन्तु राजिलपिण्ड की शफरीकन्दिका तक जाते हैं ।

आन्तरी कन्दिका—यह घ्राण-नाड़ी के सूत्रों का ग्रहण करता है और इसके अक्षतन्तु शफरीकन्दिका और कन्दाधरिक भाग में जाते हैं ।

आज्ञाकन्द के कार्य

१. पार्श्विक कन्दिका शरीर के विभिन्न सूत्रों के मार्ग में स्टेशन का कार्य करती है और पश्चिमपार्श्विक कन्दिका दृष्टिनाड़ी के मार्ग में सहायक का कार्य करती है । ये सभी संज्ञायें मस्तिष्क के परिसरीय भाग में अपने-अपने केन्द्रों तक पहुँचने के पूर्व यहाँ व्यवस्थित हो जाती है ।

२. ये प्राथमिक संज्ञाविज्ञान केन्द्रों का प्रतिनिधित्व करते हैं । इसीलिए मस्तिष्क के परिसरीय भाग में स्थित संज्ञाकेन्द्रों का विकार होने पर भी ये संज्ञायें पूर्णतः नष्ट नहीं होतीं, किन्तु आज्ञाकन्दों के विकार में ये पूर्णतः नष्ट हो जाती हैं ।

३. संज्ञाओं में सुखदुःख की प्रतीति इन्हीं से होती है ।

४. यह भावावेशों की अभिव्यञ्जना का प्राथमिक केन्द्र है ।

५. चूँकि ये एक पार्श्व के धम्मिल्लक को दूसरे पार्श्व के मस्तिष्क से संबंधित करते हैं, इसलिये इनके द्वारा मस्तिष्क के परिसरीय भाग की ऐच्छिक चेष्टाओं का नियन्त्रण करते हैं ।

राजिलपिण्ड (Corpus striatum)

यह भी मस्तिष्क मूलपिण्ड का ही एक भाग है और इसके कोषाणु मस्तिष्क के परिसरीय भाग के कोषाणुओं के समान होते हैं । इस प्रकार विकास और कार्य की दृष्टि से यह मस्तिष्क गोलार्धों का भाग हो जाता है ।

यह एक बड़ा पिण्डाकार भाग है जिसमें दो धूसरवस्तु के समूह पाये जाते हैं :—भीतर की ओर शफरीकन्द (Caudate nucleus) तथा बाहर

की ओर शुक्तिकन्द (Lenticular nucleus)। ये दोनों भाग शुभ्रसूत्रों के एक गुच्छ से विभक्त हैं जिसे आन्तरकूर्च्चवल्लिका (Internal capsule) कहते हैं तथा जो मस्तिष्क के एक पार्श्व को शरीर के विपरीत पार्श्व से सम्बन्धित करता है। शुक्तिकन्द के दो भाग होते हैं, बड़ा भाग शुक्तिपीठ (Putamen) तथा छोटा भाग शुक्तिगर्भ (Globus pallidus) कहलाता है।

राजिलपिण्ड के कार्य

(१) मस्तिष्क के परिसरीय चेष्टाक्षेत्रों से मिल कर यह ऐच्छिक पेशियों की गति का नियन्त्रण करता है।

(२) पेशियों को सहयोगिता के आधार पर कार्य करने के लिए प्रस्तुत रखता है।

(३) शुक्तिकन्द नाड़ीवेगों को ऐच्छिक पेशियों तक पहुँचाता है जिससे स्वयंजात सम्बद्ध क्रियायें होती हैं यथा घूमना, दौड़ना इत्यादि।

(४) शरीरताप का नियमन करता है।

आन्तर कूर्च्चवल्लिका (Internal capsule)

यह श्वेत मेदस नाड़ीसूत्रों का एक गुच्छ है जो शुक्तिकन्द (बाहर की ओर) तथा शफरीकन्द और आज्ञाकन्द (भीतर की ओर) के बीच में स्थित रहता है। इसका आकार अर्धचन्द्र के समान है जिसका नतोदर भाग बाहर की ओर शुक्तिकन्द के सामने है। इसके तीन भाग होते हैं :—

१. अग्रिम भाग (Frontal part)

२. कोणभाग (Genu)

३. पश्चिम भाग (Occipital part)

धमनीकाठिन्य आदि के कारण रक्तभाराधिक्य होने पर यहाँ की धमनियाँ फट जाती हैं जिससे संन्यास, पक्षाघात रोग हो जाते हैं; विपरीत पार्श्व की पेशियों का पक्षाघात होता है तथा वामभाग में रक्तस्राव होने पर वाक्शक्ति का लोप भी होता है।

बाह्य कूर्च्चवल्लिका (External capsule)

यह शुभ्र सूत्रों का एक गुच्छ है जो शुक्तिकन्द के बाह्यपार्श्व में रहती है और मस्तिष्क के अनुप्रस्थ परिच्छेद में शुक्तिकन्द और कन्दपत्रिका के बीच में देखी जाती है। यह शुक्तिकन्द के पीछे और नीचे की ओर आन्तर कूर्च्चवल्लिका से मिली रहती है। इसके सूत्र प्रायः आज्ञाकन्द से उत्पन्न होते हैं।

मस्तिष्क गोलार्ध (Cerebral hemispheres)

मस्तिष्क अनुदीर्घा महासीता (Deep longitudinal fissure) के

द्वारा दो गोलार्धों में विभक्त होता है और ये दोनों गोलार्ध मस्तिष्कसेतु (Corpus callosum) नामक अनुप्रस्थ सेतुसूत्रों के गुच्छ के द्वारा परस्पर संबद्ध रहते हैं। प्रत्येक गोलार्ध के भीतर एक महागुहा है जिसे त्रिपथगुहा (Lateral ventricle) कहते हैं। ये गुहायें ब्रह्मगुहा में खुलती हैं।

प्रत्येक मस्तिष्क गोलार्ध में भीतर की ओर शुभ्रवस्तु होती है जिसमें सूत्र होते हैं तथा बाहर की ओर धूसरवस्तु होती है जिसे मस्तिष्क-परिसर (Cerebral cortex) कहते हैं। मस्तिष्क के विभिन्न पृष्ठों में इसके परिमाण में अन्तर होता है। मस्तिष्कमूल में धूसरवस्तु के तीन महत्वपूर्ण संघात होते हैं जिन्हें आज्ञाकन्द, राजिलपिण्ड तथा कलायिकाचतुष्टय कहते हैं।

मस्तिष्क के पिण्ड

मस्तिष्क का बहिर्भाग अनेक सीताओं के द्वारा अनेक पिण्डों में विभक्त है। इन पिण्डों का पृष्ठभाग समतल न होकर ऊँचा-नीचा और टेढ़ा-मेढ़ा होता है जिससे मस्तिष्क-परिसर की धूसरवस्तु अधिक परिमाण में करोटिगुहा में आ सके। निम्नवर्ग के प्राणियों में यह बिल्कुल समतल तथा इसकी रचना नितान्त साधारण होती है, किन्तु क्रमशः आगे बढ़ने पर इसकी रचना जटिल होती जाती है। मनुष्य में भी गर्भावस्था में मस्तिष्क की रचना साधारण ही होती है, किन्तु विकासक्रम से उसमें सीतायें प्रकट होने लगती हैं और उसका पृष्ठभाग जटिल होने लगता है तथा युवावस्था में पहुँचने पर वह पूर्ण विकसित हो जाता है। निम्नश्रेणी के बन्दरों और नवजात शिशु का मस्तिष्क प्रायः सदृश होता है।

मस्तिष्क का बहिर्भाग गहरी रेखाओं के द्वारा अनेक भागों में विभक्त है। इन रेखाओं को ही सीता (Primary fissures or sulci) तथा इन विभागों को पिण्ड (Lobes) कहते हैं। छोटी-छोटी रेखाओं के द्वारा इन पिण्डों के भी कई उपविभाग हो जाते हैं। इन छोटी रेखाओं को सीतिका (Secondary fissures or sulci) तथा इन उपविभागों को कर्णिका (Gyrus or convolutions) कहते हैं।

मस्तिष्क गोलार्ध के तीन पृष्ठ होते हैं, बाह्य, आन्तर और अधर। इन पृष्ठों के क्रम से सीताओं का उल्लेख नीचे किया जाता है :—

(क) बाह्यपृष्ठ :—

१. शंखपार्श्वान्तरा (Lateral cerebral fissure or fissure of sylvius)

२. मध्यान्तरा (Central fissure or fissure of Rolando)

६. पार्श्वपश्चिमान्तरा बाह्या (External parieto–occipital fissure)

(ख) अधरपृष्ठ :—

१. प्रच्छन्न धानुषी (Circular sulcus)

(ग) आन्तरपृष्ठ :—

१. अविसेतुका (Callosal fissure)

२. चक्रान्तरा (Calcarine fissure)

३. अन्तन्तरा (Subparietal sulcus)

४. सरकान्तरा (Collateral fissure)

५. पार्श्वपश्चिमान्तरा आन्तरी (Internal parieto occipital fissure)—इन सीताओं के द्वारा मस्तिष्क निम्नांकित पाँच पिण्डों में विभक्त होता है :—

१. अग्रिमपिण्ड (Frontal lobe)—मध्यन्तरा सीता के सामने ।

२. पार्श्विकपिण्ड (Parietal lobe)—मध्यान्तरा सीता और पार्श्वपश्चिमान्तरा सीता के बाह्यभाग के बीच में ।

३. पश्चिमपिण्ड (Occipital lobe)—पार्श्वपश्चिमान्तरा सीता के पीछे ।

४. शंखिक पिण्ड (Temporal lobe)—शंखपार्श्वान्तरा सीता के नीचे ।

५. प्रच्छन्नपिण्डिका (Island of reil or insula)—मस्तिष्कपार्श्व में भीतर की ओर स्थित और प्रच्छन्नधानुषी सीता से संवेष्टित । अग्रिम, पार्श्विक और शंखिक पिण्डों के कर्णकों के हटाने से दिखाई देती है ।

६. गर्भपिण्डिका (Limbic lobe)—यह मस्तिष्कसेतुभाग को आवेष्टित करनेवाली दो पिण्डिकायें हैं जो ऊपर की ओर अविसेतुकर्णिका तथा नीचे की ओर उपधानपिण्डिका से बनती है । यह कुत्ते आदि तीक्ष्ण गन्धशक्तियुक्त प्राणियों में अधिक विकसित होती है । इसके आगे की ओर अंकुशकर्णिका तथा पीछे की ओर योजनकर्णिका रहती है ।

मस्तिष्कपरिसर (Cerepral cortex) की सूक्ष्म रचना

धूसरवस्तु :—मस्तिष्क का परिसरभाग क्षेत्र तथा आयु के अनुसार २ से ४ मि० मी० मोटा होता है । इसकी धूसरवस्तु पांच स्तरों से निर्मित है :—जो बाहर से भीतर की ओर निम्नांकित प्रकार से हैं :—

१. बाह्य तन्तुस्तर (Outer fibre layer)—सूत्रशाखबहुल

२. बाह्य कोषाणुस्तर (Outer cell layer)—करीराकृति त्रिकोण-कोषाणुबहुल

३. ताराणुक स्तर (Middle cell layer)–तारकाकृति कोषाणुबहुल

४. आभ्यन्तर तन्तुस्तर (Inner fibre layer)—करीराकृति बृहत् कोषाणुबहुल।

५. आभ्यन्तर कोषाणुस्तर (Inner cell layer)—नानाविधाकृति सूक्ष्मकोषाणुबहुल।

इन स्तरों के कार्य

१. बाह्यतन्तुस्तर—इससे स्मृति की क्रिया सम्पादित होती है तथा व्यक्ति की बुद्धि के अनुसार इसकी स्थूलता होती है। इसके विकार से बुद्धिमान्द्य, बुद्धिवैषम्य आदि रोग हो जाते हैं।

२. बाह्यकोषाणुस्तर—यह मानसभावों के संयोजन से सम्बन्ध रखता है, अतः मानस या सयुज क्षेत्रों में विशेष स्पष्ट होता है।

३. ताराणुकस्तर–यह संज्ञाधिष्ठान क्षेत्रों में विशेष स्पष्ट होता है। अतः इसका सम्बन्ध संज्ञा से होता है।

४. आभ्यन्तर तन्तुस्तर—यह चेष्टाधिष्ठान क्षेत्रों में विशेष स्पष्ट होता है।

५. आभ्यन्तर कोषाणुस्तर—इसका सम्बन्ध शारीरिक तथा अन्तर्जात क्रियाओं से होता है।

शुक्लवस्तु नाडीसूत्रों से बनी हुई है। ये सूत्र क्रिया के अनुसार तीन वर्गों में विभाजित किये गये हैं :—

१. सेतुसूत्र (Commisural fibres)

२. सयुजसूत्र (Association fibres)

३. विसारिसूत्र (Projection fibres)

१. सेतुसूत्र :—ये मस्तिष्क के गोलार्धों को परस्पर मिलाते हैं यथा—

(क) मस्तिष्कसेतु

(ख) शंखिकपिण्डों को मिलाने वाला अग्रिम सेतु

(ग) उपधानसेतु (Hippocampal commisure)

२. सयुजसूत्र :—ये सूत्र उसी पार्श्व के विभिन्न भागों को परस्पर मिलाते हैं। ये ह्रस्व और दीर्घ दो प्रकार के होते हैं। ह्रस्व सूत्र निकटवर्ती कर्णिकाओं को मिलाते हैं और दीर्घ सूत्र दूरस्थ कर्णिकाओं को। दीर्घ सूत्र निम्नांकित हैं :—

(क) ऊर्ध्व अनुदीर्घ गुच्छ (Superior longitudinal bundle)—ये अग्रिम, शंखिक तथा पश्चिम पिण्डों को मिलाते हैं।

(ख) अधर अनुदीर्घ गुच्छ (Inferior longitudinal bundle) ये शांखिक तथा पश्चिम पिण्डों को मिलाते हैं।

(ग) पश्चिमगुच्छ (Occipito bundle)

(घ) अंकुशगुच्छ (Uncinate bundle)

(च) धनुर्वक्रगुच्छ (Cingulum)

३. विसारिसूत्र :—ये सूत्र मस्तिष्कपरिसर और अनुमस्तिष्क को मस्तिष्क के दूसरे भागों तथा सुषुम्नाकाण्ड से मिलाते हैं। गति के अनुसार ये दो प्रकार के होते हैं :—आरोही (Ascending) और अवरोही (Descending)

आरोही सूत्र

ये प्रायः संज्ञावह होते हैं और अधिकांश आज्ञाकन्द तक जाते हैं। इनमें निम्नांकित तन्त्रिकायें होती हैं :—

१. ऊर्ध्ववल्लिकासूत्र (Main or upper lemniscus)

२. पार्श्विक वल्लिकासूत्र (श्रुतिविसारिसूत्र) (Lateral lemniscus or auditory raditaion fibres)

३. दृष्टिविसारिसूत्र (Optic radiation fibres)

४. धम्मिल्लक-मस्तिष्काभिगसूत्र (Cerebello-cerebral fibres)

अवरोही सूत्र

१. अग्रिम गुच्छ (Frontal bundle fibres)

२. शङ्खिकगुच्छ ३. पश्चिमगुच्छ ४. मुकुलसूत्र

ये प्रायः चेष्टावह होते हैं।

मस्तिष्क के कार्य

मस्तिष्क के कार्यों के निरूपण के लिए अनेक विधियाँ काम में लाई गई हैं, जिनमें एक विधि यह है कि मस्तिष्क को निकाल कर उसके परिणामों का निरीक्षण किया जाता है। मस्तिष्क के अभाव में जिन क्रियाओं का लोप या विकार हो जाता है उनका सम्बन्ध उससे अनुमान के द्वारा स्थापित किया जाता है। विभिन्न प्राणियों में मस्तिष्क को निकाल देने से विभिन्न परिणाम होते हैं। मनुष्य में इसके कारण पक्षाघात आदि गम्भीर लक्षण हो जाते हैं जिनकी शान्ति होना कठिन होता है। चेष्टाक्षेत्रों के नाश में पेशी—जाड्य भी उत्पन्न हो जाता है। जिन शिशुओं में मस्तिष्क अनुपस्थित रहता है उनमें बुद्धि का कोई चिह्न नहीं होता और न स्मृति आदि ही होती। भूख प्यास भी नहीं लगती तथा अङ्गों की स्वाभाविक गतियां भी नहीं होतीं। स्वभावतः सुषुम्नाकाण्ड के अग्रिम-श्रृङ्ग-कोषाणुओं में मस्तिष्क परिसरभाग से निरोधक वेग तथा धम्मिल्लक से संकोचवेग आते रहते हैं जिससे पेशियों में थोड़ा बहुत

संकोच बराबर बना रहता है। जब मस्तिष्कपरिसर के अभाव या विकारों में पेशियां क्रियाहीन हो जाती हैं तब मस्तिष्कपरिसर का निरोधक प्रभाव नष्ट हो जाने तथा धम्मिल्लक का संकोचक प्रभाव बने रहने के कारण चेष्टाहीन पेशियों का संकोच बढ़ जाता है। इसे पेशीजाड्य (Contracture) कहते हैं।

मस्तिष्क के विभिन्न क्षेत्रों के निम्नांकित तीन कार्य होते हैं :—

१. उत्तेजनाओं का ग्रहण (संज्ञाक्षेत्रों का कार्य)

२. ज्ञान का सञ्चय और वर्तमान उत्तेजनाओं का उससे सम्बन्धस्थापन फलतः, स्मृति, प्रत्यभिज्ञा और विचार (संयुक्तक्षेत्रों का कार्य)

३. चेष्टा का उत्पादन (चेष्टाक्षेत्रों का कार्य)

इस प्रकार मस्तिष्क बाह्य वातावरण से उत्पन्न संज्ञाओं का ग्रहण कर तदनुकूल चेष्टाओं को उत्पन्न करता है जिससे पुरुष अपने अतीत अनुभवों से लाभ उठाकर जीवनयात्रा में सफलतापूर्वक आगे बढ़ता है। मस्तिष्क बुद्धि तथा जाग्रत संवेदनाओं का स्थान है क्योंकि सभी केन्द्रों तथा उनके मिलाने वाले सूत्रों की क्रिया का परिणाम ही बुद्धि कहलाता है। मस्तिष्कपरिसर की धूसर वस्तु इच्छा स्मृति, बुद्धि भावना आदि उच्च मानसिक प्रक्रियाओं का अधिष्ठान है। इसके अतिरिक्त ज्ञानेन्द्रियों का चरम अधिष्ठान वही है तथा उच्च मानस प्रक्रियाओं के क्रम में होने वाली जटिल नाडीक्रियाओं का स्थान भी मतिष्कपरिसर की धूसर वस्तु ही है। अतः मनुष्य के जीवन में इसका अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान है। इसके सम्बन्ध में निम्नांकित प्रमाण ध्यान देने योग्य हैं :—

(क) बालकों में मस्तिष्कपरिसरीय धूसरवस्तु के विकास से ही उनकी मानसिक शक्ति की वृद्धि सम्बन्धित होती है।

(ख) वृद्धावस्था में, मस्तिष्क परिसरीय धूसरवस्तु के क्षय से मानसिक शक्ति का भी ह्रास हो जाता है।

(ग) उन्माद आदि मानस रोगों में मस्तिष्कपरिसरीय धूसरवस्तु में विकार होने से विचारशक्ति भी विकृत हो जाती है।

(घ) मस्तिष्कपरिसर को निकाल देने से सभी संज्ञाओं, बुद्धि तथा अन्य मानसिक क्रियाओं का नाश हो जाता है।

मस्तिष्क में विभिन्न क्षेत्रों का निरूपण

भिन्न-भिन्न क्षेत्र मस्तिष्क के किस भाग में स्थित हैं इसको निश्चित करने के लिए निम्नांकित विधियां काम में लाई जाती हैं :—

(१) क्रियाशारीरविधि—(Physiological method)—मस्तिष्क परिसर के विभिन्न क्षेत्रों के विच्छेद और उत्तेजना के कारण विशिष्ट कार्यों के लोप और वृद्धि से उनका पारस्परिक सम्बन्ध स्थापित हो जाता है।

(२) नैदानिक और वैकारिक विधि (Clinical and Pathological methods)—जीवनकाल में उत्पन्न क्रियासम्बन्धी विकारों की मृत्यूत्तर परीक्षा के परिणामों से तुलना कर निश्चय किया जाता है।

(३) रचना-शारीरविधि (Anatomical method)—स्थूलरूप से तथा सूक्ष्मदर्शकयन्त्र से मस्तिष्कपरिसर भाग की रचना का निरीक्षण किया जाता है। चेष्टाक्षेत्रों में बृहत् कोषाणु, सयुजक्षेत्रों में लघुकरीराकृति कोषाणु तथा संज्ञाक्षेत्रों में तारकाकृति कोषाणु होते हैं।

(४) गर्भविज्ञानविधि (Embryological method)—इसमें मस्तिष्कपरिसर के विभिन्न भागों में जाने वाले नाड़ीसूत्रों की शुभ्रवस्तु के विकास का अध्ययन किया जाता है। यह देखा गया है कि संज्ञाक्षेत्रों में जाने वाले सूत्र सर्वप्रथम मेदसपिधानयुक्त होते हैं, तत्पश्चात् चेष्टाक्षेत्रों में जाने वाले सूत्रों का पिधानीकरण होता है। सबके अन्त में, सयुज क्षेत्रों के सूत्र पिधान-युक्त होते हैं।

(५) विकृतशारीरविधि (Pathologico-anatomical method) इसमें रोग या आघात के कारण अपकर्षयुक्त नाड़ीसूत्रों से सम्बद्ध परिसरीय क्षेत्रों का निरूपण किया जाता है।

(६) तुलनात्मक शारीरविधि (Method of comparative anatomy) :—विभिन्न प्राणियों में परिसर के स्तरों का अध्ययन किया जाता है। अन्तर्जात क्रियाओं से संबद्ध अन्तिम दो स्तर निम्न वर्ग के प्राणियों में अधिक स्पष्ट होते हैं तथा उच्च मानसिक प्रक्रियाओं से संबद्ध ऊपरी दो स्तर मनुष्य में अधिक विकसित होते हैं।

मस्तिष्क के क्षेत्र

उपर्युक्त विधियों के द्वारा मस्तिष्क में तीन प्रकार के क्षेत्र निश्चित किये गये हैं :—

१. चेष्टाक्षेत्र (Motor or excitable areas)—यहाँ से ऐच्छिक वेगों का प्रारम्भ होता है।

२. संज्ञाक्षेत्र (Sensory or receptive areas)—इनका सम्बन्ध संज्ञाओं के ग्रहण से है।

३. सयुजक्षेत्र (Association areas)—ये उच्च मानसिक प्रक्रियाओं के अधिष्ठान हैं।

रचना के अनुसार एक अन्य विद्वान् ने परिसरक्षेत्रों को दो वर्गों में विभाजित किया है :—

१. तारक-कोषाणुयुक्त (Granulous type)—ये संज्ञाक्षेत्रों में पाये जाते हैं।

२. करीरकोषाणुयुक्त (Angular type)—ये चेष्टा तथा सयुज क्षेत्रों में पाये जाते हैं।

चेष्टाक्षेत्र

मस्तिष्क में तीन चेष्टाक्षेत्र निर्धारित किये गये हैं :—

१. मध्यान्तरा अग्रिमकर्णिका (Precentral gyrus or rolandic area)।

यह कर्णिका पूर्णतः चेष्टा का अधिष्ठान है। कुछ चेष्टाक्षेत्र इसके अन्तः पृष्ठ में भी हैं। इस कर्णिका में ऊर्ध्वशाखा, मध्यकाय तथा शिर इनके लिए पृथक्-पृथक् केन्द्र हैं। अधःशाखा का केन्द्र सबसे ऊपर की ओर तथा कुछ दूर तक अन्तःपृष्ठ पर भी रहता है इसके नीचे मध्यकाय का केन्द्र होता है। ये दोनों केन्द्र मिलकर कर्णिका का $\frac{1}{3}$ भाग घेरते हैं। इनके नीचे दूसरे $\frac{1}{3}$ भाग में ऊर्ध्वशाखा का केन्द्र स्थित है। सबसे नीचे $\frac{1}{3}$ भाग में शिर और ग्रीवा का केन्द्र है। इन केन्द्रों में पुनः सभी उपांगों के लिए केन्द्र होते हैं यथा अधःशाखा केन्द्र में अंगुष्ठ, गुल्फ, जानु, नितम्ब आदि।

इन क्षेत्रों का विस्तार पेशियों की संख्या के अनुसार नहीं, बल्कि उनकी गति की जटिलता के अनुसार होता है। जिन अङ्गों की गति जटिल होती है उनके क्षेत्र विस्तृत होते हैं। ऐसा अनुमान है कि परिसरीय बृहत् करीराकृति कोषाणुओं की संख्या सुषुम्नाकाण्ड के पूर्वश्रृंगीय कोषाणुओं की संख्या के $\frac{1}{10}$ होती है। इस प्रकार एक करीरकोषाणु दस पूर्वश्रृङ्गकोषाणुओं की क्रिया का नियन्त्रण करता है। यह क्षेत्र अभ्यासजन्य क्रियाओं का भी संचालन करता है। साथ ही इसके द्वारा पेशियों के स्वाभाविक संकोच पर निरोधक प्रभाव पड़ता है। अन्य संज्ञाक्षेत्रों की संयुक्त क्रिया से अभ्यासजन्य कार्यों के चेष्टासूत्र निर्मित होते हैं जो वामपार्श्व में मध्यान्तरा अग्रिमकर्णिका में सञ्चित रहते हैं और समय पर इस चेष्टाक्षेत्र से सञ्चालित होते हैं। इसकी विकृति होने पर मनुष्य अभ्यासजन्य क्रियाओं का सम्पादन नहीं कर सकता। इसे अभ्यस्त क्रियानाश (Apraxia) कहते हैं।

२. अग्रिम दृष्टिक्षेत्र (Frontal eye area)

यह नेत्रगोलकों की गति का केन्द्र है और इसका अधिष्ठान मध्यमा अग्रपिण्डकर्णिका (Middle frontal convolution) है। यह तृतीय

चतुर्थ तथा षष्ठी शीर्षण्य नाड़ियों की कन्द्रिकाओं में उत्तेजना पहुंचाता है जिससे सहयोगिता के आधार पर इनका कार्य होकर नेत्रगोलकों की समुचित गति होती है।

३. वाक्क्षेत्र (Motor speech area)

यह अधरा अग्रपिण्ड कर्णिका के पश्चिम प्रान्त में शंखपार्श्वान्तरा सीता की अग्रिम शाखा के पास स्थित हैं। ब्रोका नामक विद्वान् ने इसका अनुसन्धान किया था, अतः इसे 'ब्रोका का क्षेत्र' (Broca's convolution) या वाङ्मय-पिण्डिका भी कहते हैं। यह केवल वाम भाग में होता है। इस क्षेत्र के विकृत हो जाने पर वाक् से संबद्ध पेशियाँ निश्चेष्ट नहीं होतीं बल्कि उनका उपयोग चर्वण या निगरण में होता है। यह क्षेत्र वाणी की स्पष्टता के लिए आवश्यक विभिन्न अंगों यथा जिह्वा, ओष्ठ तथा स्वरयन्त्र की विविध गतियों का नियन्त्रण एवं सहयोगमूलक संचालन करता है। इस क्षेत्र के विकारों में वाक्क्षय (Motor aphasia) नामक रोग हो जाता है जिसमें रोगी बोल नहीं सकता।

मस्तिष्क के क्षेत्र
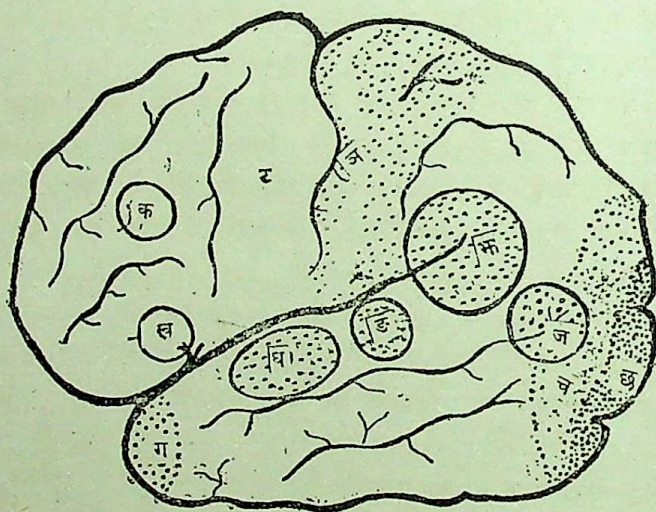
(क) अग्रिमदृष्टिक्षेत्र (ख) वाक्क्षेत्र (चालक) (ग) स्वाद और घ्राणकेन्द्र (घ) वाहक श्रुतिकेन्द्र (ङ) श्रुतिशब्दकेन्द्र (च) मानस दृष्टिकेन्द्र (छ) वाहक दृष्टिकेन्द्र (ज) दृष्टिशब्दकेन्द्र (झ) मानस श्रुतिकेन्द्र (ञ) संज्ञाक्षेत्र (ट) चेष्टाक्षेत्र

संज्ञाक्षेत्र

इन क्षेत्रों का निरूपण उत्तेजना या पृथक्करण के द्वारा होता है। इन क्षेत्रों को उत्तेजित करने पर यद्यपि कोई गति नहीं होती तथापि उस विषय की अनुभूति तथा तज्जन्य प्रत्यावर्तित क्रिया होती है तथा श्रुतिक्षेत्र को उत्तेजित करने से कर्णों में सूचीवेधनवत् वेदना तथा सनसनाहट होने लगती है। संज्ञाक्षेत्र को पृथक् करने से तत्सम्बद्ध संज्ञा का नाश हो जाता है।

पाँचों ज्ञानेन्द्रियों के लिए पृथक्-पृथक् क्षेत्र निर्धारित हैं जिनमें प्रायः शरीर के विपरीत पार्श्व से संज्ञायें आती हैं। इन संज्ञाक्षेत्रों के पुनः दो विभाग हो जाते हैं—संज्ञादानभूमि (Sensory receptive areas) तथा संज्ञाविवेकभूमि (Sensory psychic area)। प्रथम विभाग में सामान्य संज्ञाओं का ग्रहण होता है तथा द्वितीय विभाग में उनके विशिष्ट प्रकारों का सूक्ष्म विवेचन होता है।

(१) स्पर्शसंज्ञाक्षेत्र (Tactile or body-sense area)

यह मध्यान्तरा पश्चिमकर्णिका (Posterior central gyrus) में स्थित है। फोर्स्टर नामक विद्वान के मत में यह क्षेत्र यहीं तक सीमित नहीं है किन्तु पीछे की ओर अनुमध्यान्तरा कर्णिका (Superior parietal convolution) तक फैला है। पश्चिम कर्णिका के पूर्वार्ध में आदान-भूमि तथा पश्चिमार्ध में विवेकभूमि है जहाँ शीतोष्ण, रूक्षस्निग्ध आदि स्पर्श के विशिष्ट प्रकारों का विवेचन होता है। जिस प्रकार अग्रिम कर्णिका में चेष्टाक्षेत्र का अङ्गों के अनुसार क्रमशः विभाग है उसी प्रकार पश्चिम कर्णिका में भी ऊपर की अधःशाखा, मध्य में मध्यकाय और बाहु तथा नीचे की ओर शिर और ग्रीवा का संज्ञाक्षेत्र होता है।

(२) शब्दसंज्ञाक्षेत्र (Auditory area)

यह उत्तर शङ्खककर्णिका (Superior temporal gyrus) तथा पार्श्ववर्ती प्रच्छन्नपिण्डका की अनुप्रस्थ शङ्खककर्णिका (Transverse temporal gyrus) में स्थित है। उत्तरशङ्खक कर्णिका के मध्यभाग में आदानभूमि तथा पश्चिम तृतीयांश और (Supramarginal gyrus) के निकटवर्ती भाग में विवेकभूमि (Auditopsychic area or sensory speech area) होती है। इसे वर्निक का क्षेत्र (Wernick's area) भी कहते हैं। यहां पर सुने और बोले गये शब्दों के स्मृतिचिह्न सञ्चित रहते हैं। ब्रोका के क्षेत्र के समान यह भी वाम पार्श्व में ही होता है। इस विवेकभूमि के विकृत होने से मानसबाधिर्य (Mind deafness or psychic deafness) नामक रोग उत्पन्न होता है इसमें सामान्य शब्दसंज्ञा का

ग्रहण तो होता है, किन्तु उसके विशिष्ट प्रकारों को पहचानने की शक्ति नष्ट हो जाती है।

उत्तरशङ्खिक कर्णिका के मध्य में एक और विकसित केन्द्र होता है जिसे शब्दचित्र क्षेत्र (Audito-word area) कहते हैं। यहां उच्चारित शब्दों तथा वर्णों की स्मृति, जिसे शब्दचित्र (Sound pictures) कहते हैं, सञ्चित रहती है। इस क्षेत्र में आघात होने से 'अर्थबाधिर्य' (Word deafness or auditory aphasia) नामक रोग उत्पन्न होता है। इसमें शब्दों का श्रवण तो होता है, किन्तु उनके अर्थ की प्रतीति नहीं होती।

३-४ रस-गंध-संज्ञाक्षेत्र (Taste & Smell area)

यह उपधानकर्णिका (Hippocampal gyrus), विशेषतः अंकुशकर्णिका (Uncus) में स्थित होता है। यह कुत्ते आदि तीक्ष्णगन्धयुक्त प्राणियों में अधिक विकसित होता है। इसके ठीक पीछे क्षुधा और तृष्णा संज्ञा के क्षेत्र हैं जिनके विकृत होने से क्षुधा और तृष्णासम्बन्धी विकार उत्पन्न होते हैं।

४. रूपसंज्ञाक्षेत्र—(Visual area)

यह मस्तिष्क के पश्चिम पिण्ड के अन्तःपृष्ठ में वक्रान्तरा सीता के दोनों ओर विशेषतः त्रिकोणपिण्डिका (Cuneus) स्थित है। यह रूप संज्ञादानभूमि (Visuo-sensory area) है। इसी के पार्श्व में मुख्यतः पश्चिमपिण्ड के बाह्य पृष्ठ पर रूपसंज्ञाविवेक भूमि (Visuo-psychic area) स्थित है। इस भूमिकेन्द्र के विकृत होने से 'मानस आन्ध्य' (Mind-blindness or psychic blindness) उत्पन्न होता है जिससे रोगी वस्तुओं को देखता तो है किन्तु उन्हें पहचान नहीं सकता।

त्रिकोण पिण्डिका तथा सन्निकट पश्चिम पिण्ड के एक भाग में 'शब्द-दर्शन क्षेत्र' (Visuo-word centre) होता है जिसमें लिखित या मुद्रित वर्णों के स्मृतिचित्र अङ्कित रहते हैं। इस केन्द्र के विकृत होने से लिखित या मुद्रित वर्णों को पहचानने की शक्ति नष्ट हो जाती है। इसे 'वर्णान्ध्य' (Visual Aphasia or word blindness) कहते हैं।

सयुज क्षेत्र (Association areas)

उपर्युक्त संज्ञाधिष्ठान और चेष्टाधिष्ठान क्षेत्र मस्तिष्कपरिसर के बहुत थोड़े भाग में सीमित हैं। इनके चारों ओर ऐसे बड़े बड़े क्षेत्र हैं जिनकी उत्तेजना से कोई विशिष्ट प्रतिक्रिया नहीं होती, किन्तु उनके विकार से शारीरक्रियाओं के जटिल विकार उत्पन्न होते हैं। ये क्षेत्र सूत्रों और नाड़ीकोषाणुओं के समूह से बने हैं। सूत्रों को सयुज सूत्र तथा कोषाणुसमूह को सयुज केन्द्र कहते हैं। सूत्रों का कार्य विभिन्न केन्द्रों को मिलाना तथा कोषाणुसमूह को सयुज केन्द्र

कहते हैं। सूत्रों का कार्य विभिन्न केन्द्रों को मिलाना तथा केन्द्रों का कार्य अनुभूत विषयों को स्मृति के रूप में सञ्चित रखना है।

इन क्षेत्रों में ध्यान, आलोचना, स्मरण आदि उच्चतर मानसिक क्रियायें होती हैं। प्राणियों में बुद्धि का विकास ज्यों-ज्यों होता है त्यों-त्यों इन क्षेत्रों का विस्तार बढ़ता जाता है। मनुष्य के मस्तिष्क में क्षेत्र अधिक विकसित होते हैं।

ये क्षेत्र तीन भागों में विभक्त हैं :—

(१) अग्रिम सयुज क्षेत्र—ये अग्रिम पिण्ड के पूर्वभाग में होते हैं।

(२) मध्यम सयुज क्षेत्र—ये प्रच्छन्न पिण्डिका में हैं।

(३) पश्चिम सयुज क्षेत्र—ये पार्श्विक तथा पश्चिम पिण्ड के पिछले भाग में स्थित हैं।

इन क्षेत्रों के विकृत होने से संज्ञा या चेष्टा का कोई विशिष्ट विकार नहीं होता किन्तु व्यक्ति की मानसिक स्थिति तथा उसके व्यवहार में महान् अन्तर आ जाता है।

सुषुम्नाकाण्ड के कार्य

सुषुम्नाकाण्ड के दो कार्य हैं :—

१. संज्ञा तथा चेष्टा के वेगों का संवहन—यह कार्य सुषुम्ना की शुभ्रवस्तु से सम्पन्न होता है।

२. प्रत्यावर्तित क्रियायों का सम्पादन-यह कार्य उसकी धूसर वस्तु से होता है।

संज्ञा के वेग (Afferent impulses)

सुषुम्ना में आनेवाले संज्ञा के वेग तीन प्रकार के होते हैं :—

(क) बाह्य (Exteroceptive)—ये पीड़ा, ताप, शीत तथा स्पर्श से संबद्ध होते हैं और त्वचा के पृष्ठभाग पर संज्ञावह नाड़ियों के प्रान्त भाग में उत्पन्न होते हैं। ये स्थूल (Protopathic) तथा सूक्ष्म (epicritic) दो प्रकार के होते हैं।

(ख) गम्भीर (Proprioceptive)—ये गत्यात्मक (Motorial or kinaesthetie) संज्ञाओं से सम्बद्ध हैं और पेशियों, कण्डराओं तथा सन्धियों में स्थित प्रान्तभागों में उत्पन्न होते हैं।

(ग) आशयिक (Enteoceptive)—ये आशयों में उत्पन्न संज्ञाओं से सम्बन्ध रखते हैं।

वेगों का संवहन

संज्ञावेगों को लानेवाले सूत्र पश्चिम मूलों के द्वारा सुषुम्ना में प्रविष्ट होकर सौषुम्निक नाड़ियों से एकदम मिल जाते हैं। इसलिए सौषुम्निक नाड़ी के

विकार में उससे संबद्ध अवयव की संज्ञा का नाश हो जाता है। इन वेगों की पुनः व्यवस्था सुषुम्ना में होती है जिससे उसकी विभिन्न तन्त्रिकाओं के द्वारा वे ऊपर की ओर बढ़ते हैं। उनमें कुछ उसी पार्श्व में तथा कुछ वेणीबन्ध क्रम से दूसरे पार्श्व में चले जाते हैं।

वेगों के संवहन की दृष्टि से संज्ञावह सूत्र तीन प्रकार के होते हैं :—

(१) ह्रस्व सूत्र—ये सुषुम्ना के पश्चिम शृङ्गकोषाणुओं के पास आकर समाप्त हो जाते हैं। वहाँ से नये अक्षतन्तु निकल कर आज्ञाकन्द पहुंचते हैं और वहाँ से पुनः नये तन्तु इन वेगों को मस्तिष्क परिसर में पहुंचाते हैं। ये सूत्र उत्तान एवं गम्भीर पीड़ा तथा ताप और शीत की स्थूल संज्ञा का संवहन करते हैं।

(२) दीर्घ सूत्र—ये पश्चिमान्तिका एवं पश्चिम पार्श्विकी तन्त्रिका के द्वारा सुषुम्ना की सम्पूर्ण लम्बाई तक जाते हैं और सुषुम्नाशीर्षक में दशा एवं कोणकन्दिका के पास समाप्त हो जाते हैं। यहाँ से नये सूत्र (आन्तर चानुक सूत्र) निकल कर वल्लिका के द्वारा आज्ञाकन्द में पहुँचते हैं। ये सूत्र गम्भीर गत्यात्मक संज्ञाओं तथा सूक्ष्म स्पर्श संज्ञा का संवहन करते हैं।

(३) मिश्रसूत्र—ये सुषुम्ना की पृष्ठकन्दिका में समाप्त होते हैं। वहाँ से नये अक्षतन्तु निकल कर सुषुम्ना काण्ड के उसी पार्श्व में आगे की ओर आकर धम्मिल्लक में समाप्त हो जाते हैं। इन सूत्रों के द्वारा स्पर्श एवं गम्भीर गत्यात्मक संज्ञाओं का संवहन होता है जिससे शरीर की स्थिति को बनाये रखने तथा पेशियों के सहयोगमूलक कार्यों के सञ्चालन में सहायता मिलती है।

संज्ञा संवहन का मार्ग

विभिन्न संज्ञाओं का संवहन विभिन्न मार्ग से होता है जिनका संक्षेप में नीचे निर्देश किया जाता है :—

गत्यात्मक तथा ताप, पीड़ा और स्पर्श की सूक्ष्म संज्ञाओं का मार्ग

(१) स्पर्शग्राही प्रान्तभाग।
(२) पश्चिम सौषुम्निक मूल।
(३) पश्चिमान्तिका या पश्चिमपार्श्विकी तन्त्रिका।
(४) दशाकन्दिका और कोणकन्दिका।
(५) आन्तर चानुष सूत्र।
(६) जालक सूत्र।
(७) वल्लिका वेणीबन्ध।
(८) वल्लिका।
(९) ऊर्ध्ववल्लिका।
(१०) मध्यमस्तिष्क का कुथवितान।
(११) मस्तिष्कमृणालक का कुथवितान
(१२) आज्ञाकन्द।
(१३) आन्तरकूर्चवल्लिका।
(१४) पश्चिमकर्णिका के स्पर्शसंज्ञाविज्ञानकोषाणु।

पीड़ा, ताप और शीत की स्थूल संज्ञा का मार्ग

(१) संज्ञाग्राही प्रान्त भाग । (२) पश्चिम सौषुम्निक मूल ।
(३) पश्चिम शृङ्गकोषाणु । (४) निम्न सौषुम्निक वेणीबन्ध ।
(५) आज्ञाभिगा तन्त्रिका । (६) ऊर्ध्वबल्लिका ।
(७) आज्ञाकन्द । (८) आन्तरकूर्च्च बल्लिका ।
(९) पश्चिम कर्णिका ।

स्पर्श और दबाव की स्थूल संज्ञा का मार्ग

(१) संज्ञाग्राही प्रान्तभाग । (२) पश्चिम सौषुम्निक मूल ।
(३) पश्चिम शृङ्गकोषाणु । (४) निम्न सौषुम्निक वेणीबन्ध ।
(५) आज्ञाभिगा तन्त्रिका । (६) ऊर्ध्व बल्लिका ।
(७) आज्ञाकन्द । (८) आन्तर कूर्च्च बल्लिका ।
(९) पश्चिम कर्णिका ।

उपर्युक्त मार्गों के अध्ययन से यह स्पष्ट हो जाता है कि विभिन्न संज्ञायें अनेक नाडीकोषाणुओं के माध्यम से मस्तिष्क परिसर तक पहुंचती हैं। इन माध्यमस्वरूप नाडीकोषाणुओं के निम्नांकित तीन वर्ग हैं :—

१. निम्नतम संज्ञाकोषाणु (Lowest sensory neurons) :—ये पश्चिम नाडीमूलगण्ड के कोषाणु होते हैं।

२. मध्यम संज्ञाकोषाणु (Intermediate sensory neurons) :—इनमें पश्चिम शृङ्ग के कोषाणु आते हैं जिनके अक्षतन्तु अज्ञाभिगा तन्त्रिका बनाकर पीडा, ताप, शीत तथा स्पर्श संज्ञाओं को आज्ञाकन्द तक पहुंचाते हैं। इसके अतिरिक्त, इसमें दशा एवं कोणकन्दिका के कोषाणुओं का भी समावेश होता है जिनके अक्षतन्तु (आन्तर धानुष सूत्र) बल्लिका तन्त्रिका बनाकर गत्यात्मक एवं स्पर्श की सूक्ष्म संज्ञाओं को आज्ञाकन्द तक पहुंचाते हैं।

३. उच्चतम संज्ञाकोषाणु (Highest sensory neurons)—इनमें आज्ञाकन्द के कोषाणु आते हैं। इनके अक्षतन्तु आज्ञापरिसरीयसूत्र संज्ञावेगों को मस्तिष्कपरिसर में पहुंचाते हैं।

चेष्टा के वेग (Afferent or Motor impulses)

चेष्टावेगों का संवहन करके सुषुम्नाकाण्ड शरीर की मांसपेशियों एवं आशयों की क्रियाओं का नियमन एवं नियन्त्रण करता है। मस्तिष्क के परिसरीय या आभ्यन्तर भाग तथा धम्मिल्लक में उत्पन्न कुछ वेगों का संवहन सुषुम्ना के द्वारा होता है। मस्तिष्क परिसर में उत्पन्न वेग सरला और कुटिला मुकुलतन्त्रिका के द्वारा नीचे आते हैं। मस्तिष्क के आभ्यन्तर भाग और धम्मिल्लक में उत्पन्न वेग अन्य मार्गों यथा पार्श्वपूर्वी, शोणजा और विषाणिका तन्त्रिकाओं से नीचे आते हैं। ये चेष्टावेग अन्ततः सुषुम्ना के अग्रिम शृङ्गकोषाणुओं में पहुंचते हैं।

ऐच्छिक चेष्टावेग का मार्ग

(१) बृहत् करीराकृति कोषाणु (२) बिसारिसूत्र
(३) आन्तर कूर्चबल्लिका (४) मस्तिष्कमृणालक का बिसबितान
(५) मध्यमस्तिष्क का बिसवितान (६) उष्णीषक के करीराकृति कोषाणु
(७) सुषुम्नाशीर्षक के करीराकृति कोषाणु (८) कुटिला मुकुलतन्त्रिका
(९) सरला मुकुलतन्त्रिका (१०) अग्रिम शृंगकोषाणु
(११) चेष्टावह नाड़ी
(१२) ऐच्छिक पेशियों से संबद्ध चेष्टावह नाड़ियों के प्रान्त भाग ।

इसके अतिरिक्त चेष्टा वेगों का संवहन पार्श्वपूर्वा, शोणजा एवं विषाणिका तन्त्रिकाओं के द्वारा भी होता है । इस मार्ग को मुकुलेतर मार्ग (Extra-pyramidal path) कहते हैं । इस मार्ग में निम्नांकित कन्दिकायें होती हैं :—

१. शोणकन्दिका २. रात्रिलपिण्ड का शुक्तिगर्भ जिससे सूत्र निकलकर निम्नांकित स्थानों में जाते हैं :—

(क) शोणकन्दिका (ख) श्यामपत्रिका (ग) कन्दाधरिक प्रदेश

पेशियों का नियंत्रण

शरीर की पेशियों पर अनेक कारणों का संयुक्त प्रभाव पड़ता है जिससे उनका कार्य सहयोगिता के आधार पर हो पाता है । ये कारण निम्नलिखित हैं :—

१. पोषणात्मक नियन्त्रण (Idiodynamic control)—यह नियन्त्रण सुषुम्ना के अग्रिमशृंग कोषाणुओं से होता है ।

२. प्रत्यावर्तनात्मक नियन्त्रण (Reflex control)—सुषुम्ना के पश्चिम मूल के कोषाणुओं का अग्रिमशृङ्गकोषाणुओं पर प्रभाव पड़ता है जिससे प्रत्यावर्तन क्रिया के द्वारा पेशियों में सदैव संकोच बना रहता है ।

३. सन्तुलनात्मक नियन्त्रण (Vestibulo-equilibratory control)—शुण्डिकाओं तथा तुंबिकाधार से अग्रिमशृङ्गकोषाणुओं में वेग आते रहते हैं जिससे शरीर का सन्तुलन बना रहता है ।

४. सहयोगात्मक नियन्त्रण (Synergic or cerebellar control)—धम्मिल्लक से अग्रिमशृंगकोषाणुओं में वेग आते हैं जिससे सहयोगिता के आधार पर पेशियों की क्रिया का नियमन होता है ।

५. संयुक्त स्वयंजात नियन्त्रण (Associated automatic control)—रात्रिलपिण्ड से वेग उत्पन्न होकर अग्रिमशृङ्गकोषाणुओं में पहुँचते हैं जिससे, घूमना दौड़ना आदि जटिल गतियों में विविध पेशियों की क्रिया का नियन्त्रण होता है ।

६. ऐच्छिक नियन्त्रण (Volitional control)—इच्छा के अधीन लेखन आदि जटिल क्रियाओं का संपादन होता है। इच्छा के वेग अग्रिम कर्णिका में उत्पन्न होते हैं और सुकुलतन्त्रिका के अग्रिमशृंगकोषाणुओं में पहुंचते हैं। इससे इच्छा के अनुसार पेशियों में आवश्यक संकोच होता है। इस नियन्त्रण में बाधा होने से निरोधक प्रभाव नष्ट हो जाता है और पेशियाँ आवश्यकता से अधिक संकुचित फलतः कड़ी हो जाती हैं।

प्रत्यावर्तित क्रिया (Reflex action)
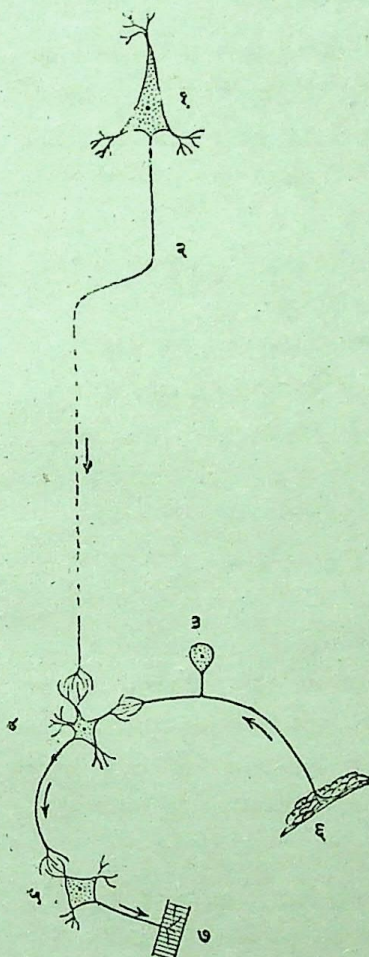
प्रत्यावर्तित क्रिया
१. मस्तिष्कपरिसर का चेष्टाकोषाणु २. अक्षतंतु ३. संज्ञाकोषाणु ४.संयुक्तकोषाणु ५. चेष्टाकोषाणु ६. त्वचा ७. पेशी

प्रत्येक प्राणी अपने को बाह्य परिस्थितियों के अनुकूल बनाये रखने की चेष्टा करता है और उसकी सभी क्रियायें इसी उद्देश्य से होती हैं। नाडीसंस्थान इस कार्य में सबसे अधिक सहायक होता है। स्वभावतः केन्द्रीय नाडीसंस्थान में संज्ञावह नाडियों के द्वारा संज्ञा के वेग पहुँचते हैं और वहाँ से चेष्टावह नाडियों के द्वारा विभिन्न अङ्गों में चेष्टा के वेग जाते हैं, किन्तु हमारी अनेक क्रियायें अनायास ही होती रहती हैं जो शरीर के लिए अत्यन्त लाभदायक होती हैं। प्रत्यावर्तित क्रियायें ऐसी ही हैं। जिस प्रकार शरीर-रचना की दृष्टि से कोषाणु शरीर की इकाई माना जाता है, उसी प्रकार क्रिया विज्ञान की दृष्टि से प्रत्यावर्तित क्रिया इकाई मानी जाती है।

परिभाषा

प्रत्यावर्तित क्रिया एक ऐसी क्रिया है जो संज्ञावह नाडी के क्षोभ से उत्पन्न होती है। संज्ञावह नाडियों के प्रान्तभाग में वेग उत्पन्न होकर सुषुम्नाकाण्ड या केन्द्रीय नाडीमंडल के अन्य भाग में पहुँचते हैं जो

प्रत्यावर्तन केन्द्र के समान कार्य कर इन वेगों को चेष्टावह नाड़ियों में प्रेषित कर प्रान्तीय भाग में शीघ्र क्रिया उत्पन्न करते हैं।

संज्ञावह नाड़ियों को उत्तेजित करने से जब चेष्टा का प्रारम्भ हो तो उस क्रम में होने वाले सभी परिवर्तनों को प्रत्यावर्तित क्रिया कहते हैं। दूसरे शब्दों में, अन्तर्मुख नाड़ीवेग का केन्द्रीय कोषाणुसमूह के द्वारा बहिर्मुख नाड़ीवेग में अनैच्छिक रूपान्तरण प्रत्यावर्तित क्रिया कहलाती है।

प्रत्यावर्तित क्रिया की मौलिक विशेषता यह है कि मस्तिष्क परिसर से इसका कोई सम्बन्ध नहीं होता। अतः यह संज्ञावह नाड़ियों की उत्तेजना से अनैच्छिक रूप में उत्पन्न होता है। यद्यपि यह क्रिया अनैच्छिक होती है। तथापि क्रिया के समय या बाद में इसकी प्रतिक्रिया चेतना में होती है।

प्रत्यावर्तित क्रिया का रूप

यान्त्रिक दृष्टि से प्रत्यावर्तित क्रिया के तीन भाग होते हैं :—

(१) संज्ञावह भाग (सुषुम्नाकाण्ड तक)

(क) संज्ञाग्राहक प्रान्तभाग जिसकी उत्तेजना से वेग उत्पन्न होता है।

(ख) संज्ञावह नाड़ी जो उत्तेजना को केन्द्रभाग तक पहुंचाती है।

(२) केन्द्र—यह सुषुम्ना की धूसर वस्तु या केन्द्रीय नाड़ीमण्डल के किसी भाग में होता है जहाँ अन्तर्मुख वेग बहिर्मुख में परिणत होते हैं।

(३) चेष्टावह भाग (चेष्टोत्पादक अङ्ग तक)

(क) चेष्टावह नाड़ी।

(ख) चेष्टोत्पादक अङ्ग—पेशीसूत्र।

इन तीनों भागों को मिलाकर 'प्रत्यावर्तन चक्र' (Reflex arc) कहते हैं। प्रायः संज्ञावह तथा चेष्टावह भागों का केन्द्र से प्रत्यक्ष सम्बन्ध न होकर उनके बीच में एक या दो नाड़ी कोषाणु माध्यमभूत होते हैं। उन्हें माध्यम नाड़ीकोषाणु (Internucials or intercalated neurons) कहते हैं।

वर्गीकरण

(क) यान्त्रिक दृष्टि से :—प्रत्यावर्तन चार प्रकार का होता है :—

१. सामान्य प्रत्यावर्तन (Simple reflex)—इसमें दो ही नाड़ी कोषाणु होते हैं। संज्ञावह नाड़ीकोषाणु पश्चिम मूल में तथा चेष्टावह कोषाणु अग्रिमशृंग में होते हैं।

२. संयुक्त प्रत्यावर्तन (Intercalated reflex)—इसमें संज्ञावह तथा चेष्टावह कोषाणुओं के बीच में एक और संयोजक कोषाणु होता है।

३. वेणीबन्ध प्रत्यावर्तन (Csossed reflex)—इसमें माध्यमभूत संयोजक कोषाणु दूसरे पार्श्व के चेष्टावह कोषाणु से संबद्ध होता है। कभी कभी चेष्टावह कोषाणु ही विपरीत पार्श्व के चेष्टावह कोषाणु से सम्बद्ध होता है।

४. जटिल प्रत्यावर्तन (Complex reflex)—इसमें संज्ञावह कोषाणु का अक्षतन्तु समस्त सुषुम्नाकाण्ड से होकर सुषुम्नाशीर्षक में समाप्त हो जाता है तथा मार्ग में उसकी कुछ शाखायें निकलकर सौषुम्निक चेष्टावह कोषाणुओं से संबद्ध होती हैं।

(ख) चेष्टोत्पादक अङ्ग की दृष्टि से :—प्रत्यावर्तित क्रिया तीन प्रकार की होती है :—

१. एकाकी (Simple)—जिसमें केवल एक ही पेशी भाग लेती है यथा निमेष में केवल नेत्रनिमीलनी पेशी का ही सङ्कोच होता है।

२. सहयुक्त (Co-ordinated)—इसमें अनेक पेशियाँ कार्य करती हैं। किन्तु उनका संकोच क्रमबद्ध और नियमित होता है जिससे सोद्‌देश्य गतियाँ होती हैं।

३. साक्षेप (Convulsive)—इसमें भी अनेक पेशियाँ भाग लेती हैं, किन्तु उनका संकोच क्रमहीन और अनियमित होता है जिससे अनियमित और निरुद्‌देश्य गतियां होती हैं।

(ग) संज्ञाग्राही प्रान्तभाग की दृष्टि से :—तीन प्रकार के होते हैं :—

१. बाह्य (Exteroceptive)—बाह्य उत्तेजक कारणों यथा ताप, शीत, पीड़ा, स्पर्श, रूप, शब्द आदि से प्रान्तभागों के उत्तेजित होने पर ये उत्पन्न होती हैं।

२. गम्भीर (Proprioceptive)—ये शरीरस्थ गम्भीर प्रान्तभागों के उत्तेजित होने पर उत्पन्न होती हैं यथा गत्यात्मक संज्ञायें।

३. आशयिक (Enteroceptive)—विविध आशयों में स्थित प्रान्त भागों की उत्तेजना से ये उत्पन्न होते हैं।

(घ) अवधि की दृष्टि से :—दो प्रकार के होते हैं :—

(१) अल्पावधिक (Phasic)—इनकी अवधि अल्प होती है यथा बाह्य प्रत्यावर्तित क्रियाओं से क्षणिक संकोच होता है।

(२) चिरावधिक (Tonic or postural)—यह अधिक देर तक ठहरती है यथा गम्भीर प्रत्यावर्तित क्रियाओं से उत्पन्न सङ्कोच।

(च) अधिष्ठान की दृष्टि से :—चार प्रकार के होते हैं :—

(१) उत्तान (Superficial)—यह वास्तविक प्रत्यावर्तित क्रिया है और इसमें त्वचा में स्थित संज्ञावह नाड़ियों की उत्तेजना से पेशी संकोच उत्पन्न होते हैं ।

(२) गम्भीर (Deep or tendon reflex)—ये वास्तविक प्रत्यावर्तित क्रियायें नहीं हैं और इनका प्रारम्भ किंचित् प्रसारित पेशी की कण्डरा पर आघात करने से होता है ।

(३) आशयिक (Visceral or organic)—इसमें निगरण, मूत्रत्याग, पुरीषोत्सर्ग आदि आशयिक क्रियायें सम्मिलित हैं ।

(४) उच्चतर (Higher reflex)—इसका अधिष्ठान सुषुम्ना के ऊपर मस्तिष्क के अन्यभाग, सुषुम्नाशीर्षक, उष्णीषक और मध्यमस्तिष्क है ।

(छ) उत्तेजक की दृष्टि से :—

(१) प्राकृत (Normal or functional)—जीवन की आवश्यक क्रियायें इसमें सम्मिलित हैं ।

(२) वैकृत (Abnormal or Nociceptive)—शरीर के लिए हानिकारक उत्तेजकों से इसका प्रारम्भ होता है ।

प्रत्यावर्तित क्रियाओं के गुणधर्म

प्रत्यावर्तित क्रिया का स्वरूप उत्तेजक के स्वरूप, तीव्रता, उत्तेजना का स्थान, केन्द्रों की स्थिति तथा निकटवर्ती केन्द्रों की स्थिति पर निर्भर होता है । संज्ञाहर द्रव्यों का प्रयोग करने पर ये क्रियायें नष्ट या मन्द हो जाती हैं तथा कुचला से बढ़ जाती हैं । सौषुम्निक केन्द्रों की क्रिया मुख्यतः श्वसन और रक्तसंवहन पर निर्भर है । रक्ताल्पता और श्वासावरोध से प्रत्यावर्तित क्रियायें नष्ट हो जाती हैं ।

विश्रामकाल— (Refractory phase)—अन्य पेशी-क्रियाओं के समान इनमें भी विश्रामकाल होता है जिसमें इसका प्रादुर्भाव नहीं होता ।

प्रत्यावर्तनकाल—(Reflex time)—उत्तेजना देने और क्रिया प्रारंभ होने में जो समय लगता है उसे प्रत्यावर्तनकाल कहते हैं ।

(क) पूर्ण प्रत्यावर्तनकाल (Total reflex time)—समय प्रत्यावर्तन में जो समय लगता है उसे प्रत्यावर्तन काल कहते हैं ।

(ख) प्रान्तीय प्रत्यावर्तन काल—(Pripheral reflex time)—केन्द्र से प्रान्तीय नाड़ी के द्वारा पेशी तक वेग के पहुँचने में जो समय लगता है उसे प्रान्तीय प्रत्यावर्तनकाल कहते हैं ।

(ग) केन्द्रीय प्रत्यावर्तनकाल—(Central reflex time)—पूर्ण प्रत्यावर्तनकाल से प्रान्तीय प्रत्यावर्तनकाल को निकाल देने पर जो शेष बचे वह केन्द्रीय प्रत्यावर्तनकाल कहलाता है।

(घ) अवशिष्ट प्रत्यावर्तनकाल—(Reduced reflex time)—नाड़ी-केन्द्रों में जो समय लगता है उसे कहते हैं। संज्ञावह और चेष्टावह नाड़ियों के द्वारा संवहन में जो समय लगता है उसे पूर्ण प्रत्यावर्तनकाल में से घटा देने पर यह निकलता है।

प्रत्यावर्तित क्रियाओं का निरोध

(१) मस्तिष्कजन्य निरोध (Cerebral inhibition)—स्वभावतः सौषुम्निक प्रत्यावर्तित क्रियाओं पर मस्तिष्क का निरोधक प्रभाव पड़ता रहता है।

(२) रासायनिक निरोध (Chemical inhibition)—
कुछ रासायनिक द्रव्यों यथा सोडियम क्लोराइड आदि से भी इनका निरोध होता है।

(३) ऐच्छिक निरोध (Voluntary inhibition)—
इच्छाशक्ति से भी उनका निरोध किया जा सकता है :—

यथा—

(क) गुदगुदाने के समय इच्छाशक्ति से पेशीचेष्टाओं का नियन्त्रण किया जा सकता है।

(ख) छींक को भी इच्छा से रोका जा सकता है।

(ग) मूत्रोत्सर्ग केन्द्र की क्रिया पर भी ऐच्छिक नियंत्रण होता है।

(घ) इतिहास में बलिदान के ऐसे असंख्य उदाहरण हैं जिनमें प्राणयात्रिक प्रत्यावर्तित क्रियाओं पर विजय पाई गई है।

(४) समसामयिक उत्तेजनाजन्य निरोध (Inhibition by simultaneous inhibition)

त्वचा के दो विभिन्न भागों को उत्तेजित करने से तीव्र उत्तेजक दुर्बल को दबा देता है तथा वैकृत उत्तेजक प्राकृत को दबा देता है।

प्रत्यावर्तित क्रियाओं की वृद्धि और सुविधान

कभी-कभी समसामयिक उत्तेजना से प्रत्यावर्तित क्रिया का निरोध न होकर उसकी वृद्धि हो जाती है (Augmentation)। ऐसा समझा जाता है कि यदि दो उत्तेजनायें एक संज्ञावह मार्ग में मिलें तो निरोध और यदि एक ही चेष्टावह मार्ग में मिलें तो वृद्धि होगी।

किसी उत्तेजना के द्वारा प्रत्यावर्तित क्रिया होने पर दूसरी बार जब वही उत्तेजना दी जाती है तो क्रिया शीघ्र और तीव्र होती है। इसे सुविधान (Facilitation) कहते हैं। इसका कारण यह समझा जाता है कि उत्तेजनाओं की पुनरावृत्ति से नाडीसन्धियों का प्रतिरोध दूर हो जाता है और मार्ग प्रशस्त हो जाता है जिससे क्रिया समुचित रूप से हो पाती है। इसके अतिरिक्त, एक मार्ग से जब उत्तेजना का वेग जाता है तो उसी मार्ग से बराबर जाने की प्रवृत्ति हो जाती है और बराबर जाने से वह मार्ग आसान भी हो जाता है। इससे अभ्यास का निर्माण होता है।

श्रम

जिस प्रकार पेशियों में श्रम उत्पन्न होता है उसी प्रकार प्रत्यावर्तित क्रियाओं का भी श्रम होता है। यदि उत्तेजकों का निरन्तर अधिक देर तक प्रयोग किया जाय या ओषजन की कमी हो तो श्रम उत्पन्न हो जायगा और क्रिया बन्द हो जायगी। इस श्रम का अधिष्ठान संज्ञावह मार्ग की नाडीसन्धि है, अतः श्रम की अवस्था में भी सीधे चेष्टावह नाडी को उत्तेजित कर क्रिया उत्पन्न की जा सकती है।

मिथ्याप्रत्यावर्तन (Pseudo reflex or axon reflexes)

कभी-कभी स्वतंत्र नाडीमण्डल की ग्रन्थियों से भी प्रत्यावर्तित क्रिया होती है। इसे मिथ्याप्रत्यावर्तन कहते हैं। यह क्रिया शरीर के कुछ भागों विशेषतः त्वचा के रक्तसंवहन के लिए विशेष उपयोगी है। त्वचा पर कोई क्षोभक पदार्थ लगाने पर जो लाली होती है उसका कारण यही है। इससे वहां का रक्तसंवहन बढ़ जाता है जिससे शरीर की रक्षा होती है। ऐसा समझा जाता है कि त्वचा पर क्षोभक पदार्थों के सम्पर्क से बहिस्त्वक् के कोषाणुओं द्वारा हिस्टेमिन के समान एक रासायनिक द्रव्य उत्पन्न होता है, जिसका प्रभाव सांवेदनिक नाडीमण्डल पर होकर यह क्रिया होती है।

उत्तान प्रत्यावर्तित क्रियायें

व्यक्ति और आयु के अनुसार इनमें भिन्नता पाई जाती है। बच्चों तथा स्त्रियों में अधिक आसानी से उत्पन्न होती है। यदि दुर्घटना या रोग के कारण सुषुम्ना का कोई भाग विकृत हो जाय, तो उस भाग से सम्बन्धित क्रियायें नष्ट हो जाती हैं, किन्तु उसके ऊपर के भागों से सम्बन्धित क्रियायें प्राकृत रहती हैं। यही नहीं, उसके नीचे के केन्द्रों से होने वाली क्रियायें भी नष्ट हो जाती हैं, इसका कारण यह है कि इन क्रियाओं का संबन्ध मस्तिष्क से होता है, अतः उससे सम्बन्ध विच्छिन्न होने पर ये नष्ट

हो जाती हैं। निम्नांकित तालिका में उत्तान प्रत्यावर्तित क्रियाओं का स्पष्ट निर्देश किया जाता है :—

प्रत्यावर्तित क्रिया	त्वचा का उत्तेजित भाग	परिणाम	केन्द्र
१. गुदीय (Anal)	मूलाधार प्रदेश	गुदसंकोचनी का संकोच	पंचम त्रिक-प्रदेश
२. पादतलीय (Plantar)	पादतल	अंगुष्ठों का संकोच और पैर को खींचना	१–२ त्रिक-प्रदेश
३. करतलीय (Palmer)	करतल	अंगुलियों का संकोच	८ ग्रैवेयक और १ वक्ष
४. नितम्बीय (Gluteal)	नितम्ब	नितम्ब पिंडका पेशियों का संकोच	४–५ कटि
५. वृषणीय (Cremasteric)	ऊरु का अन्तःपार्श्व	वृषणों का संकोच	१–२ कटि
६. उदर्य (Abdominal)	उदर का पार्श्वभाग	उदर्य पेशियों का संकोच	८–१२ वक्ष
७. हृदयाधरिकीय (Epigastric)	५ और ६ पर्शुका-न्तराल पर वक्ष का पार्श्वभाग	हृदयाधरिक प्रदेश का संकोच	४–६ वक्ष
८. स्कन्धीय (Scapular)	अन्तःस्कन्धीय प्रदेश	स्कन्धपेशियों का संकोच	५ ग्रैवेयक से १ वक्ष
९. निमेष (Corneal or wink)	नेत्र का स्वच्छ भाग तथा नेत्रवर्त्म	नेत्रनिमीलनी का संकोच	५ तथा ७वीं शीर्षण्यनाड़ी की कन्दिकायें
१०. कनीनिकीय (Pupillary)	ग्रीवा	कनीनक का प्रसार	चाक्षुषसौषु-म्निक केन्द्र (Ciliospinal centre)

गम्भीर प्रत्यावर्तित क्रियायें

कण्डराओं को थोड़ा प्रसारित अवस्था में रख कर उन पर हलका आहनन करने से पेशियों का जो सहसा संकोच होता है उसी को गम्भीर प्रत्यावर्तित क्रिया कहते हैं। ये शरीर की स्वाभाविक स्थिति को बनाये रखने के लिए अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं, इसलिए गुरुत्वाकर्षण के विरुद्ध कार्य करनेवाली पेशियों में यह स्पष्टतः पाई जाती हैं। अतः इन्हें स्थित्यात्मक प्रत्यावर्तित क्रिया (Postural reflex) भी कहते हैं। ये दो प्रकार की होती हैं :—

१. गतिकालीन (Stato-kinetic)—शरीर में गति होने के समय ये उत्पन्न होती हैं।

२. विश्रामकालीन (Static)—ये विश्राम के समय होती हैं। यह पुनः दो भागों में विभक्त की गई हैं :—

(क) रचनात्मक (Stance)—इसमें शरीर एक विशिष्ट स्थिति में आ जाता है।

(ख) संशोधनात्मक (Righting reflex)—शरीर की स्थिति विकृत हो जाने पर इनके द्वारा पुनः शोधित हो जाती है। ये प्रत्यावर्तित क्रियायें निम्नांकित अङ्गों में उत्पन्न होती हैं :—

(१) कान्तारक—(कान्तारकीय संशोधनात्मक प्रत्यावर्तन)

(२) नेत्र—(चाक्षुष संशोधनात्मक प्रत्यावर्तन)

(३) त्वचा—(शारीर संशोधनात्मक प्रत्यावर्तन)

इन स्थित्यात्मक प्रत्यावर्तित क्रियाओं के केन्द्र सुषुम्ना के ऊर्ध्व ग्रैवेयक भाग, सुषुम्नाशीर्षक तथा मध्यमस्तिष्क में स्थित हैं।

रोग विज्ञान की दृष्टि से भी गम्भीर प्रत्यावर्तित क्रियाओं का अत्यधिक महत्त्व है। इससे यह पता चलता है कि विकृति ऊर्ध्व चेष्टावह कोषाणुओं में है या अधर चेष्टावह कोषाणुओं में। ऊर्ध्व चेष्टावह कोषाणुओं की विकृति में ये क्रियायें बढ़ जाती हैं और अधर कोषाणुओं की विकृति में घट जाती हैं। इससे यह भी मालूम होता है कि सुषुम्ना का कौन सा भाग विकृत है।

गम्भीर प्रत्यावर्तित क्रियाओं का स्पष्ट स्वरूप निम्नांकित तालिका से ज्ञात होगा :—

प्रत्यावर्तित क्रिया	आहत कण्डरा	परिणाम	सुषुम्नाकेन्द्र
१. जान्वीय (Knee jerk)	जान्वीय कण्डरा	चतुःशिरस्का प्रसारिणी पेशी का संकोच, जंघा का प्रसार	२·३·४ कटि-प्रदेश
२. गुल्फीय (Ankle jerk)	पिण्डिका कण्डरा	जंघापिण्डिका का संकोच, पाद का प्रसार	१—२ त्रिक
३. द्विशिरस्कीय (Biceps reflex)	द्विशिरस्का कण्डरा	द्विशिरस्का का संकोच अग्रबाहु का संकोच	५—६ ग्रैवेयक
४. त्रिशिरस्कीय (Triceps reflex)	त्रिशिरस्का कण्डरा	त्रिशिरस्का का संकोच अग्रबाहु का प्रसार	६—७ ग्रैवेयक
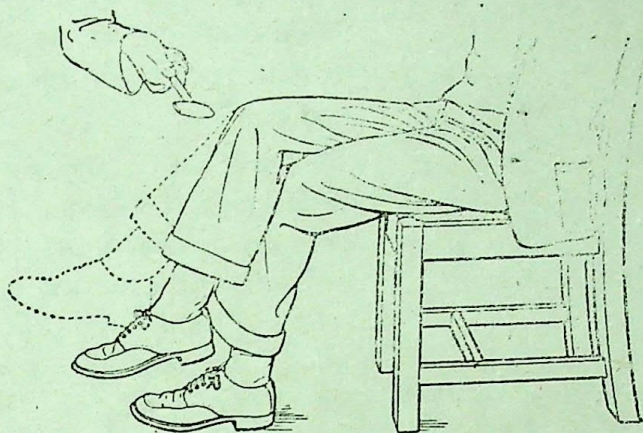
जान्वीय प्रत्यावर्तन

जान्वीय प्रत्यावर्तित क्रिया निम्नांकित अवस्थाओं में बढ़ जाती है :—

१. ऊर्ध्व चेष्टावह नाड़ी कोषाणुओं के सभी विकारों में।
२. उच्च केन्द्रों का निरोधक प्रभाव विकृत होने पर—यथा अपतन्त्रक।
३. प्रत्यावर्तन चक्र की क्षोभ्यता बढ़ जाने से—यथा हनुस्तम्भ और कुचला विष में।
४. किसी शारीरिक रोग में।
५. भावावेश की अवस्था में।

प्रत्यावर्तित क्रिया निम्नांकित अवस्थाओं में कम हो जाती है :—

१. चेष्टावह कोषाणु के विकार में यथा—शैशव पक्षाघात।
२. पश्चिम मूलों के विकार में।
३. द्वितीय कटिप्रदेश में स्थित सुषुम्ना के स्थायी विकार।
४. विषमयता-सहित औपसर्गिक रोग।
५. मानसिक विश्राम यथा निद्रा।
६. निद्रानाश या श्रम की अवस्था।
७. न्यूमोनिया।
८. अपस्मार के आक्रमण के बाद।
९. मूत्रविषमयताजन्य संन्यास।
१०. अहिफेन विष।

इस प्रकार जान्वीय प्रत्यावर्तित क्रिया संपूर्ण नाडी संस्थान, विशेषतः सुषुम्नाकाण्ड की स्थिति की निर्देशिका है।

पिण्डिकाकुञ्चन (Ankle clonus)

कण्डरा को सहसा फैलाने पर पेशी में जो नियमित संकोच होते हैं उसे आकुञ्चन कहते हैं। जब तक कण्डरा पर दबाव रहता है तब तक संकोच होता रहता है।

पिण्डिकाकुञ्चन

पाद को ऊपर की ओर मोड़ लो और पादतल को हाथ से दबाओ जिससे पिण्डिकाकण्डरा दबाव के कारण खिंच जाय तो पिण्डिकापेशी में संकोच होने लगेगा। यह संकोच नियमित रूप से लगभग ८ प्रति सेकण्ड होता है। स्वभावतः यह स्वस्थ व्यक्तियों में नहीं मिलता किन्तु कुछ विकारों में जिनमें जान्वीय प्रत्यावर्तन बढ़ जाता है, यह देखा जाता है।

आशयिक प्रत्यावर्तित क्रियायें

इन क्रियाओं में मूत्रोत्सर्ग तथा पुरीषोत्सर्ग की क्रिया व्यावहारिक दृष्टि से अत्यन्त महत्वपूर्ण है।

मूत्रोत्सर्ग का केन्द्र द्वितीय त्रिकप्रदेश में स्थित है। जब मूत्राशय में मूत्र सञ्चित होकर वहां दबाव उत्पन्न करता है तो वहां से संज्ञा के वेग केन्द्र में पहुंचते हैं। साधारणतः यह दबाव कम से कम १६० मि. मी. (जल का) होना चाहिए। चेष्टावह नाड़ियां दो हैं :—

(१) अधिबस्तिकी नाड़ी (Nervi eregens)–जिसकी उत्तेजना से मूत्राशय का संकोच और मूत्रमार्गसंकोचनी का प्रसार होता है।

(२) संवाहिनी नाड़ी (Hypogostric Nerves)—इसकी उत्तेजना से मूत्राशय का प्रसार तथा मूत्रमार्गसंकोचनी का संकोच होता है।

बच्चों में पर्याप्त दबाव के कारण यह क्रिया अनैच्छिक रूप से होती है, किन्तु वयस्कों में यह क्रिया ऐच्छिक है और इसका विरोध इच्छानुसार किया जा सकता है। जब मूत्राशय में पर्याप्त दबाव हो जाता है तो इसकी संज्ञा सुषुम्नास्थित केन्द्र तक ही नहीं रहती, बल्कि और ऊपर तक जाती है, जिससे मूत्रत्याग की इच्छा होती है। मस्तिष्क से वेग आकर सुषुम्ना केन्द्र को प्रभावित करते हैं और तब यह क्रिया होती है। इस प्रकार स्वभावतः यह क्रिया

मस्तिष्क के नियंत्रण में होती है। जब आघात के कारण मस्तिष्क का प्रभाव निरुद्ध हो जाता है तो इच्छा के बिना ही स्वतन्त्र रूप से मूत्रत्याग होता रहता है।

पुरीषोत्सर्ग की क्रिया भी इसी प्रकार होती है जिसका वर्णन पाचनसंस्थान में किया गया है।

उच्चतर प्रत्यावर्तित क्रियायें

इन क्रियाओं के केन्द्र सुषुम्नाशीर्षक, उष्णीषक तथा मध्यमस्तिष्क में होते हैं। इनमें से कुछ महत्वपूर्ण क्रियाओं का उल्लेख नीचे किया जाता है।

सुषुम्नाशीर्षक की प्रत्यावर्तित क्रियायें

(१) कास—ग्रसनिका, स्वरयंत्र, श्वासनलिका और श्वासप्रणालिका की श्लेष्मल कला कर्णकुहर की उत्तेजना से उत्पन्न होता है।

संज्ञावह नाडी—प्राणदा।

केन्द्र—प्राणदा की पृष्ठकन्दिका और वहां से श्वसन केन्द्र तक।

(२) निगरण—ग्रसनिका की दीवाल की उत्तेजना से उत्पन्न होता है।

संज्ञावह नाडी—प्राणदा तथा कण्ठरासनी नाडी की शाखायें।

केन्द्र—प्राणदा और कण्ठरासनी की कन्दिका।

(३) वमन—आमाशय, अन्नप्रनलिका, ग्रसनिका तथा अन्तःकर्ण की वैकृत उत्तेजना से उत्पन्न होता है।

संज्ञावह नाडी—प्राणदा और कण्ठरासनी नाडियां।

केन्द्र—प्राणदा की पृष्ठकन्दिका में स्थित वमनकेन्द्र।

चेष्टावह—प्राणदा की आमाशयिक शाखायें, प्राचीरिका नाडी तथा उदर्य पेशियों की चेष्टावह नाडियां।

(४) लालास्राव मुखगुहा की श्लेष्मल कला के उत्तेजित होने से उत्पन्न।

संज्ञावह नाडियां—रसग्राही नाडियां।

केन्द्र—लालाकेन्द्र।

(५) क्षवथु—नासा की श्लेष्मल कला की उत्तेजना से उत्पन्न।

संज्ञावह नाडी—त्रिधारा।

केन्द्र—श्वसनकेन्द्र।

(६) चूषण—मुख की श्लेष्मल कला की उत्तेजना से उत्पन्न।

संज्ञावह नाडी—त्रिधारा और कण्ठरासनी नाडियां।

केन्द्र—श्वसनकेन्द्र ।

चेष्टावह—अधोजिह्विका, कण्ठरासनी और मौखिकी नाड़ियां ।

उष्णीषक की प्रत्यावर्तित क्रियायें

(१) अधोहन्वीय प्रत्यावर्तन (Mandibular reflex)—चिबुक पर आहनन करने से अधोहनु का उन्नमन ।

संज्ञावह नाड़ी—त्रिधारा ।

केन्द्र—चर्वणकेन्द्र ।

चेष्टावह नाड़ी—त्रिधारा का चेष्टावह विभाग ।

(२) गण्डीय प्रत्यावर्तन (Zygomatic reflex)—गण्डस्थ पर आहनन करने से अधोहनु की उसी पार्श्व में बाहर की ओर गति ।

संज्ञावह नाड़ी—त्रिधारा ।

केन्द्र—चर्वणकेन्द्र ।

चेष्टावह नाड़ी—हनुकूटकर्षणी और शंखिक पेशियों से संबद्ध त्रिधारा की चेष्टावह शाखायें ।

(३) नासा-प्रत्यावर्तन (Nasal reflex of Bechterew)—

नासा की श्लेष्मलकला को पंख या कागज के छूने पर उसी पार्श्व की मौखिकी पेशियों का संकोच ।

संज्ञावह नाड़ी—त्रिधारा ।

केन्द्र—मौखिकी कन्दिका ।

चेष्टावह नाड़ी—मौखिकी नाड़ी की शाखायें ।

(४) भ्रूतोरणिक प्रत्यावर्तन (Supra-orbital reflex)—भ्रूतोरणिका पर आहनन करने से उसी पार्श्व की पलक का गिरना ।

संज्ञावह नाड़ी—त्रिधारा ।

केन्द्र—मौखिकी कन्दिका ।

चेष्टावह नाड़ी—नेत्रनिमीलन पेशी से संबद्ध मौखिकी नाड़ी की शाखायें ।

(५) नेत्रवर्त्मीय-प्रत्यावर्तन—(Conjunctival reflex)—

स्वच्छमण्डल के ऊपर नेत्रवर्त्म को छूने से नेत्र पलक का बन्द हो जाना ।

संज्ञावह नाड़ी—त्रिधारा ।

केन्द्र—मौखिक कन्दिका ।

चेष्टावहनाड़ी—नेत्रनिमीलनी से संबद्ध मौखिकी नाड़ी की शाखायें ।

(६) आश्रवी—प्रत्यावर्तन—(Lachrymal reflex)—

स्वच्छमण्डल के ऊपर नेत्रवर्त्म को छूने से अश्रुस्राव होना ।

संज्ञावहनाडी—त्रिधारा।

चेष्टावहनाडी—त्रिधारा के चाक्षुषविभाग की आश्रवी शाखायें।

(७) नेत्रवर्त्माधोहन्वीय प्रत्यावर्तन (Conjunctivo-mandibular Reflex)—

स्वच्छमण्डल के ऊपर नेत्रवर्त्म को छूने से अधोहनु का उसी ओर कर्षण।

संज्ञावहनाडी—त्रिधारा।

केन्द्र—चर्वणकेन्द्र।

चेष्टावहनाडी—त्रिधारा का चेष्टावह विभाग।

(८) श्रोत्रीय प्रत्यावर्तन (Auditory reflex)—

आकस्मिक शब्द से पलकों का क्षणिक निमीलन।

संज्ञावह नाडी—श्रुतिनाडी की शम्बूकशाखा।

केन्द्र—सप्तमी नाडी कन्दिका।

चेष्टावहनाडी—नेत्रनिमीलनी से संबद्ध मौखिकी नाडी की शाखा।

(९) श्रोत्रनेत्रीय प्रत्यावर्तन (Audito-oculogyric reflex)—

आकस्मिक कोलाहलों से दोनों नेत्रों का उसी दिशा में घूमना।

संज्ञावहनाडी—श्रुतिनाडी की शम्बूकशाखा।

केन्द्र—षष्ठी नाडी कन्दिका।

चेष्टावहनाडी—बहिर्दर्शिनी नेत्रपेशी से संबद्ध षष्ठी नाडी की शाखायें तथा विपरीत पार्श्व की अन्तर्दर्शिनी से संबद्ध तृतीय नाडी की शाखायें।

मध्यमस्तिष्क की प्रत्यावर्तित क्रियायें

ये सब नेत्र से सम्बद्ध हैं, अतः उनका विशिष्ट वर्णन चक्षु के प्रसंग में जायगा। इनमें निम्नलिखित हैं :—

१. प्रकाश प्रत्यावर्तन (Light reflex)

२. द्विपार्श्विक प्रकाश प्रत्यावर्तन (Consesual light reflex)

३. आत्ययिक प्रकाश प्रत्यावर्तन (Emergency light reflex)

४. केन्द्रीकरण प्रत्यावर्तन (Accomodation reflex)

स्वतंत्र नाडीमण्डल

यह नाडीसंस्थान का वह भाग है जो सभी स्वतंत्र पेशियों और स्रावों का नियन्त्रण करता है। शरीर की क्रियाओं में कुछ ऐसी होती हैं जो प्राणयात्रा के लिए आवश्यक हैं यथा हृदय का नियमित संकोच। इन्हीं क्रियाओं पर स्वतन्त्र नाडीमंडल का नियन्त्रण होता है। इस संस्थान से सम्बद्ध शरीर के निम्नलिखित अंग हैं :—

१. हृदय तथा रक्तवाहिनियां।
२. पाचननलिका, यकृत् और प्लीहा।
३. श्वसननलिका। ४. प्रजनन और मूत्रमार्ग।
५. नेत्र के कुछ भाग—कनीनक, सन्धानमण्डल, अश्रुग्रन्थि आदि।
६. सभी स्वतन्त्र पेशियां और स्रावक ग्रन्थियां।

स्वतन्त्र नाडीमण्डल के दो भाग होते हैं :—

१. सांवेदनिक (Sympathetic)
२. परसांवेदनिक (Para Sympathetic)—इसके पुनः दो भाग हैं :—
(क) शीर्षण्य (Cranial)—(मध्यमस्तिष्क और सुषुम्नाशीर्षक से)
(ख) त्रिकीय (Sacral)।

सांवेदनिक भाग वक्ष तथा कटिप्रदेश में स्थित है और परसांवेदनिक से अनुग्रीविका और अनुकटिका स्फीति के द्वारा पृथक् रहता है।

सांवेदनिक संस्थान

इस संस्थान में तीन भाग हैं :—

(१) संज्ञावह नाडियां। (२) चेष्टावह नाडियां।
(३) नाडीगण्ड (Ganglia)

नाडीगण्ड तीन प्रकार के हैं :—

(क) **पार्श्विक** (Lateral)—ये सुषुम्नाकाण्ड के पार्श्व में दोनों ओर स्थित हैं। ग्रैवेयक भाग में तीन गण्ड हैं—उत्तर, मध्यम और अधर। उत्तर नाडीगण्ड प्रथम चार ग्रैवेयक गण्डों के मिलने से बना है। इसी प्रकार पञ्चम और षष्ठ गण्डों के मिलने से मध्यम तथा सप्तम और अष्टम ग्रैवेयक गण्डों के मिलने से अधर नाडीगण्ड बनता है। वक्षीय भाग में १० या ११, कटि और त्रिक भागों में ४ या ५ गण्ड प्रत्येक पार्श्व में हैं। वक्षीय भाग में प्रथम और द्वितीय गण्ड अधर ग्रैवेयक गण्ड के साथ मिलकर तारक गण्ड (Stellate ganglion) बनाते हैं।

ये गण्ड अग्रिम सौषुम्निक नाडियों से शुभ्र और धूसर संयोजक सूत्रों के द्वारा मिले रहते हैं। इन पार्श्विक गण्डों से सूत्र निकल कर सीधा अंगों में समाप्त हो जाते हैं या दूसरे गण्डों से सम्बन्धित होते हैं।

(ख) **परिपार्श्विक** (Collateral)—ये सुषुम्ना से कुछ दूरी पर होते हैं—यथा अर्धचन्द्र गण्ड, उत्तर मध्यान्त्रिक गण्ड और अधर मध्यान्त्रिक गण्ड। ये उदर्य आशयों से सम्बद्ध हैं और महाधमनी के सामने रहते हैं या अन्य गण्डों से सम्बद्ध होते हैं।

(ग) अन्त्य (Terminal)—ये सम्बन्धित अंगों की दीवाल में स्थित होते हैं।

ये तीन प्रकार के नाडीगण्ड सांवेदनिक और परसांवेदनिक (त्रिकीया) से संवद्ध रहते हैं। इनके अतिरिक्त, शीर्षण्य परसांवेदनिक से सम्बन्धित अन्य गण्ड भी होते हैं यथा संधानगण्ड और जतूकताल्वीय गण्ड।

संज्ञावह नाडी—इनके द्वारा संज्ञा के वेगों का वहन होता है और इनकी संख्या चेष्टावह नाडियों की अपेक्षा बहुत कम है। ये विशेषतः वक्षीय और कटिप्रदेशीय आशयों से संवद्ध शुभ्र संयोजक सूत्र के द्वारा सुषुम्नाकाण्ड में प्रविष्ट होते हैं।

चेष्टावह नाडी—ये सुषुम्ना की धूसरवस्तु के पार्श्व शृंग में स्थित पार्श्वान्तरीय कोषाणुओं से उत्पन्न होते हैं। ये माध्यम कोषाणु कहलाते हैं। इनके अक्षतन्तु संयोजक या पूर्वगण्डीय सूत्र (Preganglionic fibres) कहलाते हैं और अग्रिम सौषुम्निक मूलों के ह्रस्व अमेदस सूत्रों के रूप में सुषुम्ना के बाहर निकलते हैं। ये सौषुम्निक मूलों से पृथक् होकर शुभ्र संयोजक सूत्र बनाते हैं और उसी भाग के पार्श्विक नाडीगण्ड में समाप्त हो जाते हैं। इन गण्डों के कोषाणु चेष्टाकोषाणु कहलाते हैं और उनके अक्षतन्तुओं को गण्डोत्तरिक सूत्र (Postganglionic fibres) कहते हैं। ये धूसर संयोजक सूत्र बनाते हैं और पूर्व सौषुम्निक नाडियों से मिलकर इनके सूत्रों के साथ स्वतन्त्र पेशियों और स्रावक ग्रन्थियों में पहुंचते हैं। कुछ सूत्र उसी भाग के गण्डों में समाप्त न होकर ऊपर या नीचे के गण्डों में समाप्त होते हैं। इसके अतिरिक्त, कुछ सूत्र पार्श्विक गण्डों में समाप्त न होकर और आगे जाते हैं और परिपार्श्विक तथा अन्त्य नाडी गण्डों में समाप्त होते हैं।

सांवेदनिक संस्थान तीन भागों में विभक्त किया गया है :—ग्रैवेयक, वक्षीय तथा उदर्य भाग।

ग्रैवेयक सांवेदनिक (Cervical sympathetic)

इस भाग में उत्तर, मध्यम और अधर तीन गण्ड होते हैं। इस भाग के लिए पूर्व गण्डीय सूत्र सुषुम्नाकाण्ड से प्रथम से पञ्चम वक्षीय अग्रिम मूलों के साथ निकलते हैं। इसकी शाखाओं का वितरण निम्नांकित रूप से होता है :—

(१) चेष्टावह सूत्र—स्वतन्त्र पेशियों में।

(२) रक्तसञ्चालक सूत्र—शिरा, ग्रीवा और ऊर्ध्वशाखा की रक्तवाहिनियों में।

(३) स्रावक सूत्र—लालाग्रन्थि में ।
(४) रोमाञ्चक सूत्र—शिर और ग्रीवा की त्वचा में ।
(५) हृदयचालक सूत्र ।
(६) फुफ्फुसों में चेष्टावह सूत्र ।
(७) ग्रैवेयक ग्रन्थि में सूत्र ।
(८) अश्रुग्रन्थि में सूत्र ।

वक्षीय सांवेदनिक (Thoracic sympathetic)

इसमें १० या ११ वक्षीय पार्श्विक नाडीगण्ड होते हैं जो शुभ्र संयोजक सूत्रों के द्वारा वक्षीय सौषुम्निक नाडियों से सम्बद्ध रहते हैं । इनकी शाखाओं का वितरण निम्नांकित प्रकार से होता है :—

(१) वर्धक सूत्र—हृदय में ।
(२) रक्तसञ्चालक सूत्र—ऊर्ध्व शाखा में ।
(३) स्रावक सूत्र—स्वेद ग्रन्थियों में ।
(४) रोमाञ्चक सूत्र—ऊर्ध्व शाखाओं में ।
(५) रक्तसञ्चालक सूत्र—उदर्य महाधमनी और इसकी शाखाओं में ।
(६) निरोधक सूत्र—आमाशय की पेशियों में ।
(७) स्रावक सूत्र—आमाशय, यकृत् , अग्न्याशय और अधिवृक्क ग्रन्थियों में ।
(८) निरोधक सूत्र—क्षुद्रान्त तथा बृहदन्त्र के प्रथम अंश में (उत्तर मध्यांत्रिक गण्ड के द्वारा) ।
(९) निरोधक सूत्र—बृहदन्त्र के अवरोही भाग और गुद भाग में (अधर मध्यान्त्रिक गण्ड के द्वारा) ।
(१०) निरोधक सूत्र—वृक्क, गवीनी, बस्ति तथा प्रजनन अङ्गों में ।
(११) रक्तसंचालक, रोमाञ्चक तथा स्रावक सूत्र—अधःशाखाओं की स्वेद ग्रन्थियों में ।

उदर्य सांवेदनिक (Abdominal sympathetic)

यह वक्षीय भाग के निचले अंश तथा प्रथम और द्वितीय कटि सौषुम्निक नाडियों से बनता है । इसके सूत्र महाधमनिक चक्र को बल-प्रदान करते हैं ।

त्रिकीय परसांवेदनिक (Sacral parasympathetic)

ये सूत्र श्रोणिगुहागत आशयों से सम्बद्ध नाडियों के साथ जाते हैं और अधिबस्तिकीय नाडी (Nervi erigens) कहलाते हैं । गण्ड अधिबस्तिक चक्र (जो बस्ति के मूलभाग में स्थित है) में रहते हैं । इसकी शाखायें निम्नांकित प्रकार से वितरित हैं :—

१. प्रसारक—प्रजनन अंगों की रक्तवाहिनियों में ।
२. चेष्टावह—बस्ति, बृहदन्त्र और मलाशय में ।
३. निरोधक—वस्तिसंकोचनी में ।

शीर्षण्य परसांवेदनिक (Cranial Parasympathetic)

(१) नाडीसूत्र मध्यमस्तिष्क से तृतीय नाडी के साथ निकल कर सन्धानगण्ड में समाप्त होते हैं । इस गण्ड से गण्डोत्तरिक सूत्र ह्रस्व संधानिका नाडियाँ बनाते हैं जो कनीनक संकोचनी और सन्धानपेशिकाओं से सम्बद्ध है ।

(२) पञ्चम नाडी के साथ आने वाले सूत्र जतूकताल्वीय गण्ड में समाप्त होते हैं । इससे गण्डोत्तरिक सूत्र निकल कर अपने स्रावक और रक्तवाहिनी प्रसारक भागों के द्वारा नासा, कोमल तालु और ग्रसनिका के ऊपरी भाग की श्लेष्मलकला से सम्बन्ध रखते हैं ।

(३) मौखिकी नाडी के साथ सूत्र निकल कर उससे पृथक् हो जाते हैं और हन्वधरीय गण्ड तथा लांगलीगंड (Langley's ganglion) में समाप्त होते हैं । यहाँ से गण्डोत्तरिक सूत्र निकल कर अपने रक्तवाहिनी प्रसारक भागों के द्वारा जिह्वा, हन्वधरीय और जिह्वाधरिक प्रदेशों की रक्तवाहिनियों में जाते हैं ।

(४) कुछ सूत्र नवमी नाडी के साथ निकल कर कर्णिकगण्ड (Otic-ganglion) में समाप्त होते हैं । यहाँ से गण्डोत्तरिक सूत्र निकलते हैं जिनके रक्तवाहिनीप्रसारक भाग कर्णमूलिक प्रदेश तथा जिह्वा के पृष्ठ भाग में और स्रावक भाग कर्णमूलिक ग्रन्थि में जाते हैं ।

(५) प्राणदा तथा ग्रीवापृष्ठगा नाडियों के साथ सूत्र निकल कर अनुमन्याकगण्ड तथा दशम गण्ड (Jugular ganglion and ganglion Truncivagi) में जाते हैं । यहाँ से गण्डोत्तरिक सूत्र निकल कर निम्न प्रकार से वितरित हैं :—

(क) चेष्टावह सूत्र—अन्ननलिका, आमाशय और अन्त्र
(ख) निरोधक सूत्र—हृदय
(ग) चेष्टावह सूत्र—श्वासप्रणालिकीय पेशियों में
(घ) स्रावक सूत्र—आमाशयिक ग्रन्थियों और अग्न्याशय

सांवेदनिक संस्थान का भाग और कार्य

अङ्ग	उत्पत्तिस्थान	गण्ड	कार्य
शिर और ग्रीवा	१–५ वक्षीय	ऊर्ध्व ग्रैवेयक	(१) रक्तवह संकोचक—(रक्तवाहिनियों में) (२) कनीनक प्रसारक (३) लाला तथा स्वेद-स्रावक (४) ओष्ठ तथा ग्रसनिका में रक्तवह—प्रसारण ।
वक्षीय आशय	१–५ वक्षीय–	तारक	(१) हृदयतीव्रक (२) हृदयवर्धक
ऊर्ध्वशाखा	४–१० वक्षीय	तारक	(१) रक्तवाहिनी संकोचक और प्रसारक (२) स्वेदस्रावक
उदर्य आशय	६–१२ वक्षीय	अर्ध चन्द्र और उत्तर मध्यान्त्रिक	(१) उदर्य आशयों में रक्तवाहिनी—सङ्कोचक और प्रसारक (२) आमाशय और क्षुद्रान्त्र का निरोधक । (३) सन्देशकपाटिका का चालक (४) यकृत् अग्न्याशय और अधिवृक्क ग्रन्थियों का स्रावक
	९ वक्षीय से ३ कटि	अधर मध्यान्त्रिक	(१) श्रोणिगुहागत आशयों में रक्तवाहिनी–सङ्कोचक (२) बस्ति, बृहदन्त्र और मलाशय का निरोधक
अधःशाखा	११ वक्षीय से ३ कटि	६, ७ कटि और प्रथम त्रिकीय	(१) रक्तवाहिनियों के लिए सङ्कोचक और प्रसारक (२) स्वेदस्रावक

शीर्षण्य परसांवेदनिक का मार्ग और कार्य

अङ्ग	उत्पत्तिस्थान	गण्ड	कार्य
नेत्र	नेत्रचेष्टनी नाड़ी	सन्धानगण्ड	कनीनक सङ्कोचन और सन्धान—पेशिकासङ्कोचन
नासा-तालु प्रदेश	त्रिधारा नाड़ी	जतूकतालवीय	रक्तवाहिनी प्रसारक तथा नासा कोमल तालु और ग्रसनिका के ऊपरी भाग की श्लेष्मलकला का स्रावक
लाला–ग्रन्थियाँ	रसग्रहा कर्णान्तिका नाड़ी	हन्वधरीय और लाङ्गलीगण्ड···	जिह्वा के अग्रिम $\frac{2}{3}$ भाग में रक्तवाहिनी-प्रसारक और हन्वधरीय तथा जिह्वाधरीय ग्रन्थियों का स्रावक और रक्तवाहिनी प्रसारक।
कर्णमूलिक प्रदेश	कण्ठारासनी नाड़ी	कर्णिक	कर्णमूलिक ग्रन्थि का स्रावक, कर्णमूलिक तथा जिह्वा के पश्चिम $\frac{1}{3}$ भाग का रक्तवाहिनी-प्रसारक।
हृदय, फुफ्फुस तथा पाचन–नलिका	प्राणदा तथा ग्रीवापृष्ठगा नाड़ियाँ	अनुमन्याक (उत्तर) और दशम गण्ड (Jugular and nodosum)	हृदय का निरोधक, श्वास-प्रणालिकीय पेशियों का चालक, अन्ननलिका; आमाशय, क्षुद्रान्त्र का चालक और आमाशयिक ग्रन्थियों का स्रावक।

त्रिकीय परसांवेदनिक का मार्ग और कार्य

अङ्ग	उत्पत्तिस्थान	गण्ड	कार्य
प्रजनन अङ्ग बस्ति और मलाशय	अधिबस्ति की नाड़ी	बस्ति के आधार पर अधिबस्तिक चक्र पर स्थित गंड	(१) श्रोणिगुहागत आशयों की रक्तवाहिनियों का प्रसारक (२) बस्ति, बृहदन्त्र और गुद का सङ्कोचक (३) बस्तिसङ्कोचनी का निरोधक (४) शिश्नप्रहर्षणी का निरोधक

निद्रा (Sleep)

निद्रा शरीर का एक स्वाभाविक धर्म है जिससे शरीर के प्रत्येक यन्त्र को अधिक से अधिक विश्राम मिलता है। जाग्रतकाल में शरीर की शक्ति का जो क्षय होता है उसकी पूर्ति निद्राकाल में होती है। निद्रा स्वभावतः आती है, किन्तु कुछ कारण उसमें सहायक होते हैं यथा संज्ञावह मार्गों से नाडी-संस्थान में पहुंचने वाले वेगों की संख्या कम होने से नींद आने में सहायता मिलती है। इसीलिए शान्त कमरे में आँखें बन्द कर लेट रहने से नींद जल्दी आती है। श्रम से भी नींद जल्दी आती है क्योंकि इसके कारण केन्द्रीय नाडीमण्डल उत्तेजनाओं का ग्रहण नहीं कर सकता।

सोने के बाद प्रथम दो घण्टों तक निद्रा गम्भीर होती है, उसके बाद हलकी हो जाती है और स्वल्प उत्तेजना से भी निद्रित व्यक्ति जगाया जा सकता है। निद्रा से सुषुम्नाकाण्ड की अपेक्षा मस्तिष्क अधिक प्रभावित होता है और मस्तिष्क भी हलकी निद्रा होने पर स्वप्नों का शिकार बन जाता है। नींद आने पर शब्दसंज्ञा सबसे अन्त में लुप्त होती है और जागते समय सर्वप्रथम प्रकट होती है।

निद्रा का कारण

निद्रा क्यों आती है और इसकी प्रक्रिया क्या है, इसके सम्बन्ध में अनेक अनुसंधानों के बाद भी निश्चित ज्ञान नहीं हो सका है। ब्रह्मगुहा के तल के धूसर भाग में और कन्दाधरिक भाग में निद्रा से सम्बन्ध रखने वाला केन्द्र होता है जिसकी विकृति से निद्रा और तन्द्रा बढ़ती है। निद्रा की प्रक्रिया के सम्बन्ध में निम्नांकित मत प्रचलित हैं :—

(१) होवेल नामक अमेरिकन शास्त्रज्ञ का मत है कि मस्तिष्क में रक्त की कमी तथा अन्य अंगों में रक्त का आधिक्य होने से निद्रा उत्पन्न होती है। भोजन के बाद पचनसंस्थान में रक्ताधिक्य हो जाने से मस्तिष्क में रक्त की कमी हो जाती है। इसी से भोजन के बाद निद्रा या तन्द्रा प्रतीत होती है। जाड़े के दिनों में पर्याप्त गरम कपड़ा न होने से नींद नहीं आती, क्योंकि त्वचा की रक्तवाहिनियाँ सिकुड़ जाने से मस्तिष्क में रक्ताधिक्य हो जाता है।

(२) कुछ शास्त्रज्ञों का यह मत है कि जाग्रत अवस्था में शरीर में ऐसे रासायनिक द्रव्य उत्पन्न होते हैं जो पर्याप्त मात्रा में संचित होकर मस्तिष्क पर प्रभाव डालते हैं जिससे निद्रा आती है। इसी प्रकार निद्रावस्था में ऐसे द्रव्य उत्पन्न होते हैं जिससे नींद खुल जाती है।

(३) तीसरा मत यह है कि जाग्रत अवस्था में मस्तिष्कगत नाडीकोषा-

णुओं के अक्षतन्तु आपस में भलीभांति मिले रहते हैं जिससे नाडीवेगों के संवहन के परिणामस्वरूप संज्ञा होती है। निद्रितावस्था में ये अक्षतन्तु सिकुड़ जाते हैं जिससे इनका पारस्परिक सम्बन्ध विच्छिन्न हो जाता है जिससे वेगों का संवहन नहीं हो पाता। इसी के परिणामस्वरूप संज्ञानाश उत्पन्न होता है जिसे निद्रा कहते हैं।

(४) पैवलोव नामक वैज्ञानिक का मत है कि निद्रा सांकेतिक निरोध का परिणाम है। प्राणियों के शरीर में अनेक सहज प्रत्यावर्तन क्रियायें होती हैं जिनका सांकेतिक रूप से निरोध भी होता है। रात्रि के समय बिस्तरा आदि निद्रानुकूल संकेतों का निरोधक प्रभाव मस्तिष्क पर पड़ने से प्राणी को स्वयं नींद आ जाती है।[1]

---
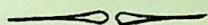
१. हृदयं चेतनास्थानमुक्तं सुश्रुत देहिनाम्।
तमोभिभूते तस्मिंस्तु निद्रा विशति देहिनम्॥
निद्राहेतुस्तमः सत्त्वं बोधने हेतुरुच्यते।
स्वभाव एव वा हेतुर्गरीयान् परिकीर्त्यते॥—सु० शा० ४

चतुर्थ अध्याय

सर्वेन्द्रियार्थानामभिवोढा

संज्ञा (Sensation)

जब शरीर के किसी भाग में उत्तेजना पहुंचाई जाती है तो उसका कुछ प्रभाव अवश्य होता है। यही प्रभाव जब चैतन्य में प्रतिबिम्बित होता है तो उसे संज्ञा कहते हैं। संज्ञा की उत्पत्ति के लिए निम्नांकित तीन रचनाओं की आवश्यकता होती है :—

१. संज्ञाग्राहक प्रान्तभाग २. नाडी ३. परिसरकेन्द्र

संज्ञाग्राही भाग उत्तानरूप में शरीर के आवरक तन्तु तथा गम्भीररूप में संयोजक तथा पेशीतन्तु में पाये जाते हैं।

संज्ञा का वर्गीकरण

संज्ञायें अनेक प्रकार की होती हैं जिनका वर्गीकरण अनेक दृष्टिकोणों से किया गया है, यथा :—

(क) गम्भीरता की दृष्टि से—दो प्रकार की होती है :—

(१) त्वाची (Cutaneous)—ये त्वचा में उत्पन्न होती हैं यथा शीतोष्ण आदि।

(२) गम्भीर (Deep)—यह पेशीसन्धि आदि शरीर के गम्भीर अङ्गों में उत्पन्न होती हैं।

(ख) अधिष्ठान की दृष्टि से—

(१) बाह्य (External)—इनमें शरीर के बाहर आनेवाली संज्ञाओं यथा रूप, शब्द, गन्ध, रस और स्पर्श का समावेश होता है।

(२) आभ्यन्तर (Internal)—इसमें शरीर के भीतर उत्पन्न होनेवाली गम्भीर और आशयिक संज्ञाओं का अन्तर्भाव होता है।

(ग) उत्तेजना की दृष्टि से—

(१) बाह्य (Exteroceptive)—यह त्वचा में या उसके निकटवर्ती-प्रान्त भागों की उत्तेजना से उत्पन्न होती है।

(२) गम्भीर (Proprioceptive)—यह पेशी, कण्डरा तथा सन्धियों में स्थित प्रान्त भागों की उत्तेजना से उत्पन्न होती है।

(३) आशयिक (Enteroceptive)—ये आशयों तथा रक्तवाहिनियों में उत्पन्न होती हैं।

संज्ञा के गुणधर्म

१. स्वरूप—यथा ताप और शब्द में भेद।

२. प्रकार—यथा नील और पीत में भेद।

३. तीव्रता ४. आयाम ५. स्थानीयता ६. अवधि

७. मानस प्रभाव—सुख-दुःख आदि।

प्रत्येक संज्ञा का विचार करते समय इन गुणधर्मों का ध्यान रखना होता है।

संज्ञा के गुणधर्म को प्रभावित करने वाले कारण

१. उत्तेजक की तीव्रता। २. उत्तेजक के कम्पन।

३. उत्तेजक की अवधि। ४. संज्ञाग्राही यन्त्र की स्थिति।

५. निकटवर्ती संज्ञायन्त्रों की स्थिति। ६. मानस स्थिति।

आशयिक संज्ञायें

क्षुधा :— यह संज्ञा आमाशय में स्थित प्रान्तभागों की उत्तेजना से उत्पन्न होती है। क्षुधा (Hunger) और बुभुक्षा (Appetite) भिन्न संज्ञायें हैं। क्षुधा की संज्ञा कष्टदायक होती है और आमाशय के सङ्कोच के कारण उसके पेशीस्तर में स्थित प्रान्त भागों की उत्तेजना से उत्पन्न होती है। बुभुक्षा उसका मृदु रूप है और आमाशयिक श्लेष्मल कला में स्थित संज्ञाग्राही प्रान्त-भागों की उत्तेजना से उत्पन्न होता है। यह संज्ञा अनुकूल होती है और अनुभूत रस और गन्धयुक्त भोजन की स्मृति से सम्बन्धित होती है। अतः इसमें मानसभावों का महत्त्वपूर्ण भाग होता है। इसीलिए आमाशयिक श्लेष्मल कला के विकारों में बुभुक्षा की कमी हो जाती है।

यह उत्तेजना किस प्रकार होती है, यह पूर्णतः ज्ञात नहीं है। कुछ लोगों का अनुमान है कि आमाशय के रिक्त होने से उत्तेजना होती है और कुछ का विचार है कि आमाशयिक पेशियों के संकोच से संज्ञा उत्पन्न होती है। ऐसा भी समझा जाता है कि शरीर में सात्मीकरण के फलस्वरूप उत्पन्न कुछ रासायनिक पदार्थ प्रान्तभागों को उत्तेजित करते हैं। ओषजनीभवन के कारण ये पदार्थ उत्पन्न होते हैं, इसीलिए व्यायाम के बाद भूख लग जाती है तथा इक्षुमेह में भी बुभुक्षा अधिक लगती है।

रुचिकर या अरुचिकर भोज्यपदार्थों या जल से आमाशय भर लेने पर भूख शान्त हो जाती है। इसके विपरीत, ज्वर में शक्त्युत्पादक द्रव्यों की शरीर में कमी होने पर भी भूख नहीं लगती। इससे स्पष्ट है कि यह संज्ञा स्थानीय है न कि शक्त्युत्पादक द्रव्यों की कमी होने के कारण साधारण

धातुओं में उत्पन्न । फिर भी साधारणतः धातुओं में शक्त्युत्पादक द्रव्यों की कमी होने के पहले ही भूख लग जाती है जिससे शरीर में क्षय नहीं होने पाता ।

कुछ विद्वान् मानते हैं कि भूख एक सामान्य संज्ञा है जो शरीर के सभी भागों में उत्पन्न होती है किन्तु आमाशय में प्रतीत होती है । उनका मत है कि शरीर में जब आहार का पाचन और पोषण हो जाता है तो रक्त में पोषक-पदार्थों की कमी हो जाती है और उसका प्रभाव धातुओं पर पड़ता है जिससे क्षुधा की संज्ञा उत्पन्न होती है; किन्तु यह प्रमाणित नहीं होती क्योंकि अनशनकाल में क्षुधा बढ़ने के बदले क्रमशः घटती जाती है और अन्त में बिलकुल लुप्त हो जाती है ।

तृष्णा (Thirst) :—स्वभावतः यह संज्ञाग्रसनिका के पृष्ठभाग पर प्रतीत होती है और वहाँ स्थित कण्ठरासनी नाडी के प्रान्त भागों की उत्तेजना से उत्पन्न होती है । इसीलिए ग्रसनिका की श्लेष्मलकला के स्पर्शमात्र से तृष्णा शान्त हो जाती है । लवण या शुष्क पदार्थों के खाने से श्लेष्मल कला सूख जाने के कारण भी तृष्णा उत्पन्न होती है । इसे स्थानीय तृष्णा (Pharyngeal thirst) कहते हैं[1] । किन्तु शरीर में जलांश की कमी होने के कारण जो प्यास लगती है, वह केवल स्थानीय संज्ञा नहीं है, बल्कि अनेक धातुओं के संज्ञाग्राहक प्रांतभागों तथा अनेक संज्ञावह नाडियों की उत्तेजना से उत्पन्न होती है । इसीलिए प्यास के साथ-साथ पीडा और तीव्र शरीर और मानस कष्ट होता है । अधिक देर तक जल नहीं लेने से धातुओं में जलांश की कमी हो जाती है जिससे मुँह और गला सूखना, त्वचा शुष्क, त्वक्शय्या का सिकुड़ना और मूत्रस्राव की कमी ये लक्षण उत्पन्न होते हैं ।[2]

कुछ लोग तृष्णा की उत्पत्ति गले में मानते हैं और कुछ लोग गला सूखना एक लक्षणमात्र मानते हैं तथा इसे एक सामान्य संज्ञा मानते हैं जो शरीर में जलांश की कमी होने से उत्पन्न होती है । इसीलिए जल या लवण विलयन का अन्तःक्षेप करने से शान्ति हो जाती है ।

क्षुधा के समान तृष्णा भी शरीर की आवश्यकता की सूचक है और शरीर को क्षय से बचाती है । शरीर से फुफ्फुसों, त्वचा तथा वृक्कों के द्वारा निरन्तर जल का क्षय होता रहता है । इसका प्रभाव सीधे रक्त पर पड़ता है जो इस क्षति की पूर्ति के लिए धातुओं से जल को शोषित कर लेता है ।

---

१. पित्तं सवातं कुपितं नराणां तालु प्रपद्य जनयेत् पिपासाम् ।—मा० नि०
२. स्रोतःस्वपांवाहिषु दूषितेषु दोषैश्च तृट् संभवतीह जन्तोः ।—मा० नि०

जब हम जल पीते हैं तब ये धातु पुनः सन्तृप्त हो जाते हैं। इस प्रकार तृष्णा की संज्ञा के द्वारा धातुओं में जल का परिमाण सन्तुलित और नियमित रहता है।

रसना

रसना या जिह्वा स्वादग्रहण, चर्वण, निगरण तथा भाषण कार्य का साधन अङ्ग है, तथापि इसका मुख्य कार्य रसज्ञान का ग्रहण करना है अतः रसनेन्द्रिय का अधिष्ठान होने के कारण इसे रसना कहते हैं।[1]

यह प्रधानतः मांसपेशियों से बनी है और पतली श्लेष्मलकला से आवृत रहती है। इसके दो पृष्ठ होते हैं, ऊर्ध्व और अधः। ऊर्ध्वपृष्ठ रसनापृष्ठ कहलाता है जिसमें स्वादांकुर प्रचुर संख्या में पाये जाते हैं। अधःपृष्ठ में हन्वधरीय तथा जिह्वाधरीय लाला ग्रन्थियों एवं तनुजलस्रावी ग्रन्थियों का मुख खुलता है। इसकी वाम और दक्षिण दो धारायें होती हैं जो आगे की ओर मिलकर रसनाग्र बनाती हैं। रसनाग्र में स्वादांकुर अधिक संख्या में हैं तथा यह विशेषकर रस और स्पर्श संज्ञा का ग्रहण करता है। रसना में स्वादांकुरों के अतिरिक्त श्लेष्मग्रन्थियाँ तथा लसीका पिण्ड भी पाये जाते हैं।

स्वादांकुर (Lingual papillae)

ये अंकुराकार रसग्रहण के साधन हैं जो रसना के ऊर्ध्व तल और परिधिभाग में अत्यधिक संख्या में स्थित होते हैं। इन्हीं के कारण जिह्वा में स्वाभाविक रूखापन होता है। स्वादांकुर तीन प्रकार के होते हैं।

(१) कूर्चाकार (Conical and filiform) :—ये सबसे अधिक संख्या में होते हैं और रसना के समस्त ऊर्ध्वपृष्ठ में विशेषतः मध्यभाग में पाये जाते हैं। इनमें कुछ कूर्चाकार और कुछ गोपुच्छाकार पाये जाते हैं। ये स्थूल आवरक कला से आवृत होते हैं जो कभी-कभी प्रवर्धनों तथा मांसाहारी जन्तुओं में कण्टकाकार भागों के रूप में जिह्वा के पृष्ठभाग में निकली रहती है।

---

१. मनःपुरःसराणीन्द्रियाण्यर्थग्रहणसमर्थानि भवन्ति । तत्र चक्षुः श्रोत्रं घ्राणं रसनं स्पर्शनमिति पञ्चेन्द्रियाणि । पञ्चेन्द्रियद्रव्याणि खं वायुर्ज्योतिरापो भूरिति । पञ्चेन्द्रियाधिष्ठानानि-अक्षिणी कर्णौ नासिके जिह्वा त्वक् चेति ।

पञ्चेन्द्रियार्थाः—शब्दस्पर्शरूपरसगन्धाः । पञ्चेन्द्रियबुद्धयः–चक्षुर्बुद्ध्यादिकाः ताः पुनरिन्द्रियेन्द्रियार्थसत्वात्मसन्निकर्षजाः क्षणिकाः निश्चयात्मिकाश्च । इत्येतत् पञ्चपञ्चकम् । (च० सू० ८)

रसना
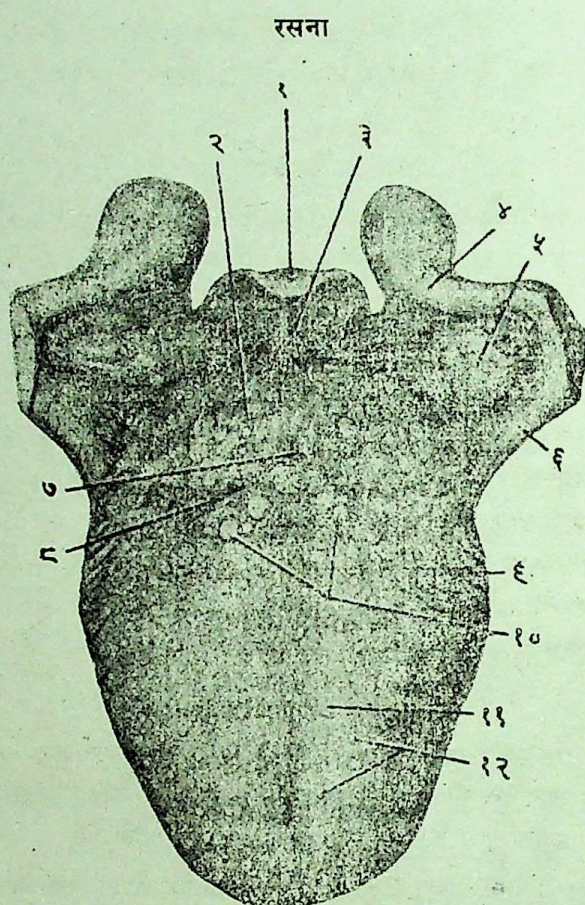
१. अधिजिह्विका २. रसना का गलीय भाग ३. रसनाधिजिह्विकीय स्तर ४. तालुगर्लीय तोरण ५. उपजिह्विका ६. तालुजिह्वीय तोरण ७. छिद्र ८. परिखा ९. रसनास्तर १०. स्वादकोरक ११. रसना का मौखिक भाग १२. स्वादांकुर

(२) शिलीन्ध्राकार (Fungiform)—ये छत्राक के समान ऊपर की ओर फैले तथा नीचे की ओर संकुचित होते हैं। ये मुख्यतः रसना के अग्रभाग तथा दोनों पार्श्वों में पाये जाते हैं।

(३) द्वीपाकार (Gircumvallate) :—ये स्थूल परिखावेष्टित दुर्ग के समान रसना-पृष्ठ के पश्चिम तृतीयांश में स्थित हैं। ये संख्या में ८ या १० होती हैं और जिह्वामूल में V के आधार में व्यवस्थित हैं। इनके केन्द्र में गढ़ा

होता है और बाह्य वेष्टन में छोटी-छोटी ग्रन्थियाँ (Glands of ebner) खुलती हैं जिससे तनु जलीय स्राव होता है। इनमें भी स्वादकोरकों का प्राचुर्य होता है।

नाडियाँ

रसना में अनेक नाडियाँ जाती हैं। इसके प्रत्येक अर्धभाग में निम्नांकित नाडियाँ हैं :—

(क) रसग्राही नाडियाँ :—

(१) सप्तमी नाडी की रसग्रहा कर्णान्तिका (Chorda tympani) नामक शाखा जो रसना के अग्रिम ⅔ भाग में फैली रहती है और अपनी सूक्ष्म शाखाओं के द्वारा स्वादांकुरों में प्रविष्ट होती है।

(२) नवमी नाडी रसनाभिगा शाखा (Lingual branch of glossopharyngeal nerve) जो रसना के पश्चिम ⅓ भाग में फैली है और स्वादांकुरों में अपने सूक्ष्म प्रतानों के द्वारा प्रविष्ट होती है।

(३) प्राणदा नाडी—जो अधिजिह्विक, स्वरयन्त्र की श्लेष्मलकला और स्वरतन्त्रियों से सम्बद्ध है।

(ख) स्पर्शग्राही नाडी रासनी (Linguai nerve) नाम की है जो जिह्वा में सर्वत्र सामान्य रूप से फैली हुई है। यह पञ्चमी नाडी की अधोहानव्या भाग की शाखा है।

(ग) प्रचेष्टनी नाडी—द्वादशी नाडी रसनापेशियों के प्रचेष्टन का कार्य करती है।

स्वादकोरक (Taste buds)

स्वादकोरकों के द्वारा ही रस का ग्रहण होता है। ये अण्डाकार होते हैं और एक विशेष प्रकार के कोषाणुओं से घिरे रहते हैं। इसके भीतर दो प्रकार के कोषाणु होते हैं :—

(१) धारक कोषाणु (Supporting cells)—ये स्वादकोरक की परिधि में ठोस स्तर बनाते हैं।

(२) रसग्राहक कोषाणु (Gustatory cells)—ये पूर्वोक्त कोषाणुओं की अपेक्षा अधिक पतले और कोमल होते हैं। इन कोषाणुओं के अन्तिम भाग में एक रोम-सदृश प्रवर्धन होता है जिसे रसरोम (Taste hair) कहते हैं। और जो स्वादकोरक के रसरन्ध्र (Gustatory pore) से बाहर निकला रहता है। रसग्राही नाडियों के सूत्र इन कोषाणुओं के दूसरे प्रान्त में शाखा प्रशाखाओं के द्वारा परस्पर मिलकर समाप्त हो जाते हैं।

ये स्वादकोरक द्वीपाकार एवं शिलीन्ध्राकार स्वादांकुरों, कोमलतालु,

अधिजिह्विका, स्वरतन्त्री, स्वरयन्त्र, ग्रसनिका के पश्चिम भाग तथा कपोल के अन्तःपृष्ठ पर पाये जाते हैं।

युवा व्यक्तियों की अपेक्षा बच्चों में ये स्वादकोरक अधिक क्षेत्र में फैले रहते हैं।

रस का ग्रहण

जिह्वा पर रक्खे हुये पदार्थ जब द्रव अवस्था में होते हैं या लाला में उनका विलयन हो जाता है तभी उनसे रस का ज्ञान होता है[1]। ये द्रवीभूत पदार्थ स्वादकोरकों में स्थित रसग्राही कोषाणुओं के रसरोमों के अग्रभागों को उत्तेजित करते हैं और वहाँ से रस का ग्रहण होकर नाडियों की शाखाओं के द्वारा मस्तिष्क तक पहुँचता है।

स्वादकोरकों के द्वारा ही रस का ग्रहण होता है, इसके पक्ष में निम्नांकित प्रमाण हैं :—

(१) जिह्वा की श्लैष्मिक कला के उन भागों में जहाँ इनकी संख्या कम होती है, वहाँ रसज्ञान कम तथा जहाँ ये अनुपस्थित होते हैं, वहाँ रसज्ञान का अभाव होता है।

(२) जहाँ ये अधिक संख्या में होते हैं वहाँ स्वाद का ज्ञान अधिक तीव्र होता है।

(३) कण्ठरासनी नाडी को काट देने पर जिह्वा के मूल में स्थित स्वाद-कोरक नष्ट हो जाते हैं।

रस का संवहन

रसज्ञान तथा गन्धज्ञान का अधिष्ठान मस्तिष्कगत अङ्कुश कर्णिका तथा उपधान पिण्डिका माना जाता है। उस अधिष्ठान केन्द्र तक निम्नांकित क्रम से रसज्ञान का संवहन होता है :—

(क) जिह्वा के अग्रिम $\frac{2}{3}$ भाग से :—सरस पदार्थ स्वादकोरकों के भीतर स्थित।

(१) रसग्राही कोषाणुओं के रसरोमों को उत्तेजित करते हैं। यह उत्तेजना

(२) जिह्वानाडी—में पहुँचती और फिर रससंवाहक सूत्रों द्वारा

(३) रसग्रहा कर्णान्तिका नाडी—में पहुँचती है जो पञ्चमी नाडी से पृथक् होकर मौखिकी नाडी में मिल जाती है और

---

१. 'जिह्वामूलकण्ठस्थो जिह्वेन्द्रियस्य सौम्यत्वात् सम्यक् रसज्ञाने वर्तते'।
—सु० सू० २१

(४) जानुकगण्ड (Geniculate ganglion) में समाप्त हो जाती है। यहाँ से उत्तेजना का वेग सप्तम शीर्षण्यनाडी की

(५) मध्यसी नाडी (Nervous intermedius of wisberg) के द्वारा आगे बढ़ती है और

(६) मौखिकी नाडी के संज्ञाधिष्ठान केन्द्रतक पहुँचती है। इसका सम्बन्ध—

(७) अङ्कुशकर्णिका—से होता है जहाँ रससंज्ञा पहुँच कर रसायन में परिणत हो जाती है।

(ख) जिह्वा के पश्चिम ⅓ भाग से

जिह्वा के पश्चिम ⅓ भाग से रससंज्ञा का संवहन निम्नांकित क्रम से होता है :–सरस पदार्थ स्वादकोरकों के भीतर स्थित

(१) रसग्राही कोषाणुओं—के रसरोमों को उत्तेजित करते हैं। यह उत्तेजना

(२) कण्ठरासनी नाडी—के द्वारा

(३) अधर अनुमन्याक गण्ड (Peterous ganglion)—तक पहुँचती है। वहाँ से

(४) कण्ठरासनी नाडी के केन्द्रकों—में जाती है, जिनका सम्बन्ध

(५) अङ्कुशकर्णिका—से होता है। यही रससंज्ञा रसज्ञान में परिणत होती है।

कुछ विद्वानों के मत में रससंवाहक सूत्र पंचमी नाडी से उत्पन्न होते हैं और वहाँ से अर्धचन्द्रगण्ड (Semilunar ganglion) से होते हुए अङ्कुश-कर्णिका तक पहुंचते हैं।

रसों का वर्गीकरण

मधुर, अम्ल, लवण और तिक्त ये चार रस प्राथमिक माने गये हैं।[1] अन्य रस इन्हीं के पारस्परिक संयोग से उत्पन्न होते हैं। कुछ विद्वान् पहले चार-

---

1. आयुर्वेद में छः रस माने गये हैं।
"षडेव रसा इत्युवाच भगवानात्रेयः पुनर्वसुः" मधुराम्ललवणकटुकतिक्तकषायाः।" —च० सू० २६
'रसाः स्वाद्वम्ललवणतिक्तोषणकषायकाः।
षड् द्रव्यमाश्रितास्ते तु यथापूर्वम् बलावहाः॥
तत्राद्या मारुतं घ्नन्ति त्रयस्तिक्तादयः कफम्।
कषायतिक्तमधुराः पित्तमन्ये तु कुर्वते॥—वा० सू० १

वीय और क्षारीय रसों की भी पृथक् गणना करते थे, किन्तु अब ये प्राथमिक रस नहीं माने जाते। ये वस्तुतः रस, गन्ध और पेशी संज्ञा के संयुक्त रूप से प्रादुर्भूत होते हैं। तीक्ष्ण, कषाय आदि का ज्ञान मुख की श्लेष्मलकला की सामान्य संवेदना के कारण होता है। वे द्रव, जिनमें लाला की अपेक्षा लवण की मात्रा कम होती है, स्वादरहित मालूम होते हैं। मिर्च आदि कटु पदार्थों का स्वाद गन्धज्ञान तथा सामान्य संज्ञावह सूत्रों की उत्तेजना से प्रतीत होता है।

रससंज्ञा का वितरण

सभी रसों का ज्ञान जिह्वा पर सर्वत्र समानरूप से नहीं होता। सामान्यतः जिह्वा के मूल भाग में तिक्त, जिह्वा के अग्रभाग में मधुर और लवण और जिह्वा की धाराओं और अग्रभाग को छोड़कर समस्त पृष्ठ भाग में अम्ल रस की प्रतीति होती है।

विभिन्न रसों की प्राथमिकता भी भिन्न होती है। जिह्वाग्र पर सर्वप्रथम लवण तब मधुर, तब अम्ल और अन्त में तिक्त रस का ज्ञान होता है। इस आधार पर यह समझा जाता है कि प्रत्येक रस के लिये पृथक्-पृथक् ग्राहक भाग होते हैं जिनकी उत्तेजना से एक विशिष्ट नाड़ी-शक्ति के द्वारा विशिष्ट ज्ञान उत्पन्न होता है। इसके निम्नांकित प्रमाण हैं :—

१. जिह्वा में ऐसे संवेदनाशील बिन्दु हैं जो एक प्रकार के रस से उत्तेजित होते हैं, दूसरे से नहीं।

२. कुछ पदार्थ ऐसे हैं जिनका रसना के विभिन्न भागों से सम्पर्क होने पर भिन्न-भिन्न रस उत्पन्न होते हैं यथा ग्लाबर का लवण (Glaubers Salt) जिह्वाग्र में लवण तथा जिह्वामूल में तिक्त प्रतीत होता है। सैकरीन (Sacchrin) जिह्वाग्र में मधुर और जिह्वामूल में कटु लगता है।

३. जिम्नेमिक अम्ल (Gymnemic acid) का प्रयोग करने से मधुर और तिक्त रसों की संज्ञा नष्ट हो जाती है क्योंकि इस द्रव्य का उन्हीं रसों की संज्ञा पर विशिष्ट प्रभाव होता है।

४. जिह्वा पर कोकेन लगाने से सर्वप्रथम स्पर्श और पीडा की संज्ञा नष्ट होती है, फिर तिक्त, मधुर और अम्ल रसों की संज्ञा नष्ट हो जाती हैं। लवण का स्वाद नष्ट नहीं होता।

रससंज्ञा का संमिश्रण

रससंज्ञा अन्य अनेक संज्ञाओं के साथ मिल कर भिन्न रूप में परिणत हो जाती है। पदार्थों के स्वाद में सूक्ष्म अवान्तर भेदों का यही कारण है। उड़नशील पदार्थों का स्वाद उसकी गन्ध के कारण होता है। फलों एवं मद्यों का

स्वाद रस और गन्ध के संमिश्रण से ही विशिष्ट प्रकार का होता है। इसीलिए सर्दी होने पर जब गन्धसंज्ञा में अवरोध होता है, तब भोजन में स्वाद भी कम मालूम होता है। यदि गन्धसंज्ञा बिलकुल नष्ट हो जाय, तो आलू, सेव और प्याज का स्वाद लगभग एक ही समान प्रतीत होगा। नाक बन्द कर कौफी और क्वींनीन एक समान तिक्त मालूम होगा। एरण्ड तैल आदि अनेक पदार्थों का अरुचिकर स्वाद अप्रिय गन्ध के कारण होता है। ऐसे पदार्थों को नाक बंद कर आसानी से पी लिया जा सकता है।

रसों का मिश्रण अन्ननलिका की अङ्गसंज्ञाओं से भी होता है जिससे भोजन में रुचि और अरुचि का अनुभव होता है। उष्ण और शीत पदार्थों के रसास्वादन में रससंज्ञा स्पर्शसंज्ञा से मिली रहती है। इसीलिए गरम चाय ठंढी चाय के स्वाद में अन्तर मालूम होता है।

रस और रासायनिक संघटन

विभिन्न द्रव्यों का रस उसके रासायनिक संघटन पर निर्भर होता है। यथा उदजन अणुओं की उपस्थिति से अम्लरस तथा उदजनौष (OH) अणुओं की उपस्थिति से क्षारीय स्वाद होता है। सभी आमिषाम्ल मधुर होते हैं। इनके संयोग से उत्पन्न बहुपाचित मांसतत्त्व (Pdypeptide) तथा मांसतत्त्व के जलीय विश्लेषण से उत्पन्न मांसतत्त्वसार में तिक्तरस होता है। अनेक मद्यसार तथा शर्करा मधुर होते हैं, किन्तु इनके धातवीय उत्पन्न द्रव्य तिक्त होते हैं। तथापि इसके सम्बन्ध में किसी निश्चित नियम का ज्ञान अभी तक नहीं हो सका है।

रसोत्तेजना का स्वरूप

इस प्रकार रस एक रासायनिक संज्ञा है जिसमें द्रवरूप या लाला में विलेय कोई रासायनिक द्रव्य उत्तेजक होता है। रसग्राह्यपदार्थ का तापक्रम १०° और ३३° सेण्टीग्रेड के बीच होना चाहिये। अत्यल्प तापक्रम संवेदनीयता को नष्ट कर देता है। पीछे बतलाया गया है कि अविलेय द्रव्य स्वादरहित होते हैं, इसलिए स्वादकोरकों के निकट अनेक स्नैहिक और श्लैष्मिक ग्रन्थियाँ हैं जिनके स्राव पदार्थों को विलीन करने में सहायक होते हैं। जिस प्रकार जिह्वा के पृष्ठ भाग पर किसी द्रव्य को रखने से स्वाद का ज्ञान होता है, उसी प्रकार रक्तप्रवाह में स्थित द्रव्य भी स्वादकोरकों को उत्तेजित करते हैं—यथा इक्षुमेह में रक्त में शर्करा अधिक मात्रा में होने से मुख में माधुर्य प्रतीत होता है तथा कामला में रक्त में पित्त की उपस्थिति से तिक्त रस मुख में अनुभव किया जाता है।

रसों का आन्तरिक प्रयोग

एक रस के बाद दूसरे रस का प्रयोग करने से उसकी अनुभूति में अन्तर आ जाता है। यथा गन्धकाम्ल के बाद परिस्रुत जल भी पीने से खट्टा मालूम होता है। थोड़ा नमक खाने के बाद मीठा खाने पर मिठास अधिक मालूम होती है।

रसनेन्द्रिय का महत्त्व

ज्ञानसाधन की दृष्टि से रसनेन्द्रिय कोई विशेष महत्त्व नहीं रखती तथापि अनुभूति की दृष्टि से इसका अत्यधिक महत्त्व है। इसके द्वारा अनुकूल वस्तुओं से सुख तथा प्रतिकूल वस्तुओं से दुःख का अनुभव होता है।

घ्राण

अन्य स्तनधारी जन्तुओं की अपेक्षा मनुष्य में घ्राणेन्द्रिय कम विकसित होती है। गन्धसंज्ञा का ग्रहण घ्राणेन्द्रिय के द्वारा होता है। गन्धादान-यन्त्रिका मनुष्य में ऊर्ध्वशुक्तिका को आवृत करने वाली श्लेष्मल कला तथा

नासा
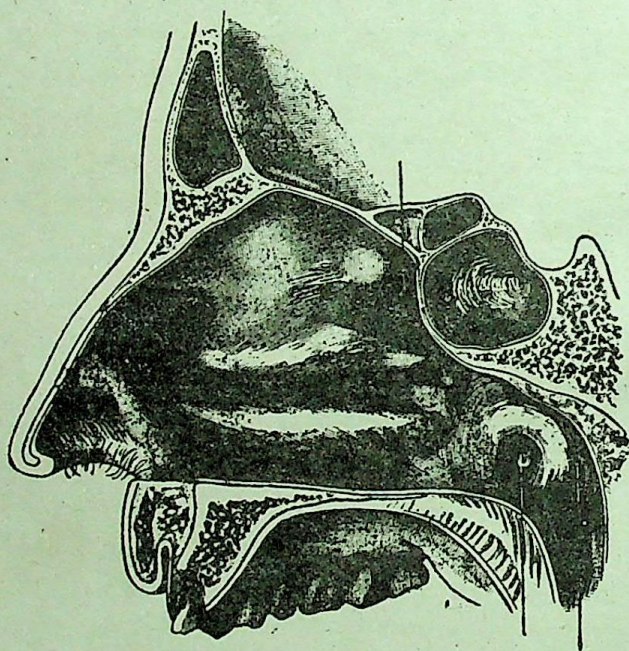
नासाप्राचीर के कुछ भाग में सीमित है। इसका क्षेत्र २४५ वर्ग मिलीमीटर है। गन्ध का ग्रहण घ्राणकोषाणुओं से होता है। ये कोषाणु लम्बे आवरक कोषाणु के समान होते हैं। इनके एक प्रान्त में रोमसदृश प्रवर्धन होते हैं और

दूसरे प्रान्त से नाड़ीसूत्र निकलते हैं, जो झर्झरास्थि के चालनीपटल से होते हुये करीराकृतिकोषाणुओं से सन्धि स्थापित कर घ्राणपिण्ड में समाप्त हो जाते हैं। ये कोषाणु धारक कोषाणुओं के बीच में रहते हैं। ये वस्तुतः नाड़ीकोषाणु हैं और इस प्रकार नेत्र के अन्तःपटल में स्थित शंकु और शलाकाओं से इनकी तुलना की जा सकती है। अनेक घ्राणकोषाणु एक करीराकृतिकोषाणु से संबद्ध रहते हैं।

गन्धादानयन्त्रिका विशिष्ट कोषाणुओं के चार स्तरों से बनी हुई है :—

१. प्रथम स्तर में श्लेष्मलकला के स्तम्भाकार कोषाणुओं के बीच में घ्राण-कोषाणु स्थित हैं जिनके अग्रभाग पर रोमिकायें रहती हैं। गन्धयुक्त वस्तुओं के कणों से इन्हीं का संपर्क होता है। ये कण श्लेष्मा में विलीन होकर गंधसंज्ञा उत्पन्न करते हैं। अतः बिलकुल सूखी या प्रतिश्याय आदि में श्लेष्माधिक्य होने पर श्लेष्मलकला के द्वारा गन्धज्ञान नहीं होता।

नासा की श्लेष्मल कला
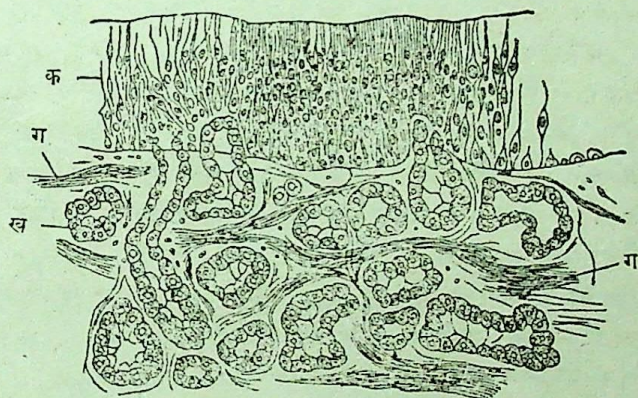
(क) आवरक तन्तु (ख) नासाग्रन्थियाँ (ग) नाडीगुच्छ

२. द्वितीय स्तर में घ्राणकोषाणुओं के लम्बे अक्षतन्तु होते हैं।

३. तृतीय स्तर में इन तन्तुओं की सूक्ष्म शाखायें करीराकृति-कोषाणुओं के दण्डों से मिलकर गुच्छ बनाती हैं।

४. इस स्तर से करीराकृति चतुर्भुज कन्दाणुक होते हैं।

इन कन्दाणुओं के लम्बे अक्षतन्तु परस्पर मिलकर गुच्छरूप में प्रायः २० की संख्या में होते हैं जो घ्राण नाड़ी की शाखायें कहलाती हैं और ऊपर की ओर झर्झरास्थि के चालनीपटल के द्वारा मस्तिष्क में प्रविष्ट होती हैं।

गन्धसंज्ञा का आदान

गन्धयुक्त पदार्थों के कण वायु के रूप में बाहर निकलते हैं और श्लेष्मल-कला की आर्द्रता में विलीन होकर घ्राणकोषाणुओं की उत्तेजनाशील रोमिकाओं पर रासायनिक प्रभाव डालते हैं। ये कण घ्राणकोषाणुओं तक पूर्व नासारंध्रों या पश्चिम नासारन्ध्रों से पहुँचते हैं। श्वसित वायु ऊर्ध्वशुक्तिका की पूर्वाधोधारा के ऊपर नहीं पहुँचती, अतः घ्राणप्रदेश से उसका साक्षात् संपर्क नहीं होता यह शरीर के लिए अत्यन्त हितकर होता है, क्योंकि—

(१) शीत श्वसित वायु के साक्षात् संपर्क न होने से घ्राणप्रदेश में कोई क्षति नहीं होने पाती।

(२) वायुवाहित जीवाणु या अन्य हानिकर वस्तुओं के कण वहाँ सञ्चित नहीं होने पाते।

(३) शुष्क वायु के वेग से घ्राणगत आवरकतन्तु शुष्क नहीं होने पाती।

(४) दूषित या विषाक्त बाष्प उसके साक्षात् संपर्क में न आने से वहाँ कोई स्थायी विकार उत्पन्न नहीं कर पाते।

श्वसित वायु का घ्राणप्रदेश की स्थिर वायु से मिश्रण होने पर गन्धसंज्ञा उत्पन्न होती है। इसीलिए गन्धज्ञान में कुछ विलम्ब होता है। नस्य लेने पर वायु का घ्राणप्रदेश से साक्षात् संपर्क होता है, जिससे गन्धकण अधिक संख्या में घ्राणकला में पहुँचते हैं। अधिक परमाणुभार होने तथा बाष्पप्रमाण की गति मन्द होने से गन्ध कम प्रतीत होती है। घ्राणेन्द्रिय वायुवाहित गतिशील कणों से अत्यधिक उत्तेजित होती है। जब हम नस्य लेते हैं तब घ्राणयन्त्र में स्थित वायु ऊपर खिंच जाती है और गन्धवाहक वायु वेग से भीतर की ओर प्रविष्ट होकर घ्राण पृष्ठ के सम्पर्क में आ जाती है। जितने घ्राणकोषाणु गन्धकणों के द्वारा प्रभावित होते हैं, गन्ध की तीव्रता उतनी ही होती है।

गंधसंज्ञा का संवहन

गन्धयुक्त पदार्थ रासायनिक रीति से :—

(१) घ्राणकोषाणुओं—की रोमराजि को उत्तेजित करते हैं। यह उत्तेजना।

(२) घ्राणनाड़ीसूत्रों—के द्वारा आगे बढ़कर

(३) घ्राणपिण्ड—में पहुँचती है। वहाँ पर वह

(४) घ्राणनाड़ीगुच्छ—में समाप्त हो जाती है। वहाँ से वह उत्तेजना

(५) करीराकृति कोषाणुओं—से गृहीत होकर उनके अक्षतन्तुओं के द्वारा आगे बढ़ती है। ये अक्षतन्तु

(६) घ्राणनाड़ीतन्त्रिका—बनाते हैं। इनके सूत्र तीन गुच्छों में एकत्रित होकर

(७) चूचुवर्तुलक—(Corpus mamillarie) से होते हुए अन्त में

(८) अंकुशकर्णिका—में पहुँचते हैं। यहीं गन्धसंज्ञा ज्ञान में परिणत होती है।

गंधसंज्ञा का वर्गीकरण

प्राथमिक गन्धसंज्ञाओं को निम्नांकित ६ वर्गों में विभक्त किया गया है :—

१. फलगन्ध (Fruity or ethereal ,—सेव, नीबू आदि
२. उड़नशील गन्ध (Aromatic odour)—कपूर, तिल, बादाम आदि
३. सुगन्ध (Fragrant or flowery)—इत्र वगैरह
४. ज्वलनगन्ध (Burning odour) राल, बिरोजा आदि
५. पूतिगन्ध (Putid odour) हाइड्रोजन सलफाइड आदि।
६. अजागन्ध (Goat odour)—स्वेद, योनिस्राव तथा शुक्र आदि।

प्राथमिक गन्धसंज्ञाओं के पक्ष में निम्नांकित प्रमाण हैं :—

(१) कुछ व्यक्तियों को एक या अनेक विशिष्ट गन्धों की प्रतीति नहीं होती।

(२) कुछ गन्धयुक्त पदार्थ दूसरे ऐसे ही पदार्थों का प्रतिरोध करते हैं या उन्हें उदासीन कर देते हैं यथा कार्बोलिक अम्ल की गन्ध पूतिभवन की क्रियाओं से उत्पन्न गन्ध को नष्ट कर देती है।

(३) एक गन्ध का निरन्तर प्रयोग करने से आवरक कोषाणु श्रान्त हो जाते हैं। ऐसी स्थिति में केवल उसी गन्ध का प्रभाव नष्ट होता है, अन्य गन्धों की प्रतीति उस समय भी होती है।

गन्धसंज्ञा की प्राकृत शक्ति के अनुसार प्राणियों को तीन वर्गों में विभक्त किया गया है :—

१. अघ्राण (Anosmatic)—
२. मन्दघ्राण (Microsmatic)—
३. तीव्रघ्राण (Macrosmatic)—

मनुष्य द्वितीय वर्ग में आता है। तृतीय वर्ग के प्राणियों में घ्राणकला स्थूल होती है और घ्राणप्रदेश भी विस्तृत होता है।

गन्धनाश (Anosmia)

निम्नांकित कारणों से उत्पन्न होता है :—

(१) घ्राणपिण्ड में आघात।

(२) इन्फ्लुएञ्जा या नासा के अन्य तीव्र उपसर्ग के बाद ।
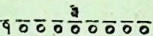
गन्धवैषम्य (Parosmia)

यह निम्नांकित कारणों से होता है :—

१. घ्राण केन्द्र का आघात २. उन्माद

न्यूनतम उत्तेजक (Threshold stimulus)

गन्धसंज्ञा रससंज्ञा से भी अधिक सूक्ष्म है, यहाँ तक कि १०००३०००० ग्रेन कस्तूरी की गन्ध स्पष्टतया प्रतीत हो सकती है। गन्ध ज्ञान के लिए न्यूनतम आवश्यक उत्तेजक को न्यूनतम उत्तेजक (Threshold stimulus) कहते हैं। इसका निर्धारण किसी गन्धयुक्त पदार्थ को एक निश्चित अवधि तक घटाने से होता है। अमोनिया के समान कटु पदार्थ इस प्रयोग के लिए उपयुक्त नहीं होते, क्योंकि वे घ्राणनाड़ी के साथ-साथ पञ्चमी नाड़ी के संज्ञावह सूत्रों को भी उत्तेजित करते हैं।

घ्राणमापन (Olfactometery)

घ्राणशक्ति की तीव्रता के मापन के लिए निम्नांकित विधि का उपयोग किया जाता है :—

एक बोतल में गन्धयुक्त पदार्थ लिया जाता है और उसमें कुछ अधिक भारयुक्त वायु भर दी जाती है जिससे उसकी डॉट खोलने पर गन्ध के साथ वायु एक निश्चित आयतन में नासाकोटरों में प्रविष्ट होती है। विभिन्न गन्धवान् पदार्थों के लिए वायु के भिन्न-भिन्न आयतनों की आवश्यकता होती है— यथा—

बेन्जीन	५·२६	सी. सी.
कर्पूर	१५·०	,, ,,
लवंग तैल	१७·२२	,, ,,

घ्राणमापक यन्त्र (Zwaarde makers olfactometer)

इसमें गन्धयुक्त पदार्थ की एक रिक्त नलिका होती है जिसके द्वारा वायु नासा में ली जाती है। गन्धयुक्त नलिका की लम्बाई के अनुपात से ही घ्राण की तीव्रता का निश्चय होता है।

ऐसा देखा गया है कि मासिक के पूर्व स्त्रियों की घ्राणशक्ति बढ़ जाती है। इसके विपरीत प्रतिश्याय में अनेक दिनों तक यह कम हो जाती है। किसी वस्तु को कुछ देर तक सूँघने से उसकी गन्ध की तीव्रता कम हो जाती है। इसे अभ्यासन (Adaptation) कहते हैं। इसका कारण यह है कि घ्राणेन्द्रिय अतिशीघ्र श्रान्त हो जाती है। इसी कारण दुर्गन्ध में अधिक देर तक रहने से उसकी तीव्रता कम हो जाती है।

गन्धसंज्ञा का स्वरूप और महत्त्व

गन्धसंज्ञा अति प्राचीन संज्ञा है जिसका आदिम काल से प्राणियों के जीवन से घनिष्ठ सम्बन्ध रहा है। मनुष्य की अपेक्षा मधुमक्खियों, छोटे कीड़ों तथा कुत्तों में यह अधिक विकसित होती है। जन्तुओं में ज्ञानसाधन की दृष्टि से इसका अत्यधिक महत्त्व है। किन्तु मनुष्यों में अनुभव की दृष्टि से इसका महत्त्व देखा जाता है। मनुष्य को गन्ध के द्वारा ही बहुत कुछ इष्टानिष्ट की प्रतीति होती है। गन्ध मौन भावनाओं को भी उत्तेजित करती है, विशेषतः छोटे प्राणियों में इसका प्रभाव अधिक देखा जाता है।

चक्षु

रूपसंज्ञा का ग्रहण चक्षुरिन्द्रिय से होता है जिसका बाह्य अधिष्ठान नेत्र-गोलक होता है। नेत्र गोलक दृष्टिनाडी के अग्रभाग से संबद्ध रहता है जो नेत्र के भीतर प्रविष्ट होकर दृष्टिवितान के रूप में फैली रहती है। चक्षुरिन्द्रिय का आभ्यन्तर अधिष्ठान मस्तिष्क के भीतर होता है जहां से दृष्टिनाडी निकलती है। दृष्टिनाडी के दो प्रभवस्थान होते हैं। आज्ञाकन्द, उत्तराधिपीठिकायें और उत्तरकलायिकायें उत्तान प्रभव तथा त्रिकोणपिण्डिकायें और रासनपिण्डिकायें गम्भीर प्रभवस्थान हैं और ये ही दर्शनेन्द्रिय के आभ्यन्तर अधिष्ठान होते हैं।

नेत्र-रचना

नेत्रगोलक धमनियों, नाडियों तथा पेशियों के सहित नेत्रगुहा में रहता है। उसके आगे नेत्रच्छद तथा अश्रुयन्त्र रहते हैं।

नेत्रच्छद-त्वचा और मांस से आवृत पतले तरुणास्थिपत्रकों से बने होते हैं। इनके किनारों पर अनेक कुटिल पक्ष्म लगे रहते हैं जो धूल और अन्य हानिकर पदार्थों को नेत्र में नहीं घुसने देते और इस प्रकार उसकी रक्षा करते हैं। नेत्रच्छदों की स्पर्शसंज्ञा अत्यन्त तीव्र होती है। नेत्रच्छद की छदपत्रिका (तरुणास्थिपत्रक) में अनेक स्नेह ग्रन्थियां होती हैं, जिनके स्रोत नेत्रच्छदों के स्वतन्त्र किनारों के समीप खुलते हैं।

प्रत्येक नेत्रच्छद का अन्तःपृष्ठ एक कोमल श्लेष्मलकला से आवृत रहता है जिसे नेत्रवर्त्म कहते हैं। यह पलकों के किनारे पर त्वचा से मिली रहती है और नेत्रच्छद के अन्तःपृष्ठ को आवृत करती हुई नेत्रगोलक पर भी फैल जाती है और उसके बाह्य स्तर से कुछ संसक्त रहती है। नेत्र की अन्तर्धारा के पास नेत्रवर्त्म अश्रुकोष और अश्रुस्रोत की श्लेष्मलकला से मिल जाती है।

नेत्रनिमीलनी पेशी के संकोच से नेत्रच्छद बन्द हो जाते हैं और ऊपरी नेत्रच्छद नेत्रोन्मीलनी पेशी से ऊपर की ओर उठता है जिससे नेत्र खुल जाता है। नेत्रनिमीलनी पेशी का संबन्ध मौखिकी नाडी तथा नेत्रोन्मीलनी पेशी का सम्बन्ध तृतीय नाड़ी से होता है। निम्नांकित अवस्थाओं में नेत्र निमीलित हो जाते हैं :—

१. निद्राकाल।
२. तीव्र प्रकाश
३. नेत्र के सामने कोई पदार्थ सहसा आने से।
४. पक्ष्मों के साथ किसी पदार्थ का सम्पर्क होना।
५. स्वच्छमण्डल या नेत्रवर्त्म के क्षोभ से यथा स्पर्श के द्वारा।
६. छींकने के समय।
७. स्वच्छमण्डल तथा नेत्रवर्त्म में जल का संचय करने के लिए।

प्रत्यावर्तित क्रिया के द्वारा नेत्रच्छदों का बन्द होना नेत्रों की रक्षा के लिए एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण कार्य है। यह प्रत्यावर्तित क्रिया पञ्चमी नाडी के चाक्षुष भाग की किसी शाखा को उत्तेजित कर प्रारम्भ की जा सकती है। इस नाड़ी के केन्द्र से उत्तेजनायें तृतीय नाडी के केन्द्र में पहुँचती हैं। यहाँ से सूत्र निकल कर मौखिकी नाड़ी से मिल जाते हैं और वहाँ से उनका सम्बन्ध नेत्रनिमीलनी पेशी से होता है। यह प्रत्यावर्तित क्रिया संज्ञाहर द्रव्यों से भी सब से अन्त में नष्ट होती है।

अश्रुग्रन्थिः—यह नेत्रगुहा के बाह्य और ऊर्ध्व कोण में स्थित है। इसकी रचना लालाग्रन्थियों के समान होती है। इसका स्राव जो अनेक स्रोतों से ऊपरी नेत्रच्छद के अन्तःपृष्ठ पर आता है, इतना ही होता है जिससे नेत्रवर्त्म आर्द्र रहता है। यह नेत्र के अन्तःकोण के निकट दो अश्रुद्वारों से अश्रुकोष में आता है और वहाँ से नासा-नलिका द्वारा नासा की अधोगुहा में आता है। क्षोभक बाष्प या दुखद भावावेशों से अश्रु का स्राव अधिक होने पर वह आँसुओं के रूप में निचले पलकों से बाहर निकल पड़ता है। इसके अतिरिक्त नासागत श्लेष्मलकला के क्षोभ तथा तीव्र प्रकाश से भी अश्रु का स्राव बढ़ जाता है।

अश्रुस्राव रासायनिक दृष्टि से सोडियम क्लोराइड और बाइकार्बोनेट का जलीय विलयन है जिसमें कुछ श्लेष्मा, अलब्यूमिन और अन्य उत्सृष्ट भाग रहते हैं। इसका कार्य नेत्रवर्त्म एवं स्वच्छमण्डल को आर्द्र रखना तथा उनसे जीवाणुओं और बाह्य पदार्थों को हटाना है।

अश्रु का रासायनिक संघटन निम्नांकित हैं :—

	प्रतिशत
जल	९८.२
कुल ठोस द्रव्य	१·८
क्षार	१·०५
कुल नत्रजन	०.१५८
मांसतत्त्वरहित नत्रजन	०·०५१
यूरिया	०·०३
मांसतत्त्व (अलब्यूमिन' ग्योब्यूलिन)	०·६६
शर्करा	०·६५
क्लोराइड (Nacl)	०·६५८
सोड़ियम (Na_2o)	०·६०
पोटाशियम (K_2o)	०·१४
अमोनिया	०·००५

अश्रुस्रावक नाड़ियाँ पञ्चमी नाड़ी की आश्रवी तथा शङ्खगण्डीय शाखाओं और ग्रैवेयक सांवेदनिक में रहती हैं।

नेत्रगोलक

इसका निर्माण तीन स्तरों से होता है :—वाह्य, मध्य और आन्तर[1]

वाह्य स्तर श्वेत सौत्रिक तन्तु से बना हुआ है। इसके दो भाग हैं शुक्लवृति और स्वच्छमण्डल। शुक्लवृति स्थूल है तथा नेत्रगोलक के पश्चिम $\frac{5}{6}$ भाग को आवृत करती है। उसीका सामने की ओर $\frac{1}{6}$ भाग पारदर्शक होता है, उसे स्वच्छमण्डल कहते हैं। स्वच्छमण्डल तथा शुक्लवृति की मण्डलाकार सन्धि को स्वच्छ शुक्लसन्धि कहते हैं। इसी के निकट तारामण्डल तथा सन्धान-मण्डल स्वच्छमण्डल से मिलते हैं। तारामण्डल के कोण पर स्वच्छ-मण्डल का अन्तःस्तर शिथिल है, जिसके बीच-बीच में लसीकावकाश (Spaces of fontana) रहते हैं। ये अग्रिमा जलधानी से संबद्ध रहते हैं। इस कोण के ऊपर सन्धिस्थान पर अग्रिम रसायनिका नामक रसायनी मार्ग है। सन्धि की परिधि में सिराधमनीचक्र होता है। स्वच्छमण्डल में ५ स्तर होते हैं :—

---

१. विद्याद् द्व्यङ्गुलबाहुल्यं स्वाङ्गुष्ठोदरसंमितम्।
द्व्यङ्गुलं सर्वतः सार्धं भिषङ्नयनबुद्बुदम्॥
द्वे वर्त्मपटले विद्याच्चत्वार्यन्यानि चाक्षिणि।—सु० उ० १

१. स्तरित आवरक तन्तु २. पूर्व स्थितिस्थापक सूत्रमय भाग।
३. स्वच्छशार्ङ्गवस्तुमय भाग। ४. पश्चिम स्थितिस्थापक सूत्रमय भाग।
५. अन्तरावरण।
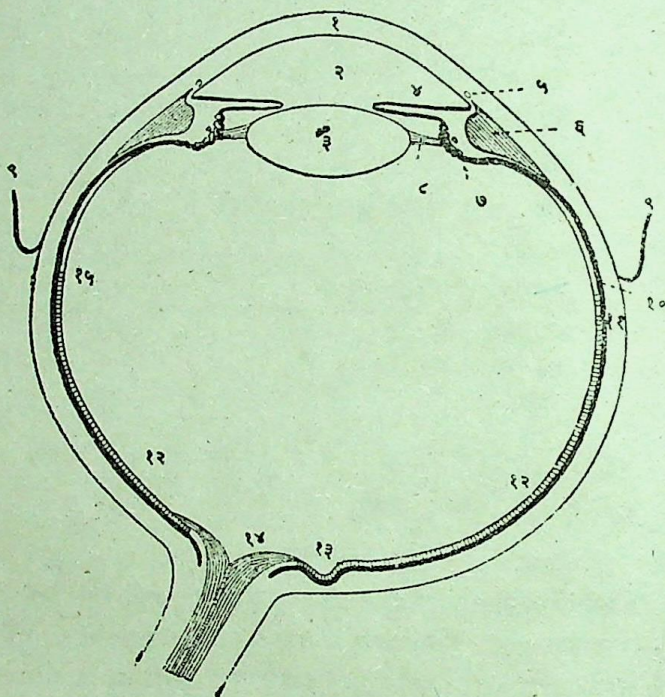
नेत्रगोलक

१. स्वच्छमण्डल २. अग्रिमा जलधानी ३. दृष्टिमण्डल (काच) ४. तारामण्डल ५. रसायनी ६. सन्धानपेशिका ७ सन्धानमण्डल ८. दृष्टिमण्डलबन्धनी ९. नेत्रच्छद १०, कर्बुरवृति ११. शुक्लवृति १२ दृष्टिवितान १३. पीतबिम्ब १४. दृष्टिनाड़ी १५. दृष्टिवितान का अन्त्य भाग।

शुक्लवृति को पीछे की ओर भेद कर दृष्टिनाड़ी तथा सिरायें, धमनियाँ और नाड़ियाँ नेत्रगोलक में प्रविष्ट होती हैं। उसका भीतरी भाग श्यामवर्ण है तथा मध्यस्तर से मिला रहता है।

मध्यस्तर शुक्लवृति और दृष्टिवितान के बीच में रहता है। इसके सामने से पीछे की ओर तीन भाग हैं:—तारामण्डल, संधानमंडल और कर्बुरवृति।

तारामण्डल—यह मध्यस्तर का सामने का भाग है जो संधानमण्डल के

भीतर की ओर रहता है। यह कृष्ण या पिंगलवर्ण का होता है। यह सौत्रिक एवं पेशीतन्तु से बनी हुई गोलाकार कला है जो स्वच्छमण्डल के पीछे की ओर लगी रहती है। इसके बीच में एक छिद्र होता है जिसे कनीनक कहते हैं।[1] इससे प्रकाश किरणें नेत्र के भीतर प्रविष्ट होती हैं। इसमें पेशीसूत्र दो प्रकार के होते हैं :—

(क) कनीनकसंकोचन—ये कनीनक की परिधि में वलयाकार स्थित हैं।

(२) कनीनकविस्फारण—ये कनीनक के चारों ओर लम्बाई में स्थित हैं।

इनमें पहले प्रकार के सूत्र तृतीय नाड़ी की शाखाओं से उत्तेजित होते हैं और दूसरे प्रकार के सूत्र त्रिधारग्रन्थि तथा चाक्षुषग्रन्थि से उत्पन्न स्वतन्त्र नाड़ीसूत्रों से। इन दोनों प्रकार के सूत्रों में संकोचन सूत्र अधिक शक्तिशाली होते हैं। इस प्रकार तारामण्डल की रचना निम्नांकित अवयवों से होती है :—

आगे से पीछे की ओर :—

१. वर्णयुक्त अन्तरावरण कोषाणु।

२. चेत्रवस्तु, जिसमें कोषाणु, संयोजक तन्तु के सूत्र तथा उसके जालकों में नाड़ी और धमनियाँ।

३. वलयाकार और विसारी पेशीसूत्र।

४. वर्णयुक्त आवरककोषाणुओं के दो स्तर।

तारामण्डल के आगे एक तनु जलपूर्ण अवकाश है, जिसे अग्रिमा जलधानी कहते हैं तथा उसके पीछे की ओर इसी प्रकार का अवकाश पश्चिमा जलधानी कहलाता है। दोनों का सम्बन्ध कनीनक मार्ग से रहता है। रासायनिक संघटन की दृष्टि से इस द्रव्य में जल, लवण, अलब्यूमिन, ग्लोब्यूलिन तथा शर्करा का अंश होता है। इसका स्वतन्त्ररूप से ओपजनीकरण होता है।

सन्धानमण्डल :—यह तारामण्डल और कर्बुरवृति के बीच में रहता है तथा दोनों से मिला रहता है। इसके तीन भाग होते हैं :—

१. सन्धानवलयिका—यह कर्बुरवृति की अग्रिमधारा से लगी रहती है।

---

१. 'मसूरदलमात्रान्तु पञ्चभूतप्रसादजाम्।
खद्योतविस्फुलिङ्गाभां सिद्धां तेजोभिरव्ययैः॥
आवृतां पटलेनाक्ष्णोर्बाह्येन विवराकृतिम्।
शीतसात्म्यां नृणां दृष्टिमाहुर्नयनचिन्तकाः॥'—सु० उ० ७

२. सन्धानपेशिका :—यह आगे की ओर सन्धानमण्डल की बाह्यपरिधि में लगी रहती है। इसमें दो प्रकार के पेशीसूत्र होते हैं–विसारीसूत्र और वृत्तसूत्र। विसारीसूत्र स्वच्छशुक्लसंधि से निकल कर कर्बुरवृति की ओर जाते हैं और वृत्तसूत्र सन्धानदर्शिकाओं के मूल में लगे रहते हैं जिनसे उनका आकर्षण होता है और दृष्टिमंडल की बन्धनी शिथिल हो जाती है। इस पेशिका का सम्बन्ध तृतीय नाड़ी से होता है।

३. सन्धानदर्शिका—ये संख्या में ७० या ८० होती हैं और इनका निर्माण रक्तवहस्रोतों सौत्रिक तन्तुओं तथा वर्णक वस्तुओं से होता है। इनके अग्रभाग दृष्टिमण्डल बन्धनी की बहिःपरिधि में लगे होते हैं। इनके मूलभाग में सन्धान-पेशिका के वृत्तसूत्र लगे रहते हैं।

कबुरवृति—यह शुक्लवृति तथा दृष्टिवितान के मध्य में रहती है। इसमें रक्तवहस्रोतों की अधिकता होती है। इसके संयोजकतन्तु में अनेक शाखायुक्त रञ्जककोषाणु होते हैं। कर्बुरवृति और शुक्लवृति के बीच में एक वर्णयुक्त कला होती है जिसे शबलकला कहते हैं। इसी प्रकार कर्बुरवृति और दृष्टिवितान के बीच में भी एक वितान भूमिका नामक कला होती है। इसमें निम्नांकित नाड़ियां आती हैं :—

१. तृतीय नाड़ी की शाखायें—कनीनक संकोचन।
२. स्वतन्त्र नाड़ी शाखायें—कनीनक विस्फारण।
३. पञ्चम नाड़ी की शाखायें—स्पर्शसंज्ञाप्रद।

आभ्यन्तर स्तर—नेत्रगोलक के भीतरी स्तर को दृष्टिवितान कहते हैं जो अग्रिम $\frac{1}{6}$ भाग को छोड़कर नेत्रगोलक के संपूर्ण भीतरी भाग में फैला हुआ है। दृष्टिवितान के केन्द्र में एक गोला पीतवर्ण का उठा हुआ भाग है जिसे पीतबिम्ब कहते हैं। इसका मध्यभाग कुछ गहरा होता है जो दर्शनकेन्द्र कह-लाता है। दृष्टि शक्ति इसी बिन्दु पर तीक्ष्णतम होती है। इसके लगभग २·५ मिलीमीटर भीतर की ओर वह बिन्दु है जहाँ दृष्टि नाड़ी नेत्रगोलक से बाहर निकलती है। इस बिन्दु को सितबिम्ब या अन्धबिन्दु कहते हैं, क्योंकि वहाँ दृष्टिशक्ति का सर्वथा अभाव होता है। आगे की ओर दृष्टिवितान की सम्मुख धारा आरे के समान दन्तुरधारा में समाप्त होती है जो कर्बुरवृति की अग्रधारा के साथ-साथ रहती है। उसके आगे भी दृष्टिवितान पतली कला के रूप में सन्धान दर्शिकाओं के पीछे तक जाता है, उसे वितानाग्रकला कहते हैं। यहाँ नाड़ीकोषाणुओं के नहीं रखने से दृष्टिशक्ति बिलकुल नहीं होती।

दृष्टिनाड़ीसूत्र वस्तुतः दृष्टिवितान के नाड़ीकोषाणुओं के अक्षतन्तु हैं और

उनके दन्द्र दृष्टि नाड्यवरक कोषाणुओं (शूलों और शंकुओं) से मिले रहते हैं। दृष्टिनाड़ी नेत्रगोलक से निकलकर मस्तिष्कावरणकलाओं में लिपटी हुई मस्तिष्क के मूलभाग में पहुँचती है। दृष्टिनाड़ी के सूत्र अत्यन्त सूक्ष्म
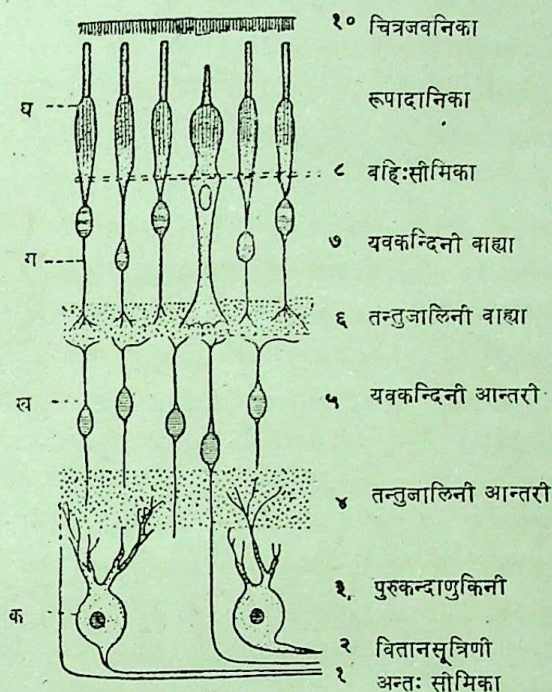
दृष्टिवितान

होते हैं और मेदसपिधान से आवृत होते हैं, किन्तु बाह्य नाड्यावरण उनमें नहीं होता। इन सूत्रों की संख्या ५००,००० से भी ऊपर होती है। नाड़ी के केन्द्र में एक छोटी धमनी और सिरा रहती है जो उसका पोषण करती है। इसमें अवरोध होने से अन्धता हो जाती है।

दृष्टिवितान का निर्माण नाड़ीकोषाणुओं तथा चैत्रवस्तु से होता है जो दस स्तरों में व्यवस्थित होते हैं। ये भीतर से बाहर की ओर निम्नांकित रूप से हैं :—

१. अन्तःसीमिका—यह पतली कला है, जो सान्द्रजल के चारों ओर स्थित होकर दृष्टिवितान की अन्तःसीमा बनाती है।

२. वितानसूत्रिणी—यह दृष्टिनाड़ी के मेमेदस सूत्रों से बनी होती है। वितान के भिन्न-भिन्न भागों में इस स्तर की स्थूलता विभिन्न होती है।

३. पुरुकन्दाणुकिनी—इसमें अनेक बहुशाखायुक्त नाड़ीकोषाणु होते हैं, जिनमें केन्द्रक गोल तथा बड़े होते हैं। यह साधारणतः एक स्तर में होते हैं, किन्तु कई भागों में विशेषतः पीतबिम्ब के निकट यह अनेक स्तरों में व्यवस्थित अतः स्थूल हैं। इनके अक्षतन्तु भीतर की ओर उपर्युक्त स्तर बनाते हैं और प्रवर्धन आगामी स्तर का निर्माण करते हैं।

४. तन्तुजालिनी आन्तरी—यह स्तर सूक्ष्मकणों से युक्त दिखाई देता है। इसमें पूर्वोक्त और आगामी स्तर के कोषाणुओं के नाड़ीतन्तुसूत्र परस्पर मिलकर जाल की सी रचना बनाते हैं।

५. यवकन्दिनी आन्तरी—यह यवाकार द्विबाहुक कोषाणुओं से निर्मित होता है। इनमें ओजःसार की मात्रा अत्यन्त अल्प होती है और मध्य में बड़ा अण्डाकार केन्द्रक होता है।

६. तन्तुजालिनी बाह्या—यह पूर्वोक्त चतुर्थ स्तर के समान होता है, किन्तु अपेक्षाकृत पतला होता है। इसमें एक ओर शूल और शंकु के सूत्रप्रतान तथा दूसरी ओर द्विबाहुक कोषाणुओं के सूत्र आते हैं।

७. यवकन्दिनी बाह्या—यह पूर्ववत् द्विबाहुक कोषाणुओं से निर्मित है।

८. बहिःसीमिका—यह पूर्वोक्त सात स्तरों की बहिःसीमा के रूप में स्थित है। इसको भेद कर सप्तम स्तर के कोषाणुओं की शाखायें बाहर जाती हैं।

९. रूपादानिका—(The layer of Rods and cones or the bacillary layer) इसमें शूलाकार (Rods) तथा शंक्वाकार कोषाणु (Cones) होते हैं जो रूपसंज्ञा का ग्रहण करते हैं। प्रत्येक शूल प्रायः ·०६ मिलीमीटर लम्बा और ·००२ मिलीमीटर व्यास का होता है। इसके दो भाग होते हैं भीतरी स्थूल भाग और बाहरी तनु भाग। इसमें अनुप्रस्थ रेखायें होती हैं तथा दृष्टिवर्णक (Visual purple or rhodopsin) नामक रञ्जकद्रव्य होता है जिसके कारण इसका रंग बैगनी लाल होता है। मृत्यु के बाद प्रकाश के कारण यह वर्ण नष्ट हो जाता है और दृष्टिवितान अपारदर्शक हो जाता है। शंकुकोषाणु लगभग ·०३५ मिलीमीटर लम्बा और ·००६ मिलीमीटर व्यास वाला होता है। इसका भीतरी भाग चौड़ा तथा बाहरी भाग पतला होता है। शूल की अपेक्षा छोटे होने के कारण ये चित्र जवनिका (दशम स्तर) से अधिक दूरी पर रहते हैं। इनमें दृष्टिवर्णक भी नहीं होता, अतः दृष्टिवितान का दर्शनकेन्द्र वर्णरहित होता है। दृष्टिवितान के केन्द्रीय भाग में इनकी संख्या अधिक होती है और दर्शनकेन्द्र में तो केवल ये ही होते हैं और वहाँ इनकी आकृति भी कुछ भिन्न होती है।

१०. चित्रजवनिका (Pigmentary layer)—यह पत्राकार षट्कोण चिपिटाकृति नानावर्णकधारी कोषाणुओं के एक स्तर से बना है। प्रत्येक कोषाणु में एक बड़ा केन्द्रक होता है और उसके भीतर वर्णकयुक्त भाग होता है जिससे लम्बे प्रवर्धन निकल कर उपर्युक्त कोषाणुओं के बीच-बीच में फैले रहते हैं। तीव्र सूर्य प्रकाश में ५-१० मिनट तक रहने पर ये प्रवर्धन अधिकाधिक फैल कर बहिःसीमिका कला के सम्पर्क में आ जाते हैं। इसके विपरीत, अन्धकार में लगभग दो घण्टों तक रहने पर ये कछुये के अङ्ग के समान सिकुड़ कर कोषाणु में प्रविष्ट हो जाते हैं। इन कोषाणुओं से दृष्टिवर्णक उत्पन्न होता है।

रूपसंज्ञा का ग्रहण करने वाले कोषाणु पूर्वोक्त आठ स्तरों के पीछे रहते हैं, फिर भी उन स्तरों की स्वच्छता के कारण रूपग्रहण में कोई बाधा नहीं होती। यों भी पीतबिम्ब में ये स्तर अत्यन्त पतले होते हैं, अतः व्यवधान कम होने से वहां तीक्ष्णतम दृष्टिशक्ति होती है। इसके बाहर चारों ओर क्रमशः इनकी स्थूलता बढ़ती जाती है, अतः दृष्टिशक्ति की तीक्ष्णता वहां कम होती जाती है।

दृष्टिवितान वस्तुतः मस्तिष्क का ही एक भाग है, अतः उसकी रचना भी मस्तिष्क के अन्य भागों के समान होती है, यथा अन्य भागों की तरह इसमें नाड़ीकोषाणु, नाडीवस्तु, धारककोषाणु तथा सूत्र होते हैं। नाडीसूत्र रूपादानिका को छोड़कर प्रत्येक स्तर में जाल के रूप में फैले हुये हैं जिनके बीच-बीच में नाडीवस्तु तथा धारक कोषाणुसूत्र होते हैं। दृष्टिवितान में तीन प्रकार के नाडीकोषाणु होते हैं :—

१. गण्डकोषाणु (अन्तःस्तर में)
२. शूल और शंकु (बाह्यस्तर में)
३. द्विबाहुक कोषाणु (मध्यस्तर में)

ये कोषाणु सम्पूर्ण दृष्टिवितान में समान रूप से व्यवस्थित नहीं हैं। अन्धबिन्दु में शूल-शंकु नहीं होते, दर्शनकेन्द्र में केवल शंकु होते हैं तथा प्रान्तीय भाग में केवल शूल होते हैं। इसके अतिरिक्त, शूल और शंकु कोषाणुओं का गण्डकोषाणुओं (इस प्रकार दृष्टिनाडीसूत्रों) से भी सर्वत्र समान सम्बन्ध नहीं है। दर्शनकेन्द्र में प्रत्येक शंकु एक द्विबाहुक कोषाणु के द्वारा एक गण्डकोषाणु से सम्बद्ध रहता है, जब कि दृष्टिवितान के प्रांतीय भाग में अनेक शूलों और शंकुओं के दन्द्व एक गण्डकोषाणु से मिले रहते हैं।

स्वच्छवस्तु-व्यूह (Tpansparent or Refracting media)

नेत्रगोलक के भीतर सामने से पीछे की ओर चार पारदर्शक भाग होते हैं जिनके द्वारा प्रकाश दृष्टिवितान तक पहुंचता है। ये निम्नांकित हैं—

१. स्वच्छमण्डल २. तनुजल (Aqueous humour)

३. दृष्टिमण्डल (Lens) ४. सान्द्रजल (Vitreous humour)

इनमें स्वच्छमण्डल का वर्णन पहले हो चुका है।

तनुजल

यह किंचित क्षार और लवण स्वच्छ तरल है जो २–३ रत्ती की मात्रा में अग्रिमा और पश्चिमा जलधानी में रहता है। इसके द्वारा स्वच्छवस्तुव्यूह का पोषण होता है। इसके क्षीण होने पर प्रतिदिन अग्रिम रसायनी की लसीका से इसकी पूर्ति होती रहती है।

दृष्टिमण्डल

यह उभयोन्नतोदर, स्थितिस्थापक तथा पारदर्शक अवयव है, जो स्थितिस्थापक कलाकोष से आवृत रहता है। इसके आगे कनीनकसहित तारामण्डल तथा पीछे की ओर कलाकोष से आवृत सान्द्रजल रहता है। सान्द्रजलधरा कला का ही अग्रभाग दृष्टिमण्डल की परिधि को आवेष्टित किये हैं उसे कलाचक्र (Zanule of zinn) कहते हैं। इसी के दो स्तरों से दृष्टिमण्डल-बन्धना (Suspensory Ligament) बनती है जिसके सहारे दृष्टिमण्डल नेत्रगोलक के बीच में अवलम्बित रहता है। यह कलाचक्र सन्धानदशिका से लगा रहता है। बन्धनी के दोनों स्तरों के बीच में एक स्रोत होता है जिसे पश्चिम रसायनी मार्ग (Canal of Petit) कहते हैं। तत्रस्थ लसीका से दृष्टिमण्डल तथा सान्द्रजल का निरन्तर पोषण होता रहता है।

इसका विकास बहिर्बुद्बुद (Epiblast) से होता है तथा अन्य आवरक तन्तुओं के समान इसके कोषाणुओं की वृद्धि होती रहती है। प्रान्तीय कोषाणुओं की वृद्धि से निरन्तर नये सूत्र बनते रहते हैं और पुराने सूत्र उत्सृष्ट न होकर उन्हीं के भीतर दब कर केन्द्र में एकत्रित होते जाते हैं। इसीलिए केन्द्र का घनत्व अधिक होता है। इस प्रकार दृष्टिमण्डल का निर्माण पलाण्डुकन्द के निर्माण समान अनेक कोषस्तरों से होता है। इसके मध्य में स्थित कठिन भाग को मण्डलाष्ठिका (Nucleus Lentis) कहते हैं। अनेक कोषस्तरों के होने पर भी इसकी पारदर्शकता में कोई अन्तर नहीं आता, क्योंकि सभी स्तर समान रूप से पारदर्शक हैं। दृष्टिमण्डल में प्रकाश-वक्रीभवन की शक्ति भी सर्वत्र समान नहीं है। मध्याष्ठीला में वक्रीभवनाङ्क १·४१ तथा प्रान्तों १·३७ है।

इसमें सिरा, धमनी तथा नाड़ी का सम्बन्ध नहीं होता, अतः इसका पोषण केवल तनुजल से होता है। अपेक्षाकृत इसमें मांसतत्त्व अधिक होता है। इसमें निजी श्वसनयन्त्र रहता है जिससे इसका स्वतः ओषजनीकरण होता है। इसके लिए उसमें ग्लुटाथायोन नामक सिस्टीन सदृश पदार्थ अधिक मात्रा में रहता है तथा बी क्रिस्टलाइन नामक मांसतत्त्व होता है। बच्चों में इस पदार्थ की मात्रा अधिक होती है और आयु बढ़ने पर क्रमशः कम होती जाती है। इसके कम होने से दृष्टिमण्डल में क्षयात्मक परिवर्तन होने लगते हैं। इसीलिए वृद्धावस्था में वह ठोस और अपारदर्शक हो जाता है। ओषजन की कमी, कार्बन-द्विओषिद् का आधिक्य, नीललोहितोत्तर किरणों का सम्पर्क, तापकिरणों से सम्बन्ध, उदजन-अणुकेन्द्रीभवन में परिवर्तन इन कारणों से दृष्टिमण्डल की श्वसनक्रिया में विकार आ जाता है जिससे उसमें विघटनात्मक परिवर्तन होने लगते हैं और फलस्वरूप दृष्टिमण्डल अपारदर्शक हो जाता है। इस रोग को लिंगनाश (Cataract) कहते हैं।[1] दृष्टिमण्डल का जो भाग अपारदर्शक होता है, उसके अनुसार इस रोग के विभिन्न प्रकार किये हैं। जब केवल दृष्टिमण्डल अपारदर्शक हो जाता है, तब इसे काचीय लिंगनाश (Lenticulor Cataract) कहते हैं। जब केवल कलाकोष अपारदर्शक हो जाता है, तब उसे कोषीय लिङ्गनाश (Capsular Cataract) कहते हैं। जब कला और काच दोनों विकृत होते हैं तब उसे काचकोषीय (Lenticulo-capsular Cataract) लिङ्गनाश कहते हैं। वृद्धावस्था में मण्डलाक्षिका कठिन और अपारदर्शक हो जाती है इसे जरा-लिङ्गनाश (Senile cataract) कहते हैं।

इस रोग में दृष्टिमण्डल का रासायनिक संघटन भी बदल जाता है। यथा जल का परिमाण २० प्रतिशत कम हो जाता है तथा पोटाशियम और सोडियम की मात्रा भी घट जाती है, किन्तु गंधक की मात्रा बढ़ जाती है। जरा-लिंगनाश में कोलेष्टरोल में अत्यधिक वृद्धि होती है।

सान्द्रजल (Vitreous humour)

यह मधु के समान अर्धतरल एक संयोजक तंतु है जो नेत्रगोलक के भीतर पश्चिम ४/५ भाग में भरा रहता है। इसी के कारण नेत्रगोलक की आकृति ठीक रहती है। यह एक कलाकोष के भीतर रहता है, जिसे सान्द्रजलधरा कला (Hyaloid Membrane) कहते हैं। यही सामने की ओर दृष्टिमण्डल का कलाचक्र तथा कलाकोष बनाती है। इस कला के द्वारा सान्द्रजल दृष्टि

१. रुणद्धि सर्वतो दृष्टिं लिंगनाशः स उच्यते।'—सु० उ०

वितान से पृथक् रहता है। इसके सामने की ओर एक हलका खात होता है जिसमें दृष्टिमण्डल का पृष्ठ भाग रहता है, इसे दृष्टिमण्डलाधानिका (Fossa-patellaris) कहते हैं। सान्द्रजल के बीच में दृष्टिमण्डल के पृष्ठभाग से दृष्टि-नाड़ी के प्रवेशस्थान तक एक पतली लसीकापूर्ण नलिका होती है जिसे सान्द्र-जलान्तरीया प्रपिका (Hyaloid Canal) कहते हैं। यह गर्भस्थ शिशु की कनीनकच्छपोषणी धमनी का अवशिष्ट रूप है।

नेत्र का पोषण

शुक्लवृति—इसका पोषण चाक्षुष धमनी की दीर्घसन्धानिका (Long Ciliary arteries) शाखाओं के द्वारा होता है।

मध्यवृति—इसमें रक्तवह स्रोतों का बाहुल्य होता है। दीर्घ, ह्रस्व तथा पुरोग सन्धानिका धमनियाँ (Long, short and anterior ciliary arteries) कर्बुरवृति में प्रविष्ट होती हैं। इनमें दीर्घ और पुरोग शाखायें अपनी शाखा-प्रशाखाओं के द्वारा तारामण्डल के चारों ओर बृहद् धमनीचक्र तथा कनी-नक के चारों ओर लघुचक्र बनाती हैं। उन्हें क्रमशः परितारामण्डल तथा परि-कनीनक (Major and minor arterial circles) धमनीचक्र कहते हैं। इनसे तारामण्डल का पोषण होता है। ह्रस्व सन्धानिका धमनियाँ कर्बुरवृति में फैली हुई हैं और उसके पश्चिमार्ध का पोषण करती हैं।

दृष्टिवितान—इसका पोषण दृष्टिनाड़ी के मध्य में रहनेवाली धमनी (Arteria centralis retinae) के द्वारा होता है। यह सितबिम्ब के चारों ओर सर्वत्र अपनी शाखाओं के रूप में फैली रहती हैं।

स्वच्छवस्तुव्यूह—इसका पोषण तनुजल के द्वारा होता है।

सिरायें

नेत्रगोलक में सिरायें अनेक होती हैं, किन्तु उनमें ४-५ मुख्य हैं। इन्हें सिरागुल्मिका (Venae Vorticosae) कहते हैं। यह शुक्ल और कर्बुरवृति के बीच में रहती है।

नाड़ियाँ

नेत्रगोलक में चार नाड़ियां आती हैं :—

१. दृष्टिनाड़ी—रूपसंज्ञाग्राहक।

२. तृतीयनाड़ी—नेत्रपेशी–कनीनकसंकोचन पेशीसूत्र तथा सन्धानपेशिका की सञ्चालिनी।

३. पञ्चम नाड़ी की चाक्षुषी शाखा—स्पर्शशक्तिप्रद। स्वच्छमण्डल में इसकी अनेक शाखायें फैली हैं।

४. त्रिधार चाक्षुष आदि ग्रन्थियों से उत्पन्न स्वतन्त्र नाड़ीसूत्र-कनीनक-विस्फारण पेशीसूत्रों तथा चाक्षुषी सिराधमनियों से संबद्ध।

नेत्रगत तरल (Intraocular fluid)

तनुजल—यह एक स्वच्छ जलीय तरल है जो नेत्र की अग्रिमा तथा पश्चिमा जलधानी में रहता है। इसका स्वरूप नीचे दिया जाता है :—

वक्रीभवनाङ्क—१.३३

प्रतिक्रिया—क्षारीय (उद् ७.१–७.३)

विशिष्ट गुरुत्व—१००२–१००४

सान्द्रता—१.०२९

तनुजल तथा रक्तरस का रासायनिक संघटन तुलनात्मक रूप से निम्नाङ्कित कोष्ठक में दिया गया है :—

प्रति मि. लि. ग्रामों में

	तनुजल	रक्तरस
जल	९९.६९२१	९३.३२३८
ठोस पदार्थ	१.०८६९	९.५३६२
कुल मांसतत्त्व	०.०२०१	७.३६९२
अलब्युमिन	०.०१२३	४.४१३५
ग्लोब्युलिन	०.००७८	२.९५५
फिब्रिनोजन	—	—
स्नेह	०.००४	०.१३
शर्करा	०.०९८३	०.०९१०
अमांसतत्त्वीय नत्रजन	०.०२३६	०.०२३९
निरिन्द्रिय घटक	०.७५२९	०.७४३३

सोडियम पोटाशियम खटिक

मैगनीशियम क्लोरीन फास्फरस गन्धक

सान्द्रजल—यह एक अर्धतरल पदार्थ है। इसमें विट्रीन (Vitrein) नामक मांसतत्त्व होता है। इसका वक्रीभवनाक १.३३ है।

नेत्रगत तरल की उत्पत्ति

इसकी उत्पत्ति किस प्रक्रिया से होती है, इसके सम्बन्ध में तीन मत प्रचलित हैं :—

१. द्विविभाजन (Dialysis)
२. निःस्यन्दन (Fitration)
३. स्रवण (Secretion)

ड्यूक एल्डर तथा उनके सहयोगियों के प्रयोगों के फलस्वरूप जो परिणाम निकले हैं उनके आधार पर यह निश्चित होता है कि यह पद्धति द्विविभाजन की ही है। तरल में सोडियम, पोटाशियम तथा क्लोरीन की उपस्थिति द्विविभाजन सिद्धान्तों के अनुकूल होती है। इस प्रक्रिया में सन्धानमण्डल का पृष्ठ तथा तारामण्डल का पश्चिम भाग तनुजल तथा रक्त के बीच में अन्तर्वर्ती कला का कार्य करता है। इन दोनों पृष्ठों से प्रसरण का कार्य होता है। इसीलिए जब कनीनक को बन्द कर दिया जाता है, तो तारामण्डल के पीछे तनुजल संचित होने लगता है।

नेत्रगत तरल का संवहन

नेत्रगत तरल का कुछ अंश नेत्रगोलक के अवयवों के द्वारा पुनः शोषित हो जाता है। शेष अंश का निर्हरण निम्नांकित तीन मार्गों से होता है :—

(१) कनीनक मार्ग से अग्रिमा जलधानी में आकर निःस्यन्दन त्रिकोण (Filtration angle) के द्वारा अग्रिम रसायनिका में पहुँचता है और उसके द्वारा सन्धानिका सिराओं में चला जाता है।

(२) तारामंडल के पूर्वपृष्ठ से शोषित होकर तत्रस्थ सिराओं में चला जाता है।

(३) दृष्टिमंडल-बन्धनी के बीच से होकर सान्द्रजल के पूर्वपृष्ठ में पहुँच जाता है और वहाँ से सान्द्रजलान्तरीया प्रपिका के द्वारा दृष्टिनाड़ी तक चला जाता है। वहाँ से दृष्टिनाड़ी के आवरण में स्थित रसायनियों या दृष्टिवितानगत सिराओं के द्वारा बाहर निकल जाता है।

नेत्रगत भार (Intra-ocular tension)

नेत्रगोलक के भीतर तरलों की उपस्थिति के कारण वहाँ एक प्रकार का दबाव रहता है जिसे नेत्रगत भार कहते हैं। नेत्र के स्पर्श के द्वारा इसका अनुभव किया जा सकता है। इस भार को प्राकृत स्थिति में रखने के लिए यह आवश्यक है कि नेत्रगत तरल की उत्पन्न और निःसृत मात्रा समान हो। इस भार की कमी होने पर नेत्र के आभ्यन्तर अवयवों का पारस्परिक संबद्ध विकृत हो जाता है और दृष्टिमण्डलबन्धनी के शिथिल हो जाने से रश्मि-केन्द्रीकरण के निमित्त सन्धानपेशिका की क्रिया में बाधा होती है। इसके विपरीत, भार अधिक हो जाने से नेत्र के प्राकृत रक्तसंवहन में बाधा होती है और कर्बुरवृति में भार अत्यधिक हो जाने से सन्धानपेशिका का कार्य भी ठीक से नहीं हो पाता, फलतः रश्मिकेन्द्रीकरण में विकार आ जाता है। अतः यह आवश्यक है कि नेत्रगत भार का सन्तुलन बना रहे।

प्रयोगों द्वारा यह सिद्ध किया गया है कि नेत्र में स्वभावतः इसका प्रबन्ध किया गया है, क्योंकि धमनीगत रक्तभार में जितना अन्तर होता है, उतना नेत्रगत भार में अन्तर नहीं होता। धमनीभार ७० से १८० मिलीमीटर (११० मि. मी. का अन्तर) होता है, किन्तु नेत्रगत भार २२ से ४० मिलीमीटर (१७ मि. मी. का अन्तर) तक ही रहता है। अतः रक्तभार के परिवर्तनों की अपेक्षा नेत्रगत भार के परिवर्तन ⅙ ही होते हैं।

नेत्रगत भार का मापन

प्राकृत नेत्रगत भार २५ से ३० मि. मी. होता है। इसका मापन करने के लिये एक सुई शुक्लवृति में प्रविष्ट कर उसका सम्बन्ध एक मापक यन्त्र से कर देते हैं। नैदानिक कार्यों में भारमापक यन्त्र (Tonometer) का उपयोग होता है।

नेत्रगत भार का रक्तभार से सम्बन्ध

नेत्रगोलक का छेदन करने तथा नेत्रगत रक्तसंवहन बन्द होने या मृत्यु के बाद नेत्रगत भार ८–१० मि. मी. हो जाता है, अतः यह सिद्ध है कि शेष भार रक्तभार के कारण ही होता है। अतः सामान्य धमनीगत रक्तभार में वृद्धि या ह्रास होने से तदनुसार नेत्रगत भार में भी किंचित् परिवर्तन हो सकता है, यद्यपि यह बहुत कम होता है। नाड़ीस्पन्दन के कारण इसमें १–२ मि. मी. तथा श्वसन के कारण ३–५ मि. मी. का अन्तर आ जाता है, तथापि यह सदैव ध्यान में रखना होगा कि चूँकि नेत्रगत भार नेत्रस्थित केशिका-जालकों के दबाव के परिणामस्वरूप होता है, न कि बड़ी-बड़ी धमनियों के। अतः धमनीगत रक्तभाराधिक्य, जिसमें केशिकाभार नहीं बढ़ता है, के कारण नेत्रगत भार में वृद्धि नहीं होती। एमिल नाइट्राइट प्रान्तीय धमनियों को प्रसारित करने के कारण धमनीभार को कम कर देता है, किन्तु केशिकाओं का प्रसार होने, फलतः भार बढ़ जाने से नेत्रगत भार में वृद्धि हो जाती है। इस प्रकार नेत्रगत भार का अधिक सम्बन्ध सिरागत भार से है। उदाहरणतः, सिरागुल्मिकाओं को बांध देने से केशिकाभार बढ़ जाता है, फलतः नेत्रगत भार ५०–६० मिलीमीटर हो जाता है।

नेत्रगत भाराधिक्य (Glaucoma)

नेत्रगत भार का प्रभाव मुख्यतः शुक्लवृति पर होता है, यद्यपि कर्बुरवृति तथा बाह्य नेत्रकलाकोष से भी इसमें सहायता मिलती है। वैकारिक अवस्थाओं में, नेत्रगत तरल के परिवाही स्रोत दृष्टिमण्डल पर दबाव अधिक होने से तथा अग्रिमा जलधानी में आवरक धातु के पदार्थों का आधिक्य होने से बन्द हो

जाते हैं। इसके कारण नेत्रगत भार अत्यधिक बढ़ जाता है। इसे नेत्रगत भाराधिक्य या अधिमन्थ (Intraocular hypertension or glaucoma) कहते हैं[१]। इसके मुख्य लक्षण पीड़ा और दृष्टिसम्बन्धी विकार हैं। नेत्रगोलक पत्थर के समान कड़ा हो जाता है, कनीनक शिथिल और प्रसारित, सितबिम्ब अधिक गम्भीर तथा रक्तवह स्रोतों में स्पन्दन होता है। भार अधिक होने से नेत्र के संवहन में भी बाधा हो जाती है।

दर्शन (Vision)

नेत्र दर्शन का बाह्य अधिष्ठान है। बाह्य पदार्थों से प्रकाश की किरणें निकलकर नेत्र के भीतर घुसती हैं। इन किरणों का नेत्र के स्वच्छवस्तुव्यूह के द्वारा वक्रीभवन होकर इस प्रकार दृष्टिवितान पर संव्यूहन (Focussing) होता है कि वहां उसका ठीक-ठीक प्रतिबिम्ब दर्शनकेन्द्र पर बन सके। वहाँ से वह उत्तेजना दृष्टिनाड़ी के द्वारा मस्तिष्क के पश्चिम पिण्ड में स्थित दर्शन-केन्द्र तक पहुँचती है और इस प्रकार रूप का ज्ञान होता है।

रूपसंज्ञा उत्पन्न करने वाली प्रकाशकिरणों की तरंगें लम्बाई में भिन्न-भिन्न प्रकार की होती हैं। वर्णपृष्ठ में लालवर्ण की ऐसी किरणों की लम्बाई ७२३० A. U. तथा बैंगनी वर्ण की किरणों की लम्बाई ३९७० A. U. होती है। सामान्यतः इस प्रकार ४००० से ८००० A. U.लम्बी प्रकाश किरण-तरंगों से रूपसंज्ञा उत्पन्न होती है।

(A. U. = Angstrom unit = यह १ मि. मी. का कोटितम भाग होता है) लालरंग के बाद रक्तोत्तर (Infra-red) या तापकिरणें (Heat rays) होती हैं जिनकी लम्बाई अधिक होती है और जो शोषित होने पर ताप में वृद्धि कर देती हैं। इसी प्रकार बैंगनी रंग के बाद नीललोहितोत्तर किरणें (Ultra-violet rays) होती हैं जिनकी लम्बाई कम होती है और जो रासायनिक परिवर्तन उत्पन्न करते हैं। इसीलिए इन्हें रासायनिक किरणें (Actinic rays) भी कहते हैं।

प्रकाशयन्त्र की दृष्टि से नेत्र एक तीव्र उन्नतोदर काच के समान कार्य करता है। ऊपर बतलाया गया है कि बाह्य पदार्थों से निकली हुई प्रकाश किरणों का नेत्र के विभिन्न पृष्ठों से वक्रीभवन होता है और उसके बाद दृष्टि-वितान पर उनका प्रतिबिम्ब बनता है। इसको समझने के पहले उभयतः उन्नतोदर काच के द्वारा प्रतिबिम्ब निर्माण के सम्बन्ध में निम्नांकित भौतिक विचारों को ध्यान में रखना चाहिये—

---

१. 'उत्पाट्यत इवात्यर्थं नेत्रं निर्मथ्यते तथा।
शिरसोऽर्धं तु तं विद्यादधिमन्थं स्वलक्षणैः॥—सु० उ० ६

(क) दूरस्थित वस्तुओं से प्रकाशकिरणें समानान्तर आती हैं और वे जब उभयोन्नतोदर काच के एक पृष्ठ पर पड़ती हैं तब उनका वक्रीभवन हो जाता है। ये वक्रीभूत किरणें काच के दूसरे पृष्ठ के पीछे संव्यूहकेन्द्र पर पहुँचती हैं। समानान्तर किरणों का यह संव्यूहकेन्द्र मुख्य पश्चिम संव्यूह-केन्द्र (Principal posterior focus) कहलाता है और काच से इस केन्द्र की दूरी 'काच का केन्द्रान्तर' (Focal distance of the lens) या काच की लम्बाई (Length of the lens) कहलाती है। काच की प्रकाशवक्रीकरण शक्ति इस केन्द्रांतर के विपर्यस्त अनुपात में होती है यथा कम केन्द्रान्तर का काच प्रकाशकिरणों को अधिक वक्र करेगा और अधिक केन्द्रान्तर का कम। २० फीट से अधिक दूरी की वस्तुओं से जो किरणें आती हैं, वह समानान्तर मानी जाती हैं।

उभयोन्नतोदर काच के मध्य में एक ऐसा बिन्दु होता है जिसे रश्मिकेन्द्र (Optical centre) कहते हैं। यहाँ से जाने वाली किरणों का वक्रीभवन नहीं होता। इसी प्रकार का एक केन्द्र नेत्र में भी होता है जो नाभिबिन्दु (Nodal point) कहलाता है। इस केन्द्र तथा मुख्य संव्यूहकेन्द्र को मिलाने वाली रेखा काच का 'मुख्य अक्ष' (Principal axis) कहलाती है।

(ख) यदि वस्तु काच के और निकट लाई जाय जिससे समानान्तर किरणें तो नहीं निकलें, किन्तु इसकी दूरी मुख्य काचान्तर से अधिक हो, तब प्रकाशकिरणों का संव्यूहन मुख्य पश्चिम संव्यूह के बाहर होता है।

(ग) यदि वस्तु और निकट लाई जाय जिससे उसकी दूरी काचान्तर से भी कम हो जाय तो किरणें ऐसी बहिर्मुखी होंगी कि काच के पीछे किसी बिन्दु पर उनका संव्यूहन नहीं हो सकेगा।

नेत्र के द्वारा प्रतिबिम्ब का निर्माण

नेत्र के पृष्ठ उन्नतोदर काच के समान कार्य करते हैं। नेत्र के अनेक पृष्ठभाग हैं जिनसे प्रकाश का वक्रीभवन होता है, किन्तु इनमें तनुजल, दृष्टिमण्डल और सान्द्रजल ये ही तीन मुख्य हैं। इनका वक्रीभवनांक निम्नलिखित है :—

स्वच्छमण्डल	१·३४	तनुजल	१·३२
दृष्टिमण्डल	१·४२	सान्द्रजल	१·३३

प्रकाश का वक्रीभवन मुख्यतः तीन पृष्ठों से होता है :—

१. स्वच्छमण्डल का पूर्वपृष्ठ   ३. दृष्टिमण्डल का पश्चिम पृष्ठ

२. दृष्टिमण्डल का पूर्वपृष्ठ
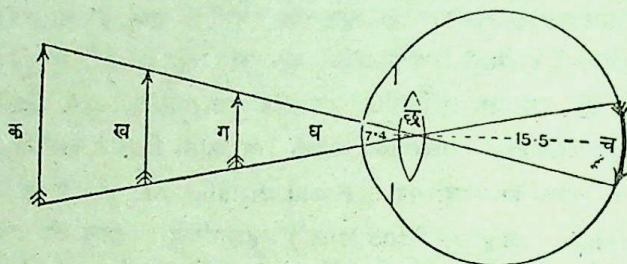
दृष्टिवितान पर वस्तुओं का प्रतिबिम्ब

क ख ग–दृश्यवस्तु, घ–दृष्टिकोण च–प्रतिबिम्ब, छ–नाभिविन्दु

समानान्तर किरणें एक केन्द्र पर संन्यूहित होती हैं जो स्वच्छमण्डल के पृष्ठ के पीछे २२·८ मि० मी० दूरी पर स्थित है और प्राकृत नेत्र में स्वच्छ-मण्डल की दूरी भी यही है।

अत्यधिक दूरी पर स्थित वस्तु का प्रतिबिम्ब स्वच्छमण्डल के २० मि. मी. पीछे बनता है जब कि ५ मीटर दूरी पर स्थित वस्तु का प्रतिबिम्ब स्वच्छ-मण्डल के २०·०६ मि. मी. पीछे बनता है। चूँकि दृष्टिवितान के रूपादानिका स्तर की गहराई ०.०६ मि. मी. है, अतः वस्तुओं का संन्यूहन असीम दूरी से ५ मीटर तक नेत्र की शक्ति में किसी परिवर्तन के बिना किया जा सकता है। जब वस्तु ५ मीटर से कम दूरी पर होती है, तो उसका प्रतिबिम्ब दृष्टिवितान के पीछे पड़ता है और वस्तु साफ नहीं दीखती। वह दूरी, जिसमें वस्तुओं का संन्यूहन नेत्र में किसी परिवर्तन के बिना किया जा सके, 'संन्यूहगाम्भीर्य' (Depth of focus) कहते हैं।

दृष्टिवितान में वस्तुओं का प्रतिबिम्ब उलटा बनता है

प्रकाश के वक्रीभवन के कारण वस्तुओं का प्रतिबिम्ब नेत्र के दृष्टिवितान पर उलटा और छोटा होता है किन्तु इसे हम सीधा देखते हैं। इसका कारण यह है कि मस्तिष्क में जाकर मनोवैज्ञानिक रीति से वह फिर उलट जाता है और इस प्रकार दो बार उलटने से उसका रूप सीधा हो जाता है। इस संबंध में यह ध्यान में रखना चाहिए कि वस्तुतः रूपसंज्ञा नेत्र में उत्पन्न न होकर मस्तिष्क में होती है अतः मस्तिष्क में अन्तिम परिणाम होने के बाद उसके अनुसार ही वस्तुओं का प्रत्यक्ष होता है। इसके अतिरिक्त, उस संज्ञा को बाह्य वस्तुओं में आरोपित (Project) कर उनसे उनका सम्बन्ध स्थापित किया जाता है। यह अनुभव से सिद्ध है और न केवल रूप के सम्बन्ध में ही, बल्कि अन्य संज्ञाओं के क्षेत्र में भी इसका उपयोग होता है।

वस्तुओं का प्रतिविम्ब नेत्र पर उलटा बनता है, इसको देखने के लिए निम्नांकित प्रयोग किया जा सकता है :—

नेत्र में वस्तुओं का प्रतिविम्ब उलटा बनता है, किन्तु अभ्यास के कारण उन्हें हम सीधा देखते हैं। एक मोटे कागज में सूई से छोटा छेद कर दो और उसे नेत्र के सम्मुख प्रायः एक इञ्च की दूरी पर रक्खो। तब एक पिन या और कोई पतली वस्तु इस छिद्र और नेत्र के बीच में रखो और उसे ऊपर-नीचे उठाओ। पिन स्पष्ट दीख पड़ेगा, किन्तु उलटा। यह तो प्रत्यक्ष है कि पिन को नेत्र के इतना निकट रखने पर उसका कोई प्रतिविम्ब नेत्र के परदे पर नहीं पड़ सकता। फिर हम देखते क्या हैं? केवल पिन की छाया जो इतनी स्पष्ट इस कारण दिखाई देती है कि प्रकाश एक अत्यन्त छोटे छिद्र में से आता है। यह कहने की आवश्यकता नहीं कि छाया सदा सीधी ही होती है किन्तु नेत्रपटल पर पड़ी हुई छाया को हम उलटी देखते हैं। अतः सिद्ध हुआ कि जैसा प्रतिबिम्ब हमारे नेत्रपटल पर पड़ता है, वस्तु को हम ठीक उससे उलटी समझते हैं।

रश्मिकेन्द्रीकरण (Accomodation)

नेत्र स्वभावतः दूरदृष्टि का अभ्यस्त होता है। ऊपर कहा गया है कि नेत्र का मुख्य संव्यूहकेन्द्र इस प्रकार दृष्टिवितान में व्यवस्थित है कि दूर से आने वाली प्रकाश की समानान्तर किरणें ठीक दृष्टिवितान के रूपादानिका स्तर पर संव्यूहित होती हैं। पूर्ण विश्रामकाल में, जिस दूरी तक वस्तुओं के रूप का ग्रहण ठीक-ठीक किया जा सके, उसे नेत्र का दूरबिन्दु (Far point or Punctum remotum) कहते हैं। प्राकृत नेत्र में यह बिन्दु असीम पर होता है, किन्तु व्यवहार में २० फीट से अधिक दूरी से आनेवाली किरणें समानांतर मानी जाती हैं। अतः स्वाभाविक नेत्र उन्हीं वस्तुओं का ठीक-ठीक ग्रहण कर सकता है जो २० फीट या उससे अधिक दूरी पर स्थित हैं। इससे स्पष्ट है कि यदि वस्तुओं की दूरी इससे कम कर दी जाय और नेत्र में कोई परिवर्तन न हो तो उन वस्तुओं से आनेवाली किरणों का संव्यूहन दृष्टिवितान पर न होकर उसके कुछ पीछे होगा, फलतः प्रतिविम्ब स्पष्ट नहीं होगा। इस दोष के निराकरण के लिए, नेत्र में कुछ ऐसे परिवर्तन होते हैं, जिनसे दृष्टिमंडल की वक्रता बदल जाती है और नेत्र की अन्तर्मुखीकरण शक्ति (Converging power) इतनी बढ़ जाती है कि निकट वस्तुओं से आने वाली किरणों का ठीक दृष्टिवितान पर संव्यूहन होता है और इस प्रकार निकटवर्ती वस्तुओं का स्पष्ट प्रतिविम्ब प्राप्त होता है। नेत्र की यह शक्ति, जिससे दृष्टिमंडल की वक्रता में परिवर्तन होता है, रश्मिकेन्द्रीकरण कहलाती है।

फोटोग्राफ कैमरे में यह कार्य प्लेट को पीछे हटाने तथा काच को आगे बढ़ाने से हो जाता है, किन्तु नेत्र में न दृष्टिवितान पीछे हटाया जा सकता है और न दृष्टिमंडल ही आगे बढ़ाया जा सकता है। अतः संव्यूहन का कार्य दृष्टिमंडल की वक्रता, फलतः प्रकाश वक्रीकरणशक्ति, बढ़ा कर संपन्न होता है।

रश्मिकेन्द्रीकरण-क्रिया

रश्मिकेन्द्रीकरण की क्रिया किस प्रकार होती है, इसका ज्ञान मुख्यतः हेमहौज नामक विद्वान् के अनुसन्धानों से प्राप्त हुआ है। इसे हेमहौज का शैथिल्यसिद्धान्त (Helmhotz relaxation theory) कहते हैं।

यह दृष्टिमण्डल की स्थितिस्थापकता पर निर्भर करता है। दृष्टिमंडल एक उभयोन्नतोदर वस्तु है जो आवरक कोषाणुओं से बना है तथा कलाकोष से आवृत रहता है। स्वतः दृष्टिमंडल की रचना ऐसी है कि उसमें स्थितिस्थापकता का गुण नहीं है। किन्तु उसके कलाकोष में स्थितिस्थापकता है और उसका दबाव बराबर दृष्टिमण्डल पर पड़ता है। दृष्टिमण्डल भी कलाकोष के आकार के अनुरूप ही रहता है। यह कलाकोष में थोड़ा सा भेदन करके देखा जाता है। भेदन करने पर क्षत फैल जाता है और उस छिद्र से दृष्टिमण्डल की कोमल वस्तु बाहर निकल आती है। यह परिणाम परिधिवेष्टनकला चक्र के खिंचाव के कारण नहीं होता, क्योंकि नेत्र से दृष्टिमण्डल को पृथक् करने पर भी यह देखा जाता है। कलाकोष परिधिवेष्टनकलाचक्र के द्वारा सन्धानमण्डल से सम्बद्ध रहता है। कलाचक्र के द्वारा कलाकोष सदैव खिंचाव पर रहता है जिससे कलाकोष तथा तदन्तर्वर्ती दृष्टिमण्डल चपटे बने रहते हैं। कलाचक्र के सूत्र दृष्टिमण्डलबन्धनी के रूप में कार्य करते हैं जिसके सहारे वह सान्द्रजल के ऊपरी खात में अवलम्बित रहता है। जब ये सूत्र विच्छिन्न हो जाते हैं तब दृष्टिमण्डल अपने स्थान से अंशतः विश्लिष्ट हो जाता है। इस अवस्था को दृष्टिमण्डल-विश्लेष (Subluxation) कहते हैं।

कलाचक्र जो दृष्टिमण्डल को अपने स्थान में धारण किये रहता है अनेक सूत्रगुच्छों से बना है जो सन्धानमण्डल के पृष्ठ से कलाकोष तक फैले रहते हैं। ज्यों-ज्यों नेत्र का आकार बढ़ता है त्यों-त्यों ये सूत्र अधिक खिंच जाते हैं जिससे दृष्टिमण्डल चपटा हो जाता है जो भ्रूणावस्था में प्रायः गोलाकार होता है।

पहले बतलाया गया है कि संधानपेशिका में तीन प्रकार के पेशीसूत्र होते हैं :—

१. विसारी सूत्र (Meridonial fibres)—जो स्वच्छ शुक्लसंधिस्थान पर उत्पन्न होते हैं।

२. अनुलम्ब सूत्र (Longitudinal fibres)—जिनके बीच बीच में संयोजक तन्तु रहता है।

३. वृत्तसूत्र (Circular fibres of muller)—ये संकोचक सूत्र हैं और रश्मिकेन्द्रीकरण के समय संकुचित हो जाते हैं। निकट दृष्टि वाले व्यक्तियों में ये कम विकसित तथा दूर दृष्टि वालों में अधिक विकसित होते हैं।

रश्मिकेन्द्रीकरण के समय सन्धानपेशिका, विशेषतः इसके वृत्तसूत्र, संकुचित होते हैं, जिससे कर्बुरवृति और सन्धानमण्डल आगे की ओर खिंच जाते हैं। परिणामस्वरूप, सन्धानमण्डल तथा दृष्टिमण्डल के बीच का अवकाश, जिसमें कलाचक्र रहता है, कम हो जाता है और इस प्रकार कलाचक्र का खिंचाव शिथिल हो जाता है। इस शिथिलता के कारण दृष्टिमण्डल के कलाकोष का खिंचाव भी कम हो जाता है और दबाव हट जाने पर दृष्टिमण्डल भी अपने स्वाभाविक गोल आकार में जाने लगता है। फलतः दृष्टिमण्डल के दोनों ओर वक्रता बढ़ जाती है। चूँकि दृष्टिमण्डल का पश्चिम पृष्ठ सान्द्रजल के कारण स्थिर रहता है, कलाकोष के शैथिल्य का प्रभाव मुख्यतः उसके पूर्व पृष्ठ पर दृष्टिगोचर होता है, जो सामने की ओर उन्नत हो जाता है और इस प्रकार दृष्टिमण्डल की प्रकाश-वक्रीकरणशक्ति बढ़ जाती है। परिणाम यह होता है कि नेत्र की प्रकाश वक्रीकरणशक्ति ऐसी बढ़ जाती है जैसे उसके सामने उन्नतोदर काच रख दिया गया हो और प्राकृत नेत्र उस समय के लिए निकटदर्शी हो जाता है।

दृष्टिमण्डल की वक्रता में वृद्धि संधानपेशिका के संकोच के अनुपात से होती है। दृष्टिमण्डल जब आगे की ओर अधिक उन्नत हो जाता है तब उसका मध्यरेखाव्यास भी कम हो जाता है। सामान्यतः विश्रामकाल में दृष्टिमण्डल के पूर्वपृष्ठ की वक्रता का मध्यरेखाव्यास (Radius) १० मि. मी. तथा पश्चिम पृष्ठ का ६ मि. मी. रहता है। निकट की वस्तुओं को देखने के समय दोनों पृष्ठों की वक्रता में अन्तर हो जाता है। प्रबल केन्द्रीकरण के समय पूर्वपृष्ठ की वक्रता ५.३ मि. मी. तथा पश्चिम पृष्ठ की वक्रता ५·३३ मि० मी० हो जाता है। अधिकतम केन्द्रीकरण के समय दृष्टिमण्डलबन्धनी के शैथिल्य के कारण दृष्टिमण्डल लगभग ०·२५ से ०·३ मि० मी० तक नीचे की ओर खिसक आता है।

अनुसन्धानों से यह सिद्ध है कि पूर्वपृष्ठ की वक्रता ८७ प्रतिशत बढ़ जाती है तथा पश्चिम पृष्ठ की २२·५ प्रतिशत। पूर्वपृष्ठ की वक्रता में वृद्धि होने

से अग्रिमा जलधानी उसी अनुपात में कुछ छोटी हो जाती है। इससे दृष्टि-मण्डल के समस्त भाग में समान रूप से शक्ति नहीं बढ़ती, किन्तु अक्ष के निकट अधिकतम रहती है।

जब रश्मिकेन्द्रीकरण की क्रिया समाप्त हो जाती है तब सन्धानपेशिका भी प्रसारित होती है और सन्धानदर्शिकाओं तथा दृष्टिमण्डल के बीच का अव-काश अधिक हो जाता है। इसके कारण कलाचक्र का दृष्टिमण्डल पर खिंचाव पुनः अधिक हो जाता है, जिससे वह चपटा बना रहता है। सन्धानपेशिका के अनुलम्ब तथा वृत्त दोनों सूत्र संकुचित होते हैं, विशेषतः वृत्तसूत्रों का संकोच होता है, अतः रश्मिकेन्द्रीकरण का आधिक्य होने के कारण दूरदर्शी व्यक्तियों में यह सूत्र अधिक विकसित होते हैं।

लिंगनाश आदि के शस्त्रकर्म में दृष्टिमण्डल को निकाल देने पर केन्द्रीकरण की शक्ति नष्ट हो जाती है, तब दूर और निकट दृष्टि के लिए रोगी को कृत्रिम काच का प्रयोग करना पड़ता है।

शर्निङ्ग का दबाववृद्धि का सिद्धान्त
(Tscherning's theory of increased tension)

शर्निङ्ग नामक विद्वान् के मत में सन्धानपेशिका के संकोच से दृष्टिमण्डल का शैथिल्य नहीं होता (जैसा कि हेमहौज ने प्रतिपादित किया है) बल्कि वह और कस जाता है जिससे दृष्टिमण्डल का कलाकोष दब जाता है। इसी दबाव के कारण दृष्टिमण्डल आगे की ओर निकल जाता है। इस मत के पक्ष में निम्नांकित प्रमाण हैं :—

(१) रश्मिकेन्द्रीकरण के समय दृष्टिमण्डल का पूर्वपृष्ठ का आकार बदल जाता है। उसका केन्द्रीय भाग अधिक उन्नतोदर तथा प्रान्तीय भाग अधिक चपटा होता है। यदि कलाकोष शिथिल हो जाता है तो उसका आकार गोल हो जाना चाहिये, न कि बीच में उठा हुआ और दोनों प्रान्तों में चपटा।

(२) यह देखा गया है कि कलाकोष की स्थूलता सर्वत्र समान नहीं है। पूर्वभाग में यह पतला और पश्चिमभाग में मोटा है। इसलिए ऐसी स्थिति में जब कोष का दबाव पड़ता है तो वह स्थूलभाग की ओर अधिक होता है और इसीलिए दृष्टिमण्डल आगे की ओर निकल आता है।

मतभेद होने पर प्रायोगिक प्रमाण अधिक हेमहौज के सिद्धान्त के पक्ष में ही हैं क्योंकि यह देखा गया है कि केन्द्रीकरण के समय दृष्टिमण्डल कलाकोष के भीतर शिथिल अवस्था में रहता है।

रश्मिकेन्द्रीकरण की सीमा

रश्मिकेन्द्रीकरण की शक्ति का माप दूर या निकट की सीमाओं से किया

जाता है। दूरविन्दु (Punctum remotum or far point) वह विन्दु है जहाँ केन्द्रीकरण क्रिया के शिथिल रहने पर नेत्र का संव्यूहन किया जाता है। निकटविन्दु (Near point or punctum proximum) वह विन्दु है जहाँ अधिकतम केन्द्रीकरण के समय नेत्र का संव्यूहन किया जाता है।

प्राकृत नेत्र में दूरविन्दु असीम दूरी पर रहता है, क्योंकि विश्राम की अवस्था में नेत्र संव्यूह समानान्तर किरणों के लिए होता है। निकटविन्दु को निश्चित करने के लिए किसी वस्तु को नेत्र के निकट लाते हैं जब तक कि वह अस्पष्ट न हो जाय तथा सन्धानपेशिका के प्रबलतम सङ्कोच के होने पर भी उसका स्पष्ट प्रतिविम्ब न हो सके। जहाँ से वह वस्तु अस्पष्ट होने लगती है, इसे निकटबिन्दु कहते हैं। आयु के अनुसार इसमें परिवर्तन होता रहता है। जैसे-जैसे आयु बढ़ती है, इसकी दूरी बढ़ती जाती है।

रश्मिकेन्द्रीकरण के समय नेत्र में परिवर्तन

(१) दृष्टिमण्डल की वक्रता में वृद्धि विशेषतः उसके पूर्वपश्चिम व्यास में वृद्धि :—यह वस्तुओं के स्पष्ट संव्यूहन निमित्त सन्धानपेशिका के संकोच से होता है। दृष्टिमण्डल अधिक स्थूल हो जाता है और उसका व्यास कम हो जाता है। इससे उसकी प्रकाश वक्रीकरण शक्ति बढ़ जाती है।

(२) नेत्रों की अन्तर्मुखता—अन्तर्दर्शिनी पेशियों के संकोच के कारण नेत्र अन्तर्मुख हो जाते हैं जिससे दोनों नेत्रों के दृष्टि वितान के समान विन्दु पर वस्तुओं का संव्यूहन होता है और इस प्रकार द्विदृष्टि नहीं होने पाती।

(३) कनीनकों का सङ्कोच :—कनीनकसङ्कोचनी पेशियों के सङ्कोच के कारण कनीनकों का सङ्कोच हो जाता है। इससे पार्श्ववर्ती किरणों का निरोध हो जाता है और दृष्टिवितान पर प्रतिबिम्ब स्पष्ट बनता है।

उपर्युक्त तीनों पेशियों का सम्बन्ध तृतीय नाड़ी से है।

दृष्टिसम्बन्धी विकार

जिस नेत्र का दूरविन्दु असीम दूरी पर हो तथा निकटविन्दु लगभग ८ इञ्च की दूरी पर हो उसे प्राकृत नेत्र (Emmetropic eye) कहते हैं। कुछ व्यक्तियों के नेत्र में दृष्टिवितान स्वच्छमण्डल के २३ मि. मी. पीछे न होकर और अधिक दूरी पर पीछे (निकटदृष्टि) या और आगे (दूरदृष्टि) स्थित हो, तो प्रतिबिम्ब स्पष्ट न बनने से दृष्टि विकृत हो जाती है। इन विकारों को वक्रीभवन के विकार (Errors of refraction) तथा ऐसे नेत्र को विकृत नेत्र (Ametropic) कहते हैं। ये विकार निम्नाङ्कित कारणों से हो सकते हैं :—

(क) नेत्रगोलक का आकार छोटा या लम्बा होने से इसे अक्षीय विकार (Axial ametropin) कहते हैं।

(ख) प्रकाशवक्रीकरण पृष्ठों की वक्रता में परिवर्तन होने से इसे वक्रता-विकार (Curvature ametropia) कहते हैं।

(१) निकटदृष्टि (Myopia)—इस विकार में निकट की वस्तुयें साफ दिखलाई पड़ती हैं किन्तु दूर की वस्तुयें नहीं दिखाई देतीं। इसका कारण यह है कि दूर से आती हुई समानान्तर किरणें दृष्टिवितान पर केन्द्रित न होकर उसके आगे होती हैं, इसलिए दृष्टिवितान पर प्रतिबिम्ब स्पष्ट नहीं बनता। इसके विपरीत, निकटवर्ती वस्तुओं की किरणें दृष्टिवितान पर ठीक-ठीक केन्द्रित होती हैं, अतः उनका प्रतिबिम्ब स्पष्ट बनता है।

यह विकार नेत्रगोलक के अधिक लम्बा होने से या स्वच्छमण्डल या दृष्टिमण्डल की वक्रता अधिक होने से होता है। यह जन्म ही से हो सकता है, किन्तु सामान्यतः पोषण की कमी या रोगों के कारण नेत्रगोलक के स्तरों में दुर्बलता आ जाने से होता है।

निकट की वस्तुओं को देखते समय नेत्रगोलकों के अन्तर्मुखी भवन से नेत्रगत तरल का दबाव बढ़ जाता है। जब नेत्रगोलक के स्तर दुर्बल होते हैं तब इस दबाव से प्रभावित होकर वे लम्बे हो जाते हैं और दृष्टिवितान भी पीछे की ओर हट जाता है। अतः मुख्य संव्यूहन केन्द्र दृष्टिवितान पर न होकर उसके सामने की ओर होता है।

यह विकार नतोदर काच के द्वारा दूर किया जा सकता है, क्योंकि मनुष्य की स्वाभाविक प्रकाश केन्द्रीकरणशक्ति मुख्य संव्यूह दूरी को कम कर सकती है, बढ़ा नहीं सकती। नतोदर काच प्रकाश की किरणों को बहिर्मुख कर देते हैं और इस प्रकार काच और दृष्टिमण्डल का सम्मिलित संव्यूहान्तर अधिक हो जाने से दृष्टिवितान पर प्रतिबिम्ब स्पष्ट बनता है।

(२) दूरदृष्टि (Hypermetropia)—पूर्वोक्त विकार के यह ठीक उलटा होता है। इसमें दूर की वस्तुयें साफ दीखती हैं, किन्तु निकटवर्ती वस्तुएँ स्पष्ट नहीं दीखतीं।

इस विकार में नेत्रगोलक छोटा हो जाता है और उसका पूर्वपश्चिम व्यास कम हो जाता है। अतः समानान्तर किरणों का संव्यूहन दृष्टिवितान के पीछे किसी विन्दु पर होता है। प्राकृत नेत्र की अपेक्षा इसमें निकटविन्दु अधिक दूरी पर होता है।

यह विकार उन्नतोदर काच के प्रयोग से दूर किया जाता है। ये काच

नेत्र में प्रविष्ट होने वाली किरणों को अन्तर्मुख कर देते हैं जिससे दृष्टिवितान पर प्रतिविम्ब बनता है।

(३) जरादृष्टि (Presbyopia)—बुढ़ापे में मण्डलाष्ठिका के कठिन होने तथा सन्धानपेशिकाओं के दुर्बल होने से प्रकाशकेन्द्रीकरण शक्ति क्रमशः क्षीण हो जाती है, अतः निकट की वस्तुयें दिखलाई नहीं देतीं। पहले बतलाया गया है कि आयु के साथ निकटविन्दु भी बढ़ता जाता है यथा :—

आयु	निकटविन्दु
१० वर्ष	७ से. मी.
२० ,,	१० ,, ,,
३० ,,	१४ ,, ,,
४० ,,	२२ ,, ,,
५० ,,	४० ,, ,,

जब निकटविन्दु १५ से. मी. (१० इञ्च) पर पहुँचता है तब विकार स्पष्ट होने लगता है। रोगी को पुस्तक पढ़ने में कष्ट होने लगता है और साफ देखने के लिए वस्तुओं को कुछ दूरी पर रखना पड़ता है।

इस विकार में अल्पशक्ति के उन्नतोदर काचों का प्रयोग निकटवर्ती वस्तुओं को देखने या पढ़ने के लिए किया जाता है।

(४) विषमदृष्टि (Astigmatism)—यह विकार स्वच्छमण्डल या दृष्टिमण्डल की वक्रता में वैषम्य होने से होता है। इसलिए नेत्र एक ओर निकटदर्शी तथा दूसरी ओर दूरदर्शी हो सकता है। सामान्यतः स्वच्छमण्डल में विकार होता है। इसका पृष्ठ अनुप्रस्थ दिशा में चौड़ा तथा अनुलम्ब दिशा में उन्नत होता है जिसके कारण उसका आकार वृत्त न होकर अंडाकार हो जाता है। उस स्वच्छ-मण्डल को स्रुवाकार (Spoon-shaped) भी कहा जाता है। इस स्थिति में जब समानान्तर किरणें नेत्र पर पड़ती हैं तो अनुलम्ब और अनुप्रस्थ दोनों किरणों का दृष्टिवितान के एक ही विन्दु पर संव्यूहन नहीं हो पाता, जिससे प्रतिविम्ब स्पष्ट नहीं बनता। यह विकार चार प्रकार का होता है :—

(१) नियमानुरूप सामान्य विषमदृष्टि (Regular astigmatism according to the rule)—इसमें स्वच्छमण्डल की वक्रता अनुप्रस्थ की अपेक्षा अनुलम्ब दिशा में अधिक होती है।

(२) नियमविरुद्ध सामान्य विषमदृष्टि (Regular astigmatism-against the rule)—इसमें अनुप्रस्थ दिशा में वक्रता अधिक होती है।

(३) असामान्य विषमदृष्टि (Irregular astigmatism)—इसमें व्रण इत्यादि के कारण स्वच्छमण्डल का पृष्ठ अनियमित हो जाता है।

(४) दृष्टिमण्डलीय विषमदृष्टि (Lenticular astigmatism)—इसमें दृष्टिमण्डल के कुछ मुड़ जाने से विकृति होती है।

यह विकार बेलनाकार (Cylindrical) काच के प्रयोग से दूर होता है।

(५) मण्डलीय दृष्टि (Spherical aberration)—दृष्टिमण्डल के परिधिभाग से जानेवाली किरणों का केन्द्रभाग से जानेवाली किरणों की अपेक्षा वक्रीभवन अधिक होता है, अतः उनका संव्यूहन दृष्टिवितान के एक ही विन्दु पर नहीं हो पाता।

यह विकार कनीनक-सङ्कोचनी पेशियोंके सङ्कोच से दूर हो जाता है, क्योंकि इससे किरणें परिधिभाग से न आकर केवल केन्द्रभाग से आता हैं। परिधिभाग की अपेक्षा केन्द्रभाग की वक्रता बढ़ा देने से भी विकार का निराकरण हो जाता है। मनुष्य का नेत्र स्वभावतः ऐसा होता है।

(६) वर्णदृष्टि (Chromatic aberration)—प्रकाश की किरण दृष्टिमण्डल में घुसने पर अनेक वर्णों में विभक्त हो जाती है और प्रतिविम्ब के चारों ओर वर्णयुक्त परिधि प्रतीत होती है। इसे वर्णदृष्टि कहते हैं। इस किरण को यदि एक भिन्न काच के द्वारा प्रविष्ट कराया जाय तो यह विकार दूर हो जाता है। मनुष्य के नेत्र में स्वभावतः किरणों का वर्ण विभाग नहीं होता, क्योंकि दृष्टिवितान पर पहुँचने के पहले वे स्वच्छमण्डल तथा दृष्टिमण्डल से गुजरती हैं जिनका आकार और घनत्व एक दूसरे से भिन्न होता है।

तारामण्डल के कार्य

(१) यह नेत्र में प्रविष्ट होने वाले प्रकाश के परिमाण का नियमन करता है। तीव्र प्रकाश में कनीनक संकुचित हो जाते हैं, जिससे आवश्यकता से अधिक प्रकाश नेत्र के भीतर नहीं घुस पाता और इस प्रकार दृष्टि वितान को कोई क्षति नहीं हो पाती। इसी तरह मन्द प्रकाश में कनीनक फैल जाते हैं, जिससे अधिक से अधिक प्रकाश नेत्र में आ सके और वस्तुओं का प्रतिविम्ब स्पष्ट बन सके।

(२) यह एक प्राचीर के रूप में कार्य करता है, जिससे अनियमित प्रान्तीय किरणें नेत्र के भीतर प्रविष्ट नहीं होने पातीं और दृष्टि में कोई बाधा नहीं होने पाती।

(३) कनीनक का सङ्कोच संव्यूह की गम्भीरता को बढ़ा देता है, जो निकट दृष्टि के लिए अत्यन्त उपयोगी है।

तारामण्डल की नाडियाँ

तारामण्डल में निम्नांकित तीन प्रकार की नाडियाँ सम्बद्ध रहती हैं :—

१. तृतीय नाडी—जो कनीनक सङ्कोचनी पेशी से सम्बद्ध है।

२. ग्रैवेयक सांवेदनिक नाडी—जो कनीनक विस्फारणी से सम्बद्ध है।

३. पञ्चमी नाडी के चाक्षुष विभाग की नासानुगा शाखाओं के प्रतान—जो संज्ञा का वहन करते हैं।

कनीनकसङ्कोचनी पेशियों से सम्बद्ध नाडीसूत्र मध्यमस्तिष्क में उत्पन्न होकर तृतीय नाडी के द्वारा सन्धानगण्ड और उसके बाद लघु सन्धाननाडियों के रूप में कनीनकसंकोचनी पेशियों से सम्बद्ध रहते हैं।

कनीनकविस्फारिणी नाडियों के सूत्र निम्नांकित क्रम से विस्फारिणी पेशियों तक पहुँचते हैं :—

१. मध्यमस्तिष्क (में उत्पन्न) २. सुषुम्नाकाण्ड

३. चाक्षुषसौषुम्निक केन्द्र (Cíliospinal centre)

४. प्रथम, द्वितीय और तृतीय वक्षीय सौषुम्निक नाडियां

५. प्रथम वक्षीय नाडीगण्ड ६. ऊर्ध्व ग्रैवेयक नाड़ीगण्ड

७. अर्धचन्द्र नाडीगण्ड ८. चाक्षुषविभाग

९. दीर्घ सन्धाननाडियां

तारामण्डल की प्रत्यावर्तित क्रियायें

कनीनकों का संकोच प्रत्यावर्तित रूप से निम्नलिखित अवस्थाओं में होता है :—

१. जब नेत्र पर प्रकाश पड़ता है (प्रकाश प्रत्यावर्तन)

२. केन्द्रीकरण के समय (केन्द्रीकरण प्रत्यावर्तन)

३. जब शरीर की अनेक संज्ञावह नाडियाँ उत्तेजित होती हैं (संज्ञा प्रत्यावर्तन)।

(१) केन्द्रीकरण या अन्तर्मुख प्रत्यावर्तन (Accomodation or convergence reflex)—जब निकटवर्ती वस्तुओं को देखने के लिए नेत्र का केन्द्रीकरण किया जाता है तब कनीनकसंकोचनी पेशियों के संकोच के कारण कनीनक संकुचित हो जाते हैं। इस क्रिया में प्रत्यावर्तन वक्र निम्नांकित प्रकार से बनता है :—

(क) संज्ञावह सूत्र—पञ्चमी नाडी के संज्ञासूत्र जो सन्धानपेशिका के संकोच से उत्तेजित होते हैं।

(ख) केन्द्र—मध्यमस्तिष्क में तृतीय नाडी के केन्द्र के निकट स्थित है।

(ग) चेष्टावह सूत्र—तृतीय नाडी की लघु सन्धानिका शाखायें। इसमें दोनों नेत्रों में संकोच होता है, यद्यपि एक नेत्र ढँका भी हो।

ऐसा भी समझा जाता है कि यह शुद्ध प्रत्यावर्तित क्रिया नहीं है बल्कि अन्तर्दर्शिनी तथा सन्धानपेशिकाओं के संकोच से कनीनकसंकोचनी पेशियों में भी साहचर्यजन्य संकोच होता है। इसे साहचर्यक्रिया (Associated act or synkinesis) कहते हैं।

महत्त्वः—इस प्रत्यावर्तित क्रिया से अनियमित प्रान्तीय किरणें नेत्र में घुसने नहीं पातीं, अतः दृष्टिवितान पर प्रतिबिम्ब स्पष्ट बनता है।

(२) प्रकाशप्रत्यावर्तन (Light reflex) यह देखा जाता है कि अतितीव्र प्रकाश में कनीनक नितान्त संकुचित हो जाते हैं। यह क्रिया स्वतन्त्र रूप से और अनजाने होती है। इसमें प्रत्यावर्तनवक्र निम्नांकित रूप से बनता है :—

(क) संज्ञावह सूत्र—दृष्टिनाड़ीसूत्र।

(ख) केन्द्र—कनीनककेन्द्र जो मध्यमस्तिष्क में तृतीयनाडीकेन्द्र के निकट स्थित है।

(ग) चेष्टावह सूत्र—लघु सन्धानिका नाडियाँ।

महत्त्व :—प्रकाश के प्रत्यक्षीकरण का यह एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण चिह्न है।

(३) द्विपार्श्विक प्रकाशप्रत्यावर्तन (Consensual light reflex) यदि एक नेत्र में प्रकाश दिया जाय तो दोनों कनीनकों का संकोच हो जाता है। इसे द्विपार्श्विक प्रकाशप्रत्यावर्तन कहते हैं। इसका कारण यह है कि प्रत्येक दृष्टिवितान उत्तरकलायिका (Superior corpora quadrigemina) के द्वारा दोनों पार्श्वों के कनीनककेन्द्रों को उत्तेजित करता है। इसका प्रत्यावर्तन वक्र प्रकाशप्रत्यावर्तन के समान होता है।

महत्त्व :—इसके द्वारा हमें एक नेत्र की परीक्षा से ज्ञात हो जायगा कि दूसरे नेत्र से प्रकाश का प्रत्यक्षीकरण होता है या नहीं? जिस नेत्र में दृष्टिनाडी के अवरोध के कारण प्रकाश का प्रत्यक्ष नहीं होता, उसमें प्रकाश देने पर न उसके कनीनक का संकोच होगा और न दूसरे नेत्र के कनीनक का।

किन्तु यदि दूसरे स्वस्थ नेत्र में प्रकाश देने पर विकृत नेत्र में भी कनीनक का संकोच होता है तो इसका अर्थ यह है विकृति केवल दृष्टिनाडी तक ही सीमित है और चेष्टावह मार्ग (तृतीय नाडी, सन्धानगण्ड और लघु सन्धानसूत्र) बिलकुल स्वस्थ है।

(४) वर्निक का प्रत्यावर्तन (Wernick's reflex)—यदि प्रत्यावर्तन सूत्रों के बाद दृष्टिनाडी के सूत्रों में विकृति हो तो प्रकाशप्रत्यावर्तन होगा, किन्तु प्रकाश का प्रत्यक्षीकरण नहीं होगा। इसके विपरीत, निम्नांकित अवस्थाओं में, प्रकाश का प्रत्यक्ष होता है, किन्तु प्रत्यावर्तन नहीं होता :—

(क) तारामण्डल के कुछ रोग—यथा संसक्ति।

(ख) चेष्टावह मार्ग में कोई विकार—यथा तृतीयनाडीकेन्द्र का आघात या लघुसन्धान नाडियों की क्रियाहीनता।

(ग) कुछ नाडीसंस्थान के रोग—यथा–फिरंगजन्य (Tabes dorsalis) या वर्धमान पक्षाघात। प्रथम रोग में केन्द्रीकरण-प्रत्यावर्तन ठीक रहता है किन्तु प्रकाशप्रत्यावर्तन नष्ट या मन्द हो जाता है। यह एक-पार्श्विक या द्विपार्श्विक हो सकता है। इसे प्रत्यावर्तनरहित कनीनक (Argyll–Robertson pupil) कहते हैं और यह उस व्याधि के निदान में अत्यधिक सहायक होता है।

(५) आत्ययिक प्रकाशप्रत्यावर्तन (Emergency light reflex)—जब अतितीव्र प्रकाश नेत्रों पर पड़ता है तब कनीनक संकुचित हो जाते हैं, पलकें बन्द हो जाती हैं तथा भ्रू झुक जाते हैं और अधिक तीव्र प्रकाश होने पर शिर भी आगे की ओर झुक जाता है, समस्त मुखमण्डल संकुचित हो जाता है तथा अग्रबाहु नेत्रों के सामने आ जाते हैं। इसका प्रत्यावर्तनचक्र निम्नांकित रूप में होता है :—

१. संज्ञावह नाडी—दृष्टिनाडी।

२. केन्द्र—तृतीयनाडी केन्द्र तथा ग्रीवा और नेत्र की पेशियों के केन्द्र।

३. चेष्टावह नाडी—कनीनक संकोचनी, नेत्रच्छद, भ्रू, बाहु तथा शिर की पेशियों से सम्बद्ध नाडीसूत्र।

(६) सहचारी प्रत्यावर्तन (Associated reflexes) छदप्रत्यावर्तन (Lid reaction or orblicular reflex) कनीनक का छदप्रत्यावर्तन पूर्वोक्त साहचर्यजन्य प्रत्यावर्तनों का एक उदाहरण है। इसमें नेत्रच्छद एक दूसरे से अलग कर दिये जाते हैं और उन्हें बन्द होने से रोक दिया जाता

है। अब रोगी की आँखें बन्द करने को कहा जाता है। जैसे ही वह बन्द करने का प्रयत्न करता है, कनीनक संकुचित हो जाता है। यह प्रत्यावर्तन द्विपार्श्विक नहीं होता।

महत्त्व :—यह प्रत्यावर्तन समस्त चेष्टावह मार्ग की क्षमता का सूचक है।

(७) मानस प्रत्यावर्तन (Cortical reflexes)—केवल प्रकाश की कल्पना से भी कनीनकों का संकोच हो जाता है। यदि इसी प्रकार कोई व्यक्ति यह कल्पना करे कि वह अन्धकार में है, तो उसके कनीनक प्रसारित हो जाते हैं।

(८) त्रिधारा प्रत्यावर्तन (Trigeminal reflex)—यदि कोई बाह्य पदार्थ नेत्र के स्वच्छमण्डल में घुस कर नेत्र में क्षोभ उत्पन्न करे तो कनीनकों का संकोच हो जायगा विशेषतः इसका प्रभाव विकृत पार्श्व में दृष्टिगोचर होगा। पीड़ाप्रद उत्तेजना से कनीनक पहले प्रसारित हो जाते हैं, किन्तु कुछ देर तक निरन्तर जारी रखने से वे संकुचित हो जाते हैं।

(९) प्रसार प्रत्यावर्तन (Ciliospinal or dilator reflex)—शरीर के किसी अंग में, विशेषतः, शिर और ग्रीवा में, पीड़ा होने से कनीनकों का प्रसार हो जाता है। भावावेश यथा भय, शोक आदि की अवस्थाओं में भी प्रसार हो जाता है। इसका प्रत्यावर्तन चक्र निम्नलिखित होता है :—

(क) संज्ञावह सूत्र—सुषुम्नानाडियों विशेषतः अन्तिम ग्रैवेयक तथा प्रथम, द्वितीय और तृतीय वक्षीय नाड़ियों के पश्चिम मूल, शीर्षण्य नाड़ियों के संज्ञावह सूत्र तथा मस्तिष्क के बाह्य अंश से उद्‌भूत मानस वेग।

(ख) केन्द्र—चाक्षुषसौषुम्निक केन्द्र (Ciliospinal centre)

(ग) चेष्टावह सूत्र—दीर्घ सन्धाननाड़ियाँ।

(१०) निमेषप्रत्यावर्तन (Wink or corneal reflex)—किसी प्रकार स्वच्छमण्डल या नेत्रवर्त्म की उत्तेजना से नेत्रपलक बन्द हो जाते हैं। इसमें संज्ञावह सूत्र पंचमी नाड़ी की शाखायें होती हैं तथा चेष्टावह सूत्र सप्तमी नाड़ी के होते हैं जो नेत्रनिमीलनी पेशी से संबद्ध रहते हैं।

यदि एक पार्श्व की त्रिधारा नाड़ी निष्क्रिय हो जाय, तो विकृत पार्श्व के नेत्रगत स्वच्छमण्डल का स्पर्श करने से किसी नेत्र का निमीलन न होगा और

यदि स्वस्थ नेत्र के स्वच्छमण्डल का स्पर्श किया जाय तो दोनों नेत्रों में प्रत्यावर्तन मिलेगा।

इसी प्रकार यदि एक पार्श्व की मौखिकी नाड़ी निष्क्रिय हो जाय तो विकृत पार्श्व में यह प्रत्यावर्तन नहीं होगा, किन्तु स्वस्थ नेत्र में द्विपार्श्विक प्रत्यावर्तन होगा।

निमेष प्रत्यावर्तन अति तीव्र प्रकाश में भी होता है (आत्ययिक प्रत्यावर्तन)। इसके अतिरिक्त छींकने आदि में नासा की श्लेष्मल कला का क्षोभ होने से या अचानक तीव्र ध्वनि के द्वारा श्रुतिनाड़ियों को उत्तेजित करने से यह प्रत्यावर्तन होता है। इस अन्तिम प्रत्यावर्तन को श्रुतिनिमेष-प्रत्यावर्तन (Auro palpebral reflex) कहते हैं।

तारामण्डल पर औषधों का प्रभाव

कुछ द्रव्य सीधे मध्यमस्तिष्क में स्थित केन्द्रों पर क्रिया करके प्रभाव उत्पन्न करते हैं और कुछ पेशियों में स्थित नाड़ीप्रान्तों पर स्थानिक क्रिया करते हैं। जो द्रव्य कनीनकों का विस्फार करते हैं उन्हें कनीनविस्फारक (Mydriatics) कहते हैं तथा जो उनको संकुचित करते हैं उन्हें कनीनसंकोचक (Miotics) कहते हैं।

ऐट्रोपीन

यह लघु सन्धाननाड़ियों की पेशीनाड़ीसंधि को निष्क्रिय कर देता है। इस प्रकार कनीनकसंकोचनी पेशियों को निश्चेष्ट बनाकर कनीनक का विस्फार कर देता है। इसके अतिरिक्त, सन्धान-पेशिकाओं की क्रियाहीनता से केन्द्रीकरण की शक्ति नष्ट हो जाती है। इसे सन्धान-पेशिकाघात (Cycloplegia) कहते हैं। इसके विपरीत, जो द्रव्य कनीनक को संकुचित करते हैं वे सन्धानपेशिका के संकोच को भी बढ़ा देते हैं।

इसेरिन, पाइलोकारपाइन और मसकेरिन

ये लघु सन्धाननाड़ियों के प्रान्तभागों को उत्तेजित करते हैं, इसलिए कनीनक को संकुचित कर देते हैं।

कोकेन

यह दीर्घ संधाननाड़ियों के प्रान्तभागों को उत्तेजित कर कनीनक को प्रसारित कर देता है तथा अतिप्रबल मात्रा में संकोचक सूत्रों को निष्क्रिय बना देता है और इस प्रकार कनीनक का और अधिक प्रसार हो जाता है। कम मात्रा में इससे संकोचक पेशियों का आघात नहीं होता, अतः प्रकाश प्रत्या-

वर्तन नष्ट नहीं होता। यह सभी स्वतन्त्र पेशियों को दुर्बल बना देता है, अतः तारामण्डल-संकोचनी पेशी के दुर्बल होने से कनीनक का प्रसार हो जाता है।

रोगनिर्णय में इसका प्रयोग अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है चूँकि इसकी क्रिया दीर्घ सन्धाननाड़ियों के प्रान्तभागों पर होती है, अतः इन नाड़ियों के आघात की अवस्था में इससे कनीनक का प्रसार नहीं होता।

अद्रिनिलीन

यह दीर्घ सन्धाननाड़ियों को उत्तेजित कर कनीनक को प्रसारित कर देता है। अतः अधिवृक्कग्रंथि के क्रियाधिक्य में कनीनकों का प्रसार हो जाता है।

अफीम

इसकी क्रिया केन्द्र पर होती है अतः दोनों कनीनकों का सङ्कोच हो जाता है।

क्लोरोफार्म और ईथर

पहले ये केन्द्र को उत्तेजित करते हैं, अतः कनीनकों का संकोच होता है, किन्तु अधिक मात्रा में केन्द्र का आघात होने से कनीनकों का प्रसार हो जाता है।

क्यूरार

यह प्रसारकेन्द्र पर क्रिया करके कनीनकों को प्रसारित कर देता है।

निकोटिन

यह नाड़ीसन्धि को निष्क्रिय बना देता है, अतः यदि ऊर्ध्व ग्रैवेयक गण्ड या सन्धानगण्ड पर इसका लेप कर दिया जाय तो क्रमशः कनीनक का संकोच या प्रसार हो जाता है।

कनीनकों के आकार में विभिन्नता

स्वभावतः, समान प्रकाश में, दोनों कनीनक समान आकार के होते हैं, किन्तु विभिन्न व्यक्तियों में इनकी आकृति में अन्तर होता है। आयु के अनुसार भी इसमें विभिन्नता पाई जाती है। निकट दृष्टि वाले व्यक्तियों में यह कुछ बड़ा तथा दूरदृष्टि वाले व्यक्तियों में कुछ छोटा होता है। कुछ व्यक्तियों में दोनों कनीनकों की आकृति में भी वैषम्य होता है। इसे कनीनकवैषम्य (Anisocoria) कहते हैं।

कनीनक का संकोच और प्रसार निम्नांकित कारणों से भी होता है—

कनीनकसंकोच	कनीनकप्रसारण
१. तृतीय नाड़ी की उत्तेजना	१. तृतीय नाड़ी का आघात
२. ग्रैवेयक सांवेदनिक का आघात	२. ग्रैवेयक सांवेदनिक की उत्तेजना
३. प्रकाश-प्रत्यावर्तन के समय	३. अन्धकार में
४. केन्द्रीकरण प्रत्यावर्तन के समय	४. केन्द्रीकरण की समाप्ति में
५. इसेरिन पाइलोकारपाइन, या मसकेरिन की लघु सन्धाननाड़ियों पर क्रिया	५. श्वासकष्ट के समय तथा श्वासावरोध की अन्तिम अवस्थाओं में
६. केन्द्र पर अफीम की क्रिया	६. क्लोरोफार्म का प्रभाव
७. निद्राकाल में	७. कुछ भावावेश की अवस्थाओं में यथा भय इत्यादि, जब अधिवृक्क ग्रन्थि के क्रियाधिक्य से रक्त में अड्रिनिलीन का आधिक्य हो जाता है।
८. क्लोरोफार्म से संज्ञाहरण के प्रारम्भ में	८. ओषजन की कमी होने पर उपर्युक्त कारण से
	९. त्वचा में पीड़ाप्रद उत्तेजना से विशेषतः ग्रीवाप्रदेश में
	१०. ऐट्रोपीन के द्वारा लघु सन्धान नाड़ियों का आघात
	११. कोकेन के द्वारा दीर्घ सन्धान-नाड़ियों की उत्तेजना
	१२. क्युरार के द्वारा प्रसारकेन्द्र की उत्तेजना
	१३. नेत्रगत दबाव अधिक होने पर यथा अधिमन्थ में

दृष्टिवितान के कार्य

(१) यह प्रकाश-किरणों को नाड़ीवेगों में परिणत करता है जो अनेक मध्यवर्ती नाड़ीकोषाणुओं के द्वारा मस्तिष्कगत दृष्टिकेन्द्र में पहुँचकर रूपसंज्ञा उत्पन्न करता है और इस प्रकार वस्तुओं का प्रत्यक्ष होता है।

दृष्टिवितान के द्वारा रूप का ग्रहण हो, इसके लिए यह आवश्यक है।

प्रकाश की तीव्रता एक नियत सीमा तक हो तथा नियत समय तक वह दृष्टिवितान पर पड़े। इसे क्रमशः तीव्रतावधि (Intensity threshold) तथा कालावधि (Time throshold) कहते हैं।

(२) इसके द्वारा केवल प्रकाश का ही ग्रहण नहीं होता, बल्कि ईथर के विभिन्न कम्पनक्रम के कारण शंकुओं पर क्रिया होने से वर्ण का भी प्रत्यक्ष होता है।

(३) दृष्टिवितान रचना की दृष्टि से अनेक नाडीप्रान्तों का समूह है जो मस्तिष्क के विशिष्ट भाग को उत्तेजित करता है। इन समस्त उत्तेजनाओं के समूह से वस्तु के रूप या आकार का बोध होता है।

यदि वस्तु के आकार को धीरे-धीरे घटाया जाय तो एक समय ऐसा आवेगा, जब उसका दर्शन अशक्य हो जायगा। इस सीमा को रूपावधि (Size threshold or visual acuity) कहते हैं।

रूपसंज्ञा का ग्रहण वस्तुतः दृष्टिवितान में स्थित शूल और शंकुकोषाणुओं के द्वारा होता है।

शूलकोषाणुओं के कर्म

शूलकोषाणु दृष्टिवितान के प्रान्तीय भाग में अधिक संख्या में स्थित है और ये मन्द प्रकाश में रूप का ग्रहण करते हैं। इसीलिए रात में देखने वाले पक्षियों यथा उल्लू, चमगादड़ आदि के नेत्र में इनकी संख्या अधिक होती है। तीव्र प्रकाश में इनकी क्रिया नहीं होती। इसीलिए तीव्र प्रकाश से अन्धेरे कमरे में जाने पर पहले कुछ नहीं दिखाई पड़ता, थोड़ी देर के बाद दीखने लगता है। इसी प्रकार अन्धेरे से सहसा तीव्र प्रकाश में जाने पर नेत्र चमक जाते हैं और कुछ नहीं दीखता, किन्तु थोड़ी देर के बाद दीखने लगता है।

दृष्टिवर्णक का महत्त्व

दृष्टिवर्णक रक्तरञ्जक के समान एक संयुक्त मांसतत्व है, जिसमें मांसतत्व के अणु 'आलोचक' (Retinene) नामक वर्णकद्रव्य के साथ संयुक्त रहते हैं।[1] इसका आविष्कार १८७६ ई० में बौल नामक विद्वान् के द्वारा हुआ था। यह स्तनधारी प्राणियों के शूलकोषाणुओं तथा पक्षियों के शंकुकोषाणुओं में पाया जाता है। मुर्गी, कबूतर, चमगादड़ आदि अनेक जन्तुओं में यह नहीं होता।

चूंकि यह दर्शनकेन्द्र में स्थित शंकुकोषाणुओं में अनुपस्थित होता है, अतः

---

१. आयुर्वेद के अनुसार यह आलोचक पित्त हो सकता है।

ऐसी धारणा है कि रूपग्रहण के लिए यह आवश्यक नहीं है, केवल विभिन्न प्रकाश में नेत्र को केन्द्रित करने में सहायक होता है। इसलिए मन्द प्रकाश में शूलकोषाणुओं की ग्रहणशक्ति को बढ़ा देता है। रासायनिक दृष्टि से यह जीवनीयद्रव्य 'ए' से सम्बद्ध होता है और प्रकाश लगने पर यह एक मांस-तत्त्व तथा 'आलोचक' नामक पीतरञ्जक में विभक्त हो जाता है। एक विद्वान् के मतानुसार यह शंकुकोषाणुओं के क्षेत्र में भी होता है।

दृष्टिवर्णक दृष्टिवितान के चित्रजवनिका नामक स्तर के कोषाणुओं में निरन्तर बनता रहता है और वहां से शूलकोषाणुओं में आता है। ग्रीन नामक विद्वान् के मत में शूलकोषाणुओं का कार्य केवल दृष्टिवर्णक को उत्पन्न करना है जो प्रान्तभाग से फैल कर दर्शनकेन्द्र में आता है और शंकुओं पर क्रिया करता है। प्रकाश के द्वारा दृष्टिवर्णक का विश्लेषण हो जाता है और साथ ही एक विद्युद्धारा भी शंकुओं में उत्पन्न होती है। दृष्टिवर्णक के विश्लेषण तथा पुनरुद्भव के लिए जीवनीयद्रव्य 'ए' अत्यन्त आवश्यक है। इस जीवनीय द्रव्य की कमी या अनुपस्थिति होने पर शूलकोषाणु ठीक-ठीक कार्य नहीं कर पाते जिससे नक्तान्ध्य रोग उत्पन्न हो जाता है।

शंकुकोषाणुओं के कार्य

वर्ण का ग्रहण मुख्यतः इन्हीं कोषाणुओं के द्वारा होता है। तीव्र प्रकाश में वर्णरहित वस्तुओं का भी ग्रहण होता है। इनकी क्रिया ठीक नहीं होने से वर्ण का बोध नहीं होता और दिवान्ध्य की अवस्था उत्पन्न हो जाती है। इनमें भी शूलकोषाणुओं के समान एक वर्णद्रव्य होता है जिसे चक्षुष्य नील-लोहित (Visual violet or iodopsin) कहते हैं। यह भी एक संयुक्त मांसतत्त्व है।

शूल और शंकुकोषाणुओं पर प्रकाशतरंगों का प्रभाव

शूल और शंकुकोषाणुओं पर प्रकाशतरंगों की क्रिया किस प्रकार होती है, इस सम्बन्ध में अनेक सिद्धान्त उपस्थित किये गये हैं जो निम्नांकित हैं :—

(१) तापोत्तेजना का सिद्धांत (Theory of thermal stimuli)—इसके अनुसार प्रकाशतरंगें शोषित होकर दीर्घ तापतरंगों में परिणत हो जाती हैं।

(२) विद्युदुत्तेजना का सिद्धान्त (Theory of electrical stimuli)—इसके अनुसार प्रकाशतरंगें विद्युत्शक्ति में परिवर्तित हो जाती हैं।

(३) चित्ररासायनिक सिद्धान्त (Photochemical theory)—इसके अनुसार प्रकाशतरंगों से शूल और शंकुकोषाणुओं में रासायनिक

परिवर्तन होते हैं जिनसे नाड़ीवेग प्रारम्भ होकर मस्तिष्क में पहुँचते हैं। दृष्टिवर्णक प्रकाश के द्वारा विवर्ण हो जाता है, यह इसके पक्ष में प्रबल प्रमाण है।

उत्तेजना के कारण दृष्टिवितान में परिवर्तन

(क) रासायनिक परिवर्तन (Chemical changes) :—

१. दृष्टिवितान किंचित् अम्ल हो जाता है। ऐसा समझा जाता है कि विवर्ण दृष्टिवर्णक से ही अम्लता उत्पन्न होती है।

२. निरिन्द्रिय स्फुरक अम्ल में वृद्धि। ३. ओषजन सामर्थ्य में वृद्धि।

४. प्रकाश के प्रभाव से दुग्धाम्ल, कओ२ तथा जल में विश्लेषित करने की शक्ति बढ़ जाती है।

५. अमोनिया की राशि में वृद्धि। ६. रञ्जन प्रतिक्रिया में परिवर्तन।

७. दृष्टिवर्णक की विवर्णता।

(ख) यान्त्रिक परिवर्तन (Mechanical changes) :—

१. शंकुओं का भीतरी भाग अधिक संकुचित हो जाता है। इस क्रिया का नियन्त्रण नाडी द्वारा होता है।

२. शूलकोषाणु लम्बाई में बढ़ जाते हैं।

३. चित्रजवनिका के वर्णकद्रव्य आगे की ओर फैल जाते हैं।

(ग) विद्युत् परिवर्तन (Electrical changes) :—

प्रकाश देने के समय नेत्र में विद्युद्धारा उत्पन्न होती है। विद्युद्यन्त्र द्वारा इसका विवरण लिया जाता है, जिसे दृष्टिवितानविद्युन्माप (Electro retin-ogram) कहते हैं।

दृष्टिसंज्ञा का मार्ग

दृष्टिसंज्ञा निम्नांकित क्रम से मस्तिष्क के दृष्टिकेन्द्र में पहुँचती है :—

१. रूपादानिका
२. यवकन्दिनी के बाह्य स्तर में स्थित कण
३. द्विबाहुक कोषाणु
४. गण्डकोषाणु
५. वितानसूत्रिणी
६. दृष्टिनाड़ी
७. बहिर्जानुकग्रन्थि (External Geniculate body)
८. आज्ञाकन्द की पश्चिम पार्श्विक कन्दिका (Pulvinar of thalamus)
९. आन्तर कूर्च्चवल्लिका (Internal capsule)
१०. मस्तिष्क का पश्चिम खण्ड—जहाँ रूप-ज्ञान होता है।

दृष्टिक्षेत्र (Field of vision) —

नेत्र के स्थिर रहने पर जितने बाह्य प्रदेश का प्रतिबिम्ब दृष्टिवितान पर

पड़ता है, उसे दृष्टिक्षेत्र कहते हैं। यह बहुत कुछ मुख की आकृति, नासासेतु, भ्रू तथा गण्डास्थियों की स्थिति पर निर्भर होता है। इसका निर्धारण एक यन्त्र से होता है जिसे दृष्टिक्षेत्रमापक (Perimeter) कहते हैं। इससे नेत्र के अनेक विकारों का निश्चय करने में सहायता मिलती है।

रूपसंज्ञा की अवधि

उत्तेजक वस्तु की अपेक्षा उत्तेजना की अवधि अधिक होती है। थोड़े समय तक प्रकाश देने पर भी दृष्टिवितान पर प्रतिबिम्ब १/८ सेकण्ड तक बना रहता है। इस अवधि के भीतर दूसरी वस्तु का प्रतिबिम्ब पृथक् नहीं बन पाता। इसीलिए पहिये को तेजी से घुमाने पर उसके आरे पृथक् पृथक् दिखाई नहीं पड़ते। सिनेमा में नेत्र के इस गुण का प्रयोग किया जाता है और एक सेकण्ड में हमें १५–२० चित्र दिखलाये जाते हैं। परिणाम यह होता है कि हम उन्हें पृथक् पृथक् चित्र न समझ कर एक ही चित्र समझते हैं और चित्र-गत मनुष्य इत्यादि हिलते चलते सजीव जान पड़ते हैं। प्रत्येक चित्र में पिछले चित्र से प्रायः १/१६ सेकण्ड बाद का दृश्य दिखलाया जाता है।

इसी प्रकार वर्णों का भी मिश्रण हो जाता है।

अनुप्रतिबिम्ब (After-images)

वस्तु को हटा लेने पर भी मस्तिष्क में उसका जो प्रतिबिम्ब बना रहता है उसे अनुप्रतिबिम्ब कहते हैं। इस काल में उसी प्रकार की उत्तेजना का प्रभाव दृष्टिवितान पर कम पड़ता है। अर्थात् सदृश उत्तेजना के लिए दृष्टि-वितान का वह विश्रामकाल होता है यद्यपि दूसरे प्रकार की उत्तेजनाओं का प्रभाव अधिक पड़ता है।

ये अनुप्रतिबिम्ब दो प्रकार के होते हैं—सदृश (Positive) और विप-र्यस्त (Negative)। सदृश अनुप्रतिबिम्ब वस्तु प्रतिबिम्ब की चमक और वर्ण में समान होता है। वस्तु के प्रकाश की तीव्रता के अनुसार यह कुछ देर तक रहता है। विपर्यस्त अनुप्रतिबिम्ब रूपादानिका के श्रम के कारण होता है और वह यद्यपि आकार में मूल वस्तु प्रतिबिम्ब के समान होता है, किन्तु चमक में अन्तर होता है। यदि मूल प्रतिबिम्ब वर्णमय हो तो, इससे अनुयोगी वर्णसंज्ञा होती है।

समकालिक और आनन्तरिक विरोध
(Simultaneous & Successive Contrasts)

किसी वस्तु का वर्ण और चमक उसी समय या उसके बाद अन्य दृश्य वस्तु के वर्ण और चमक से प्रभावित होती है। विपर्यस्त अनुप्रतिबिम्ब आनन्त-रिक विरोध के कारण ही उत्पन्न होते हैं। यदि सफेद पृष्ठभूमि पर बनाये

हुए लाल चिह्न को कुछ देर तक देखा जाय और उसके बाद दूसरी सफेद पृष्ठभूमि को देखा जाय तो वहाँ हरे वर्ण का चिह्न दिखलाई देगा, क्योंकि लाल और हरा अनुयोगी वर्ण हैं। इसी प्रकार नील चिह्न से पीला अनुप्रतिबिम्ब होगा। समकालिक विरोध दो भागों में विभक्त कर दिया गया है प्रभाविरोध (Brightness contrasts) तथा वर्णविरोध (Colour-contrasts)। उदाहरणतः, एक धूसर वस्तु चमकीली पृष्ठभूमि में गहरे रंग की दिखाई देती है। यदि पृष्ठभूमि रङ्गीय हो तो अनुयोगी वर्ण दिखाई देता है।

दृष्टिवितान का श्रम

यदि लगातार एक चमकीली वस्तु पर देखा जाय तो धीरे-धीरे संज्ञा की तीव्रता में कमी होती जाती है। इसका कारण यह है कि अन्य अङ्गों की तरह दृष्टिवितान भी श्रान्त हो जाता है।

नेत्र और कैमरा

प्रकाश के कार्य की दृष्टि से नेत्र तथा कैमरे की बनावट में कोई अन्तर नहीं है। निम्नांकित कोष्ठक में दोनों के समान अवयवों का तुलनात्मक विवरण दिया गया है :—

नेत्र	कैमरा
१. दृष्टिमण्डल	१. काच
२. दृष्टिवितान	२. प्रतिबिम्बग्राही काच (Sensitive plate)
३. कर्बुरवृति	३. यंत्र की कृष्णवर्ण आभ्यंतर परिधि
४. तारामण्डल	४. जवनिकाचक्र (Iris diaphragm)
५. संधानपेशिका	५. जवनिकाचक्र को घुमानेवाला यंत्र
६. नेत्रपेशियों तथा शिर और ग्रीवा की पेशियों की सहायता से नेत्रगोलक के केन्द्रभाग में स्फुट प्रतिबिम्ब बनता है।	६. यह कार्य कैमरे को आगे पीछे हटाकर किया जाता है तथा काच को भी हटा कर किया जाता है।

किन्तु इसके साथ-साथ नेत्र में कैमरे की अपेक्षा निम्नांकित विशेषतायें हैं :—

१. वस्तुओं का संन्यूहन स्वतः होता है, किसी अन्य व्यक्ति द्वारा नहीं।

२. कैमरे में रश्मिसंन्यूहन यन्त्र यवकाच होता है, किन्तु नेत्र में मुख्यतः दो होते हैं—स्वच्छमण्डल और दृष्टिमण्डल।

३. दृष्टिवितान में प्रकाश की तीव्रता तथा उसकी संवेदनीयता का आयोजन स्वतः होता है।

४. निकटवर्ती वस्तुओं का संन्यूहन होने के साथ ही साथ संन्यूहन की गहराई भी बढ़ जाती है।

५. दृष्टिक्षेत्र अपेक्षाकृत अत्यधिक होता है। कैमरा में प्रायः यह ९० डिग्री से अधिक नहीं होता, किन्तु नेत्र में २०८ डिग्री होता है।

६. कैमरा में प्रकाश का बहुत-सा अंश परावर्तन के द्वारा वायु और काच के बीच में नष्ट हो जाता है, किन्तु नेत्र में विभिन्न माध्यमों की वक्रीकरण शक्ति में विशेष अन्तर नहीं होता और परावर्तन के द्वारा प्रकाश कम नष्ट होता है और अधिक से अधिक प्रकाश दृष्टिवितान तक पहुँचता है।

७. कैमरा के काच में जो अनेक दोष होते हैं उनका सुधार नेत्र में स्वतः हो जाता है।

८. निकटवर्ती वस्तुओं को देखने के लिए नेत्रों का अन्तर्मुखीभवन स्वतः नियंत्रित होता है।

९. दृष्टिवितान में प्रकाशग्रहण के दो यन्त्र हैं :—एक के द्वारा मन्द प्रकाश में केवल श्वेत और कृष्ण का ज्ञान होता है और दूसरे के द्वारा तीव्र प्रकाश में वर्णों का बोध होता है।

१०. दृष्टिवितान का पृष्ठ कटोरे की तरह होने के कारण प्रतिबिम्बों का आकार स्पष्ट होता है तथा दूरी आदि का भी प्रत्यक्ष ठीक होता है।

वर्णदर्शन (Colour Vision)

दृष्टिवितान के द्वारा केवल प्रकाश का ही प्रत्यक्षीकरण नहीं होता, बल्कि ईथर के विभिन्न कम्पनों के द्वारा वर्ण का भी ग्रहण होता है। यह कार्य विशेषतः शंकुओं के द्वारा होता है। पीछे यह बतलाया गया है लगभग ४००० से ८००० A. U. तक की प्रकाश किरणों का ही ग्रहण हमारे नेत्र के द्वारा हो सकता है। लम्बी रश्मियों फलतः मन्द कम्पनों से रक्त वर्ण तथा छोटी रश्मियों फलतः तीव्र कम्पनों से नीललोहित (बैंगनी) किरणों की संज्ञा उत्पन्न होती है। इनके बीच में रक्त के बाद नारंगी, पीत, हरित, श्याम, नील ये वर्ण होते हैं। त्रिपार्श्व के द्वारा श्वेत रश्मि का विश्लेषण कर वर्णपट में इन वर्णों को देखा जा सकता है। ये वर्ण उपर्युक्त क्रम से ही व्यवस्थित

होते हैं और इसी क्रम से वे दृष्टिवितान पर भी पड़ते हैं, जिससे उनका पृथक् पृथक् ज्ञान होता है।

दो वर्णों को एक निश्चित अनुपात में परस्पर मिलाने पर भी श्वेत वर्ण उत्पन्न होता है। ऐसे वर्ण अनुयोगी (Complementary) कहलाते हैं। लाल और हरित नील, नारंगी और नील, पीत और नीलश्याम, हरितपीत और बैंगनी तथा हरित और अरुण (Purple) ये पाँच अनुयोगी वर्णों के समूह हैं।

दृष्टिवितान के प्रत्येक भाग पर वर्णों का ग्रहण समान रूप से नहीं होता। उसका बाहरी भाग काला और सफेद; मध्यभाग पीला और नीला तथा भीतरी केन्द्रीय भाग लाल और हरे रङ्ग का ग्रहण करता है। इसके अतिरिक्त विभिन्न वर्णों के द्वारा दृष्टिवितान में विभिन्न रासायनिक परवर्तन होते हैं। वर्णों में परस्पर निम्नलिखित बातों में भिन्नता पाई जाती है :—

१. वर्ण (Hue or colour)

२. प्रभा (Luminosity or brightness)

३. सन्तृप्ति (Saturation or purity)

वर्णदर्शन के सिद्धान्त

वर्णदर्शन के सम्बन्ध में अनेक मत प्रचलित हैं जिनमें निम्नांकित मुख्य हैं :—

(१) त्रिवर्णसिद्धान्त (Trichromatic theory of young Helmhotz)—इसके अनुसार लाल, हरा और नीला ये तीन मूल वर्ण हैं और इन्हीं के अनुसार दृष्टिवितान में तीन रासायनिक द्रव्य होते हैं। प्रत्येक रासायनिक द्रव्य की क्रिया से एक वर्ण की संज्ञा होती है। किसी का मत है कि प्रत्येक शंकुकोषाणु से तीनों वर्णों का ज्ञान होता है।

ये तीनों वर्ण जब उचित अनुपात में मिलते हैं तब अन्य वर्णों की उत्पत्ति होती है; जब सम अनुपात में मिलते हैं तब सफेद, काला या धूसर वर्ण उत्पन्न होता है। यह भी समझा जाता है कि तीनों वर्णों के पृथक्-पृथक् ग्रहण करने के लिए तीन प्रकार के नाडीसूत्र भी होते हैं। इस प्रकार जब दीर्घ रश्मितरङ्गों से विशिष्ट रासायनिक द्रव्य मुख्यतः प्रभावित होता है तब लाल; जब मध्यम तरङ्गों से कुछ कम प्रभावित होता है, तब हरा और जब लघुतम तरङ्गों से न्यूनतम प्रभाव होता है तब बैंगनी रङ्ग की संज्ञा उत्पन्न होती है। दूसरा रासायनिक द्रव्य जब मध्यम रश्मितरङ्गों से मुख्यतः तथा लघु और दीर्घ तरङ्गों से कम प्रभावित होता है, तब हरित वर्ण की संज्ञा

होती है। इसी प्रकार तीसरा रासायनिक द्रव्य मुख्यतः लघुतम तरङ्गों से प्रभावित होने पर बैंगनी रङ्ग उत्पन्न करता है।

जब ये तीनों द्रव्य समान रूप से उत्तेजित होते हैं तब श्वेत वर्ण की संज्ञा होती है। दो अनुयोगी वर्णों की समकालिक क्रिया से भी श्वेत वर्ण होता है। उत्तेजना के अभाव से कृष्ण वर्ण होता है। अन्य वर्णों की संज्ञा इन द्रव्यों की विषम उत्तेजना से होती है।

(१) चतुर्वर्ण सिद्धान्त (Burch's theory)—इसके मत में लाल, हरा, बैंगनी और नीला ये चार ही मूल वर्ण हैं।

(३) षड्वर्ण सिद्धान्त (Hering's theory)—इसके अनुसार ६ वर्ण मूलतः होते हैं जिनमें दो-दो अनुयोगी वर्णों को मिलाकर तीन युग्म बनते हैं यथा श्वेत और कृष्ण, लाल और हरा तथा पीला और नीला। दृष्टिवितान में वर्तमान रासायनिक द्रव्यों के चयापचय से इन वर्णसंज्ञाओं की उत्पत्ति होती है।

द्रव्य	दृष्टिवितानप्रक्रिया	वर्णसंज्ञा
लाल—हरा	अपचय	लाल
	चय	हरा
पीला—नीला	अपचय	पीला
	चय	नीला
श्वेत—कृष्ण	अपचय	श्वेत
	चय	कृष्ण

(४) विपर्यस्त रासायनिक क्रिया का सिद्धांत (Muller's theory)—यह उपर्युक्त सिद्धान्त पर ही आधारित है, किन्तु इसके अनुसार वर्णसंज्ञाओं की उत्पत्ति रासायनिक द्रव्यों की चयापचय क्रिया से नहीं होती, बल्कि विपर्यस्त रासायनिक क्रिया से होती है। रासायनिक क्रिया से रासायनिक द्रव्यों के द्वारा कुछ पदार्थ उत्पन्न होते हैं जो विपर्यस्त रासायनिक क्रिया से पुनः मौलिक पदार्थ में परिणत हो जाते हैं।

(५) परमाणु-विश्लेषण सिद्धान्त (The Ladd-Franklin's Molecular dissociation theory)—इस मत में विकास के प्रारंभ में नेत्र के द्वारा वर्णों का ग्रहण नहीं होकर केवल चमक का ग्रहण होता है। क्योंकि उसमें केवल एक ही श्वेतकृष्ण रासायनिक द्रव्य होता है जिसे धूसर द्रव्य (Grey substance) भी कहते हैं। यह शूल और शंकु दोनों कोषाणुओं में विद्यमान होता है। जब नेत्र पर प्रकाश पड़ता है तब इस धूसर द्रव्य का विश्लेषण होता है और इससे कुछ पदार्थ उत्पन्न होते हैं जो शूल और शंकुओं को उत्तेजित कर श्वेत, धूसर या कृष्ण की वर्णरहित संज्ञायें उत्पन्न करते हैं। शूलकोषाणुओं में वर्तमान रासायनिक द्रव्य में केवल यही प्रतिक्रिया होती है।

विकासक्रम म, शंकुकोषाणुओं में वर्तमान रासायनिक द्रव्य विभाजित हो जाता है। इसके एक भाग का विश्लेषण दीर्घ तरंगों से होता है और उससे पीत वर्ण की संज्ञा होती है। दूसरा भाग लघु तरंगों से विश्लेषित होता है जिससे नीलसंज्ञा उत्पन्न होती है। बाद में पीत वर्ण का भाग भी दो भागों में विभाजित हो जाता है। जिनमें एक से लाल तथा दूसरे से हरा रंग उत्पन्न होता है।

धूसर < (नील, पीत < (रक्त, हरित))

यदि रक्त और हरित परमाणु एक ही समय विश्लेषित हों तो पीतसंज्ञा तथा रक्त, हरित और नील भागों का एक समय विश्लेषण हो तो धूसर संज्ञा उत्पन्न होती है।

वर्णान्धता (Colour blindness)

अनेक व्यक्ति केवल वस्तुओं की चमक का ग्रहण करते हैं, उनके पारस्परिक वर्णों में विभिन्नता का बोध उन्हें नहीं होता; इसे वर्णान्धता कहते हैं। यह सहज तथा दृष्टिवितान के कुछ रोगों में लक्षणरूप में होती है। ऐसा भी विचार है कि दृष्टिकेन्द्र से पृथक् एक वर्णदर्शनकेन्द्र मस्तिष्क के बाह्यभाग में स्थित है जिसकी विकृति से वर्णान्धता नामक विकार उत्पन्न होता है। अधिकतर यह लाल और हरे रंगों के सम्बन्ध में होता है जिससे इन दोनों वर्णों में भेद नहीं प्रतीत होता। इसका कारण यह है कि रक्त-हरित रासायनिक द्रव्य पूर्णतः विकसित नहीं होता जिससे रक्त या हरित एक ही वर्ण की संज्ञा होती है और रोगी रक्तान्ध या हरितान्ध हो जाता है।

नेत्र की गति

नेत्र की गति निम्नांकित ६ पेशियों के सहारे होती है :—

(१) ऊर्ध्वदर्शिनी (Superior rectus)
(२) अधोदर्शिनी (Inferior rectus)
(३) अन्तर्दर्शिनी (Internal rectus)
(४) बहिर्दर्शिनी (External rectus)
(५) वक्रोर्ध्वदर्शिनी (Superior oblique)
(६) वक्राधोदर्शिनी (Inferior oblique)

जब ये पेशियाँ सहयोग से कार्य नहीं करतीं तो आँख टेढ़ी मालूम होती है। इसे नेत्रवक्रता (Strabismus or squint) कहते हैं।

द्विनेत्रदर्शन (Binocular Vision)

यदि हमारे दो आँखें न हों तो हमें सभी वस्तुयें एक ही धरातल में दिखाई पड़ेंगी क्योंकि दोनों नेत्र वस्तु को एक समान नहीं देखते। एक उसके दाहिनी ओर का कुछ अधिक भाग देखता है और दूसरा बायीं ओर का। दोनों का मस्तिष्क पर ऐसा संयुक्त प्रभाव होता है कि वस्तु एक ही धरातल पर बने हुए चित्र की नाईं न दीख कर उभरी हुई मालूम पड़ती है। इस प्रकार द्विनेत्रदर्शन से निम्नांकित लाभ हैं :—

१. दृष्टिक्षेत्र अधिक बढ़ जाता है।
२. वस्तुओं की दूरी का ज्ञान स्पष्ट होता है
३. वस्तुओं की आकृति (लम्बाई-चौड़ाई) साफ मालूम पड़ती है।
४. वस्तुओं की गहराई का प्रत्यक्ष स्पष्ट होता है।
५. एक नेत्र का विकार बहुत कुछ दूसरे नेत्र से संशोधित हो जाता है।

कभी कभी प्रकाश की किरणें दृष्टिवितान के समान भाग पर न पड़कर पृथक्-पृथक् पड़ती हैं जिससे वस्तु एक के स्थान पर दो दिखलाई पड़ती है। इसे द्विदृष्टि (Diplopia) कहते हैं।

पञ्चम अध्याय

श्रोत्र

मनुष्य के श्रवणयन्त्र (श्रोत्र) के तीन भाग होते हैं :—

(१) बाह्यकर्ण (External ear)—यह कर्णशष्कुली और कर्ण-कुहर से बना है और इसका कार्य वायु से शब्दतरंगों को ग्रहण करना है।

(२) मध्यकर्ण (Middle ear)—इसमें पटहकला और कर्णास्थियाँ होती हैं जो कर्णकुहर के द्वारा गृहीत वायुकम्पनों को बढ़ा कर अन्तःकर्ण तक पहुँचा देती हैं।
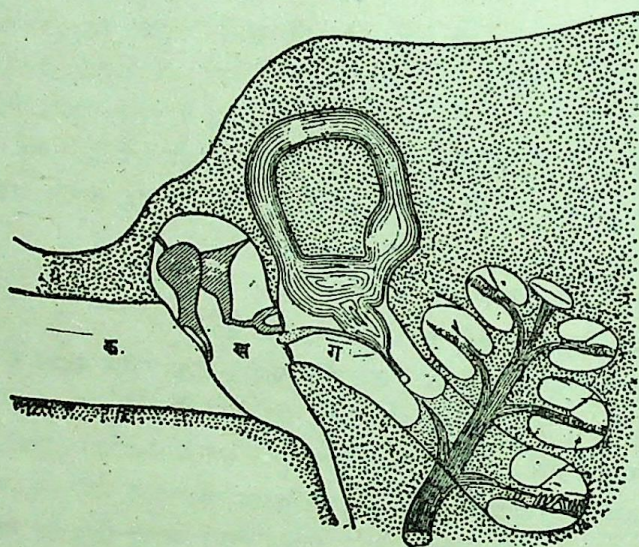
कर्ण

(क) बाह्यकर्ण (ख) मध्यकर्ण (ग) अन्तःकर्ण

(३) अन्तःकर्ण (Internal ear)—इसमें एक द्रवपदार्थ भरा रहता है जिसके द्वारा शब्दतरंग बढ़ कर स्वरादानिका में पहुँचते हैं और उसे उत्तेजित करते हैं। वहाँ से वह उत्तेजना नाडी के द्वारा मस्तिष्क के श्रवणकेन्द्र में पहुँचती है।

इनमें बाह्य और मध्य कर्ण शब्दतरंगों के वहन का कार्य करते हैं तथा अन्तःकर्ण के द्वारा शब्द का ग्रहण होता है।

बाह्यकर्ण

इसके दो मुख्य भाग हैं :—कर्णशष्कुली और कर्णकुहर ।

कर्णशष्कुली (Pinna)—यह शब्दतरंगों को एकत्रित कर उन्हें कर्णकुहर में भेजने का कार्य करती है । इसे हटा देने पर शब्द के श्रवण में बहुत कम अन्तर आता है, किन्तु शब्द की दिशा का ठीक-ठीक पूरा ज्ञान नहीं होता ।

कर्णकुहर (External auditory Meatus)—यह शब्दतरंगों को पटहकला तक पहुँचाता है । इसका मार्ग कुछ टेढ़ा होता होता है जिससे बाह्य पदार्थ सीधे पटहकला पर पहुँच कर आघात नहीं करते । इसका कटुस्राव तथा बाहर की ओर निकले हुए बाल कीड़ों को भीतर घुसने नहीं देते । नलिका लम्बा होने से कला पर उष्णता का प्रभाव नहीं पड़ने पाता ।

मध्यकर्ण

पटहकला (Membrana tympani)—यह ०.१ मि० मी० मोटी तथा तीन स्तरों से निर्मित है । बाहर की ओर यह कर्णकुहर की त्वचा से ढँकी है तथा भीतर की ओर श्लेष्मल कला से आवृत है । दोनों के बीच में सौत्रिक तन्तु है । इसके सूत्र केन्द्र से प्रान्त की ओर फैले हुये हैं, किन्तु मुख्यतः इसके किनारों पर कुछ वृत्ताकार स्थितिस्थापक सूत्र भी होते हैं । कला बिलकुल चपटी नहीं होती, बल्कि पीकाकार होती है जिसका अग्रभाग भीतर को होता है ।

कला में सूत्रों की व्यवस्था तथा इसकी पीकाकार आकृति उसके कार्य की दृष्टि से अत्यन्त महत्वपूर्ण है, क्योंकि इससे उसकी शब्द-वहनशक्ति बढ़ जाती है । इसमें कोई अपनी विशिष्ट ध्वनि नहीं होती, अतः यह सब प्रकार के शब्दतरंगों का वहन आसानी से करती है ।

कर्णास्थियाँ (Auditory ossicles)—मध्यकर्णगुहा में पटहकला के भीतर की ओर लगी हुई तीन छोटी-छोटी अस्थियाँ होती हैं । इनके नाम हैं—मुद्गरक (Malleus), अंकुशक (Incus) और धरणक (Stapes) । ये पटहकला के कम्पनतरंगों को तुम्बिकाछिद्र को आवृत करने वाली कला तक पहुँचाती हैं । मुद्गरक का शिर पटहकला से लगा रहता है और उसी के साथ कम्पित होता है । अन्य दो अस्थियाँ भी मुद्गरक से मिली रहने के कारण कम्पित होती हैं और धरणक का अन्तिम भाग तुम्बिकाछिद्र पर लगा रहता है । इस प्रकार ये अस्थियाँ कर्णकुहर के वायुतरंगों को समान जलतरंगों में परिणत कर देती हैं जो कान्तारक में उत्पन्न होती हैं । तुम्बिकाछिद्र की

कला पटहकला की अपेक्षा बहुत छोटी है, अतः शब्द का आयाम कम हो जाता है, किन्तु वेग बढ़ जाता है। इन अस्थियों की गति निम्नांकित दो पेशियों के सहारे होती है :—

पटहोत्तंसिनी (Tensor tympani)—इसका सम्बन्ध पञ्चमी नाडी की चेष्टावह शाखा से होता है। इसकी क्रिया मुद्गरक पर होती है और पटहकला को भीतर की ओर खींचती है जिससे उसका दबाव बढ़ जाता है। बहुत तीव्र ध्वनि होने पर यह कला के कम्पन को कम कर देती है तथा अस्थियों को दृढ़ बनाती है जिससे श्रुतिनाडी की अति उत्तेजना नहीं होने पाती। नेत्र में जिस प्रकार कनीनकसंकोचनी पेशी आवश्यकता से अधिक प्रकाश को नेत्र में प्रविष्ट न होने देकर उसकी रक्षा करती है, उसी प्रकार यह अतितीव्र शब्द में श्रोत की रक्षा करती है। साथ ही यह तीव्र ध्वनि के ग्रहण में सहायता पहुँचाती है। इस पेशी के आघात की अवस्था में तीव्र ध्वनि का ग्रहण कम हो जाता है।

कुछ व्यक्तियों में इसकी क्रिया परतन्त्र होती है, किन्तु सामान्यतः यह एक प्रत्यावर्तित क्रिया है। मनुष्यों में यह प्रत्यावर्तित क्रिया तीव्र ध्वनि के कारण होती है। श्रुतिनाडी के सूत्र संज्ञावहन कर पञ्चमी नाडी के चेष्टावह केन्द्र तक पहुँचाते हैं और चेष्टावह नाडी पञ्चमी नाडी की शाखा है जो इस पेशी से लगी रहती है। बाधिर्य रोग में इस पेशी का कार्य नहीं होने से क्षय होने लगता है।

पर्याणिका (Stapedius)

इसका सम्बन्ध सप्तमी नाडी की एक शाखा से होता है। इसका कार्य पटहोत्तंसिनी पेशी के विपरीत होता है। इसके संकोच से पटहकला शिथिल हो जाती तथा कान्तारकगत दबाव कम हो जाता है जिससे उसमें अधिक कम्पन हो सके और मन्द से मन्द ध्वनि का ग्रहण हो सके। मन्द ध्वनि को सुनने के समय इसका कार्य होता है।

मध्यकर्ण में वायु द्वारा शब्द का संवहन

एक मत के अनुसार शब्दतरंगें कर्णकुहर द्वारा एकत्रित होकर मध्यकर्ण के वायुकम्पनों के द्वारा कान्तारक में पहुँचती हैं। प्रयोगों द्वारा यह दिखलाया गया है कि कान्तारक तक शब्द के पहुँचने के अकेला साधन मध्यकर्ण में स्थित वायु है। पटहकला वस्तुतः मध्यकर्णगत दबाव को नियमित रखती है। इसके अतिरिक्त इसका कार्य श्रोत्र की रक्षा करना है जिस प्रकार नेत्रच्छद नेत्र की रक्षा करते हैं। यह भी कहा जाता है कि पटहकला और कर्णास्थियाँ

श्रवण के लिए आवश्यक नहीं हैं, क्योंकि धरणक को छोड़ कर और सब रचनाओं के नष्ट होने पर भी बाधिर्य नहीं होता। यह भी देखा गया है कि रोगियों में कर्णास्थियों के शस्त्रकर्म के बाद भी श्रवण ठीक रहता है। इसके अतिरिक्त, पटहपूरणी वायुनलिका के द्वारा भी हम अपने शब्द को सुन सकते हैं।

पटहपूरणी वायुनलिका (Eustachian tube)—इसके द्वारा मध्यकर्णगुहा के भीतर तथा बाहर दबाव समान रूप से रहता है, जिससे शब्दतरङ्गों का ग्रहण ठीक-ठीक होता है। यह नलिका बराबर खुली नहीं रहती, केवल निगलने के समय तालूत्तंसनी पेशी की क्रिया से खुलती है जब इस नलिका में अवरोध हो जाता है तब भीतर वायु का दबाव कम होने से पटहकला भीतर की ओर खिंच जाती है। मध्यकर्ण में दबाव कम या अधिक होने से श्रवण में विकार आ जाता है। इसलिए गले के रोगों में इस नलिका में अवरोध होने से श्रवण मन्द पड़ जाता है।

अन्तःकर्ण

इसके दो भाग होते हैं :—श्रुतिशम्बूक (Cochlea) और तुम्बिका (Vestibule)। इनमें श्रुतिशम्बूक का ही सम्बन्ध श्रवण से है और तुम्बिका
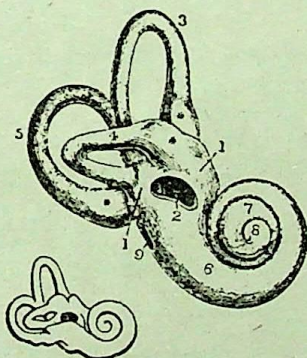
अन्तःकर्ण

१. तुम्बिका २. जाम्बव विवर ३. ऊर्ध्व अर्धवृत्त नलिका
४. अनुप्रस्थ (बाह्य) अर्धवृत्त नलिका ५. पश्चिम अर्धवृत्त नलिका
६. शम्बूक का प्रथम भाग ७. शम्बूक का द्वितीय भाग
८. शम्बूक का अग्रभाग ९. वृत्त विवर

शरीर की स्थिति को सन्तुलित रखती है। अतः शम्बूक के विकारों में बाधिर्य हो जाता है और तुम्बिका के रोगों में स्थिति-संतुलन नष्ट हो जाता है।

पटहकला के कम्पन कर्णास्थियों के द्वारा तुम्बिकाछिद्र की आवरक कला में पहुँचते हैं तथा उत्तरसोपानिका (Scala vestibuli) के भीतर स्थित परिजल में कम्पन उत्पन्न करते हैं। साथ ही चूडाविवर (Helicotrema) के द्वारा अधरसोपानिका (Scala tympani) के परिजल में कम्पन उत्पन्न होते हैं। जब तुम्बिकाछिद्र की कला भीतर दबती है तो शंबूकछिद्र की कला दबाव से बाहर निकल आती है और जब वह बाहर निकलती है तब यह भीतर दब जाती है। इस प्रकार तुम्बिकाछिद्र एक रक्षक कपाट के समान कार्य करता है। मध्यसोपानिका (Canalis cochlea) के
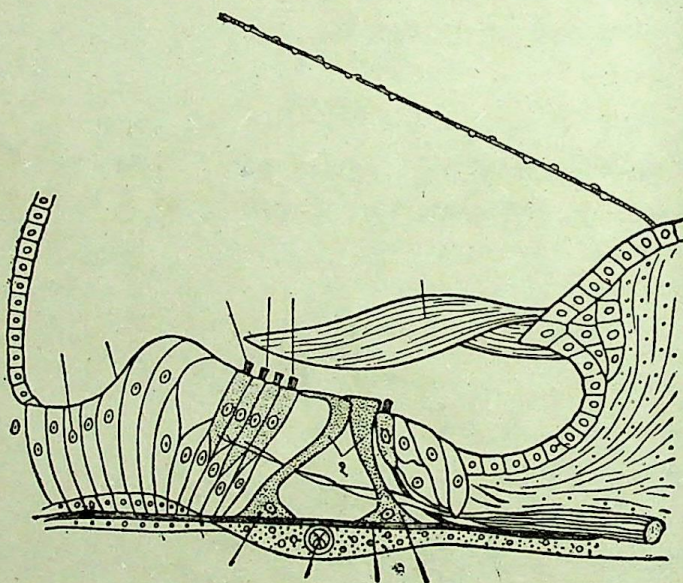
स्वरादानिका

भीतर स्थित अन्तर्जल दो कलाओं–पटलपत्रिका (Vestibular membrane) तथा तलपत्रिका (Basilar membrane) के द्वारा परिजल से पृथक् रहता है। परिणामतः परिजल के कम्पन आसानी से अन्तर्जल में पहुँच जाते हैं जिनका प्रभाव तलपत्रिका में स्थित स्वरादानिका (Organ of Corti) नामक शब्दग्राही यन्त्र पर होता है।

स्वरादानिका (Organ of Corti)

इसकी रचना निम्नांकित भागों से होती है :—

(१) सूक्ष्मदण्डक (Rods of Corti) :—यह तलपत्रिका पर स्थित दो अवयव हैं जो एक दूसरे से कुछ पृथक् रहते हैं और ऊपर की ओर झुक कर शिरोभाग में एक-दूसरे से मिले रहते हैं। आभ्यन्तर सूक्ष्मदण्डक के शिर में गम्भीर नतोदर भाग होता है जिसमें बाह्यदण्डक का उन्नतोदर शिर लगा रहता है। इस प्रकार दोनों दण्डकों के बीच में एक त्रिकोणाकार नलिका रह जाती है जिसे त्रिकोणसुरंगा (Tunnel of Corti) कहते हैं।

(२) सरोमकोषाणु (Hair cells)—ये स्तनाकार होते हैं तथा सूक्ष्मदण्डकों के भीतरी और बाहरी पार्श्वों में पाये जाते हैं। बाहरी कोषाणु संख्या में अधिक होते हैं। इन कोषाणुओं के अग्रभाग में रोम होते हैं जिन्हें श्रुतिरोम (Auditory hairs) कहते हैं। उन्हीं रोमसदृश प्रवर्धनों से शम्बूकी नाड़ी के प्रान्तभाग संबद्ध रहते हैं।

(३) धारककोषाणु (Cells of Deiters or supporting Cells)—ये कोषाणु उपर्युक्त सरोम कोषाणुओं का धारण करते हैं।

(४) छिद्रपत्रिका (Reticular membrane)—यह सूक्ष्मदण्डकों के शिरोभाग में ऊपर की ओर स्थित है। इसमें अनेक छिद्र होते हैं जिनसे श्रुतिरोम बाहर निकले रहते हैं।

(५) मध्यमपत्रिका (Membrana tectoria)—यह स्वरादानिका के ऊपर फैली हुई है और उसमें पहुँचने वाले कम्पनों का नियन्त्रण करती है।

शब्द का मस्तिष्क तक संवहन-मार्ग

शब्द-तरंगें निम्नांकित क्रम से मस्तिष्क तक पहुँचती है :—

१. कर्णशष्कुली।
२. कर्णकुहर।
३. पटहकला।
४. कर्णास्थियाँ।
५. तुम्बिकाछिद्र की आवरककला।
६. उत्तर तथा अधर सोपानिकाओं का परिजल।
७. मध्यसोपानिका का अन्तर्जल।
८. स्वरादानिका के रोमकोषाणु।
९. स्तम्भिका की स्तम्भकन्दिका (Spiral ganglia)
१०. शम्बूक नाड़ी
११. उष्णीषक के पश्चिम और बाह्य केन्द्रक।

१२. त्रिकोणिका (Orpus trapezoideum or trapezium)
१३. श्रुतिसूत्र (Striae acousticae or striae medullaris)
१४. वल्लिका (Lemniscus or tract of fillet)
१५. पार्श्विक वल्लिका (Lateral or Lower fillet)
१६. अधर कालायिका (Inferior colliculus)
१७. अन्तर्जानुक ग्रन्थि (Internal geinculate body)
१८. आन्तरकूर्च्चवल्लिका (Internal capsule)
१९. उत्तरशंखकर्णिका (Superior temporai gyrus)

यहीं शब्द का प्रत्यक्ष होता है ।

यह देखा गया है कि श्वसित वायु में कार्बनद्विओषिद् तीन प्रतिशत से अधिक होने पर या प्रबल निःश्वास के बाद रक्त में इसकी कमी हो जाने पर तथा श्वसित वायु में ओषजन की कमी होने पर श्रवण में कुछ कमी हो जाता है ।

शब्द के गुणधर्म (Properties of sound)

स्थितिस्थापक वस्तुओं के कम्पन से शब्द उत्पन्न होता है । सामान्यतः शब्दतरङ्गों का वहन वायु के द्वारा होता है, क्योंकि वायुशून्य स्थान में किसी वस्तु को हिलाने से शब्द नहीं मालूम होता । वायु के अतिरिक्त जल तथा ठोस पदार्थों से भी शब्दतरंङ्गों का संवहन विभिन्न क्रम से होता है जो निम्नांकित कोष्ठक से स्पष्ट होगा :

शब्द की गति

पदार्थ	गति प्रतिसेकण्ड	
१. वायु (०°)	३३१	मीटर
२. हाइड्रोजन	१२८६	,,
३. कार्बनद्विओषिद्	२५७	,,
४. जल (२५°)	१४५७	,,
५. लोहा	५०००	,,
६. पीतल	३६५०	,,
७. सीसा	१२३०	,,
८. काँच	५५००	,
९. लकड़ी	३०००–५०००	,,
१०. रबर	४५	,,

शब्द की गति उसकी तीव्रता के अनुपात से होती है। तीव्र शब्द मन्द शब्द की अपेक्षा अधिक शीघ्रता से गति करता है।

शब्द में तीन मौलिक धर्म होते हैं :—

१. सुर (Pitch)

२. तीव्रता (Intensity or loudness)

३. स्वरूप (Quality or timbre)

सुर :—यह उस धर्म का नाम है जिसके कारण हम किसी शब्द को मोटा और किसी को महीन कहते हैं। इसका कारण शब्दोत्पादक वस्तु की कम्पनसंख्या है। कम्पनसंख्या जितनी कम होगी सुर उतना ही नीचा होगा और जब कम्पनसंख्या अधिक होगी तो ऊँचे स्वर का शब्द उत्पन्न होगा। कम से कम ४० और अधिक से अधिक ४८०० प्रतिसेकण्ड कम्पनसंख्या वाले शब्द संगीत का सुर उत्पन्न करते हैं। सामान्यतः १६ से कम कम्पनसंख्या होने पर शब्द का ग्रहण नहीं होता इसे श्रवणदेहली (Threshold of audibility) कहते हैं। प्रतिसेकण्ड २०००० से अधिक कम्पनसंख्या वाले शब्दों की भी स्पष्टतः प्रतीति नहीं होती और उनसे पीडाप्रद संज्ञा उत्पन्न होती है।

तीव्रता :—तीव्रता का आधार कम्पन का विस्तार या आयाम है। जितना ही अधिक कम्पन-विस्तार होगा, शब्द की तीव्रता उतनी ही अधिक होगी और उतनी ही अधिक दूर तक वह सुनाई पड़ेगा। माध्यम के घनत्व पर भी शब्द की तीव्रता बहुत कुछ निर्भर होती है। इसीलिए पहाड़ के शिखर पर बोलने से ध्वनि मन्द तथा शान्त वातावरण में बोलने से तीव्र होती है।

स्वरूप :—जब कभी कई मनुष्य एक साथ गाते हैं तब भी सबकी आवाज पृथक्-पृथक् भिन्नरूप से मालूम होती है। इसका कारण कम्पन-वक्रों के स्वरूप में भेद है। सुर और तीव्रता समान होने पर भी शब्द में इसके कारण भिन्नता आ जाती है।

श्रवण के सिद्धान्त

शब्द के विभिन्न स्वरों का ज्ञान कैसे होता है, इसके सम्बन्ध में दो प्रकार के सिद्धान्त प्रचलित हैं। एक सिद्धान्त के अनुसार स्वरों का विभाजन स्वरादानिका में ही हो जाता है और दूसरे सिद्धान्त के अनुसार यह कार्य मस्तिष्क द्वारा होता है। प्रथम सिद्धान्त अनुकम्पन-सिद्धान्त (Resonance theory) तथा द्वितीय सिद्धान्त दूरश्रवणसिद्धान्त (Telephone theory) कहलाता है।

(क) अनुकम्पन-सिद्धान्त

इस सिद्धान्त में भी अनेक विद्वानों के विभिन्न मत हैं जिनका संक्षेप में नीचे निर्देश किया जाता है :—

(१) हेमहौज का सिद्धान्त (Theory of Helmhotz)—इसके अनुसार श्रुतिशम्बूक में ऐसे अवयव हैं जो पृथक्-पृथक् शब्दतरंगों से स्वतः अनुकम्पित होते हैं। जिस प्रकार पियानों के सामने गाना गाने से उसके स्वर के अनुरूप ही उसके तार से प्रतिध्वनि निकलती है, उसी प्रकार की क्रिया श्रवण में भी होती है। श्रुतिशम्बूक में इसी प्रकार अनुकम्पित होने वाले अनेक तार हैं जिनकी संख्या १५ से १५०००० तक है। कुछ लोगों का अनुमान था कि स्वरादानिका के सूक्ष्म दण्डों में ही अनुकम्पन होता है, किन्तु उनकी संख्या कम (लगभग ३०००) होने से इसकी पुष्टि नहीं होती। इसके अतिरिक्त, पक्षी आदि जिनमें सूक्ष्मदण्ड नहीं होते उन्हें भी सुर का ज्ञान होता है। अतः हेमहौज महोदय इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि तलपत्रिका के मध्यस्तर में विद्यमान सूत्र ही यह कार्य करते हैं। जब कोई स्वर वहाँ पहुँचता है तब उससे एक विशिष्ट सूत्र कम्पित हो जाता है जिसका प्रभाव रोमकोषाणुओं पर पड़ता है और वहाँ से पार्श्ववर्ती नाड़ी सूत्र के द्वारा वह संज्ञा मस्तिष्क में पहुँचती है। इस प्रकार इस मत के अनुसार स्वरों के विश्लेषण का कार्य स्वरादानिका में होता है और श्रुतिनाड़ी का एक सूत्र एक विशिष्ट स्वर का ही संवहन करता है। श्रुतिशम्बूक के अधोभाग में छोटे सूत्र होते हैं जिनसे उच्च स्वरों की प्रतीति होती है तथा उसके ऊर्ध्वभाग में दीर्घसूत्र होते हैं जो निम्न स्वरों के द्वारा कम्पित होते हैं। संयुक्त स्वरों का विश्लेषण अनेक सामान्य स्वरों में हो जाता है और उनसे तदनुकूल सूत्र कम्पित हो उठते हैं। ये कंपन मिश्रित होकर मस्तिष्क में पहुँचते हैं जिनसे संयुक्त स्वर का ज्ञान होता है। यह उसी प्रकार होता है जैसे अनेक सामान्य वर्णों के मिलने से विभिन्न वर्ण उत्पन्न होते हैं।

इस सिद्धान्त के पक्ष में प्रमाण

१. तलपत्रिका में लगभग २४००० सूत्र हैं जिनकी लम्बाई ०·०४१ से ०·४९५ मि० मी० तक है। इसके ऊर्ध्वभाग में लम्ब सूत्र हैं जिनसे निम्न स्वरों की प्रतीति होती है तथा अधोभाग में ह्रस्व सूत्र हैं जिनसे उच्च स्वरों का ग्रहण होता है।

२. अनेक जन्तुओं में प्रयोग कर देखा गया है कि श्रुतिशम्बूक के अधोभाग को नष्ट कर देने पर उच्च स्वरों का ज्ञान नहीं होता।

३. मनुष्यों में भी, श्रुतिशम्बूक के अधोभाग की विकृति या उससे संबद्ध नाड़ीसूत्रों का क्षय होने पर उच्च स्वरों का परिज्ञान नहीं होता।

४. घ्राण, रसना आदि अन्य ज्ञानेन्द्रियों के समान एक विशिष्ट स्वर की दीर्घकालीन उत्तेजना से श्रान्त हो जाता है, किन्तु उस समय भी उस स्वर के अतिरिक्त अन्य स्वरों का ग्रहण होता है। इसका अर्थ यही है कि एक विशिष्ट स्वर एक विशिष्ट रोमकोषाणु को कम्पित करता है और यह कम्पन एक विशिष्ट नाड़ी सूत्र के द्वारा मस्तिष्क में पहुँचता है। अधिक देर तक उत्तेजित करने से यह नाड़ीसूत्र और रोमकोषाणु श्रान्त हो जाते हैं।

५. जिन जन्तुओं में तलपत्रिका छोटी होती है उन्हें स्वरों के तारतम्य का भी ज्ञान नहीं होता।

हेमहौज सिद्धान्त के विपक्ष में प्रमाण

(१) तलपत्रिका के सूत्र परस्पर ऐसे संसक्त रहते हैं कि कोई सूत्र स्वतन्त्रतया पृथक् कम्पित नहीं हो सकता और उसका कम्पन निकटवर्ती सूत्रों में भी पहुँच जाता है।

इस आपत्ति का निराकरण अधिकतम उत्तेजना के सिद्धान्त (Principle of maximum stimulation) के आधार पर किया जाता है। इससे यह स्पष्ट होता है कि यद्यपि किसी स्वर से सभी सूत्र कम्पित होते हैं किन्तु उस स्वर के अनुरूप सूत्र अधिकतम कम्पित होता है, अतः उसी का बोध होता है।

(२) सूत्रों की लम्बाई पर्याप्त नहीं है जिससे विभिन्न स्वरों का ग्रहण हो सके।

इसका उत्तर इस प्रकार दिया जाता है कि किसी तार का कम्पन उसकी लम्बाई पर निर्भर नहीं होता, बल्कि उसके दबाव और भार का भी प्रभाव पड़ता है अतः अन्तःकर्ण के तरल पदार्थों से इस क्षति की पूर्ति हो जाती है।

मेयर का जलीय सिद्धान्त (Meyer's Hydraulic theory)

इसके अनुसार धरणक के अन्तःकर्ण पर विभिन्न दबाव के अनुसार परिजल का स्थानान्तर होता है और उससे तलपत्रिका के विभिन्न भाग कम्पित हो उठते हैं। केवल सूत्रों में ही कम्पन नहीं होता, बल्कि उसके अतिरिक्त अन्य भाग में भी होता है। कम्पित होने वाले भाग की लम्बाई पर स्वर की तीव्रता तथा कम्पन के क्रम पर उसका सुर निर्भर होता है। इसमें भी वही आपत्तियाँ हैं जो उपर्युक्त सिद्धान्त में हैं।

एयर का सिद्धान्त (Ayer's theory)

यह भी सांवेदनिक कम्पन के सिद्धान्त पर ही आधारित है, किन्तु इसके अनुसार तलपत्रिका के सूत्रों में कम्पन न होकर मध्यमपत्रिका में कम्पन होता है जिससे रोमराजि का स्थानान्तरण होकर रोमकोषाणु उत्तेजित होते हैं और उनमें कम्पन होने लगता है। एक रोमकोषाणु एक प्रकार के स्वर का ग्रहण करता है। स्वभावतः हम ११०५० विभिन्न स्वरों का ग्रहण कर सकते हैं और वही संख्या रोमकोषाणुओं की है। इसके अतिरिक्त, रोमकोषाणुओं के रोमप्रवर्धन इस स्थिति में होते हैं कि उनके द्वारा कम्पन का ग्रहण उत्तम रीति से हो सकता है। ये कम्पन रोमकोषाणुओं से संबद्ध नाड़ीप्रान्तों से संवाहित होकर मस्तिष्क में पहुँचते हैं।

विद्युद्धारा का सिद्धान्त (Volley theory)

इसके अनुसार स्वरादानिका तक पहुँचने वाली वायु की कम्पन विद्युद्धारा उत्पन्न करते हैं जिनका मस्तिष्क तक संवहन श्रुति नाड़ी के सूत्रों द्वारा होता है, किन्तु एक स्वर का संवहन केवल एक नाड़ीसूत्र के द्वारा न होकर विभिन्न विश्रामकाल वाले अनेक सूत्रों द्वारा होता है।

दूरश्रवण सिद्धान्त (Telephone theory)

इस सिद्धान्त के अनुसार स्वरों का विश्लेषण स्वरादानिका में न होकर मस्तिष्क में होता है। इस सम्बन्ध में निम्नांकित विद्वानों के मत प्रसिद्ध हैं :—

रदरफोर्ड का सिद्धान्त (Rutherford's theory)

यह स्थितिस्थापक कलाओं के कम्पन के सिद्धान्त पर आधारित है। टेलीफोन के ग्राहक और प्रेषक भागों के समान श्रुतिशम्बूक में उत्तेजना होती है। विभिन्न प्रकार के स्वर स्थितिस्थापक कलाओं में विभिन्न प्रकार के कम्पन उत्पन्न करते हैं। जब कोई शब्दतरङ्ग श्रुतिशम्बूक में पहुँचती है तब उससे उसका कोई विशिष्ट भाग कम्पित नहीं होता, बल्कि टेलीफान के प्लेट के समान समूची तलपत्रिका कम्पित हो उठती है। ये कम्पन शब्द-तरङ्गों के अनुसार विभिन्न प्रकार के होते हैं। ये कम्पन रोमकोषाणुओं में पहुँचते हैं और वहाँ से श्रुतिनाडीसूत्रों द्वारा मस्तिष्क में जाते हैं जहाँ शब्द की तीव्रता, सुर और आकृति का विश्लेषण होता है।

इस सिद्धान्त के विरुद्ध आपत्तियाँ

१. स्वरादानिका की रचना अत्यन्त जटिल है और उच्चवर्ग के प्राणियों में क्रमशः यह जटिलतर होती जाती है। मनुष्य में इसकी रचना जटिलतम

है, अतः शब्दविश्लेषण-शक्ति भी उनमें अधिकतम है। अतः इसे केवल एक सामान्य स्थितिस्थापक कम्पनशील कला समझना उचित नहीं है।

२. मस्तिष्क में किस प्रकार स्वरों का विश्लेषण होता है, यह भी इससे स्पष्ट नहीं होता।

३. स्वरादानिका के किसी भाग की विकृति के कारण जो बाधिर्य उत्पन्न होता है, उसकी व्याख्या भी इससे सन्तोषजनक नहीं होती।

४. इससे यह भी नहीं ज्ञात होता है कि दीर्घकालीन उत्तेजना से एक विशिष्ट स्वर के प्रति श्रम क्यों उत्पन्न हो जाता है जब अन्य प्रकार के स्वर अविकृत रहते हैं।

वालर का सिद्धान्त

वालर ने रदरफोर्ड के मत में किञ्चित् परिवर्तन उपस्थित कर आपत्तियों के निराकरण की चेष्टा की है। इस मत में सभी शब्दों से सम्पूर्ण तलपत्रिका में कम्पन उत्पन्न होता है, किन्तु सुरों के अनुसार कुछ भागों में विशिष्ट कम्पन होते हैं और इस प्रकार शब्द का कुछ विश्लेषण यहाँ हो जाता है।

इवाल्ड का श्रवणप्रतिबिम्ब सिद्धान्त

(Ewald's acoustic image or sound pattern theory)

इसके अनुसार शब्द के द्वारा सम्पूर्ण तलपत्रिका में कम्पन होता है, किन्तु इसके साथ ही वहाँ विशिष्ट तरंगें उत्पन्न होती हैं जिन्हें श्रवणप्रतिबिम्ब (Sound pictures or acoustic images) कहते हैं। इन तरङ्गों की स्थिति के अनुसार तलपत्रिका के उस भाग के रोमकोषाणु उत्तेजित होते हैं और पार्श्ववर्ती नाड़ीसूत्रों के द्वारा यह संज्ञा मस्तिष्क के विशिष्ट कोषाणुओं में पहुँच कर विशिष्ट सुर उत्पन्न करती है।

कोलाहल

जब स्वर एक नियमित क्रम से उत्पन्न होते हैं तो उससे मनोहर सङ्गीत का सुर निकलता है और जब वे अनियमित रूप से आने लगते हैं तो कर्णकटु प्रतीत होते हैं। इसे कोलाहल कहते हैं।

हेमहौज के मत के अनुसार तुम्बिका और कन्दुकी में स्थित संज्ञावहा नाड़ियों की उत्तेजना से कोलाहल की प्रतीति होती है अन्य विद्वान् के मत से जब स्वरादानिका के विशिष्ट सूत्र कम्पित होते हैं तब सङ्गीत निकलता है और जब अनेक सूत्र एक बार उत्तेजित हो उठते हैं तब कोलाहल की संज्ञा होती है।

त्वचा

स्पर्शांकुरिका (Sensitive papillae)

यह अन्तस्त्वक् में स्थित स्पर्श का ग्रहण करने वाला यन्त्र है। स्पर्शांकुरिकायें कुछ पतली और कुछ मोटी होती हैं। पतली स्पर्शांकुरिकाओं को अग्रांकुरिका (Tactile corpuscles) तथा मोटी को स्पर्शाण्डिका (Pacinian corpuscles) कहते हैं। स्पर्शांकुरिकाओं के मूलभाग में नाडी की शाखायें प्रविष्ट होती हैं जिनसे स्पर्श संज्ञा का मस्तिष्क तक संवहन होता है। स्पर्शांकुरिकाओं पर दबाव पड़ने से ये नाड़ियाँ उत्तेजित हो जाती हैं और यही उत्तेजना मस्तिष्क में पहुँचने पर स्पर्शज्ञान उत्पन्न करती है।

पञ्चम अध्याय

प्रवर्त्तको वाचः

वाक् (Voice)

वाक् या शब्द की उत्पत्ति उसी प्रकार होती है जिस प्रकार वाद्ययन्त्र से स्वर की उत्पत्ति होती है[1]। अतः वाग्यन्त्र और वाद्ययन्त्र की रचना में भी समानता है। वायु के वेग से बजने वाले वाद्ययन्त्र में मुख्यतः चार अवयव होते हैं :—

(१) दो भस्त्रिकायें
(२) एक वायुनलिका
(३) कम्पनशील पत्रक
(४) गुञ्जनशील कोष्ठ

इसी प्रकार मनुष्य तथा अन्य स्तनधारी प्राणियों के वाग्यन्त्र का निर्माण इसी सिद्धान्त पर उपर्युक्त अवयवों से ही होता है। उनमें उन अवयवों का कार्य निम्नांकित अंगों से होता है :—

(१) भस्त्रिकायें (फुफ्फुस और वक्ष)
(२) वायुनलिका (श्वासनलिका)
(३) कम्पनशील पत्रक (स्वरतन्त्रियाँ)
(४) गुञ्जनशील कोष्ठक (ग्रसनिका, नासा और मुख)

स्वरयन्त्र (Larynx)

पेशी तथा स्नायुजाल से बँधी हुई तरुणास्थियों के जुड़ने से बना है। यह ऊपर नीचे छिद्र वाला मुकुटाकार सम्पुट है जो गले के सम्मुख भाग में श्वासनलिका के शिखर पर रहता है जिसके द्वारा श्वासवायु का प्रवेश होता है और कण्ठ का स्वर निकलता है। यह कण्ठिकास्थि के मूल से आरम्भ होकर

---

१. आत्मा बुद्ध्या समेत्यर्थान् मनो युङ्क्ते विवक्षया।
मनः कायाग्निमाहन्ति स प्रेरयति मारुतम् ॥
मारुतस्तूरसि चरन् मन्दं जनयति स्वरम्।
—पाणिनीय शिक्षा

ग्रीवा के सम्मुखस्थ अवटुनाल के उत्सेध की अधः सीमा तक है और मध्यरेखा में पेशियों से घिरा है। इसको त्वचा के नीचे अनुभव भी किया जा सकता है। यह ऊपर कण्टिकास्थि से और नीचे श्वासनलिका से मिला है। यह नौ तरुणास्थियों से बना है जिनमें तीन बड़ी और एक-एक तथा छः छोटी और युग्म होती हैं। यथा अवटुक, कृकाटक और अधिजिह्वक ये तीन अकेली हैं; घाटिका, कोणिका और कर्णिका यह छः युग्म हैं।

स्वरयंत्र (अनुलंब परिच्छेद)

अवटुक (Thyroid cartilage)

यह स्वरयंत्र की प्रधान तरुणास्थि है। इसका आकार फैले हुए युग्म पत्र के समान है। इसका उभार युवावस्था में दिखाई देता है, विशेषकर पुरुषों में। इसके दोनों पत्र मध्यरेखा के दोनों ओर हैं और सम्मुख में कोण बनाकर पीछे की ओर फैले हुए हैं और अन्तराल में स्थित अवटुपट्टिका नाम की स्नायुपट्टिका से पीछे की ओर जुड़े रहते हैं। इसके ऊपर और नीचे दो दो श्रृंग हैं, इनमें ऊपर के श्रृंगों में कण्ठिकास्थि के दोनों पार्श्वों को जोड़ने के लिए कण्ठिकावटुका नाम की दो स्नायुरज्जु है। नीचे के दोनों श्रृंग कृकाटक पार्श्वों से मिलते हैं। दोनों पत्रों के सन्धिकोण के ऊर्ध्व भाग में अधिजिह्विका-मूल से मिलने के लिए त्रिकोण खात है। इसकी ऊर्ध्वधारा स्थूलकलामयी स्नायुपट्टिका के द्वारा कण्ठिकास्थि से मिलती है। इसकी अधोधारा इसी प्रकार की स्नायु के द्वारा कृकाटक नाम की तरुणास्थि से मिलती है।

प्रत्येक पक्ष के बाह्यपृष्ठ में तीन पेशियाँ लगती हैं, उरोऽवटुका, अवटुकण्ठिका और कण्ठसंकोचनी अधरा। दोनों पक्षों के भीतर पाँच रचनायें लगी हुई हैं। यथा मध्य में स्नायु-बन्धनियों से युक्त अधिजिह्विका, दोनों ओर अर्गल की भाँति सामने से पीछे की ओर बँधी हुई दो मुख्य स्वरतन्त्री और दो गौण स्वरतन्त्री। यहीं पर एक एक ओर तीन तीन पेशियाँ हैं—अवटुघाटिका, अवटुगोजिह्विका और अनुतन्त्रिका।

कृकाटक (Cricoid Cartilage)

यह स्वरयन्त्र के नीचे की अवयवभूत तरुणास्थि है और इसका आकार अंगूठी के समान होता है। इसके दो भाग हैं—सम्मुख भाग पतला और गोल है तथा पश्चिम भाग स्थूल और चौड़ा है। सम्मुख भाग में ऊपर की ओर अवटुक की अधोधारा और नीचे की ओर श्वासनलिका की ऊर्ध्वधारा कला के द्वारा जुड़ी हुई है। पश्चिम भाग डेढ़ अंगुल चौड़ा है और इसके पीछे मध्यरेखा में अन्ननलिका का संमुख भाग बँधा है। इसके दोनों ओर कृकाटघाटिका पश्चिम नाम की पेशी है और इसके बाहर के दोनों स्थालक अवटुपक्ष के अधःशृंगों से मिले हैं। इसकी ऊर्ध्वधारा में घाटिका नामक दो तरुणास्थियाँ बँधती हैं।

घाटिका (Arytenoid cartilages)

ये त्रिकोणाकार युग्म तरुणास्थियाँ कृकाटिका के पश्चिमार्ध शिखर में बंधी हुई हैं। इनकी दोनों चूड़ायें आगे से अंकुश की भाँति फैली हैं। प्रत्येक अंकुश के पीछे दो स्वरतन्त्रियाँ जुड़ती हैं जिनमें एक मुख्य है और दूसरी गौण। दोनों को संन्यूहन करने वाली एक ही पेशी दोनों चूड़ाओं के मूल में पीछे की ओर अनुप्रस्थ दिशा में स्थित है जिसका नाम घाटान्तरीया है। दूसरी पेशी स्वस्तिकाकार मांससूत्रों द्वारा दोनों का पीछे संन्यूहन करती है जिसका नाम स्वस्तिक घाटान्तरीया है। प्रत्येक घाटिका के पीछे दोनों ओर दो पेशयाँ हैं—कृकाटकघाटिका पश्चिमा और पार्श्वजा।

कोणिका (Cuneiform) और कर्णिका (Corniculate)

ये दो पतली तरुणास्थियां घाटिकाओं की दोनों चूड़ाओं को मिलानेवाली स्नायुसूत्रिका के भीतर उसको दृढ़ बनाने के लिए रहती हैं। इनमें प्रथम दोनों छोटी, आगे से वर्तुल और वक्रदण्ड के आकार की होती हैं तथा पार्श्व में रहती हैं। अन्तिम दोनों छोटे पुष्प के मुकुल के समान हैं और मध्यरेखा के दोनों ओर रहती हैं। इनको धारण करनेवाली स्नायुसूत्रिका अर्धचन्द्राकार होकर अधिजिह्विका के पार्श्वों में मिलती है।

तरुणास्थिसंघात से बने हुए स्वरयन्त्र के भीतर की गुहा का नाम स्वर-यन्त्रोदर है। इसकी अन्तः परिधि पतली श्लेष्मलकला द्वारा सर्वत्र आवृत है। इसका ऊर्ध्वद्वार गलबिल से मिला है, यह ऊर्ध्वमुखी अधिजिह्विका द्वारा सदा सुरक्षित रहता है। यह अन्न आदि के निगलने के समय स्वयमेव स्वरतन्त्र को पूर्णरूप से बन्द कर लेती है। स्वरतन्त्र का अधोद्वार श्वासनलिका से मिला है।

स्वरतन्त्री (Vocal Cords)

चार स्वरतन्त्रियाँ या स्वररज्जु स्वरयन्त्र के भीतर सामने से पीछे की ओर फैली हैं। ये शल्की आवरकतन्तु से आवृत सौत्रिक रचना है जिसमें अनेक स्थितिस्थापक सूत्र भी होते हैं। देखने में ये उजली तथा चमकीली मालूम होती हैं। इनमें ऊपर की दोनों तन्त्रियाँ गौण तथा नीचे की दोनों मुख्य कहलाती हैं। इन चारों का संयोग सामने की ओर अवटुशिखर में स्थित कोण में और पीछे घाटिकाओं के दोनों अंशुवत् शिखरों के पृष्ठदेश में ऊर्ध्व और अधः क्रम से होता है। इनके बीच के त्रिकोण अवकाश का नाम तन्त्रीद्वार (Glottis) है।

तन्त्रियों के विकास और मुद्रण अर्थात् खुलने और बन्द होने से नाना प्रकार के विचित्र स्वर उत्पन्न होते हैं। विकास और मुद्रण घाटिकास्थियों के आकर्षण और अपकर्षण से पेशियों द्वारा होते हैं।

पेशियाँ

इन पेशियों का नाम स्वरतन्त्री-पेशियाँ हैं। ये संख्या में ८ होती हैं। यथा—

अवटुघाटिका	२
अवटुकृकाटिका	२
अवटुगोजिह्विका	२
अनुतन्त्रिका	२
	८

इनकी सहायता करनेवाली श्वासमार्गद्वारिणी नाम की नौ पेशियाँ हैं :—

१. कृकाटकघाटिका पश्चिमा
२. कृकाटकघाटिका पार्श्वजा
३. स्वस्तिकघाटिका
४. गोजिह्वाघाटिका
५. घाटान्तरीया
६. कृकाटकघाटिका पश्चिमा

७. कृकाटकघाटिका पश्चिमा ८. स्वस्तिकघाटिका
९. गोजिह्वाघाटिका

पेशियों के कार्य

स्वरतन्त्रियों का आकर्षण और विकर्षण तथा तन्त्रीद्वार का विकास और मुद्रण इन पेशियों का कार्य है।

आकर्षण विकर्षण करने वाली छः पेशियाँ हैं। यथा—

अवटुकृकाटिका	२
अवटुघाटिका	२
अनुतन्त्रिका	२
	६

तन्त्रीद्वार के विकास और मुद्रण के लिए शेष ११ पेशियाँ हैं।

नाड़ियाँ

प्राणदा नाड़ी की दो शाखायें इसमें आती हैं :—

(१) स्वरयन्त्रारोहिणी

(२) उत्तरस्वरिणी

प्रथम नाड़ी के क्रियाघात से स्वरतंत्रियाँ निश्चेष्ट हो जाती हैं और स्वर भारी या बिलकुल नष्ट हो जाता है। द्वितीय नाड़ी के आघात से स्वरतंत्रियों का आकर्षण नहीं हो पाता जिससे स्वर भारी हो जाता है और उच्च स्वर नहीं निकल पाते।

इसका केन्द्र सुषुम्नाशीर्षक में है। इसको उत्तेजित करने से स्वरतन्त्रियाँ विकर्षित हो जाती हैं। इस केन्द्र का नियन्त्रण मस्तिष्कके बाह्य भाग में स्थित कर्णिका (Broca's convolution) से होता है। केन्द्र को उत्तेजित करने से तंत्रियों का विकर्षण होता है तथा उसके नष्ट हो जाने पर कोई विशेष प्रभाव दृष्टिगोचर नहीं होता।

स्वरतन्त्री की गतियाँ

श्वसनकाल में—सामान्य श्वसन के समय तन्त्री द्वार खुला रहता है और चौड़ा तथा त्रिकोणाकार होता है। उसमें भी प्रश्वासकाल में कुछ अधिक चौड़ा तथा निःश्वासकाल में कुछ संकीर्ण हो जाता है। दीर्घ प्रश्वास के समय यह अत्यन्त विस्तृत और चतुष्कोणाकार हो जाता है।

वाक्काल में :—बोलने के समय तन्त्रियाँ आकर्षित होकर परस्पर सन्नि-

कट आ जाती हैं और उनका द्वार अत्यन्त संकीर्ण हो जाता है। जितना ही

स्वर उच्च होता है उतना ही तंत्रियों में आकर्षण अधिक होता है और द्वार भी उतना ही संकीर्ण हो जाता है।

स्वरयन्त्र की वृद्धि के साथ-साथ स्वर-तंत्रियाँ भी लम्बाई में बढ़ती हैं और युवावस्था में स्वरयन्त्र बड़ा हो जाता है। स्वरतन्त्रियाँ स्त्रियों की अपेक्षा पुरुषों में लम्बी होती हैं।

विभिन्न अवस्थाओं में स्वरयन्त्र की स्थिति
क–गानेके समय। ख–सामान्य श्वसन में। ग–दीर्घश्वसन में।

वाक् का विकास (Formation of speech)

वाक् या शब्द भावों के आदान-प्रदान का एक प्रमुख साधन है। यह निम्नांकित तीन क्रियाओं पर निर्भर होता है :—
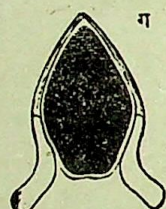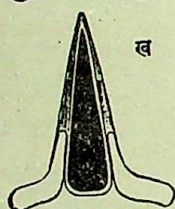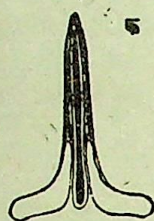
(१) ग्रहणात्मक क्रिया (Receptor mechanism) :—इसमें सभी प्रकार की संज्ञाओं का अन्तर्भाव होता है, यद्यपि विशेष उपयोग दर्शन और श्रवण का इसके विकास में होता है। इन संज्ञाओंके बाह्यमस्तिष्क—स्थित केन्द्रों के सन्निकट संयोजन केन्द्र होते हैं जहाँ इनकी स्मृति सञ्चित रहती है यथा द्वितीय और तृतीय शंखीय मस्तिष्क पिण्ड में वस्तुओं के नाम सञ्चित रहते हैं और उस भाग के विकार में ये नष्ट हो जाते हैं।

(२) संयोजनात्मक क्रिया (Association mechanism) :—संज्ञाओं की अभिव्यञ्जना–केन्द्रों तक पहुँचाने के लिए बीच में संयोजक केन्द्र होते हैं। ब्रोका का वाक्केन्द्र भी एक संयोजन केन्द्र है जो वाक्चालक क्रिया के अत्यन्त निकट संपर्क में रहता है।

(३) चालनात्मक क्रिया (Effector mechanism) :—संयोजन केन्द्र से यह संज्ञा उपयुक्त चालक स्थान तक पहुंचती है जो वाग्यन्त्रों से सम्बन्धित होता है। अवस्थानुसार इसमें भेद हो सकता है क्योंकि भावों की अभिव्यक्ति में सिर हिलाना या मुख पर अंगुली रखना आदि संकेतों का कभी-कभी शब्द से अधिक महत्त्व होता है।

विद्वानों का यह मत है कि शब्द के बिना हम अधिक दूर तक सोच भी नहीं सकते क्योंकि शब्द के सहारे ही प्राणी की मानसिक शक्ति का भी विकास

होता है । अतः वाग्यन्त्र में कहीं पर आघात लगने से मानसिक शक्ति पर भी प्रभाव पड़ता है । उदाहरण के लिए, यदि दृष्टिकेन्द्र को वाग्यन्त्रचालक केन्द्र से मिलाने वाले संयोजकसूत्रों में विकृति हो जाय तो वह व्यक्ति शब्दान्ध (Word blind) हो जायगा अर्थात् वह किसी लिखित अंश को जोर से पढ़ नहीं सकेगा यद्यपि वह मौखिक प्रश्नों का उत्तर ठीक-ठीक दे सकेगा ।

वाक् की उत्पत्ति (Voice Production)

निःश्वसित वायु के वेग से स्वरतन्त्रियों का जब कम्पन होता है तब शब्द की उत्पत्ति होती है । यहाँ शब्द एक ही प्रकार का उत्पन्न होता है किन्तु आगे चल कर तालु, जिह्वा, दन्त और ओष्ठ आदि अवयवों के सम्पर्क से उसमें परिवर्तन आ जाता है ।

वाक् का स्वरूप

स्वरतन्त्रियों के कम्पन से उत्पन्न वाक् का स्वरूप निम्नांकित तीन बातों पर निर्भर होता है :—

(१) तीव्रता (Loudness)—यह कम्पनतरङ्गों की उच्चता के अनुसार होती है । तरङ्गों की जितनी ऊँचाई होगी, शब्द भी उतना ही तीव्र होगा । यह तीव्रता निम्नाङ्कित कारणों पर निर्भर है :—

(क) स्वरयन्त्र का आकार

(ख) स्वरतन्त्रियों की कम्पनतरङ्गों की ऊँचाई

(ग) स्वरतन्त्रियों पर प्रभाव डालने वाली वायु की शक्ति और आयतन

(२) गम्भीरता (Pitch)—यह कम्पनतरङ्गों की संख्या के अनुसार होती है और स्वरतन्त्री की लम्बाई और आकर्षण पर निर्भर है । स्वरतन्त्री की जितनी लम्बाई होगी तथा जितना खिंचाव होगा, स्वर भी उतना ही गम्भीर होगा । पुरुषों में स्वरतन्त्री अधिक लम्बी होती है, अतः उनका स्वर गम्भीर होता है ।

(३) स्वरूप (Quality)—यह गुञ्जनशील अवकाशों के आकार के अनुसार बदलता रहता है और कम्पनतरङ्गों के स्वरूप पर निर्भर होता है । स्वरतन्त्रियों में कभी अतिरिक्त कम्पन या कम्पन में भी अतिरिक्त तरङ्ग की उपस्थिति होती है । इनसे स्वर के स्वरूप में अन्तर आ जाता है । इसी के अनुसार एक व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति की बोली में अन्तर मालूम पड़ता है अथवा एक वाद्य से दूसरे वाद्य के स्वर की पहचान की जाती है ।

शब्द (Speech)

स्वरयन्त्र में उत्पन्न कम्पनतरङ्गों के मुखविवर में आने पर तत्रस्थ

अवयवों के द्वारा उसमें जो परिवर्तन होता है उसीसे शब्द का अन्तिम रूप निष्पन्न होता है। यही नहीं, उन्हीं परिवर्तनों के अनुसार शब्द के वर्णों को विभिन्न वर्गों में विभक्त किया गया है।

कुछ वर्णों के उच्चारण में स्वरयन्त्रद्वार सङ्कीर्ण रहता है और कुछ के उच्चारण में प्रसारित रहता है। द्वार की प्रसारित अवस्था में श्वसनवायु बाहर निकलती है, तब उसे 'श्वास' कहते हैं और जब द्वार संकुचित रहता है तब श्वसनवायु के द्वारा स्वरतन्त्रियों का कम्पन होने से शब्द उत्पन्न होता है, इसे 'नाद' कहते हैं। श्वास कठिन व्यञ्जन वर्णों का उपादान कारण है तथा नाद कोमल व्यञ्जनों तथा स्वरवर्णों का उपादान कारण है। जब नाद बाहर निकलता है और उसके मार्ग में कोई बाधा नहीं होती तब स्वरों का उच्चारण होता है और जब श्वास और नाद दोनों में मुख के विभिन्न अवयवों से बाधा उत्पन्न होती है तब व्यञ्जनवर्णों का उच्चारण होता है। इसीलिए व्यञ्जन वर्णों का बिना स्वर की सहायता के स्वतः उच्चारण नहीं हो सकता। जब मुख के अवयव पृथक् हो जाते हैं और किसी स्वर के स्थान से वायु बाहर निकलती है तब उनका उच्चारण होता है।

जब नाद वृत्ताकार ओष्ठों से होकर बाहर निकलता है, तब 'उ' का उच्चारण होता है और जब अधरोष्ठ कुछ आगे बढ़ जाता है, तब 'ओ' हो जाता है। जब दोनों ओष्ठ पूर्णतया परस्पर मिले हों और श्वसनवायु के मार्ग में बाधा हो तो 'ब' होता है और वायु का वेग अधिक होने से 'भ' हो जाता है और जब वायु का कुछ अंश नासा में प्रविष्ट हो जाता है तब 'म' का उच्चारण होता है। 'ब' और 'भ' के उच्चारणकाल में जो स्थिति नाद की होती है वही स्थिति यदि श्वास की हो तो प और फ का उच्चारण होता है। जब जिह्वा का अग्रभाग ऊपर के दाँतों के मूलभाग से पूर्णतः मिल जाता है और इससे श्वास और नाद दोनों में अवरोध हो जाता है तब 'त थ द ध न' का उच्चारण होता है। दाँतों के सम्पर्क से उत्पन्न होने के कारण ये दन्त्य कहलाते हैं। जब जिह्वाग्र का सम्पर्क और ऊपर मूर्धा से होता है और जिह्वा का पूर्वांश कुछ ऊपर की ओर मुड़ जाता है तब 'ट ठ ड ढ ण' का उच्चारण होता है। इन्हें मूर्धन्य कहते हैं। जब जिह्वा का मध्यभाग तालु के निकट पहुँच जाता है और नाद उनके बीच से होकर निकलता है तब 'इ' का उच्चारण होता है और जब जिह्वा थोड़ी अलग हो जाती है तथा मुँह अधिक खुल जाता है तब 'ए' का उच्चारण होता है। जब तालु से पूर्ण सम्पर्क हो जाता है तब श्वास और नाद दोनों के द्वारा 'च छ ज झ ञ' की उत्पत्ति होती है।

इन्हें तालव्य कहते हैं। जब जिह्वामूल तालु के निम्न भाग का स्पर्श करता है तब कण्ठ से 'क ख ग घ ङ' का उच्चारण होता है। इन्हें कण्ठ्य कहते हैं। मुख की स्वाभाविक स्थिति में जब ओठ खुले हों और उनसे नादवायु बाहर निकले तो 'अ' तथा अधिक वेग से 'ह' की उत्पत्ति होती है। ऋ और लृ के उच्चारण में मुख का समस्त निम्न भाग ऊर्ध्व भाग से मिल जाता है। आ के उच्चारण में, इसके विपरीत, दोनों भाग अलग हट जाते हैं। व का उच्चारण दाँतों और ओष्ठों के निकट संपर्क में आने से होता है। य का उच्चारण इ के समान ही होता है, केवल जिह्वा और तालु का संपर्क अधिक होता है। ल का दाँतों के कुछ ऊपर तथा र का मूर्धा के कुछ नीचे स्थान है। श ष स का उच्चारण जिह्वा के मध्य भाग तथा तालु, मूर्धा एवं दन्त के बीच से प्राणवायु के निकलने से होता है।

इस विषय का विस्तृत विवेचन अन्य आकर ग्रन्थों में देखें।
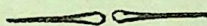
(ख) पित्तखण्ड

पहले कह चुके हैं कि पित्त का कार्य पाक, परिणमन, तापजनन आदि आदानस्वभावी है। अतः इस प्रकरण में इन क्रियाओं का वर्णन किया जायगा। पाचन-परिणमन आदि का वर्णन करने के पूर्व आहार का वर्णन आवश्यक है।

प्रथम अध्याय

आहार

आहार उस द्रव्य को कहते हैं जो पाचन-नलिका के द्वारा शरीर में शोषित होकर निम्नलिखित कार्यों के साधन में समर्थ हो[1] :—

(क) शरीर की क्षति की पूर्ति करना एवं उसके विकास में सहायता प्रदान करना।

(ख) ताप या शक्ति का उत्पादन।

(ग) उपर्युक्त दोनों क्रियाओं का नियन्त्रण।

प्रथम कार्य मुख्यतः मांसतत्त्व, खनिज लवण तथा जल के द्वारा सिद्ध होता है। द्वितीय कार्य वसा और शाकतत्त्व के द्वारा पूर्ण होता है, यद्यपि कुछ शक्ति मांसतत्त्व के द्वारा भी प्राप्त होती है। तृतीय कार्य जीवनीय द्रव्य और खनिज लवण सम्पादित करते हैं।

---

१. 'इष्टवर्णगन्धरसस्पर्शं विधिविहितमन्नपानं प्राणिनां प्राणिसंज्ञकानां प्राणमाचक्षते कुशलाः, प्रत्यक्षफलदर्शनात् ; तदिन्धना ह्यन्तराग्नेः स्थितिः, तत्सत्त्वमूर्जयति, तच्छरीरधातुव्यूहबलवर्णेन्द्रियप्रसादकरं यथोक्तमुपसेव्यमानम्।'

—च० सू० २७

'प्राणाः प्राणभृतामन्नमन्नं लोकोऽभिधावति।
वर्णप्रसादः सौस्वर्यं जीवितं प्रतिभा सुखम्॥
तुष्टिः पुष्टिर्बलं मेधा सर्वमन्ने प्रतिष्ठितम्।
लौकिकं कर्म यद्वृत्तौ स्वर्गतौ यच्च वैदिकम्॥
कर्मापवर्गे यच्चोक्तं तच्चाप्यन्ने प्रतिष्ठितम्।'—च० सू० २७

'प्राणिनां पुनर्मूलमाहारो बलवर्णौजसां च।...ब्रह्मादेरपि च लोकस्याहारः स्थित्युत्पत्तिविनाशहेतुराहारादेवाभिवृद्धिर्बलमारोग्यं वर्णेन्द्रियप्रसादश्च।'

—सु० सू० ४६

'त्रय उपस्तम्भा इत्याहारः स्वप्नो ब्रह्मचर्यमिति।'—च० सू० ११

शरीर की पेशियां सर्वदा चेष्टावान् रहती हैं जिससे सर्वदा शक्ति का क्षय होता रहता है। अतः इस क्षति की पूर्ति के लिए नित नूतन आहार द्रव्यों की आवश्यकता होती है। शरीर के विकासकाल में भी विकास के लिए आवश्यक उपादान एवं शक्ति आहार के द्वारा ही प्राप्त होती है, अतः उपयुक्त आहार वही है जो :—

(१) शक्ति का आवश्यक परिमाण उत्पन्न करे।
(२) क्षतिपूर्ति एवं विकास के लिए आवश्यक उपादानों की पूर्ति करे।
(३) शरीर की आवश्यक रासायनिक क्रियाओं का नियन्त्रण करे।

यह देखा गया है कि कुछ अंशों में खनिज लवण सामान्य पेशी के संकोचन के लिए आवश्यक है। साथ ही वह अस्थि और दन्त के निर्माण के लिए भी आवश्यक है। इसके बाद वह जीवनीय द्रव्य के साथ मिलकर शरीर की क्रियाओं एवं विकास के लिए भी महत्त्वपूर्ण है।

इस प्रकार आहार के विविध पोषक तत्त्वों की क्रियायें संक्षेप में निम्नांकित रूप में निर्दिष्ट की जा सकती हैं—

(क) धातुनिर्मापक—मांसतत्त्व, खनिजलवण और जल।

धातु-निर्मापक आहार दो प्रकार का होता है :—

(१) शरीर के ठोस अवयवों यथा अस्थि, पेशी आदि के लिए सामग्री प्रस्तुत करनेवाले।

(२) विकास एवं अन्य शारीर क्रियाओं का नियन्त्रण करने वाले।

प्रथम प्रकार में मांसतत्त्व, वसा और शाकतत्त्व आते हैं और द्वितीय प्रकार में जीवनीय द्रव्य और खनिज लवण आते हैं जिनकी कमी होने से अनेक रोग उत्पन्न हो जाते हैं। इस प्रकार मांसतत्त्व, खनिजलवण, जल और जीवनीय द्रव्य धातु-निर्मापक आहार द्रव्य हैं।

(ख) ताप और शक्ति के उत्पादक—मांसतत्त्व, वसा और शाकतत्त्व।

इस प्रकार के आहार-द्रव्यों में कार्बन होता है जिनका श्वास द्वारा गृहीत औक्सिजन से ओषजनीकरण होता है और इसी क्रम में ताप और शक्ति का प्रादुर्भाव होता है। शाकतत्त्व की अपेक्षा वसा में दूनी शक्ति होती है।

(ग) शरीर-क्रियाओं के नियामक—खनिजलवण और जीवनीय द्रव्य।

अधिकांश आहार-द्रव्यों में यह सभी उपादान होते हैं, किन्तु प्रायः किसी एक की अधिकता होती है, यथा—

घी, मक्खन आदि में वसा, मांस में मांसतत्त्व, शाकाहार में शाकतत्त्व।

आहारतत्त्वों का तापमूल्य (Heat-value)

एक किलोग्राम जल का तापक्रम एक डिग्री सेण्टीग्रेड बढ़ाने के लिए जितना ताप आवश्यक होता है उसे एक 'कैलोरी' कहते हैं। इस प्रकार—

१ ग्राम मांसतत्त्व—शरीर में—४'१ कैलोरी ताप उत्पन्न करता है।
१ ,, वसा ,, ९'४ ,, ,, ,, ,,
१ ,, शाकतत्त्व ,, ४ ,, ,, ,, ,,

'शारीर तापमूल्य' (Physiological heat-value) और भौतिक ताप मूल्य (Physical heat-value) में अन्तर है। शारीर तापमूल्य ताप की वह मात्रा है जो शरीर में आहारद्रव्यों के ज्वलन से उत्पन्न होती है तथा भौतिक तापमूल्य ताप की वह मात्रा है जो शरीर के बाहर भौतिक यन्त्रों में आहार को जलाने से प्राप्त होती है यथा मांसतत्त्व का भौतिकतापमूल्य ५'६ है, किन्तु इसका शारीरतापमूल्य ४'१ ही है। इसका कारण यह है कि १ ग्राम मांसतत्त्व से ⅓ ग्राम यूरिया उत्पन्न होता है जिसमें ०'८५ ताप नष्ट हो जाता है।

पूर्ण विश्रामकाल में लगभग १८०० कैलोरी ताप शरीर की भौतिक क्रियाओं के समुचित रूप से निर्वाह के लिए आवश्यक है। अधिक परिश्रम के समय यह ६००० तक हो जाता है। आयु के अनुसार भी इसमें विभिन्नता होती है। एक औसत व्यक्ति के लिए निम्नांकित आहार उत्तम हो सकता है—

मांसतत्त्व	४'५ औंस
वसा	३'५ ,,
शाकतत्त्व	१४ ,,
लवण	१ ,,
तापमूल्य	३०७० कैलोरी

अधिक परिश्रम के समय इसकी मात्रा कुछ बढ़ा दी जानी चाहिए। इनके अतिरिक्त तापमूल्य कम रहने पर भी उनमें लवणों एवं जीवनीय द्रव्यों की उपस्थिति के कारण फल और हरे शाक भी भोजन में आवश्यक हैं।

मांसतत्त्व के प्रभाव

मांसतत्त्व के तीन कार्य होते हैं :—

(१) नये तन्तुओं के निर्माण द्वारा शारीर धातुओं की क्षति की पूर्ति करना।

(२) शरीर में नये द्रव्य यथा अधिवृक्क-ग्रन्थिस्राव उत्पन्न करना।

(३) शरीर को ताप और शक्ति प्रदान करना।

मांसतत्त्व के अधिक उपयोग से शरीर में नाइट्रोजन का आधिक्य हो जाता है, अतः उपर्युक्त कार्यों के प्रथम दो कार्य, उनमें भी मुख्यतः प्रथम कार्य के लिए उनका उपयोग किया जाता है और शेष कार्य के लिए वसा और शाकतत्त्व का प्रयोग किया जाता है। मांसतत्त्व के द्वारा जितना नाइट्रोजन शरीर के भीतर लिया जाता है यदि उससे अधिक नाइट्रोजन का उत्सर्ग हो तो वह धातुक्षय का सूचक है। इसके विपरीत, यदि ली गई मात्रा से नाइट्रोजन का उत्सर्ग कम हो तो वह शरीर में मांस के निर्माण का सूचक है। भोजन में मांसतत्त्व की कमी होने से पेशी का विकास कम होता है तथा रोगक्षमता भी कम हो जाती है। मांसतत्त्व में एक विशिष्ट गुण यह होता है कि इससे शरीर की समीकरणात्मक क्रियायें उत्तेजित हो जाती हैं अतः ताप का उत्पादन अधिक होता है। इसीलिए शीतकाल तथा शीत देशों में मांसतत्त्व के अधिक परिमाण की आवश्यकता होती है और वस्तुतः उन दिनों उसका व्यवहार भी अधिक होता है। इस गुण को मांसतत्त्व का विशिष्ट प्रेरक धर्म (Specific dynamic aetion) कहते हैं।

जान्तव और औद्भिद मांसतत्त्वों की तुलना

(१) जान्तव मांसतत्त्व अधिक सुपाच्य अतः बुद्धिजीवियों के लिए अधिक उपयोगी होता है। यह देखा गया है कि जान्तव मांसतत्त्व का ९७ प्रतिशत तथा औद्भिद मांसतत्त्व का ८५ प्रतिशत शरीर में शोषित होता है।

(२) औद्भिद मांसतत्त्व में शक्ति कम होती है।

(३) उतने ही मांसतत्त्व के लिए अधिक शाकाहार की आवश्यकता होती है।

(४) पोषकता की दृष्टि से भी औद्भिद मांसतत्त्व जान्तव मांसतत्त्व की अपेक्षाहीन होता है।

वसा और शाकतत्त्व के प्रभाव

दोनों ही पदार्थ शरीर को ताप एवं शक्ति प्रदान करते हैं, फिर भी दोनों ही शरीर के सामान्य समीकरण के लिए आहार में आवश्यक हैं। वसा नाइट्रोजन की उत्पत्ति बढ़ाता है और शाकतत्त्व उसको कम करता है और इस प्रकार उसकी मात्रा को स्थिर रखता है। वसा का सेवन प्रतिदिन ६० ग्राम से कम नहीं होना चाहिये। बच्चों को तो इससे भी अधिक मात्रा आवश्यक है।

कटुजनक तथा प्रतिकटुजनक पदार्थ (Ketogenic and antiketogonic)

शरीर में वसा का पूर्ण ज्वलन तभी होता है जब कि उसी समय कुछ शर्करा का भी ज्वलन हो रहा हो, अन्यथा उसका ज्वलन अपूर्ण ही होता है और उससे एसिटोन पदार्थ बनते हैं। इसलिए शाकतत्त्व प्रतिकटुजनक कहलाते हैं क्योंकि वह एसिटो-एसिटिक अम्ल आदि कटुद्रव्यों की उत्पत्ति को रोकते हैं। केवल वसा ही नहीं, मांसतत्त्व भी कटुजनक होते हैं। साधारणतः कटुजनक तथा प्रतिकटुजनक द्रव्यों का अनुपात २. १ होना चाहिए, अन्यथा वसा और मांस तत्त्व का पूर्ण ज्वलन नहीं होने पाता और कटुभाव (Ketosis) का प्रादुर्भाव होता है। कटुभाव इसलिए निम्नांकित अवस्थाओं में पाया जाता है :—

(१) उपवास—जब कि शाकतत्त्व की कमी हो जाती है।

(२) इक्षुमेह—जिसमें शर्करा के स्वाभाविक ज्वलन में बाधा हो जाती है।

(३) भोजन में जब वसा का आधिक्य होता है।

जीवनीय द्रव्य (Vitamins)

मांसतत्त्व, वसा, शाकतत्त्व, खनिजलवण और जल के अतिरिक्त आहार में कुछ और सूक्ष्म पोषक द्रव्य होते हैं जिनका रासायनिक सङ्गठन निश्चित रूप से ज्ञात नहीं है। वह प्राकृत भोजन के अनिवार्य अङ्ग हैं तथा मनुष्य एवं पशुओं की प्राकृतिक वृद्धि एवं विकास के लिए आवश्यक हैं। साथ ही वह शरीर की समीकरणात्मक क्रियाओं के संचालन के लिए भी आवश्यक हैं। उन्हें 'विटामिन या जीवनीय द्रव्य' कहते हैं। यह नामकरण सर्वप्रथम १९११ में फङ्क ने किया था। यह बच्चों की तथा युवा व्यक्तियों में प्राकृत स्वास्थ्य की रक्षा के लिए आवश्यक है, अतः उन्हें 'सहायक आहारतत्त्व' भी कहते हैं। इनकी महत्त्वपूर्ण विशेषता यह है कि उनकी क्रिया बहुत अल्प मात्राओं में होती है। जब वह आहार में अनुपस्थित होते हैं तब कुछ पोषणसम्बन्धी विकार उत्पन्न होते हैं उन्हें क्षयज रोग कहते हैं। प्रयोगों के द्वारा यह देखा गया है कि यदि प्राणी को विटामिन न देकर केवल मांसतत्त्व, वसा, शाकतत्त्व और खनिजलवणों पर रक्खा जाय तो अल्पकाल में ही उसकी मृत्यु हो जाती है। जीवनीयद्रव्य इस अर्थ में आहार नहीं हैं कि वे शारीर धातुओं का निर्माण करते हैं या क्षतिपूर्ति करते हैं या ताप और शक्ति उत्पन्न करते हैं, बल्कि इस अर्थ में कि वह सभी कोषाणवीय क्रियाओं में निश्चित रूप से संश्लेषणात्मक या रचनात्मक प्रभाव डालते हैं। वह शरीर की रक्षा और

वृद्धि के लिए पूर्णतः आवश्यक है। वस्तुः जीवनीय द्रव्य से रहित केवल मांसतत्त्व, वसा एवं शाकतत्त्व से युक्त आहार 'निर्जीव' आहार ही कहा जा सकता है।

जीवनीय द्रव्य अनेक प्रकार के होते हैं :—

१. जीवनीय द्रव्य (ए) २. जीवनीय द्रव्य (बी) ३. जीवनीय द्रव्य (सी) ४. जीवनीय द्रव्य (डी) ५. जीवनीय द्रव्य (ई) ६. जीवनीय द्रव्य (के) ७. जीवनीय द्रव्य (पी)

१. इनमें जीवनीय द्रव्य ए, डी, ई और के स्नेह-विलेय (Fat-Soluble) तथा बी, सी और पी जलविलेय (Watersoluble) हैं।

जीवनीयद्रव्य (ए)

यह दूध, मक्खन, अण्डों, सभी जान्तव वसा, वृक्षों की हरी पत्तियां यथा कोबी इत्यादि, धान्यांकुर, यकृत्, हृदय और वृक्क में पाया जाता है। यह जीवनीय द्रव्य हरी पत्तियों में होता है, अतः हरी पत्तियां खानेवाले जन्तुओं के दूध में यह अधिक पाया जाता है। फलों में टोमाटो में यह अधिक पाया जाता है।

२. युवा व्यक्तियों में इसका पर्याप्त संचित कोष रहता है इसलिए इसके क्षय के लक्षण प्रकट होने में कई मास लग जाते हैं, किन्तु बच्चों में इसका संचित कोष कम होने के कारण ये लक्षण शीघ्र प्रकट होते हैं।

जीवनीय द्रव्य 'ए' के कार्य

इसके चार मुख्य कार्य हैं :—

१. वृद्धि में सहायता प्रदान करता है।

२. सन्तानोत्पत्ति के लिए आवश्यक है।

३. त्वचा तथा आशयों की आभ्यन्तर श्लेष्मल कला के स्वास्थ्य की रक्षा करता है।

४. दृष्टिगत रंजकतत्त्व (आलोचक पित्त) के निर्माण में सहायक होता है।

इस प्रकार यह शरीर की आवश्यक रचनाओं के प्राकृत स्वास्थ्य एवं पूर्णता की रक्षा करता है जिससे यह जीवाणुओं के आक्रमण का प्रतिकार करने में समर्थ होते हैं। इसीलिए इसे 'प्रतिसंक्रामक जीवनीय द्रव्य' कहते हैं।

आहार में इसकी अनुपस्थिति के निम्नलिखित परिणाम होते हैं :—

१. पोषण में कमी २. अस्थिक्षय ३. विकास में कमी

४. नेत्र रोग—शुष्कनेत्रता, रात्र्यन्धता आदि

५. जीवाणुओं के संक्रमण का भय

६. वृक्क और मूत्राशय की अश्मरी

७. क्षय तथा अन्य फुफ्फुस के रोग

८. दन्त तथा दन्तमांस की विकृति—दन्तक्रिमि तथा शीताद आदि

जीवनीय द्रव्य ए एक स्वस्थ युवा व्यक्ति को प्रतिदिन ३००० यूनिट तथा शिशु एवं धात्रीमाता के लिए ६००० यूनिट प्रतिदिन चाहिए। इस जीवनीय द्रव्य के क्षय की अवस्था में इसकी २०००० या अधिक मात्रा देनी होती है। इसका शोषण शीघ्र महास्रोत से होता है तथा यकृत में सञ्चय होता है।

जीवनीय द्रव्य 'बी' कौम्प्लेक्स

इस जीवनीयगण में अनेक जीवनीय द्रव्य समाविष्ट किये गये हैं यथा थिएमिन (Theamine), राइबोफ्लेविन (Riboflavin), निकोटिनिक एसिड और निकोटिनेमाइड (Nicotinic acid and Nicotinamide), पाइरिडॉक्सिन (Pyridoxine), पैण्टोथिनिक (Pantothenic acid), बायोटिन (Biotin), पैरा-एमिनोबेञ्जोइक एसिड (Para-amino benzoic acid), इनौसिटोल (Inositol), कोलिन (Choline), फौलिक एसिड (Folic acid) तथा जीवनीय द्रव्य बी^{१२} (Vitamin B^{12})

१. थिएमिन—

यह खमीर, अंकुरित बीज, दाल, चावल, गेहूँ, हरे शाक, टोमाटो, दूध, जन्तुओं के यकृत् तथा अण्डे में पाया जाता है।

इसका शोषण क्षुद्रान्त्र से होता है और यकृत्, हृदय, मस्तिष्क और वृक्क में संचित होता है। ऐच्छिक पेशियों, प्लीहा और यकृत् में भी मिलता है। क्षुद्रान्त्र में जीवाणुओं की क्रिया से भी यह बनता है। जिसका शोषण बृहदन्त्र से होता है। शरीर में इसका ५ से १० प्रतिशत नष्ट हो जाता है और अधिक अंश मूत्र से बाहर निकलता है। तीव्र अतिसार से इसके शोषण में बाधा होती है।

यह शाकतत्त्व के समीकरण में सहयोग प्रदान करता है तथा शरीर के विकास में सहायक होता है। इसकी कमी होने से शरीर का विकास रुक जाता है और वातविकार (Polyneuritis) उत्पन्न होते हैं। बेरी-बेरी नामक रोग भी उत्पन्न होता है।

इन कारणों से यह औषधालय में बेरी-बेरी, वातविकार, क्षय, मधुमेह, विबान्ध्य तथा शोथ में उपयोगी है।

सामान्यतः एक युवा व्यक्ति को १ मिलीग्राम (अधिक से अधिक ३ मिलीग्राम) और बच्चों को ०.५ मिलीग्राम आवश्यक होता है। गर्भावस्था, स्तन्यकाल तथा क्षयावस्था में इसकी आवश्यकता बढ़ जाती है।

२. राइबोफ्लेविन :—

यह शरीर के विकास में सहायक होता है। सामान्यतः युवा व्यक्ति को ३ मिलीग्राम प्रतिदिन तथा बच्चों को १ मिलीग्राम प्रतिदिन आवश्यक होता है।

इसकी कमी से क्षय के लक्षण ३-४ महीनों में प्रकट होते हैं यथा पाण्डुता, मुखदूषिका, मुखकोणों में व्रण, जिह्वा में वैवर्ण्य तथा खरत्व, त्वचारोग (विशेषतः ललाट और मुख में) और नेत्ररोग। इसके साथ-साथ दौर्बल्य, पाददाह, निस्तोद तथा विकास का अवरोध देखा जाता है।

इसका संचय नहीं होता और उत्सर्ग धीरे-धीरे होता है।

३. निकोटिनिक एसिड और निकोटिनेमाइड :—

निकोटिनिक एसिड शाकतत्त्व के सात्मीकरण में सहायक होता है अतः पैलेग्रा रोग के प्रतिषेध में उपयोगी होता है और इसलिए यह पैलेग्रा—प्रतिषेधक तत्त्व (P. P.—palegra preventing—Factor) कहलाता है। यह इन्सुलीन की क्रिया को उत्तेजित करता है अतः मधुमेह में भी उपयोगी है।

निकोटिनेमाइड शरीर के विकास में सहायक है। यह १५ से २० मिलीग्राम की मात्रा में प्रतिदिन आवश्यक है। यह यकृत्, वृक्क, शूकरमांस तथा खमीर में मिलता है। इसका शोषण महास्रोत से शीघ्र होता है और लगभग ३० से ५० प्रतिशत मूत्र से उत्सृष्ट होता है।

४. पाइरिडॉक्सिन—(Vitamin B^6)—

यह धान्य के बीज, शिम्बी, चावल की भूंसी, खमीर, यकृत्, अण्डे के पीतभाग, मांस तथा मछली में होता है।

यह पैलेग्रा रोग के निवारण में सहायक होता है विशेषतः अनिद्रा, चिड़चिड़ापन तथा दौर्बल्य को दूर करता है। गर्भावस्थाजन्य तथा क्ष-किरणजन्य छर्दि, पाण्डु और पेशीक्षय में लाभकर है।

पैण्टोथिनिक एसिड—

इसकी क्रिया पूर्णतः ज्ञात नहीं है। यह खमीर, मटर, गेहूं, यकृत् तथा अंडे में मिलता है। यह शरीर से प्रतिदिन ३-४ मिलीग्राम की मात्रा में बाहर निकलता है।

जीवनीयगण बी के अम्ल तत्त्वों के साथ यह दौर्बल्य में प्रयुक्त होता है।

इसका प्रयोग खालित्य और पालित्य में भी होता है। १५० मिलीग्राम की मात्रा में प्रतिदिन दिया जाता है।

६. बायोटिन—

यह मुख्यतः खमीर, यकृत्, अंडे, मटर तथा धान्य में मिलता है। प्रतिदिन १५० मिलीग्राम आवश्यक होता है।

इसकी कमी से चर्मरोग, जिह्वांकुरों का क्षय तथा रक्तकणों के निर्माण में विकृति ये लक्षण होते हैं।

७. पैरा-एमिनो बेंजोइक एसिड—

यह यकृत् और खमीर में मिलता है किन्तु अभी तक इसकी क्रिया ज्ञात नहीं है।

८. इनौसिटोल—यह जान्तव धातु, शाक और फलों में पाया जाता है।

९. कोलिन—

इसकी कमी से यकृत् और वृक्क का मेदस अपकर्ष होता है। यह यकृद्दाल्युदर तथा अन्त्राघात (Parlytic ileus) में उपयोगी है।

१०. फौलिक एसिड—

यह हरे शाक, खमीर, यकृत् तथा वृक्क में पाया जाता है। यह जीवाणुओं की क्रिया से अन्त्र में भी बनता है।

यह पाण्डुरोग में उपयोगी है। विशेषतः ग्रहणीजन्य पाण्डु (Sprue-Syndrome) में प्रयुक्त होता है।

११. जीवनीय द्रव्य बी[१२]—

यह तत्त्व यकृत् से निकाला गया है और घातक पाण्डु में शुद्ध यकृत् सत्त्व से कई हजार गुना अधिक इसका कार्य होता है। स्ट्रेप्टोमाइसिन ग्रिसियल नामक जीवाणु से भी यह बनता है और अन्त्रगत जीवाणु भी इसे बनाते हैं।

यह अस्थिमज्जा को शीघ्र उत्तेजित करता है जिससे रक्तकणों का निर्माण अधिक होने लगता है। शरीर की सामान्य वृद्धि भी होती है तथा इससे अन्य दौर्बल्य के लक्षण तथा वातविकार शान्त होते हैं।

जीवनीय द्रव्य 'सी'

यह फलों में अधिक मात्रा में पाया जाता है तथा धारोष्ण दूध में भी स्वल्प परिमाण में होता है। कोषाणुओं के ओषजनीकरण की क्रिया के लिए इसकी उपस्थिति आवश्यक है। इसकी कमी से तन्तुओं में विघटनात्मक परिवर्त्तन प्रारम्भ हो जाते हैं और स्कर्वी रोग उत्पन्न हो जाता है। रक्तकणों के निर्माण में भी यह सहायक होता है। अतः इसकी कमी से पाण्डुरोग हो जाता है। अस्थियों की वृद्धि में भी यह सहायक होता है। यह उपसर्ग-निरोधक

तथा व्रणरोपण (विशेषतः आमाशयिक व्रण में) है। यह कुछ द्रव्यों यथा शंखिया के विषप्रभाव को कम करता है।

इसका संचय शरीर में पर्याप्त नहीं होता अतः प्रतिदिन इसे नियमित रूप से लेना चाहिए। युवा स्वस्थ व्यक्ति को ५० से ७५ मिलीग्राम तथा बच्चों को शरीर-भार के अनुपात से दूनी मात्रा लेनी चाहिए। गर्भावस्था तथा स्तन्यकाल में १००–१५० मिलीग्राम आवश्यक होता है।

जीवनीय द्रव्य 'डी'

जिन द्रव्यों में जीवनीय द्रव्य 'ए' पाया जाता है, उनमें यह मिलता है, किन्तु उनमें निम्नलिखित विशेषता के कारण भेद स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है :—

जीवनीय द्रव्य 'ए'	जीवनीय द्रव्य 'डी'
१. वानस्पतिक तेलों में नहीं मिलता	१. मिलता है।
२. ताप और ओषजनीकरण से नष्ट हो जाता है।	२. नष्ट नहीं होता।
३. सूर्य-प्रकाश के द्वारा नष्ट होता है।	३. सूर्य-प्रकाश के नीललोहितोत्तर किरणों से उत्पन्न होता है।

जीवनीय द्रव्य 'ए' और 'डी' द्रव्यों में विभिन्न अनुपातों में उपस्थित रहते हैं। यथा कौडलिवर तैल में 'ए' की अपेक्षा 'डी' अधिक होता है, किन्तु मक्खन में 'डी' की अपेक्षा 'ए' अधिक होता है।

जीवनीय द्रव्य 'डी' सुधा और स्फुरक के समीकरण से निकट सम्बन्ध रखता है अतः अस्थिक्षय के प्रतिषेध या चिकित्सा में यह विशेष महत्त्वपूर्ण है। वनस्पतियों से प्राप्त जीवनीय द्रव्य 'डी' सूर्यप्रकाश से उत्पन्न 'डी[2]' तथा कौडलिवर तैल इत्यादि में रहनेवाला 'डी[3]' कहलाता है। यह अस्थिक्षय-प्रतिषेधक तत्त्व कहा जाता है, क्योंकि आहार में इसकी अनुपस्थिति से सुधा एवं स्फुरक का समीकरण विकृत हो जाता है और 'अस्थिक्षय' नामक रोग उत्पन्न हो जाता है जिसका प्रधान लक्षण है अस्थि और रक्त में सुधा एवं स्फुरक की अल्पता।

इसका संचय सामान्य मात्रा में होता है तथा स्तन्य से बाहर निकलता है। इसके शोषण के लिए अंत्र में पित्त की उपस्थिति आवश्यक है। जीर्ण अतिसार से इसमें बाधा होती है।

बच्चों में तथा गर्भावस्था और स्तन्यकाल में इसकी ७०० युनिट आवश्यक होती है।

इस जीवनीय द्रव्य का प्रधान कर्म है पाचन-नलिका के द्वारा सुधा और

स्फुरक के शोषण में योग प्रदान करना और रक्त तथा धातुओं में सुधा एवं स्फुरक के प्राकृत परिमाण की रक्षा करना। अतः अस्थि–कङ्काल के समुचित निर्माण के लिए यह अत्यन्त आवश्यक है और इसलिये इसे सुधाप्रद-जीवनीय द्रव्य कहते हैं। जब इस जीवनीय द्रव्य की कमी हो जाती है तब सुधा और स्फुरक पुरीष के साथ अधिक मात्रा में बाहर निकलने लगते हैं। समुचित शोषण न होने के कारण रक्त में उपर्युक्त पदार्थों की कमी हो जाती है और अस्थि तथा दाँत को वह पदार्थ पर्याप्त मात्रा में नहीं मिलते और प्राकृत अस्थि-निर्माण में बाधा होने लगती है। यह अस्थि एवं दाँतों के निर्माण में ही सहायक नहीं होता, हृदय के नियमन, पेशियों के संकोचन, एवं रक्त के स्कन्दन के लिए भी आवश्यक है।

सूर्य-प्रकाश का त्वचा के नीचे वसा पर प्रभाव होने से 'जीवनीयद्रव्य डी' उत्पन्न होता है। इसलिए खुली हवा में खुले बदन खेलने वाले बच्चों में यह अधिक मात्रा में पाया जाता है।

जीवनीयद्रव्य 'ई'

यह गर्भ की वृद्धि के लिए आवश्यक है। यह धान्याङ्कुरों, वानस्पतिक तैलों तथा हरे शाकों में पाया जाता है। यह गेहूं के अंकुर के तैल में सर्वाधिक परिमाण में पाया जाता है। यह थोड़ी मात्रा में दूध, वसा, जान्तव धातु विशेषतः वसा और पेशियों में पाया जाता है। कौडलिवर तैल में यह नहीं मिलता।

यह सन्तानोत्पत्ति के लिए आवश्यक है अतः यह प्रजास्थापन जीवनीय द्रव्य कहलाता है। इसके अभाव से सन्तानोत्पत्ति की क्रियाओं में विकृति हो जाती है। इसके अभाव में पुरुषों के शुक्रवह स्रोतों का क्षय, शुक्रकीटों का दौर्बल्य और शक्तिहीनता हो जाती है। स्त्रियों में यद्यपि गर्भाधान हो जाता है, तथापि अपरासम्बन्धी क्रियाओं में बाधा होने से गर्भ शीघ्र च्युत हो जाता है। इसका कारण यह है कि इसकी कमी से अपरा में एवं क्षयात्मक परिवर्त्तन होने लगते हैं। इन कारणों से इस तत्त्व को 'अपरीय जीवनीयद्रव्य' भी कहते हैं।

जीवनीयद्रव्य 'के'

यह हरे शाकों, धान्यों तथा वानस्पतिक तैलों में पाया जाता है। यह रक्त के प्राकृत स्कन्दन के लिए आवश्यक है और इस प्रकार कुछ रक्तस्रावसम्बन्धी रोगों का प्रतिषेध करता है। इसमें दो तत्त्व होते हैं के' और के''। प्रथम तत्त्व हरे शाकों और वनस्पतियों में पाया जाता है तथा द्वितीय तत्त्व अन्त्र में जीवाणुओं के द्वारा उत्पन्न होता है। पित्तलवण इस जीवनीयद्रव्य के शोषण में सहायक होते हैं! कामला आदि रोगों में जब अंत्र में पित्त की कमी हो

जाती है, तब इस तत्त्व का पूर्ण शोषण नहीं हो पाता और उससे रक्तस्राव की प्रवृत्ति होने लगती है।

जीवनीयद्रव्य 'पी'

यह हङ्गरी देश के लाल मिर्चों से निकाला जाता है। इसकी क्रिया जीवनीयद्रव्य 'सी' के समान ही होती है। इसकी अनुपस्थिति से त्वचा की केशिकायें विदीर्ण हो जाती हैं और रक्त त्वचा में सञ्चित एवं स्रुत होने लगता है।

आहार के रञ्जक द्रव्य

कुछ आहार में कैरोटिन नामक पीत वर्ण का रञ्जक द्रव्य होता है और प्रायः जीवनीयद्रव्य 'ए' के साथ पाया जाता है। उसकी क्रिया भी 'ए' के समान ही होती है। मक्खन की शक्ति इसी द्रव्य के आधार पर होती है।

अकार्बनिक लवण

ये लवण शरीर के धातुनिर्माण की क्रिया में महत्त्वपूर्ण योग देते हैं, अतः आहार में इनका प्रमुख स्थान है। शरीर में उनका ओषजनीकरण नहीं होता, अतः ताप की उत्पत्ति उनसे नहीं होती जिस प्रकार कि अन्य आहार-द्रव्यों से होती है, किन्तु शरीर में ताप का नियमन करने के कारण इनका अधिक महत्त्व है।

मानवशरीर में लगभग ५ प्रतिशत खनिज लवण होते हैं, अतः उनकी निम्नांकित मात्रा प्रतिदिन आहार में अवश्य मिलनी चाहियेः—

खटिक—१ ग्राम, स्फुरकाम्ल—४ ग्राम, मैगनेशियम—०.५ ग्राम, क्लोरिन—८ ग्राम, लौह—०.०१५ ग्राम, पोटाशियम—३ ग्राम, सोडियम—५ ग्राम।

ये लवण प्रायः आहार में सेन्द्रिय संयोग के रूप में मिलते हैं यथा गन्धक मांसतत्त्व में, सुधा दुग्ध में तथा लौह मांस में।

कार्यः—

खनिज लवणों के दो मुख्य कार्य होते हैंः—

(१) कुछ खनिज लवण धातुओं के निर्माण के लिए आवश्यक होते हैं। शरीर में लगभग ९९ प्रतिशत सुधा और ७० प्रतिशत स्फुरक दाँतों और अस्थियों में पाया जाता है। इन अंगों की कठिनता इन्हीं लवणों पर आश्रित होती है।

बच्चों में विकास के लिए सुधा की अधिक आवश्यकता होती है जो उन्हें दूध के द्वारा मिलता है। स्त्रियों को गर्भावस्था के अन्तिम दो मासों में

तथा स्तन्यकाल में सुधा तथा स्फुरक की विशेष आवश्यकता होती है। सुधा की कमी से बच्चों का विकास रुक जाता है और अस्थिशोष की अवस्था उत्पन्न होती है। सुधा के समुचित सात्मीकरण के लिए जीवनीय द्रव्य डी की भी आवश्यकता होती है, अन्यथा इसके अभाव में सुधा की अत्यधिक मात्रा देने पर भी कोई लाभ नहीं होता।

(२) खनिज लवण शरीर के विभिन्न स्रावों और रसों में घुले रहते हैं और उनकी आम्लिकता एवं क्षारीयता को स्थिर रखते हैं। वे हृदय, नाड़ियों तथा पेशियों की प्राकृत क्रिया के लिये भी आवश्यक अणु पहुंचाते हैं।

निम्न तालिका में खनिज लवणों की क्रिया का विवरण दिया गया है :—

खनिज का नाम	शारीर क्रिया	तदभावजन्य रोग
१. सुधा	१. अस्थि तथा दन्त का निर्माण (जीवनीयद्रव्य डी की उपस्थिति में)	अस्थि और दन्त का स्वल्प विकास, अस्थि-भंगुरता, अस्थिशोष, दन्तकोटर, अत्यधिक रक्तस्राव
२. क्लोरीन	१. पाचन में सहायक २. आमाशयिक रस के स्राव में सहायक ३. रक्त तथा धातुओं के व्यापन-भार का नियमन ४. किण्वतत्वों को क्रियाशील बनाना	जलधारणाशक्ति का क्षय, शरीरभार में कमी, पाचनविकार
३. ताम्र[1]	रक्तरञ्जक द्रव्यों के निर्माण में लौह के सात्मीकरण के लिए आवश्यक	रक्ताल्पता, लौह का कम उपयोग
४. आयोडिन	१. थाइरोक्सिन का निर्माण २. अवटुग्रन्थि का निर्माण तथा क्रिया नियमित रखना ३. गलगण्ड से रक्षा	अवटुग्रन्थि की वृद्धि (गलगण्ड)

१. 'ताम्रं' दीपनमुत्तमं क्रिमिहरं कुष्ठामयध्वंसनं
कासश्वासविधूननं क्षयहरं पाण्ड्वामयघ्नं परम्।
दुर्नामग्रहणीगदप्रशमनं नेत्रामयेषूत्तमं
स्थौल्यध्वंसकरं स्वलं बहुगिरा नानामयध्वंसनम्॥
—र. त. १७ तरंग

खनिज का नाम	शारीर क्रिया	तदभावजन्य रोग
५. लौह[1]	रक्तरञ्जक का निर्माण, रक्तकोषाणु का विकास, प्राकृत वर्ण	रक्ताल्पता, रक्तरञ्जक की कमी, रक्तकोषाणुओं का क्षय, शारीरिक वृद्धि का निरोध
६. मैगनेशियम	शोधक प्रभाव, किण्वतत्त्वों की क्रिया का प्रेरक	मस्तिष्कदौर्बल्य, पाचनविकार, शारीरिक वृद्धि का निरोध, हृदयगति की तीव्रता
७. मैगनीज	प्राकृतिक वृद्धि के लिए आवश्यक, ताम्र के समान प्रभाव	शारीर विकास का निरोध
८. स्फुरक	अस्थि तथा दन्त का निर्माण किण्वतत्त्वों की क्रिया में प्रेरणा, शाकतत्त्वों तथा स्नेहों का सात्मीकरण	अस्थि तथा दन्त का क्षीण विकास, शारीरिक वृद्धि का निरोध
९. पोटाशियम	प्राकृत विकास, पेशीक्रिया में सहायता	दुर्बल पेशीनियन्त्रण, शरीरभार में कमी, पाचनशक्ति का ह्रास
१०. सोडियम	कोषाणुओं तथा द्रवों में व्यापनभार का नियमन, रक्तप्रवाह में क्षाररक्षण	नाडीविकार, लवणक्षय, दुर्बल जलधारणाशक्ति

१. लौहं दीपनमुत्तमं क्षयहरं कुष्ठामयध्वंसनं
गुल्मप्लीहविधूननं क्रिमिहरं पाण्ड्वामयघ्नं परम् ।
मेदोमेहनिबर्हणं गरहरं दुर्नामरोगान्तकृ-
च्छर्दिश्वासहरं त्वलं बहुगिरा योगेन नानार्त्तिनुत् ॥

—र. त. २० तरंग

'सप्तरात्रं गवां मूत्रे भावितं वाऽप्ययोरजः ।
पाण्डुरोगप्रशान्त्यर्थं पयसा पाययेद् भिषक् ॥—च. चि. १

'धीमान् यशस्वी वाक्सिद्धः श्रुतधारी महाबलः ।
भवेत् समां प्रयुञ्जानो नरो लोहरसायनम् ॥'—च. चि. १

खनिज का नाम	शारीर क्रिया	तद्भावजन्य रोग
११. गन्धक[1]	शरीर विकास के लिए आवश्यक, विचर्चिका तथा अन्य चर्म रोगों का प्रतिषेध, धातुओं के लौह परिमाण का नियमन	शारीर वृद्धि का निरोध, त्वचाविकार

---

१. 'गन्धः शुद्धो गरविषहरः क्षुद्रकुष्ठेभसिंहः
कासं श्वासं हरति नितरां दद्रुदावानलश्च ।
आधिव्याधिप्रशमनपटुः काममामं निहन्याद्
दिव्यां दृष्टिं वितरतितरां जाठराग्निं प्रसूते ॥'

—र. त. ८ तरंग

द्वितीय अध्याय

पाचन

पाचन के द्वारा अविलेय और अप्रसार्य आहारद्रव्य विलेय एवं प्रसार्य हो जाते हैं जिससे वे आसानी से शोषित हो सकें। यह क्रिया मुख्यतः रासायनिक है और पाचक रसों में कुछ पदार्थों की उपस्थिति पर निर्भर रहती है जिन्हें 'किण्वतत्त्व' (Enzymes) कहते हैं। इसके अतिरिक्त इस प्रकार की क्रिया कुछ जीवाणुओं के द्वारा भी होती है जिसे 'किण्वीकरण' कहते हैं। आन्त्र में उपस्थित ऐसे जीवाणुओं को 'सेन्द्रिय किण्व' तथा अनेक पाचक रसों के निर्जीव पदार्थों को 'निरिन्द्रिय किण्व' कहते हैं। इस प्रकार किण्वतत्त्व की परिभाषा निम्नांकित रूप से की जा सकती है :—

'किण्वतत्त्व' एक निरिन्द्रिय विलेय किण्व है जो प्राणिज एवं औद्भिद कोषाणुओं से उत्पन्न होता है और जिसकी क्रिया उन कोषाणुओं की जीवन-क्रिया से पूर्णतः स्वतन्त्र होती है। इनकी क्रिया निरिन्द्रिय परिवर्त्तकों के समान है, अतः उन्हें सेन्द्रिय या प्राणिज 'परिवर्त्तक' कहते हैं जो कुछ शारीर प्रतिक्रियाओं के वेग को उत्तेजित करते हैं। वह सजीव कीटाणुओं द्वारा उत्पन्न होते हैं और प्रायः जीवन-सम्बन्धी सभी रासायनिक प्रक्रियाओं में सहायक रूप में आवश्यक होते हैं। इसके अतिरिक्त कुछ विघटनात्मक परिवर्तनों में भी मुख्य कारण होते हैं।

किण्वतत्त्वों का वर्गीकरण

(क) क्रिया के स्वरूप के अनुसार—

१. जलविश्लेषक किण्वतत्त्व यथा लालागत किण्वतत्त्व।

२. ओषजनीकरण ,,—यथा मूत्राम्लनिर्मापक ,,

३. निरामीकरण ,,—जो आमिषाम्लों से आम-समूह को पृथक् करता हैं।

४. स्कन्दनीय किण्वतत्त्व—जो विलेय मांसतत्त्व को अविलेय में परिवर्तित कर देता है।

(ख) क्रिया के अधिष्ठान के अनुसार—

१. बहिःकोषाणवीय २. अन्तःकोषाणवीय

(ग पाच्य आहारद्रव्य के अनुसार—

१. शाकतत्त्व विश्लेषक २. मांसतत्त्व विश्लेषक

(क) मांसतत्त्वीय—जो मांसतत्त्व के अणुओं पर क्रिया करते हैं।

(ख) मांसजातीय—जो अन्य मांसजातीय पदार्थों पर क्रिया करते हैं।

३. स्कन्दनीय ४. मेदोविश्लेषक ५. आवर्त्तक

किण्वतत्त्वों के साधारण लक्षण

किण्वतत्त्व जल, ग्लिसरीन के तनु विलयन एवं लवणविलयन में घुलनशील हैं। वह तनु मद्यसार में घुल जाते हैं, किन्तु उसकी अधिकता होने पर अवक्षिप्त हो जाते हैं। इनके निम्नलिखित लक्षण होते हैं :—

१. घनीय अवस्था (Colloidal State)—किण्वतत्त्व अल्प-प्रसार्यता तथा उच्च भार के घनीय विलयन द्रव्य हैं।

२. जनकरूप (Zymogens)—बहिःकोषाणवीय किण्वतत्त्व कोषाणुओं के भीतर जनककणों के रूप में रहते हैं।

३. सह–किण्वतत्त्व (Co–enzymes)—किण्वतत्त्वों की क्रिया में यह सहायक होते हैं।

४. पूर्ण क्रियावैशिष्ट्य (Specifity of enzyme action)—इनकी क्रिया विशिष्ट पदार्थों पर ही होती है, सब द्रव्यों पर नहीं। इसे 'तालकुञ्जिका क्रिया' (Lock and key action) भी कहते हैं। कुछ किण्वतत्त्व समान यौगिकों के सम्पूर्ण वर्ग पर कार्य करते हैं, किन्तु विभिन्न तीव्रता से। इसे आपेक्षिक क्रिया कहते हैं।

५. तापक्रम का प्रभाव—

शरीर के स्वाभाविक तापक्रम पर इनकी क्रिया सर्वोत्तम होती है। अधिक तापक्रम होने से इनकी क्रिया नष्ट हो जाती है। शून्य तापक्रम पर वह निश्चेष्ट रहते हैं, किन्तु तापक्रम की वृद्धि के अनुसार उनकी क्रिया में भी वृद्धि होने लगती है।

६. उदजन केन्द्रीभवन का प्रभाव :—

अधिकांश किण्वतत्त्वों की क्रिया ४.५ से ७.५ उदजन केन्द्रीभवन पर सर्वोत्तम होती है। बहुत अधिक या न्यून होने पर उनकी क्रिया नष्ट होती है।

७. अक्षयता : (Inexhaustibility)

यदि समय दिया जाय तो किण्वतत्त्व की अल्प मात्रा भी आहार्य द्रव्य के अधिक परिमाण पर कार्य करती है। इसकी क्रिया निरिन्द्रिय परिवर्त्तकों के समान होती है। यदि किण्वतत्त्व की मात्रा बढ़ा दी जाय तो क्रिया शीघ्रता से होती है। इस प्रकार क्रिया का वेग किण्वतत्त्व के परिमाण के अनुपात से होता है।

८. विपर्ययात्मक क्रिया—(Reversible action)

किण्वतत्त्व की क्रिया सदा विपर्ययात्मक होती है। यथा जब किण्वतत्त्व के द्वारा मेद वसाम्ल और ग्लिसरीन में परिवर्तित हो जाता है तब इन दोनों पदार्थों के मिलने से कुछ मेद भी प्रस्तुत होता है।

९. क्रिया की अपूर्णता—

उपर्युक्त विपर्ययात्मक क्रिया के कारण कुछ आहार्य द्रव्य सदैव अवशिष्ट रहता है, अतः क्रिया सदा अपूर्ण रहती है। इसके विपरीत, निरिन्द्रिय परिवर्तकों की क्रिया कुछ हद तक अधिक पूर्ण होती है। इसीलिए मांसतत्त्व के अणुओं पर मांसविलायक किण्वतत्त्व की अपेक्षा अम्लों का प्रभाव अधिक पूर्ण होता है।

१०. प्रतिकिण्वतत्त्व (Anti-enzymes)

जब किण्वतत्त्व रक्त में प्रविष्ट किये जाते हैं तब शरीर में विशिष्ट प्रतिकिण्वतत्त्व उत्पन्न होते हैं जो उसकी विनाशक क्रिया से अंगों की रक्षा करते हैं।

११. आत्मपरिवर्तक—

किण्वतत्त्व अपनी ही क्रिया से कुछ ऐसे पदार्थ उत्पन्न करता है जो इसकी क्रिया को उत्तेजित करते हैं।

किण्वतत्त्व की क्रिया पर प्रभाव डालने वाले कारण :—

(क) आहार्य द्रव्य की सान्द्रता—

कुछ सीमा तक आहार्य द्रव्य की सान्द्रता के अनुसार किण्वतत्त्व की क्रिया का वेग बढ़ जाता है।

(ख) किण्वतत्त्व की सान्द्रता—

किण्वतत्त्व की मात्रा पर पाचन का परिमाण निर्भर नहीं रहता क्योंकि किण्वतत्त्व की अल्प मात्रा से ही अपरिमित आहार्यद्रव्य पर क्रिया हो सकती है, किन्तु किण्वतत्त्व की मात्रा के अनुपात से ही उसकी क्रिया का वेग होता है।

कोषाणवीय:—(Intracellular or kathepsins)

शरीर के प्रत्येक कोषाणु में अन्तः कोषाणवीय किण्वतत्त्व रहता है जिससे आत्मविलयन होता है। कोषाणु में मांसतत्त्वविश्लेषक किण्वतत्त्व रहता है जिसे कोषाणवीय किण्वतत्त्व कहते हैं। इसका कार्य किंचित् अम्ल प्रतिक्रिया में अच्छी तरह होता है। अन्तःकोषाणवीय किण्वतत्त्व से तन्तुओं के केवल मांसतत्त्व का ही पाचन नहीं होता बल्कि शर्करा तथा मेद का भी पाचन होता है।

आहारोपयोगी द्रव्यों का अर्वाचीन गुण विश्लेषण—

आहारद्रव्य	मांसतत्त्व	स्नेह	शर्करा	कैलोरी (ताप)	जीवनीय द्रव्य		
					ए.	बी.	सी.
नींबू	०·१४	०·१४	०·८८	५	......	+	+++
नासपाती	०·०९	०·०३	२·१९	१०	......	+	+
अनार	०·१८	....	०·१९	२	......	+	+
लीची	०·८४	०·०७	१·९०	१२	......	+	++
आम	०·०४	०·२२	५·२०	२३	+	...	++
अमरूद	०·३७	०·२०	२·२७	१२	......	+	+
तरबूज	०·११	०·०६	१·९०	९	......	......	++
आलूद	०·७०	०·०४	८·१५	३९	कम	+	+से++
चुकन्दर	०·३४	०·०३	१·७५	९	,,	+	++
प्याज	०·३७	०·०३	३·०६	१४		+	++
लहसुन	१·९२	०·०३	७·९०	४०	+	+	++
मूली	०·२५	०·०३	२·३४	१०	+से++	++	++
गाजर	०·२८	०·०३	०·९६	५	कम	+	+
शलगम	०·३४	०·०३	१·२५	७	,,	++	+
करमकल्ला	०·३९	०·०२	१·२७	७	+++	++	+++
टमाटर	०·५०	०·०३	१·२७	६	++	+++	+++
गोभी	०·५०	०·०६	[illegible]·६७	९	+	+	+
ककड़ी	०·१७	०·०२	०·५७	३	......	+	++
गोदुग्ध	०·९४	१·०२	१·३६	१८	++	++	+
स्त्रीदुग्ध	०·४२	१·५०	०·७५	१८	+से++	+	+
मलाई	०·७०	५·२४	१·२७	५५	+++	+	......
मट्ठा(मक्खनयुक्त)	०·८५	०·१४	१·३६	१०	+	+	+
मट्ठा (,, रहित)	०·९६	०·०८	१·४४	१०	+	+	+
दधि	१·४०	१·००	०·८०	१८	++	+	+
भैंस का दूध	१·३५	२·१८	१·२४	३०	+++	+	+
बकरी का ,,	१·२१	१·१३	१·२१	२०	+++	+	+
भेड़ का ,,	१·५०	२·००	१·४१	३०	+++	+	+
तेल महुआ	....	२८·००	....	२५२	ब. कम		
,, नारिकेल	....	,,	....	,,	,,		
,, अलसी	....	,,	....	,,			
,, जैतून	....	,,	....	,,			
,, सरसों	....	,,	....	,,			
तैल तिल	....	२८·००	....	२५२			
,, विनौले	....	,,	....	,,			
,, कोकोजम	....	,,	....	२१४	+	+	

आहारद्रव्य	मांसतत्त्व	स्नेह	शर्करा	कैलोरी (ताप)	जीवनीय द्रव्य		
					ए.	बी.	सी.
चीनी	………	………	२८.३	११३			
शक्कर	………	,,	२६.९	१०८			
गुड़	०.०८	………	२५.०	८१	०	कम	—
मधु	०.११	………	२०.७१	९७	+	+	०
साबूदाना	२.८	०.०४	२२.०	—			
गन्ना	०.४२	०.१६	६.२०	२८			
गेहूँ का मैदा	३.१४	०.३७	२१.५४	१०२	०	+ +	०
,, आँटा	३.९०	०.५४	२०.३५	१०२	+	+	+
सूजी	४.२०	०.६८	१४.२०	८०	+	+ +	०
यव	२.९७	०.६२	२०.६२	१०	+	+ +	०
चावल	२.३०	००.८५	२२.३०	९९	+	+	०
,, धोया	१.६२	०.१५	२६.३४	११३	०	०	०
,, संस्कृत	१.७९	०.१३	२६.०९	११३	०	+	०
बजरी	२.७८	०.४६	२३.३५	१०९	+से++	+ +	०
जई	३.३७	[illegible]३	१९.८२	११५	+	+ +	०
मकई	२.१३	०.४८	२०.८०	९६	+ +	+ +	०
अरहर	६.४४	०.५०	………	११२	+	+ +	०
चना	६.१७	१.४	………	१२०	+	+ +	०
उड़द	६.९१	०.२२६	………	११३	+	+ +	०
मसूर	७.५६	०.१९	………	११२	+	+ +	०
मूंग	७.२	०.२२५	………	११३	+	+ +	०
बादाम	५.२६	१५.९६	४.३०	१८२	कम	+ +	०
गोला	१.६१	१४.३१	७.९०	१६७	+	+ +	०
अखरोट	७.३०	१०.९२	६.९०	१५५	कम	+	०
मुनक्का	०.४८	०.०९	११.९९	५०	……	……	……
खजूर	०.४५	०.०३	१९.७३	८१	……	+	……
अञ्जीर	०.५६	०.१४	१५.९९	६७	……	+	……
इमली	०.३९	………	८.८९	३७	……	+	+
नारङ्गी	०.२५	०.०३	२.६९	१२	+	+	+++
सेव	०.०९	०.०६	३.५४	१५	……	+	+
केला	०.४५	०.०३	२.२६	११	कम	+	+
अंगूर	०.१७	०.०३	३.९३	१७	……	+	कम

शूक और शिम्बी वर्ग के प्रधान धान्यों का रासायनिक संगठन

	नाम	मांसतत्त्व	स्नेह	शाकतत्त्व	खनिज	जल
शूक वर्ग	१. गेहूँ	१२·४	२·१८	७·९२	२·२७	१२·८३
	२. चोकर	१६·४	३·५	४३·६	६·०	११·५
	३. चावल	६·२६	०·८	७८·८	१·२३	११·५
	४. यव	८·९२	१·९०	७६·१	२·३	१२·३
	५. मकई	९·५२	४·४४	६८·९	३·७५	११·५
वैदल वर्ग	१. मूँग	२३·६२	२·६९	५३·५५	३·५७	१०·८७
	२. अरहर	२७·६७	३·३१	२७·२७	५·५	१०·८
	३. मसूर	२५·४७	३·०	५५·३	३·३३	१०·२३
	४. चना	१९·९४	४·३१	५१·१३	३·७२	१०·७
	५. उड़द	२२·३२	१·९५	५५·२२	३·०	१७·५०
	६. मटर	२१·०	१·८	६[illegible]	२·६	१३·०
कन्द	आलू	१·२	०·१	१९·७	०·९	७६·७
	रतालु	१·६	०·५	२४·३	०·७	७२·९
	प्याज	१·	०·३	९·३	०·६	८९·१
	मूली	१·४	०·१	४·६	०·९	९०·८
	गाजर	०·५	०·३	१०·१	०·९	८५·७
	चुकन्दर	०·५	०·१	१४·०	०·९	८३·९
	शलजम	०·९	०·१५	६·८	०·८	९३·४
	कशेरुक	४·१	०·१०	१७·६	१·६	७५·१
शाक	बन्दगोभी	१·८	०·४	५·८	१·३	८९·६
	फूलगोभी	२·२	०·४	४·७	०·८	९०·७
	टमाटर	१·३	०·२	५·०	०·७	९६·९
	खीरा	०·८	०·२	३·१	०·५	९५·४
	केला	१·३	०·६	२२·०	०·८	७५·३
	बैंगन	०·८९	०·९४	३·४८	०·२६	९०·९८
	भिण्डी	१·९६	१·१	५·७२	०·८	९०·४०
	कद्दू	०·९०	१·०	३·९६	०·७	९३·४०

पदार्थ	जल	शाकतत्त्व	मांसतत्त्व	स्नेह	कैलोरी ताप
	प्र० श०	प्र० श०	प्र० श०	प्र० श०	प्र० श०
गेहूँ	१०.२०	१९.६	१२.२५	२.१७	४.०१०
,, आटा	९.८२	२.३३	१४.५६	३.३९	४.०[illegible]३
मकई	१.००	१.७७	११.०६	५.३	४.[illegible]२
,, आटा	९९.४	१.५२	९.५०	४.४१	४.०५७
अरहर की दाल	९.७०	३.५८	२२.३८	१.५१	४.०६७
चने की दाल	९.००	३.५०	२१.८८	४.८१	४.९०
उड़द की दाल	९.९५	३.९६	२४.७५	०.७५	४.०२६
मसूर की दाल	९.७८	४.२३	२६.४४	०.६७	४.०६३
मटर की दाल	९.८२	४.२२	२६.३८	०.९०	४.०४१
बर्मा का चावल	८.९५	१.२६	७.८८	०.४२	३.८२३
रंगूनी ,,	११.५९	१.२९	८.०६	०.४३	३.८१८
नया ,,	१०.८२	१.२३	७.६९	०.१९	३.८१
पुराना ,,	११.६९	१.१९	७.४४	०.२९	३.८०१
मूंग की दाल	९.८०	४.०९	५.५६	०.८५	४.०५१

दूध	मांसतत्त्व	स्नेह	शर्करा	जीवनीय द्रव्य		
	प्र० श०	प्र. श.	प्र. श.	ए०	बी०	सी०
गो दुग्ध	३.३	३.६	४.९	+ + +	+ +	+
स्त्री ,,	१.४४	५.२४	२.६४	+ + +	+	+
भेड़ ,,	५.२८	७.०४	४.९	+ + +	+	+
बकरी ,,	४.२६	४.००	४.२६	+ + +	+	+
भैंस	४.८	७.६७	४.३६	+ + +	+	+

आटा	गेहूँ	यव	जई	चावल	मटर	आलू
जल	१३.६	१३.८	१२.४	१३.१	१४.८	७६.०
प्रोटीन	१२.४	११.१	१०.४	७.९	२३.७	२.०
वसा	१.४	२.२	५.१	०.९	१.६	०.२
श्वेतसार	६७.९	६४.९	५७.८	७६.५	४९.७	२०.६
सेल्युकोज	२.५	५.३	११.२	०.६	७.५	०.७
खनिजलवण	१.८	२.७	३.०	१.०	३.०१	१.०

नाम	मांसतत्त्व	वसा	शाकतत्त्व	खनिज	जल
बादाम	२१.०	५४.९	१७.२	२.३	४.६२
अखरोट	१५.५७	५७.४३	१३.०८	१.७	१२.२
पिश्ता	२२.६	५४.८	१५.६	२.८	४.२

लालिक पाचन (Salivary digestion)

लालाग्रन्थि—

लालास्राव हन्वधरीय, जिह्वाधरीय तथा कर्णमूलिक इन तीन मुख्य ग्रन्थियों के द्वारा होता है। इनमें पूर्वोक्त दो ग्रन्थियाँ अधोहन्वस्थि के अन्तः-पृष्ठ में स्थित रहती हैं तथा अन्तिम ग्रन्थि कर्णमूल में स्थित रहती है और शंखास्थि से बँधी रहती है। ये ग्रन्थियाँ अनेक छोटे-छोटे कोष्ठों में विभक्त रहती हैं जिन्हें अनुखण्ड कहते हैं और इन्हीं अनुखण्डों के समूह से एक ग्रन्थि का निर्माण होता है। प्रत्येक अनुखण्ड से एक नलिका निकलती है जो इसी प्रकार की अन्य नलिकाओं से मिलकर बड़ी नलिकाएं बनाती है। ये बड़ी नलिकाएँ भी परस्पर मिल कर मुख्य नलिका बनाती हैं जो मुख के भीतर खुलती है। क्षुद्र नलिकाएं चपटे कोषाणुओं से तथा बृहद्-नलिकायें घनाकार या स्तम्भाकार कोषाणुओं से आच्छादित रहती हैं। बृहद् नलिकाओं की आवरक आधारकला के बाहर की ओर लसीकावकाश तथा केशिकायें पायी जाती हैं। यहाँ पर कुछ स्वतन्त्र पेशीसूत्र भी रहते हैं।

प्रत्येक कोष्ठ में नलिका से लगी हुई एक आधारकला होती है जिस पर दो प्रकार के स्रावक कोषाणु स्थित रहते हैं जिन्हें स्नैहिक और श्लैष्मिक कोषाणु कहते हैं। इस कला के चारों ओर केशिकाओं का जाल रहता है। स्नैहिक कोषाणुओं में बहुत सूक्ष्म लालागत किण्वतत्त्वजनक कण होते हैं जि से लालागत किण्वतत्त्व तथा अलब्यूमिन की उत्पत्ति होती है। ये कण रसस्राव के अनन्तर लुप्त हो जाते हैं। श्लैष्मिक कोषाणुओं में बड़े-बड़े श्लेष्म-जनक कण होते हैं जिनसे श्लेष्मा का स्राव होता है। रसस्राव के बाद ये कण छोटे हो जाते हैं और एक तृतीय प्रकार के कोषाणु, जिन्हें अर्द्धचन्द्र कोषाणु कहते हैं, अधिक स्पष्ट हो जाते हैं। यह कोषाणु आधारकला के बाद अर्द्ध-चन्द्र समूहों में स्थित होते हैं। कुछ लोग अर्द्धचन्द्र कोषाणुओं को प्रकार और स्राव की दृष्टि से स्नैहिक मानते हैं तथा कुछ लोग मानते हैं कि वे श्लेष्मस्रावी हैं।

यह स्नैहिक और श्लैष्मिक कोषाणु विभिन्न लालाग्रन्थियों में विभिन्न अनुपातों में पाये जाते हैं। स्तनधारी जीवों की कर्णमूलिक ग्रन्थियों में केवल स्नैहिक कोषाणु पाए जाते हैं। हन्वधरीय तथा जिह्वाधरीय ग्रन्थियों में दोनों प्रकार के कोषाणु होते हैं किन्तु प्रथम में स्नैहिक एवं द्वितीय में श्लैष्मिक कोषाणुओं का आधिक्य होता है।

विश्राम काल में ग्रन्थि अधिकसंख्य कणों से परिपूर्ण रहती है किन्तु रसस्राव के बाद इनकी संख्या बहुत कम हो जाती है, केवल नलिकामुख के

निकट कुछ कण देखे जाते हैं। अतः यह अनुमान किया जाता है कि ये कण ग्रन्थि के स्राव का एक अंश बनाते हैं और स्वयं कोषाणु के ओजसार से निर्मित होते हैं। यह स्राव के एक प्रधान सेन्द्रिय अवयव के रूप में रहते हैं। अनुमानतः यह कण सक्रिय अवयवों के पूर्ववर्ती जनक के रूप में रहते हैं जिन्हें 'लालिक किण्वतत्वजनक' (Ptyalinogen) तथा श्लेष्मजनक (Mucinogen) कहते हैं। यह एक नवीन यौगिक हैं जो रक्त में उस रूप में नहीं मिलते, बल्कि रक्त द्वारा आनीत जटिल पदार्थों से ग्रन्थि की विशिष्ट क्रियाओं के द्वारा निर्मित होते हैं। अतः इनकी निर्माणविधि लवण और जल के समान पूर्ण भौतिक प्रसारण की नहीं है, बल्कि लालिक किण्वतत्त्व तथा श्लेष्मा के सक्रिय उत्पादन की है।

लालास्राव का नाडीजन्य सञ्चालन—

लाला का स्राव मुख में निरन्तर नहीं होता रहता, बल्कि विशिष्ट अवस्थाओं में इसका स्राव होता है और शरीर की आवश्यकता के अनुसार इसकी मात्रा और गुण में भी परिवर्तन होता रहता है। इससे सिद्ध है कि स्राव आत्मजात नहीं है, किन्तु मस्तिष्क में स्थित नियन्त्रक केन्द्र के अधीन है।

नाड़ीजन्य संचालन के तीन भाग हैं :—

(१) संज्ञावह नाड़ियाँ, (२) केन्द्र, (३) चेष्टावह नाडियाँ।

(१) संज्ञावह नाडियाँ—इसकी संज्ञावह नाडियाँ कण्ठरासनी तथा रासनी नाडियाँ हैं। यह देखा गया है कि जब मुख में तीक्ष्ण द्रव्यों के द्वारा इन सूत्रों को उत्तेजित किया जाता है तब लालास्राव होने लगता है। जब इन सूत्रों को काट दिया जाता है तब भी उनके केन्द्रीय भागों को उत्तेजित करने से लालास्राव होता है।

(२) केन्द्र—यह मस्तिष्क में चतुर्थ गुहा के तल में स्थित होता है तथा निम्नलिखित कारणों से उत्तेजित होता है :—

(१) उपर्युक्त स्वादग्राही संज्ञावह नाड़ियों के द्वारा

(२) भोजन के दर्शन और गन्ध से इसमें दृष्टिनाडी और घ्राणनाडी के द्वारा उत्तेजना जाकर लाला केन्द्र को उत्तेजित करती है और मुख से लालास्राव होने लगता है।

(३) शरीर के अन्य संज्ञावह नाड़ियों के द्वारा

गृध्रसी नाडी के विच्छिन्न केन्द्रीय भाग को उत्तेजित करने से लालास्राव की प्रवृत्ति होती है। हृल्लास और वमन के समय भी प्राणदा नाड़ी के औद-

रिक सूत्र उत्तेजित हो जाते हैं और लालाकेन्द्र को प्रत्यावर्तित रूप से प्रभावित करते हैं और लालास्राव होने लगता है।

(४) मानस भाव—स्वादिष्ट भोजन का ध्यान करने से लालास्राव होने लगता है। इसके विपरीत भय, शोक इत्यादि मानस कारणों से केन्द्र की क्रिया रुक जाती है और मुंह सूख जाता है। इन अवस्थाओं में न केवल लालीय बल्कि आमाशयरस का स्राव भी रुक जाता है और क्षुधा जाती रहती है। पैवलो ने इसीलिए कहा है 'क्षुधा ही रस है'। इसके विपरीत, हर्ष, निश्चिन्तता इत्यादि अवस्थाओं में लाला एवं आमाशय रस दोनों का स्राव होता है और पाचन भी अच्छा हो जाता है। जिथौट ने कहा है—'हास्य सर्वोत्तम पाचन है'।

(५) रक्त के कुछ घटकों के द्वारा केन्द्र साक्षात् रूप से भी उत्तेजित हो जाता है। यथा श्वासावरोध में, रक्त में, कओ^2 के आधिक्य से केन्द्र उत्तेजित होकर अधिक लालास्राव होने लगता है और इसीलिए मुख में फेनागम पाया जाता है।

(६) कुछ औषध—यथा पाइलोकार्पाइन और फिजोस्टिग्मिन शीर्षण्य या प्रसांवेनिक नाड़ियों के अग्रभाग को उत्तेजित करके लालास्राव को बढ़ाते हैं। इसके विपरीत, ऐट्रोपीन इन नाड़ीभागों को शून्य करके लालास्राव को रोक देता है।

(३) चेष्टावह नाड़ियाँ :—

यह दो प्रकार की हैं—(क) शीर्षण्य (ख) सांवेदनिक

(क) शीर्षण्य नाड़ियों में हन्वधरीय तथा जिह्वाधरीय के लिए रसग्रहा कर्णान्तिका (Chorda tympani) और कर्णमूलिक ग्रन्थि के लिए कण्ठरासनी नाड़ी (Glossopharyngeal nerve) है। रसग्रहा कर्णान्तिका के चेष्टावह स्रावक सूत्र लैंग्ले ग्रन्थि तथा हन्वधरीय नाड़ीग्रन्थि के आसपास शाखाएँ देकर समाप्त हो जाते हैं। लैंग्ले ग्रन्थि के फिर नये सूत्र (अनुग्रन्थिक) निकलते हैं जो हन्वधरीय ग्रन्थि में समाप्त हो जाते हैं। इसी प्रकार हन्वधरीय ग्रन्थि से निकले हुए सूत्र एक जाल के रूप में कोषाणुओं के सम्पर्क में जाकर समाप्त हो जाते हैं। कर्णमूलिक ग्रन्थि के लिए चेष्टावह स्रावक सूत्र कण्ठरासनी नाड़ी की पटहीय शाखा के साथ चलते हैं और उसके बाद लघु उत्तान अश्मकूटीय के साथ पटहीय नाड़ीचक्र तक जाकर कर्णग्रन्थि में समाप्त हो जाते हैं। यहाँ से नये सूत्र (अनुग्रन्थिक) निकल कर पंचम शीर्षण्य के द्वितीय भाग की कर्णशंखीय शाखा के साथ जाते हैं और इस प्रकार कर्णमूल ग्रन्थि में जाकर वह सूत्र समाप्त हो जाते हैं।

(ख) सांवेदनिकः—

सांवेदनिक नाडीसूत्र सुषुम्ना के प्रथम, द्वितीय तथा तृतीय उरस्य पूर्व-मूलों से निकल कर प्रथम उरस्य ग्रन्थि से होते हुए एक चक्र बनाते हैं। उसके बाद अधःग्रैवेयक ग्रन्थि से होते हुए ऊर्ध्व ग्रैवेयक ग्रन्थि में समाप्त हो जाते हैं। यहाँ से नये सूत्र (अनुग्रन्थिक) निकल कर बहिर्म्रतृका धमनी की शाखाओं के चारों ओर एक जाल बनाते हैं और इस प्रकार तीनों लालाग्रन्थियों में इसके सूत्र जाते हैं।

इन नाड़ियों की चेष्टावाहकता इस बात से सिद्ध है कि यदि लालास्राव संज्ञावह नाड़ियों की उत्तेजना के कारण हो रहा हो तो रसग्रहा के काट देने से वह शीघ्र ही बन्द हो जाता है। साथ ही विच्छिन्न प्रान्तीय भाग को उत्तेजित करने से पुनः लालास्राव होने लगता है।

रसग्रहा और सांवेदनिक स्रावों में अन्तर

रसग्रहा कर्णान्तिका को उत्तेजित करने पर लालास्राव की प्रवृत्ति होने लगती है और उसका परिमाण उत्तेजक की शक्ति के अनुसार होता है और वह तब तक रहता है जब तक कि उत्तेजक रहता है। कुछ ही मिनटों में ग्रन्थि के भार से कई गुना अधिक लाला उत्पन्न होती है। लाला में उपस्थित खनिज लवणों की मात्रा उत्तेजक की शक्ति के अनुपात से होती है। किन्तु सेन्द्रिय अवयवों (लालिक किण्वतत्त्व और श्लेष्मा) का परिमाण ग्रन्थि की प्राक्तन दशा पर निर्भर रहता है। यदि ग्रन्थि पहले विश्रामकाल में हो तो उत्तेजक की शक्ति बढ़ाने में लालिक किण्वतत्त्व तथा श्लेष्मा का परिमाण भी बढ़ जाता है। इसके विपरीत, यदि ग्रन्थि पूर्वकालिक स्राव के कारण रिक्त हो चुकी हो तो बलवान उत्तेजक से भी इनका स्राव नहीं हो पाता।

इस प्रकार रसग्रहा की उत्तेजना से हमें प्रचुर, तनु और जलीय स्राव मिलता है जो उत्तेजना की उपस्थिति तक होता रहता है।

सांवेदनिक नाड़ियों की उत्तेजना से हन्वधरीय तथा जिह्वाधरीय ग्रन्थियों से सान्द्र, पिच्छिल और स्वल्प स्राव होता है जो केवल १५ सेकेण्ड तक रहता है और बाद में नाड़ी को उत्तेजित करने पर भी धीरे-धीरे स्राव कम होने लगता है और अन्त में बिल्कुल बन्द हो जाता है। सांवेदनिक सूत्रों की उत्तेजना से कर्णमूल ग्रन्थि से स्राव नहीं होता, केवल आभ्यन्तरिक रचनात्मक परिवर्तन होते हैं अर्थात् लालिक किण्वजनक कणों का लोप हो जाता है।

इस क्रियासम्बन्धी भेद का कारण यह है कि लालास्रावक सूत्र दो प्रकार के होते हैं :—

(१) स्रावचेष्टावह सूत्र । (२) पोषक सूत्र ।

पोषकसूत्र किण्वों की उत्पत्ति से सम्बद्ध हैं और जब वे उत्तेजित होते हैं तो ग्रन्थि में विशिष्ट परिवर्त्तन उत्पन्न करते हैं। इससे लालिक किण्वतत्त्व-जनक तथा श्लेष्मजनक के कण टूट जाते हैं और उनसे लालिक किण्वतत्त्व और-श्लेष्मा उत्पन्न होता है। इसीलिए उन्हें 'विश्लेषक नाड़ीसूत्र' भी कहते हैं।

स्रावचेष्टावह सूत्रों को उत्तेजित करने से ऐसा परिवर्त्तन होता है कि ग्रंथि के बाहर की ओर स्थित लसीका से जल आसानी से आन्तरिक कोषाणुओं में चला आता है और वहाँ से कोष्ठ के केन्द्रस्थित नलिका-मुख में पहुँच जाता है और इस प्रकार प्रचुर परिमाण में स्राव उत्पन्न होता है। जब ये सूत्र उत्तेजित नहीं होते तो जल ग्रन्थि के कोषाणुओं के भीतर ही रहता है क्योंकि केन्द्रस्थ नलिका-मुख तक पहुँचने में कोषाणुओं के सीमानियामक स्तर के कारण रुकावट होती है। इन सूत्रों की उत्तेजना से यह रुकावट कम हो जाती है और कोषाणुओं का स्तर अधिक प्रवेश्य हो जाता है। इस प्रकार अवरोध कम होने से जल आसानी से नलिका-मुख में चला जाता है। उसमें लालिक किण्वतत्त्व और श्लेष्मा भी मिला होता है जो लालिक-किण्वतत्त्वजनक तथा श्लेष्मजनक कणों से पोषक सूत्रों की क्रिया के द्वारा बनते हैं।

रसग्रहा कर्णान्तिका नाड़ी में स्रावचेष्टावह सूत्र अधिक और पोषक सूत्र कम होते हैं। अतः उसकी उत्तेजना से लाला का प्रचुर परिमाण में स्राव होता है, क्योंकि ग्रन्थि का बाह्यतल नलिका में आसानी से जाने लगता है। साथ ही पोषक सूत्रों के कम रहने के कारण इस स्राव में सेन्द्रिय घटक उत्तेजना की पहली अवस्था में ही होते हैं। रसग्रहा कर्णान्तिका का ग्रन्थियों पर पोषक प्रभाव भी होता है जो आघातज स्राव के द्वारा प्रत्यक्ष है। जब एक ओर की नाडी काट दी जाती है तो २–३ दिनों के बाद लाला का निरन्तर स्राव होने लगता है उसे आघातज स्राव कहते हैं। कुछ समय के बाद दूसरे पार्श्व की ग्रन्थि से भी तनु स्राव होने लगता है जिसे 'प्रतिविश्लेषात्मक स्राव' कहते हैं।

इसके विपरीत, हन्वधरीय तथा जिह्वाधरीय ग्रन्थियों में जानेवाले सांवेदनिक सूत्रों में पोषक सूत्र अधिक तथा स्रावचेष्टावह सूत्र कम होते हैं। अतः इसकी उत्तेजना से सान्द्र, पिच्छिल और स्वल्प स्राव होता है।

कर्णमूलिक ग्रन्थि में जानेवाले सूत्र पूर्णतः पोषक हैं और स्रावचेष्टावह सूत्र नितान्त अनुपस्थित रहते हैं। अतः उनकी उत्तेजना से स्राव नहीं होता,

केवल आभ्यन्तरिक रचनात्मक परिवर्त्तन होते हैं अर्थात् कण लुप्त हो जाते हैं। इसका प्रमाण यह है कि उसके बाद कण्ठरासनी नाडी की उत्तेजना से जो स्राव होता है उसमें लालिक किण्वतत्त्व तथा श्लेष्मा अधिक होता है।

लालास्राव की प्रवृत्ति

प्रत्येक प्रकार का यान्त्रिक या रासायनिक उत्तेजक स्राव की प्रवृत्ति में समर्थ नहीं होता। ठंढा बरफ का पानी मुँह में लेने से लालास्राव नहीं होता। इसी प्रकार पत्थर के टुकड़े यदि कुत्ते के मुँह में कुछ दूरी से गिराये जायँ तो यान्त्रिक उत्तेजना प्रबल होने पर भी स्राव नहीं देखा जाता। लाला की मात्रा का जहाँ तक संबन्ध है, भोज्य पदार्थ जितना ही शुष्क होता, लाला का स्राव उतना ही अधिक होता है। इस नियम में दुग्ध अवश्य अपवाद रूप है जिससे अत्यधिक लाला का स्राव होता है। दूसरी ओर, लाला का स्वरूप और गुण-धर्म पदार्थों के स्वरूप के अनुसार होता है। उदाहरण स्वरूप, यदि कुत्ते के मुँह में सूखा बालू रख दिया जाय तो अत्यधिक तनु और जलीय लाला का स्राव होता है, जिसमें घन अवयवों तथा श्लेष्मा का बहुत कम अंश रहता है। इसी प्रकार अन्य हानिकारक द्रव्यों, यथा तीव्र अम्ल, कटु और दाहक क्षार के सेवन से अत्यधिक लाला बनती है, क्योंकि उन द्रव्यों के हानिकारक प्रभाव को नष्ट करने के लिए अधिक लाला की आवश्यकता होती है। दूसरी ओर, यदि उसे कुछ रुचिकर भोज्य पदार्थ यथा—रोटी दिये जायँ, तो पिच्छिल, श्लेष्मल एवं द्रव लाला का स्राव होता है जिसमें घन अवयवों की उपस्थिति पर्याप्त रहती है और जो आहार को क्लिन्न करके निगरण में सहायक होता है। इसी प्रकार मांसचूर्ण और दुर्बल अम्लों से भी लालास्राव होता है, किन्तु मांसचूर्ण के द्वारा लालास्राव में ५ गुना अधिक सेन्द्रिय पदार्थ होते हैं। इस प्रकार आहार की भौतिक अवस्थाओं के अनुकूल अपने को बना लेने की एक विचित्र शक्ति लालाग्रन्थियों में पाई जाती है। यह भी देखा गया है कि तीनों ग्रन्थियों में कर्णमूलिक ग्रन्थि के लिए शुष्कता सर्वोत्तम उत्तेजक है। भौतिक अवस्थाओं के अनुकूल अपने को बनाने की शक्ति केवल शारीर क्रियाओं में ही नहीं, बल्कि मानस भावों में भी देखी जाती है। उदाहरणतः, यदि कुत्ते के मुँह में बालू फेंकने का बहाना करें तो तनु जलीय स्राव और यदि रोटी फेंकने का बहाना करें तो सान्द्र पिच्छिल लालास्राव होता है। इसी प्रकार यदि आहार शुष्क हो तो लाला का अधिक परिमाण और यदि आर्द्र हो तो स्वल्प परिमाण में स्राव होता है।

लालास्राव की उत्पत्ति

यह प्रश्न विचारणीय है कि लालास्राव भौतिक कारणों के परिणामस्वरूप होता है या ग्रन्थियों की शारीर क्रिया के कारण? पहले यह समझा

जाता था कि निःस्यन्दन की भौतिक विधि के द्वारा ही लाला की उत्पत्ति होती है और इसलिए यह ग्रन्थि की रक्तवाहिनियों में प्रवाहित रक्त की मात्रा पर निर्भर रहती है। इस रक्त के ही कुछ उपादान बाहर निःस्यन्दित होकर निकल जाते हैं और इस प्रकार लाला की उत्पत्ति होती है। इस मत की स्थापना के निम्न प्रकार हैं :—

(क) जब रसग्रहा को उत्तेजित किया जाता है तब दो परिणाम दृष्टिगोचर होते हैं :—

(१) रक्तवाहिनियों का प्रसार और परिणामस्वरूप अधिक रक्तप्रवाह
(२) लालास्राव की वृद्धि

(ख) दूसरी ओर, सांवेदनिक सूत्रों की उत्तेजना से—

(१) रक्तवाहिनियों का संकोच और रक्तप्रवाह की कमी
(२) लालास्राव की कमी

अब यह प्रमाणित हो चुका है कि रक्तप्रवाह और स्राव यह दोनों क्रियायें पूर्णतः स्वतन्त्र हैं, किन्तु रसग्रहा में दोनों प्रकार के नाडीसूत्र स्पष्टतया पृथक् पृथक् अवस्थित हैं।

लालास्राव की शारीरिक उत्पत्ति के प्रमाण

लालास्राव सजीव कोषाणुओं की जीवनक्रियाओं के कारण होता है, अतः एक जैविक शारीर प्रक्रिया है। इसके पक्ष में निम्न प्रमाण हैं :—

(१) ऐट्रोपीन प्रयोग

यदि रसग्रहा की उत्तेजना के पूर्व एट्रोपीन का अन्तःक्षेप किया जाय तो रक्तवाहिनियों का प्रसार होने पर भी लालास्राव एक बूँद भी नहीं होता।

(२) शिरश्छेद

यदि प्राणीका शिरश्छेद करने के बाद रसग्रहा को उत्तेजित किया जाय, तो रक्तप्रवाह के अभाव में भी कुछ काल तक लालास्राव होगा।

(३) लाला में रक्त की अपेक्षा लवणों की न्यूनता

यदि लाला केवल निःस्यन्दन विधि से ही उत्पन्न होती तो इसमें रक्त के समान ही खनिज लवणों की उपस्थिति होनी चाहिए, किन्तु लाला में रक्त की अपेक्षा लवण न्यून होते हैं। इससे स्पष्ट है कि कोई ऐसी क्रिया अवश्य है जिससे जल का अंश तो चला आता है, किन्तु लवणों के आगमन में रुकावट होती है।

(४) लालानलियों में धमनी की अपेक्षा भाराधिक्य

यह देखा गया है कि यदि लालानलिका को बन्दकर मुख में लाला के प्रवाह को रोक दिया जाय तो इसका दबाव बढ़ता जाता है और धीरे-धीरे यह धमनी के दबाव से दूना हो जाता है। इससे स्पष्ट है कि स्राव

दबाव का विपर्यय होने पर भी हो सकता है। अतः यह निःस्यन्दन विधि के द्वारा नहीं होता।

(५) सात्मीकरण की वृद्धि

लालास्राव की वृद्धि के साथ सात्मीकरण की वृद्धि भी देखी जाती है। अर्थात् ओषजन अधिक मात्रा में उपयुक्त होता है और कार्बन की अधिक मात्रा उत्पन्न होती है।

लाला का संगठन

जल—९९.४ प्रतिशत

सेन्द्रिय पदार्थ—०.४ ,,

श्लेष्मा

लालाकिण्वतत्त्व

यवशर्करातत्त्व

अलब्यूमिन

ग्लोब्यूलिन

यूरिया

निरिन्द्रिय लवण—०.२ प्रतिशत

सुधा

सोडियम
पोटाशियम
मैग्नेशियम } इनके क्लोराइड, सलफेट, कार्बोनेट और फास्फेट

प्रतिक्रिया—मन्द क्षारीय

क्षारीयता का कारण डाइ—सोडियम हाइड्रोजन फास्फेट तथा विलयन में क ओ[२] की उपस्थिति है।

इसमें कुछ पोटाशियम थायोसाइनाइड भी पाया जाता है, जो एक मल द्रव्य है और धूम्रपान करने वाले व्यक्तियों में धूम्रपान के तुरत बाद लाला में यह अधिक मात्रा में पाया जाता है।

लाला की सूक्ष्मदर्शक परीक्षा के बाद इसमें निम्न अवयवों की उपस्थिति देखी जाती है :—

लालाकण, जीवाणु आहारकण, आवरक कोषाणु, श्लेष्मा, फंगस।

तीनों विभिन्न ग्रन्थियों की लाला के संगठन में भी अन्तर होता है। कर्णमूलिक ग्रंथि का स्राव तनु और जलीय होता है तथा अन्य दो ग्रन्थियों का स्राव सान्द्र और श्लेष्मबहुल होता है, इनमें भी जिह्वाधरीय ग्रन्थि का स्राव विशेष श्लेष्मल होता है।

मात्रा—प्रतिदिन एक व्यक्ति में कुछ १००० से १५०० सी० सी० लाला

का स्राव होता है। चर्वण और धूम्रपान से स्राव बढ़ जाता है। विश्रामकाल में स्राव प्रायः नहीं के बराबर होता है। १० घण्टे के निद्रा काल में कठिनता से १ सी० सी० लाला उत्पन्न होती है।

लाला के कार्य

लाला के कार्य प्रधानतः दो प्रकार के होते हैं :—

(१) यांत्रिक (Mechanical)
(२) रासायनिक (Chemical)

प्रथम कार्य अर्थात् आहार का क्लेदन श्लेष्मा और जल के कारण होता है और द्वितीय कार्य अर्थात् श्वेतसार का पाचन लालिक किण्वतत्त्व के कारण होता है। इनमें भी यांत्रिक कार्य ही प्रधान होता है। इसका प्रमाण यह है कि कुत्ते तथा अन्य मांसाहारी जीवों की लाला में लालिक किण्वतत्त्व अनुपस्थित रहता है। लाला के निम्नांकित कार्य हैं—

(१) शुष्क आहार द्रव्यों को आर्द्र बनाना।
(२) विलेय पदार्थों को घुलाना +।
(३) पृथुल एवं कठिन पदार्थों का क्लेदन और स्नेहन।
(४) मुख का निर्मलीकरण और विषाक्त पदार्थों को बाहर निकालना।
(५) श्वेतसार पर रासायनिक क्रिया और उसका यवशर्करा में परिवर्त्तन।

लालिक किण्वतत्त्व उदासीन या अत्यल्प अम्ल माध्यम में कार्य करता है। इसकी क्रिया उद ४ से उद ९ तक अच्छी होती है। इसकी क्रिया शाकतत्त्व के आवरण पर नहीं होती है, अतः इसका प्रभाव केवल पक्व शाकतत्त्व पर ही होता है। दूसरी बात, इसकी क्रिया शाकतत्त्व पर क्लोरिन की अनुपस्थिति में नहीं होती। अतः लवण की उपस्थिति से इसकी क्रिया में सहायता मिलती है।

लाला के द्वारा निम्नांकित परिवर्त्तन होते हैं :—

श्वेतसार
|
विलेय श्वेतसार (Amylo-dextrin)
|
यवशर्करा (Maltose) — अर्धद्राक्षीन (Erythro-dextrin)
|
यवशर्करा — अर्कद्राक्षीन (Achroo-dextrin)
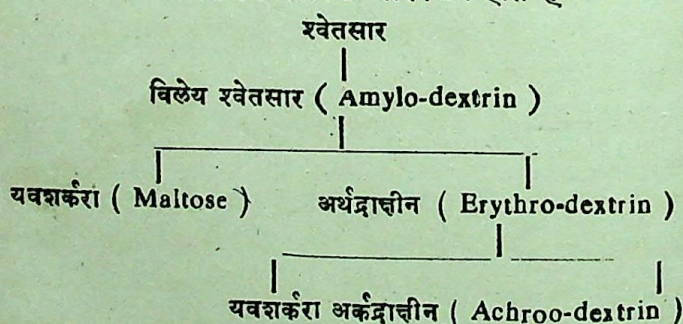
+ 'जिह्वामूलकण्ठस्थो जिह्वेन्द्रियस्य सौम्यत्वात् सम्यक् रसज्ञाने वर्त्तते।'
—सु. सू. २१

लालिक किण्वतत्त्व की क्रिया का मापन

(१) श्वेतसार का एक निर्धारित मात्रा पर लालिक किण्वतत्त्व की क्रिया का अवसर दिया जाता है और इस प्रकार उत्पन्न शर्करा का परिमाण फेहलिङ्ग या पेवी की विधि से निश्चित किया जाता है।

पाचननलिका (महास्रोत)

(ख) पतली काचनलिका के टुकड़ों को आयोडिन से नीले किये हुए श्वेतसार से भर दिया जाता है और कुछ समय के लिए प्रायः आधे घण्टे तक शरीर तापक्रम पर रक्खा जाता है। जैसे जैसे किण्व की क्रिया होती है, नील वर्ण लुप्त होता जाता है और इस प्रकार श्वेतसार के विवर्ण स्तम्भ की लम्बाई से लालिक किण्वतत्त्व कीं श्वेतसार विश्लेषक क्रिया मापी जाती है।

१. कर्णमूलिक ग्रन्थि २. जिह्वा ३. अन्ननलिका ४. आमाशय ५. पित्तकोष ६. अग्न्याशय ७. क्षुद्रान्त्र ८. आरोही बृहदन्त्र ९. अनुप्रस्थ बृहदन्त्र १०. अवरोही बृहदन्त्र ११. कुंडलिका १२. मलाशय १३, उण्डुक १४. अन्त्रपुच्छ।
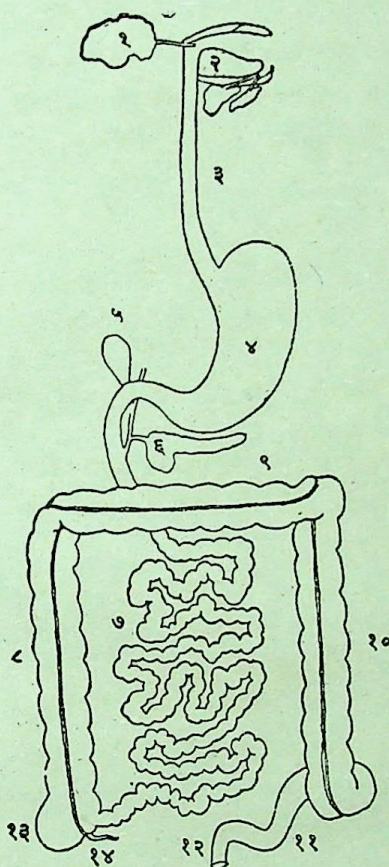
आमाशयिक पाचन (Gastric digestion)

आमाशय की रचना :—आमाशय अन्ननलिका का एक विस्तृत भाग है, जो आशय और पाचन अंग दोनों के रूप में कार्य करता है।[1] इसमें चार स्तर होते हैं—

---

१. 'नाभिस्तनान्तरं जन्तोरामाशय इति स्मृतः।
अशितं खादितं पीतं लीढं चात्र विपच्यते॥'—च० वि० २
—"तत्र आमाशयः पित्ताशयस्य उपरिष्टात् तत्प्रत्यनीकत्वादूर्ध्वगतित्वात् तेजसश्चन्द्र इवादित्यस्य स चतुर्विधस्य आहारस्य आधारः। स च तत्र औदकैर्गुणैः आहारः प्रक्लिन्नो भिन्नसंघातः सुखजरश्च भवति।"—सु. सू. २१

१. स्नैहिक, २. पेशीमय, ३. उपश्लैष्मिक, ४. श्लैष्मिक। स्नैहिक स्तर उदरावरण का ही एक अंश है। पेशीमय स्तर में स्वतंत्र पेशीसूत्र बाह्य, मध्य और अन्य इन तीन स्तरों में विभक्त रहते हैं। बाह्यस्तर के सूत्र अनुदैर्घ्य, मध्यस्तर के अनुप्रस्थ तथा अन्तःस्तर के सूत्र तिर्यक् स्थिति में सन्निविष्ट रहते हैं। पेशीमय स्तर के भीतर उपश्लैष्मिक स्तर होता है, जिसमें बड़ी बड़ी रक्तवाहिनियाँ, रसायनियाँ और नाड़ीचक्र उपस्थित होते हैं। श्लैष्मिक[1] स्तर में ग्रन्थियाँ होती हैं, जिनके तीन प्रकार हैं—

१ हार्दिक ग्रन्थियाँ।

यह बहुत थोड़ी संख्या में हार्दिक द्वार के निकट पाई जाती है।

२. स्कन्धीय ग्रन्थियाँ।

३. मुद्रिकीय।

स्कन्धीय ग्रन्थियाँ स्रावक कोषाणुओं से युक्त हैं जो दो प्रकार के होते हैं—

(क) केन्द्रीय कोषाणु—विश्रामकाल में यह कोषाणु पाचकतत्त्वजनक तथा अभिष्यन्दिजनक के स्थूलकणों से परिपूर्ण रहते हैं। स्राव के बाद ये कण कम हो जाते हैं और भीतर की ओर अवस्थित हो जाते हैं।

(ख) पार्श्विक कोषाणु—यह केन्द्रीय कोषाणु और आधार कला के बीच में रहते हैं। ये विश्रामकाल में फूले हुए तथा स्राव के बाद सिकुड़े हुए दिखाई देते हैं। ये कोषाणु आमाशय रस के उदहरिताम्ल का स्राव करते हैं[2] और केवल स्कन्धीय ग्रन्थियों में ही पाये जाते हैं। मुद्रिकीय ग्रन्थियों में केवल केन्द्रीय कोषाणु होते हैं जिनसे पाचकतत्त्व तथा स्यन्दकतत्त्व युक्त सान्द्र क्षारीय रस का स्राव होता है।

आमाशय के स्राव का नाड़ीजन्य संचालन

इसके तीन भाग हैं:—

(क) संज्ञावह—कण्ठरासनी और जिह्विका नाड़ियाँ

(ख) केन्द्र

(ग) चेष्टावह—प्राणदा

---

१. 'माधुर्यात् पिच्छिलत्वाच्च प्रक्लेदित्वात् तथैव च।
आमाशये संभवति श्लेष्मा मधुरशीतलः॥'—सु. सू. २१

२. 'तत्राप्यामाशयो विशेषेण पित्तस्थानम्।' —च० सू० २०

"तच्च अदृष्टहेतुकेन विशेषेण पक्वामाशयमध्यस्थं पित्तं चतुर्विधमन्नपानं पचति विरेचयति रसदोषमूत्रपुरीषाणि। तत्रस्थमेव च आत्मशक्त्या शेषाणां पित्तस्थानानां शरीरस्य च अग्निकर्मणा अनुग्रहं करोति।"—सु० सू० २१

मानस या क्षुधा रस

कुछ प्राणियों पर प्रयोग करने के बाद यह देखा गया कि यदि कुत्ता क्षुधित न हो तो उसके मुख की श्लेष्मलकला में किसी प्रकार की रासायनिक या यान्त्रिक उत्तेजना रसोत्पादन में असमर्थ होती है। इसी प्रकार उदासीन या अरुचिकर पदार्थों के चर्वण से लालास्राव के अतिरिक्त कोई प्रभाव नहीं होता।

अतः केवल वही द्रव्य रसोत्पादन में समर्थ होते हैं जो रुचिकर रूप में स्वादग्राही नाड़ियों को उत्तेजित करते हैं। सरसों, मिर्चा, मसाले और कटु औषध इसी प्रकार अपना प्रभाव डालती हैं, क्योंकि इन्हें सीधे आमाशय में डालने से यह प्रभाव नहीं देखे जाते। यहाँ तक कि यदि कुत्ता भूखा न हो तो उसके मुँह में मांस डालने से भी कोई स्राव नहीं होता। ऐसी स्थिति में कण्ठरासनी और जिह्विका नाड़ियों की उत्तेजना से भी कोई कार्य नहीं होता। कुत्ता के भूखा रहने तथा अन्नाभिलाष होने पर ही इन नाड़ियों की उत्तेजना से स्राव उत्पन्न होता है। अतः रसोत्पत्ति का उत्तेजक केवल मानस अर्थात् आहार की उत्कट अभिलाषा और उसकी प्राप्ति होने पर सन्तोष और आनन्द का अनुभव है। इसके विपरीत, प्रबल आवेश की अवस्थाओं में अद्रिनिलीन के अधिक स्राव के कारण यह मानस भाव रुक जाता है और रस का निर्माण भी बन्द हो जाता है।[1]

प्रत्यावर्त्तित स्राव

आमाशयिक केन्द्र

यह मस्तिष्क में लाला केन्द्र के निकट स्थित है और स्वादग्राही-नाड़ियों तथा मानसवेगों यथा आहार के ध्यान से उत्तेजित होता है।

चेष्टावह सूत्र

यह प्राणदा की हार्दिक शाखाओं के रूप में है। इसका प्रमाण यह है कि इन सूत्रों के काट देने से केन्द्र को उत्तेजित करने पर भी प्रत्यावर्तित स्राव नहीं होता।

रासायनिक स्राव

प्राणदा नाड़ी का पूर्ण विच्छेद करने पर भी आमाशय में भोजन के

---

१. ईर्ष्याभयक्रोधपरिप्लुतेन लुब्धेन रुग्दैन्यनिपीडितेन।
प्रद्वेषयुक्तेन च सेव्यमानमन्नं न सम्यक् परिपाकमेति॥
मात्रयाऽप्यभ्यवहृतं पथ्यं चान्नं न जीर्यति।
चिन्ताशोकभयक्रोधदुःखशय्याप्रजागरैः॥ —अ० वि० २
तन्मना भुञ्जीत'— —च० वि० १

प्रविष्ट होने पर आमाशय रस का स्राव होने लगता है। यह स्राव चूँकि आमाशयिक केन्द्र की उत्तेजना के कारण नहीं होता, अतः यह समझा जाता था कि यह स्थानीय नाड़ीजन्य क्रियाओं के कारण होता है, किन्तु वस्तुतः ऐसी बात नहीं है क्योंकि निकोटीन के प्रयोग से नाड़ियों को शून्य करने के बाद भी स्राव उत्पन्न होता है। उसके बाद लोगों का विश्वास था कि आमाशय में प्रविष्ट आहार के द्वारा आमाशयिक ग्रन्थियों की यान्त्रिक उत्तेजना के कारण ही यह स्राव होता है किन्तु प्रयोगों द्वारा देखा गया है कि साधारण या तीव्र किसी प्रकार की यान्त्रिक उत्तेजना के कारण स्राव उत्पन्न नहीं होता। अतः प्राणदा नाड़ी का विच्छेद होने के बाद आमाशय में आहार के प्रविष्ट होने पर जो स्राव होता है, वह ग्रन्थियों की रासायनिक उत्तेजना के कारण होता है।

पाचकतत्त्वजन

सभी आहारद्रव्य रसोत्पादन में समर्थ नहीं होते। अतः उत्तेजक विशिष्ट स्वरूप का और निश्चित होता है। रोटी, श्वेतसार और अण्डे का श्वेतभाग इत्यादि आहार द्रव्यों का कोई प्रभाव नहीं होता। इस प्रकार जो द्रव्य रस के उत्पादन में समर्थ होते हैं उन्हें 'पाचकतत्त्वजन' कहते हैं। इस वर्ग के पदार्थों में मांसतत्त्व, द्राक्षशर्करा, मांसतत्त्वौज, मांसतत्त्वसार आदि मुख्य हैं। ये पहले आमाशय की श्लेष्मलकला में वर्त्तमान पूर्वामाशयीन नामक द्रव्य पर क्रिया करते हैं और उसे आमाशयीन नामक एक सक्रिय द्रव्य में परिवर्तित कर देते हैं जो रक्त में शोषित होकर रक्त के द्वारा आमाशयिक ग्रन्थियों में पहुँच जाता है और रासायनिक उत्तेजक के रूप में स्राव को उत्पन्न करता है। प्रमाणतः मुद्रिकाद्वार की श्लेष्मलकला या अन्य पाचकतत्त्वजन पदार्थों के साथ का अन्तःक्षेप किया जाय तो आमाशय रस का स्राव होने लगेगा। केवल आमाशयीन ही ऐसा द्रव्य नहीं है, बल्कि अवटु, यकृत्, अग्न्याशय आदि अन्य तन्तुओं से प्राप्त स्रावकप्रभावयुक्त सक्रिय पदार्थ यथा हिस्टेमीन भी अन्तःक्षेप करने पर आमाशय रस का स्राव उत्पन्न करते हैं।

प्राणदा नाड़ी का विच्छेद करने पर यदि अल्प परिमाण (१००–१५० सी० सी०) में जल आमाशय में डाला जाय तो कोई स्राव नहीं होगा, किन्तु यदि ४००–५०० सी० सी० दिया जाय तो स्राव को उत्तेजित करता है। यह ध्यान देने की बात है कि जल का आमाशयिक श्लेष्मलकला के साथ दीर्घकालीन तथा विस्तृत सम्पर्क ही स्रावोत्पादन में समर्थ होता है और इस प्रकार श्लेष्मलकला के सम्पर्क में आनेवाले जल के आयतन के अनुपात से ही

आमाशय का परिमाण निश्चित होता है। यही कारण है कि प्रकृति में जल का वितरण बहुत अधिक है और इसकी स्वाभाविक आकांक्षा क्षुधा से भी प्रबल होती है। अतः जहाँ मानस या केन्द्रीय स्राव नहीं होता हो, वहाँ जल उत्तेजक का कार्य करता है और भोजन के पाचन के लिए आमाशयरस उत्पन्न करता है। यदि क्षुधा के बिना शुष्क आहार किया जाय तो स्वभावतः पिपासा बड़ी तीव्र हो जाती है और जल लेना ही पड़ता है जिससे पाचन के लिए आवश्यक स्राव उत्पन्न होता है। समबल लवण–विलयन स्राव नहीं उत्पन्न करते, किन्तु लवण और शर्करा के अतिबल विलयन अत्यधिक स्राव उत्पन्न करते हैं। लालिक पाचन के द्वारा जो द्राक्षशर्करा बनती है वह भी एक पाचकतत्त्वजन के रूप में आमाशयिक स्राव उत्पन्न करती है। इसी प्रकार आमाशय में मांसतत्त्व के पाचन से जो पदार्थ बनते हैं, वह भी पाचकतत्त्वजन के रूप में कार्य करते हैं। इसके अतिरिक्त मांसरस, चाय, कॉफी, कोको तथा सेन्द्रिय अम्ल, यथा भोजन के समय गृहीत सोडा-बाइकार्ब भी, आमाशय स्राव को उत्पन्न करते हैं। इसके विपरीत, तैल, वसा और निरिन्द्रिय अम्ल आमाशय रस के स्राव में अवरोध उत्पन्न करते हैं।

मानस और रासायनिक स्राव में अन्तर

रासायनिक स्राव भोजन के २०—३० मिनट के बाद उत्पन्न होता है और पाचन की सम्पूर्ण अवधि तक वर्त्तमान रहता है, किन्तु मानस स्राव अल्पकाल तक ही रहता है। दूसरे, मानस स्राव रासायनिक स्राव की अपेक्षा अधिक प्रचुर, अल्पकालीन, अम्लतर और मांसतत्त्वविश्लेषक क्रिया की दृष्टि से प्रबल होता है। इसका महत्त्व इसी में है कि यह भोजन के पाचन का प्रारम्भ करता है, जिससे उत्पन्न द्रव्य आमाशय रस का और अधिक स्राव उत्पन्न करते हैं।

आमाशयिक स्राव पर प्रभाव डालने वाले अन्य कारण

जीवनीय द्रव्य—भोजन में वर्त्तमान जीवनीय द्रव्य से भी रासायनिक स्राव उत्पन्न होता है। इसकी क्रिया निम्न रीति से होती है :—

१. साक्षात् रूप से आमाशयिक ग्रन्थियों को उत्तेजित करने से।

२. रक्त में शोषित होकर उसके द्वारा ग्रन्थियों को उत्तेजित करने से।

३. पूर्वामाशयीन के साथ मिल कर उसे आमाशयीन में परिवर्तित करने से।

प्लीहा—अनुमानतः प्लीहा में एक ऐसा द्रव्य बनता है जो रक्त के द्वारा आमाशयिक ग्रन्थियों में पहुँच कर उसकी क्रिया को बढ़ाता है और लुत पाचकतत्त्व के परिमाण की भी वृद्धि करता है।

दुग्ध—कुत्तों पर प्रयोगों से यह देखा गया है कि दुग्ध में भी एक ऐसा तत्त्व है जो आमाशयिक ग्रन्थियों की स्रावक क्रिया को उत्तेजित करता है।

आमाशयिक स्राव की प्रवृत्ति

१. आहार का परिमाण—भुक्त आहार के परिमाण और उत्पन्न आमाशय रस की मात्रा में प्रायः निश्चित सम्बन्ध है यथा—

भुक्त आहार का परिमाण			स्राव		
१००	ग्राम	मांस	२६	सी.	सी.
२००	,,	,,	४५	,,	,,
४००	,,	,,	१०६	,,	,,

आमाशय रस पाचन की समस्त अवधि तक वर्तमान रहता है, किन्तु प्रथम दो घण्टे में अधिक परिमाण में स्राव होता है और उसके बाद धीरे-धीरे कम होने लगता है। यही नहीं, स्राव के स्वरूप में भी परिवर्त्तन होता है यथा स्राव का पहला अंश अधिक प्रबल होता है, किन्तु बाद में उसकी पाचकशक्ति घटती जाती है।

२. आहार का प्रकार—आहार के प्रकार के अनुसार भी स्राव की मात्रा में अन्तर होता है। ११० ग्राम मांस, २५० ग्राम रोटी और ६०० ग्राम दुग्ध में प्रायः नत्रजन का समान परिमाण ही रहता है, फिर भी रोटी में अधिकतम, दुग्ध में न्यूनतर तथा मांस में न्यूनतम स्राव होता है। स्राव के स्वरूप का जहाँ तक सम्बन्ध है, पाचकतत्त्व रोटी पर अधिकतम, मांस में न्यूनतर और दुग्ध में न्यूनतम उत्पन्न होता है। इसी प्रकार उदहरिकाम्ल मांस में न्यूनतर और दुग्ध में न्यूनतम उत्पन्न होता है। इसी प्रकार उदहरिकाम्ल मांस में सर्वाधिक, दुग्ध में न्यूनतर और रोटी में न्यूनतम होता है। इन बातों से यह स्पष्ट है कि आमाशयिक ग्रन्थियों की क्रिया विशिष्ट, सोद्देश्य और सुनिश्चित होती है।

आमाशयिक स्राव की सामान्य प्रक्रिया

पाचन की प्रक्रिया मानस प्रत्यावर्तित क्रिया से प्रारम्भ होती है। ज्योंही मनुष्य को भूख लगती है और वह आहार का ध्यान करता है या भोजन की वस्तुओं को देखता है तो केन्द्र में मानस उत्तेजना होती है और ५–१० मिनट के बाद आमाशय में नाड़ीजन्य या मानस रस का स्राव होता है। यह मानस स्राव क्षुधा की शक्ति एवं भोजनजन्य सन्तोष के अनुभव से बढ़ जाता है। निगरण क्रिया से यह और भी बढ़ जाता है। भोजन के प्रथम ग्रास पर तो इस रस का आक्रमण होता है और उसके मांसतत्त्व मांसतत्त्वौज (*Pro-*

teoses) और मांसतत्त्वसार (Peptone) में परिवर्तित हो जाते हैं जो पाचकतत्त्वजन के रूप में रासायनिक स्राव को अधिक उत्पन्न करते हैं। लालिक पावन के परिणामस्वरूप उत्पन्न द्रव्य (अर्कद्राक्षीन), मांसरस इत्यादि भोज्य पदार्थ और विशेषतः जल पाचकतत्त्वजन के रूप में रासायनिक स्राव को बढ़ाते हैं। जितना रासायनिक स्राव अधिक होगा, उतना ही अधिक मांसतत्त्व-विश्लेषण का कार्य सम्पन्न होगा और इस विश्लेषण के फलस्वरूप उत्पन्न द्रव्य पाचकतत्त्वजन के रूप में तब तक स्राव को जारी रखते हैं जब तक आमाशय में स्थित आहार का पूर्ण पाचन नहीं हो जाता।

इस प्रकार सर्वप्रथम मानस रस का स्राव होता है जो थोड़ी देर तक ही रहता है और उसके बाद रासायनिक स्राव होता है जो पाचन की पूर्ण अवधि तक बना रहता है।

आमाशय रस

संगठन—विशिष्ट गुरुत्व	१.००२	से १.००६	%
जल	९९.७५	,, ९८.९०	%
घन सेन्द्रिय	०.३४	,, ०.४७	%
निरिन्द्रिय	०.४६	,, ०.५९	%
स्वतन्त्र उदहरिकाम्ल	०.३५	,, ०.४५	%
कुल अम्लता	०.४५	,, ०.६०	%
क्लोराइड	०.५	,, ०.५८	%

किण्वतत्त्व—निम्नलिखित तीन किण्वतत्त्व पाए जाते हैं :—

१. पाचकतत्त्व
२. मेदोवर्त्तक
३. अभिष्यन्दक

परिमाण—सामान्य व्यक्ति में सामान्य भोजन करने पर—
१५०० से ३००० सी. सी.

आमाशय रस की अम्लता

ग्रन्थियों से स्रुत आमाशयरस सदा अम्ल रहता है, किन्तु प्रारम्भिक अंश में अम्लता कुछ कम रहती है और धीरे-धीरे बढ़ती जाती है। आमाशयिक भोज्य पदार्थों के विश्लेषण से यह देखा गया है कि वहाँ दुग्धाम्ल भी उपस्थित रहता है जिसे आमाशयरस का ही एक अवयव समझा गया था, किंतु वस्तुतः वह शाकतत्त्व के जीवाणुजन्य किण्वीकरण के कारण उत्पन्न होता है जिससे शाकतत्त्व शर्करा और दुग्धाम्ल में परिवर्तित हो जाता है। उदहरिकाम्ल

की अधिकता से पाचन के अन्तिम काल में यह लुप्त हो जाता है। कुछ व्यक्तियों में अम्लोत्पादक कोषाणुओं के विकसित न होने से उदहरिकाम्ल का स्राव नहीं होता। इस अवस्था को उदहरिकाम्लाभाव कहते हैं।

उदहरिकाम्ल की उत्पत्ति

अम्लोत्पादक कोषाणुओं के द्वारा तीव्र उदहरिकाम्ल कैसे उत्पन्न होता है, यह ज्ञात नहीं है। संभवतः रक्त में वर्त्तमान लवण के द्वारा आवश्यक क्लोरीन की पूर्ति निम्न प्रकार से होती है :—

(१) कार्बोनिक अम्ल और लवण की अन्योन्य क्रिया के द्वारा ($H Co_3 + Nacl = Na\ Hco_3 + Hcl$)
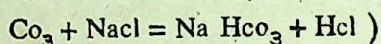
(२) सोडियम फास्फेट और सैन्धव की अन्योन्य क्रिया के द्वारा ($Na\ H_2\ Po_4 + Nacl = Na_2\ H\ Po_4 + Hcl$)
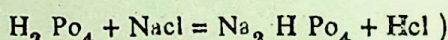
द्वितीय उपपत्ति विशेष उपयुक्त है। इसके द्वारा रक्त में मौलिक तत्वों का संचय होने लगता है और क्षारीयता की वृद्धि हो जाती है जिसे 'क्षारीयवेग' (Alkaline Tide) कहते हैं। इससे भोजन के बाद मूत्र की प्राकृत अम्ल प्रतिक्रिया क्षारीय हो जाती है।

आहार के विभिन्न तत्त्वों पर आमाशय रस की क्रिया

शाकतत्त्व—आमाशयरस की कोई क्रिया श्वेतसार या एकशर्करीय द्रव्यों पर नहीं होती, केवल उदहरिकाम्ल के कारण इक्षुशर्करा पर आवर्त्तक क्रिया होती है जिसमें वह द्राक्षशर्करा और वामावर्त्तक शर्करा में परिणत हो जाती है :—

इक्षुशर्करा + जल = द्राक्षशर्करा + वामवर्त्तकशर्करा

$$(C_{12}H_{22}O_{11} + H_2o = C_6H_{12}O_6 + C_6H_{12}O_6)$$
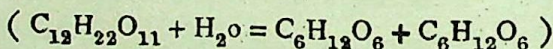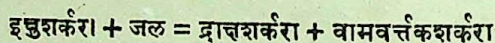
वसा—वसा के कण ताप और आमाशय की घूर्णन गति के द्वारा छोटे-छोटे कणों में परिणत हो जाते हैं और इस प्रकार पयसीभूत वसा पर आमाशयिक रस में उपस्थित वसावर्त्तक की क्रिया होती है और वह वसाम्ल और ग्लिसरीन में परिवर्तित हो जाता है। पयसीभवन की क्रिया पूर्ण न होने से आमाशयरस का वसा पर पूर्ण प्रभाव नहीं होता। दुग्ध में वसा के कण सूक्ष्म रहने के कारण उस पर कुछ अधिक क्रिया होती है। आमाशयिक वसावर्त्तक की क्रिया में अम्लों के द्वारा रुकावट होती है। अतः पाचन की प्रथमावस्था में ही इसकी क्रिया सर्वाधिक होती है।

मांसतत्त्व—आमाशयरस की प्रधान क्रिया मांसतत्त्वों पर होती है। उदहरिकाम्ल की क्रिया से मांसतत्त्वमय द्रव्य फूल जाते हैं और आम्लिक मांस-

तत्त्व में परिवर्त्तित हो जाते हैं। इस पर पुनः पाचकतत्त्व और उदहरिकाम्ल की संयुक्त क्रिया होने से उसका दो पदार्थों में जलीय विश्लेषण हो जाता है जो प्राथमिक मांसतत्त्वौज वर्ग के हैं और जिन्हें विलेय मांसतत्त्वौज और अविलेय मांसतत्त्वौज कहते हैं। ये दोनों पुनः जल का एक अणु लेकर दो साधारण यौगिकों में विभक्त हो जाते हैं जिन्हें द्वितीयक मांसतत्त्वौज कहते हैं। इनका पुनः जलीय विश्लेषण होता है और मांसतत्त्वसार नामक अन्य साधारण यौगिक उत्पन्न होते हैं।
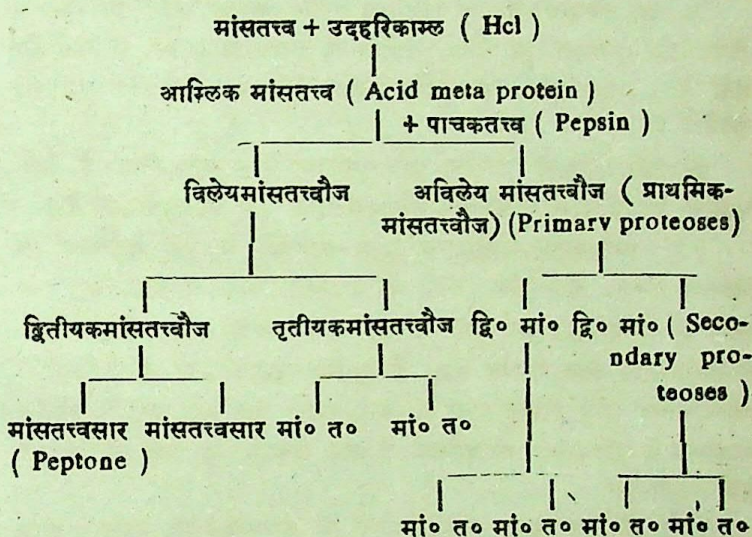
आन्त्रिक पाचन

अग्न्याशय-रस (Pancreatic Juice)

अग्न्याशय की रचना—अग्न्याशय लालाग्रन्थियों के समान ही एक ग्रन्थि है। इसके कोष्ठ शिथिल संयोजक तन्तु से बँधे रहते हैं जिसमें वृत्त या घनाकार कोषाणुओं के छोटे और अनियमित समूह होते हैं जिन्हें 'अग्निद्वीप' कहते हैं। इनसे 'अंशुलीन' नामक अन्तःस्राव होता है जो शाकतत्त्व के सात्म्यीकरण में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण योग देता है। इनके अतिरिक्त अग्न्याशय में एक प्रकार के और कोषाणु होते हैं जिन्हें 'स्रावक कोषाणु' कहते हैं। यह उपर्युक्त कोषाणुओं से स्वरूप और रंजन प्रतिक्रिया में भिन्न होते हैं तथा इनसे अग्न्याशयरस नामक बहिःस्राव होता है। विश्रामावस्था में यह कोषाणु कणों से भरे रहते हैं जो विभिन्न अग्न्याशयिक पाचक किण्वतत्त्वों के जनक रूप में होते हैं यथा—पूर्वाग्न्याशयिकतत्त्वजनक, पूर्वस्नेहावर्तक, पूर्वशाकतत्त्व-

विश्लेषक तथा पूर्वदुग्धाभिष्यन्दक किण्वतत्त्व। कोष्ठों के चारों ओर केशिकाओं का घना जाल होता है तथा अग्निद्वीप में बड़ी-बड़ी केशिकाएँ स्रोतरूप में होती हैं।

अग्न्याशय-रस की उत्पत्ति

अग्न्याशय-रस दो अवस्थाओं में उत्पन्न होता है :—

१. जब प्राणदा नाड़ी के सूत्र अग्न्याशय-कोषाणुओं में स्रावक उत्तेजना ले जाते हैं अतः यह 'प्रत्यावर्तित स्राव' (Reflex Secretion) कहलाता है।

२. जब अग्न्याशयकोषाणु रक्त द्वारा आनीत 'स्रावक तत्त्व' (Secretory Principle) नामक रासायनिक उत्तेजक के द्वारा साक्षात् रूप से उत्तेजित होते हैं। तब इसे 'रासायनिक स्राव' (Chemical Secretion) कहते हैं।

प्रत्यावर्तित रूप से उत्पन्न स्राव परिमाण में अत्यल्प होता है, अतः सामान्य अवस्थाओं में स्रावकतत्त्व के प्रभाव से ही रस का स्राव होता है।

(१) प्रत्यावर्तित नाडीजन्य स्राव—पेवलॉव ने यह दिखलाया कि विच्छिन्न प्राणदा के प्रान्तीय भाग को उत्तेजित करने से थोड़ा स्राव प्राप्त किया जा सकता है। कुछ लोगों का यह ख्याल था कि प्राणदा की उत्तेजना से आमाशयिक स्राव उत्पन्न होता है जिसका कुछ अंश ग्रहणी में जाने से अग्न्याशयिक स्राव उत्पन्न होता है, किन्तु वस्तुतः बात ऐसी नहीं है, क्योंकि आमाशय के मुद्रिकाद्वार को पूर्णरूप से बांध देने पर भी स्राव की उत्पत्ति देखी जाती है।

इसके अतिरिक्त, मानस उत्तेजनाओं से भी अग्न्याशय-रस उत्पन्न होता है अर्थात् जब उसे भोजन दिया जाता है या मिथ्या आहार कराया जाता है। यह ध्यान देने की बात है कि मानस उत्तेजना से आमाशयिकरस भी उत्पन्न होता है, किन्तु यह अग्न्याशयिकरस की अपेक्षा कुछ बाद में होता है। इस प्रकार अग्न्याशयरस की उत्पत्ति में आमाशयरस का किंचित् भी हस्तक्षेप नहीं होता।

इस नाडीजन्य स्राव में रासायनिक स्राव की अपेक्षा किण्वतत्त्वों का अधिक परिमाण होता है।

(२) रासायनिक स्राव—जब स्रावकतत्त्व नामक रासायनिक उत्तेजक के द्वारा अग्न्याशयकोषाणु उत्तेजित होते हैं तब अग्न्याशयरस का स्राव होता है। यह तत्त्व ग्रहणी और मध्यान्त्र की श्लैष्मिक कला[१] में 'पूर्वस्रावकतत्त्व'

---

१. 'षष्ठी पित्तधरा नाम। या चतुर्विधमन्नपानमुपयुक्तमामाशयात् प्रच्युतं पक्वाशयोपस्थितं धारयति।'—सु० शा० ४।

रूप में रहता है, जो अम्लरस के द्वारा स्रावक तत्त्व में परिवर्तित हो जाता है। इसके अतिरिक्त स्नेह, क्षारीय फेनक में भी यह गुण पाया जाता है, अतः वह भी अग्न्याशयरस के उत्तेजक हैं। यह स्रावकतत्त्व हार्मोन या रासायनिक वाहक पादार्थों की श्रेणी का ही है। इसमें और किण्वतत्त्व में अन्तर यह है कि इसकी क्रिया क्वथन से घटती नहीं है। इसकी प्रतिक्रिया बहुपाचित मांसतत्त्व के समान होती है। हिस्टेमीन भी अग्न्याशयस्राव उत्पन्न करता है।

जे. मिलेनवी के मतानुसार पूर्वस्रावकतत्त्व स्रावकतत्त्व में अम्ल के द्वारा परिणत नहीं होता, किन्तु पित्तलवणों के द्वारा। उसके अनुसार जब भोजन ग्रहणी में जाता है तब 'पित्तस्रावक' नामक हार्मोन उत्पन्न होता है जिससे पित्ताशय का संकोच होता है और थोड़ा सा पित्त ग्रहणी में चला आता है। यह पित्त शोषित होकर पूर्वस्रावकतत्त्व पर प्रभाव डालता है और इस प्रकार स्रावकतत्त्व उत्पन्न होकर अग्न्याशय-कोषाणुओं को उत्तेजित करता है। अतः अग्न्याशयरस का मुख्य उत्तेजक अम्ल पित्त है न कि अम्ल। इस मत के समर्थन में प्रमाण यह है कि आमाशयिक रसाभाव की अवस्था में भी जब कि अम्ल ग्रहणी में नहीं पहुंचता, यह प्राकृत रूप से होता है।

मिलेनवी ने यह भी दिखलाया है कि नाडीजन्य स्राव सान्द्र और किण्व तत्त्वयुक्त होते हैं जब कि रासायनिकस्राव तनु तथा सक्रिय किण्वतत्त्वों से रहित होते हैं।

अग्न्याशयरस का संगठन

यह एक तीव्र क्षारीय द्रव है (उद ८.५ से अधिक) जिसमें लगभग १.८ प्रतिशत ठोस द्रव्य जिनमें अलव्यूमिन, ग्लोब्यूलिन, किण्वतत्त्व तथा निरिन्द्रिय लवण मुख्यतः सोडियम कार्बोनेट रहते हैं। इसमें निम्नलिखित किण्वतत्त्व होते हैं :—

१. अग्न्याशयिक पाचकतत्त्वजनक } मांसतत्त्वावर्त्तक
२. रसपाचकतत्त्वजनक }
३. कार्बौषपाचित मांसतत्त्व परिवर्त्तक—पाचित मांसतत्त्वपरिवर्त्तक
४. अग्न्याशयिक दुग्धाभिष्यन्दक
५. शाकतत्त्वावर्त्तक ६. यवशर्करावर्त्तक
७. दुग्धशर्करावर्त्तक ८. अग्न्याशयिक स्नेहावर्त्तक

निष्क्रिय अग्न्याशयिक पाचकतत्त्वजनक अन्त्र में उपस्थित अन्त्रकिण्वौज के द्वारा सक्रिय पाचकतत्त्व में परिणत हो जाते हैं। यह परिणाम सुधा लवणों से भी हो सकता है। मिलेनवी के आधुनिक अनुसन्धानों के अनुसार अम्लपित्त इसका अत्यधिक प्रबल साधन है। कुछ शारीरक्रियावेत्ताओं के मत

में 'अग्न्याशयिक पाचकतत्त्व' का ही स्राव होता है, किन्तु इसके साथ-साथ एक निरोधक द्रव्य भी होता है। अन्त्रकिण्वौज इस निरोधक द्रव्य को उदासीन कर देता है और पाचकतत्त्व सक्रिय रूप में स्वतन्त्र हो जाता है।

यदि अग्न्याशयरस को अन्त्र में न गिरने देकर नलिका से ही लेकर देखा जाय तो इसमें मांसतत्त्व-विश्लेषक शक्ति नहीं होती, किन्तु इसमें थोड़ा अन्त्ररस या कुछ विलेय सुधा लवणों को मिला देने से यह शक्ति शीघ्र प्रकट हो जाती है।

परिमाण—प्रतिदिन एक व्यक्ति में ५०० से ८०० सी. सी. अग्न्याशय रस का स्राव होता है।

आहारतत्त्वों पर प्रभाव

शाकतत्त्व—शाकतत्त्व-विश्लेषक किण्वतत्त्व की क्रिया लालिक किण्वतत्त्व के समान होती है और उससे श्वेतसार यवशर्करा में परिणत हो जाता है। यह लालिकतत्त्व की अपेक्षा अधिक प्रबल होता है और इसकी क्रिया अपक्व श्वेतसार पर भी होती है और उसके कोष्ठावरण पर भी इसका प्रभाव पड़ता है। दूसरे, इसकी क्रिया तीव्रतर और अधिक शीघ्र होती है। इस किण्वतत्त्व का एक भाग श्वेतसार के ४०००० भाग को एक मिनट से कम में ही परिवर्त्तित कर देता है। मनुष्यों में शाक के कोष्ठावरण पर इस किण्वतत्त्व का बहुत कम प्रभाव पड़ता है और उसका अधिक भाग अपरिवर्तित रूप में मल के साथ बाहर निकल जाता है। शाकाहारियों में, शाक के इस कोष्ठावरण पर पहले एक प्रकार के विशिष्ट जीवाणुओं की क्रिया होती है और उससे उत्पन्न द्रव्यों का पाचक किण्वतत्त्वों के द्वारा पूर्णतः पाचन हो जाता है। इस किण्वतत्त्व की क्रिया थोड़े अम्ल माध्यम में भी हो सकती है, किन्तु अत्यधिक अम्ल या क्षार मद्य, क्लोरोफार्म, ईथर आदि संज्ञाहर, यवानीसत्त्व आदि से इसकी क्रिया रुक जाती है।

नवजात शिशु में कुछ मास तक यह किण्वतत्त्व वर्त्तमान नहीं होता, अतः ६ मास तक बच्चों को श्वेतसारयुक्त आहार नहीं दिया जाता। इसके अतिरिक्त अग्न्याशयरस में यवशर्करावर्त्तक तथा दुग्धशर्करावर्त्तक भी पाया जाता है।

स्नेह—सर्वप्रथम स्नेह का पयसीभवन होता है जिसमें क्षार और साबुन की उपस्थिति से सहायता मिलती है। यह पयसीभूत स्नेह स्नेहावर्त्तक किण्वतत्त्व के द्वारा स्नेहाम्ल और ग्लिसरीन में विश्लेषित हो जाता है। यह स्नेहाम्ल उपस्थित क्षार से संयुक्त होकर फेनक में परिणत हो जाते हैं। इस

प्रक्रिया को सफेनीकरण कहते हैं। यदि अग्न्याशयनलिका को बांध कर अग्न्याशयरस को ग्रहणी में आने न दिया जाय, तो ८० प्रतिशत स्नेह अपक्व रूप में मल के बाहर निकल जाता है। अग्न्याशयिक स्नेहावर्तक की शक्ति बहुत अधिक, लगभग चौदहगुनी, पित्त के संयोग से बढ़ आती है। स्नेह का जलीय विश्लेषण पित्तलवणों की भौतिक क्रिया से बहुत बढ़ जाता है। अग्न्याशयिक स्नेहावर्त्तक की क्रिया निरिन्द्रिय लवणों से बहुत घट जाती है।

मांसतत्त्व—अग्न्याशयिक कोषाणुओं में मांसतत्त्व-विश्लेषक किण्वतत्त्व अपने द्वितय जनक (पूर्वाग्न्याशयिक पाचकतत्त्वजनक) के रूप में रहता है जो स्रावकाल में अग्न्याशयिक पाचकतत्त्वजनक में परिवर्तित हो जाता है। यह आन्त्र में अन्त्रीय रस में उपस्थित अन्त्रकिण्वौज नामक सहकिण्वतत्त्व के द्वारा सक्रिय पाचक तत्त्व में परिणत हो जाता है। मिलेनवी ने दिखलाया है कि पाचक किण्वतत्त्वजनक सुधा क्लोरिद के द्वारा भी पाचकतत्त्व में परिणत हो जाता है।

सक्रिय पाचकतत्त्व का प्रथम प्रभाव यह होता है कि मांसतत्त्व आमाशयिक पाचन के समान फूलता नहीं, किन्तु शीघ्र ही विश्लेषित होकर मधुकोष के समान हो जाता है। इससे पहला द्रव्य क्षारीय उपमांसतत्त्व बनता है जो जलीय विश्लेषित होकर द्वितीयक मांसतत्त्वौज और यह पुनः मांसतत्त्वसार में परिणत हो जाता है। आमाशयिक पाचन के समान यह मांसतत्त्वसार ही अन्तिम द्रव्य नहीं होते, बल्कि इनका अधिकांश टूटकर पाचित मांसतत्त्व तथा आमिषाम्ल में परिणत हो जाता है।

आमाशयिक और अग्न्याशयिक पाचकतत्त्व में अन्तर

आमाशयिक पाचकतत्त्व	अग्न्याशयिक पाचकतत्त्व
१. अम्ल माध्यम में क्रिया होती है।	१. क्षारीय माध्यम में क्रिया होती है।
२. भोजन का प्रारम्भिक फूलना।	२. प्राथमिक विस्तार का अभाव और मधुकोषवत् आकृति।
३. अम्ल मांसतत्त्व का निर्माण।	३. क्षारीय उपमांसतत्त्व का निर्माण।
४. प्राथमिक मांसतत्त्वौज की उत्पत्ति।	२. द्वितीय मांसतत्त्वौज की उत्पत्ति।
५. स्थितिस्थापक इत्यादि का कुछ मांसतत्त्वों के पाचन का अभाव।	५. पाचन हो जाता है।
६. अन्तिम द्रव्य मांसतत्त्वौज और मांसतत्त्वसार।	६. अन्तिम द्रव्य बहुपाचित मांसतत्त्व और आमिषाम्ल।

आन्त्ररस

क्षुद्रान्त्र की रचना—आमाशय के समान अन्त्र में भी चार स्तर होते हैं यथा—

(१) स्नैहिक आवरण।

(२) पेशीमय स्तर—इसमें भीतर की ओर वृत्ताकार एवं बाहर की ओर
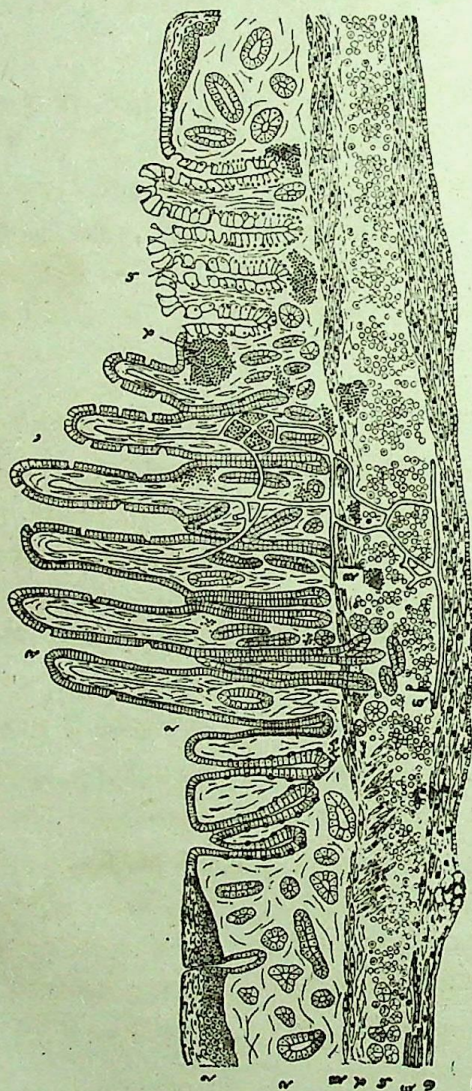
क्षुद्रान्त्र की सूक्ष्मरचना

१. श्लैष्मिक कला २. रसांकुरिका ३. उपश्लैष्मिकस्तर ४. पेशीमय स्तर ५-७. स्नैहिक स्तर

अनुक्रम्य पेशिसूत्र होते हैं। दोनों के बीच में सग्रंथिक नाडीसूत्रों का जाल होता है जिसे अर्वाक्‌चाक कहते हैं।

(३) उपश्लैष्मिक कला—इसमें शिथिल सान्तर तन्तु होता है जिसमें नाडीसूत्रों के सूक्ष्मजाल होते हैंजिन्हें मिश्रणजाल कहते हैं।

(४) श्लैष्मिक कला—यह स्थूल हैं और स्वतंत्र पेशियों के दो स्तरों के द्वारा उपश्लैष्मिक कला से पृथक् रहती हैं जिन्हें श्लैष्मिक पेशी कहते हैं।

श्लैष्मिक कला में स्थित ग्रन्थियों से आन्त्ररस का स्राव होता है। यह सबसे अधिक ग्रहणी में उसकी उपश्लैष्मिककला में और उसके बाद मध्यान्त्र एवं अन्तिमान्त्र में भी उत्पन्न होता है। क्षुद्रान्त्र के समस्त अन्तःपृष्ठ में अंगुलि के आकार के प्रवर्धन हैं जिन्हें रसांकुरिका कहते हैं। इनकी आधारकला के निकट रक्तवाहिनियाँ हैं और मध्य में एक रसायनी रहती है जिसे 'केन्द्रीय पयस्विनी' कहते हैं।

आन्त्ररस की उत्पत्ति

अन्त्र की स्रावक ग्रन्थियों पर स्रावक की क्रिया से आन्त्ररस उत्पन्न होता है। अग्न्याशयिकरस के किण्व इस रस के उत्तेजक होते हैं। आन्त्ररस के लिए स्रावक नाडीसूत्रों का पता नहीं चला है, फिर भी प्रयोगों द्वारा यह देखा गया है कि केन्द्रीय नाडीसंस्थान का स्राव पर अवरोधक प्रभाव पड़ता है। नाडी-जन्य अतिसार से भी यही सिद्ध होता है। भय या मनःक्षोभ से नाडियों का अवरोधक प्रभाव नष्ट हो जाता है अतः अत्यधिक मात्रा में स्राव उत्पन्न होता है। आन्त्र रस का यान्त्रिक उत्तेजकों से भी स्राव होता है। कोई बाह्यद्रव्य यथा धातुखंड या अपाच्य आहार लेने से स्राव अत्यधिक परिमाण में उत्पन्न होता है और उससे अतितीव्र अतिसार प्रकट होता है। इस स्थिति में स्राव जलीय और किण्वतत्त्वों से रहित होगा।

आन्त्ररस का संगठन

प्रतिक्रिया—क्षारीय (उद ८.३)

किण्वतत्त्व—आन्त्रकिण्वौज—यह अग्न्याशयिक पाचकतत्त्वजनक को पाचक तत्त्व में परिवर्तित कर देता है। इसकी क्रिया केवल प्रवर्त्तक नहीं है, बल्कि पाचकतत्वजनक के साथ मिलकर पाचकतत्त्व उत्पन्न करना है; इसलिए उत्पन्न पाचकतत्त्व की मात्रा आन्त्रकिण्वौज के अनुपात से ही होती है। मिलेनवी और दूसरे विद्वानों का मत है कि पाचकतत्वजनक सक्रिय पाचकतत्त्व और प्रोटीन के एक अणु का संयुक्त द्रव्य है, जो उसकी पूर्व क्रिया में अवरोध उत्पन्न करता है। आन्त्र किण्वौज इस संयोग का विच्छेद कर देता है और सक्रिय पाचकतत्त्व स्वतन्त्र हो जाता है।

(२) इक्षुशर्करावर्त्तक—यह इक्षुशर्करा को सत्त्वशर्करा और वामावर्त-शर्करा में परिवर्तित कर देता है।

(३) दुग्धशर्करावर्त्तक—इक्षुशर्करा को सत्त्वशर्करा और दुग्धशर्करा में बदल देता है।

(४) यवशर्करावर्त्तक—यवशर्करा को सत्त्वशर्करा में परिणत कर देता है।

(५) श्वेतसारावर्त्तक—श्वेतसार पर क्रिया करता है।

(६) स्नेहावर्त्तक—यह स्नेह का सफेनीकरण कर देता है।

(७) आन्त्रिक पाचकतत्त्व—यह मांसतत्त्वविश्लेषक किण्वतत्त्व है। यह आमाशयिक और अग्न्याशयिक पाचक किण्वतत्वों से इस बात में भिन्न है कि यह सामान्य पाचित मांस पर ही प्रभाव डालता है। इस प्रकार यह आमाशयिक और अग्न्याशयिक पाचकतत्त्व की क्रिया में योग देकर उसे पूर्ण कर देता है। इसके अन्तर्गत अनेक आवर्तक तत्त्व होते हैं जो पाचित मांसतत्त्व के भिन्न-भिन्न वर्गों पर क्रिया करते हैं।

(८) निरामीकरण तत्त्व—यह आमिषाम्लों को अमोनिया और सेन्द्रिय अम्लों में विभक्त करते हैं। यह अमोनिया प्रतिहारिणी सिरा के रक्त में पाया जाता है।

(९) मूत्रतत्त्वजनक—यह 'आर्जिनिन' को यूरिया (मूत्रतत्त्व) और आर्निथिन में विभक्त कर देता है।

इस प्रकार आन्त्ररस में अनेक किण्वतत्त्व होते हैं, जिनकी विभिन्न आहार तत्त्वों एवं आमाशयिक और अग्न्याशयिक रसों के द्वारा परिणत आहार द्रव्यों पर क्रिया होती है।

तृतीय अध्याय

रस-दोष-मलविवेचन

जीवाणुज किण्वीकरण (Bacterial fermentation)

विभिन्न किण्वतत्त्वों (निरिन्द्रिय किण्वों) की क्रिया के अतिरिक्त आहार पर अनेक जीवाणुओं (सेन्द्रिय किण्वों) की क्रिया होती है। किण्वतत्त्वों के समान विविध आहारद्रव्यों के लिए पृथक् पृथक् जीवाणु होते हैं। सामान्य अवस्था में आमाशय में जीवाणुओं की कोई विशिष्ट क्रिया नहीं होने पाती, क्योंकि आहार के साथ प्रविष्ट जीवाणु आमाशयरस के अम्ल के कारण नष्ट हो जाते हैं। अन्त्र में यह क्रिया स्पष्टरूप से देखी जाती है। जीवाणुज किण्वीकरण का परिमाण पाचक किण्वतत्त्वों की क्रिया के विपरीत अनुपात में होता है अर्थात् यदि पाचक किण्वतत्त्वों की क्रिया से आहार का पाचन अधिक हो चुका है, तो जीवाणुओं की क्रिया के लिए बहुत कम अवशिष्ट रहता है। यही कारण है कि विकृत पाचन में जीवाणुज किण्वीकरण अधिक होता है।

विभिन्न आहारतत्त्वों पर प्रभाव

शाकतत्व—शाकतत्त्व का किण्वीकरण अत्यन्त साधारण है। यह आमाशयिक पाचन की प्रथम अवस्था में आमाशय में भी कुछ सीमा तक होता है, किन्तु क्षुद्रान्त्र में विशेषरूप से होता है।

शाकतत्त्व के जीवाणुज किण्वीकरण के द्वारा उत्पन्न द्रव्यों में मद्यसार, दुग्धाम्ल, पिपीलिकाम्ल, सिरकाम्ल, बेंझोइक अम्ल, ब्यूटिरिक अम्ल, कओ,[२] मिथेन और उदजन हैं। ये द्रव्य निर्विष हैं। कोष्ठावरण जो शाकाहारी प्राणियों के आहार का प्रधान भाग होता है, शक्ति का प्रधान उद्गम होता है और यह भी सत्त्वशर्करा, लैक्टिक अम्ल इत्यादि द्रव्यों में परिणत हो जाता है। जीवाणुओं की क्रिया से कोष्ठावरण अन्त्र में उदजन और मिथेन में परिणत हो जाता है अत एव शाकप्रधान भोजन करने से आन्त्र में अत्यधिक वायु की उत्पत्ति होती है।

स्नेह—स्नेह स्नेहाम्ल और ग्लिसरीन में परिणत हो जाते हैं। फिर स्नेहाम्ल भी निम्नवर्ग के स्नेहाम्लों यथा ब्यूटिरिक अम्ल, बेलरिक अम्ल में

परिणत हो जाते हैं। अन्त में यह सभी कओ[२] और जल में परिणत हो जाते हैं।

मांसतत्त्व—मांसतत्त्वों पर जीवाणुओं की क्रिया सामान्यतः बृहदन्त्र में होती है और मांसतत्त्वविश्लेषक किण्वों के समान वह मांसतत्त्वौज, मांसतत्त्वसार, आमिषाम्लों और अमोनिया में परिवर्तित हो जाते हैं। इन पदार्थों पर पुनः जीवाणुओं की क्रिया होती है, जिससे इण्डोल, स्केटोल, फेनोल, पैराक्रेसोल आदि उड़नशील नत्रजनयुक्त द्रव्य बनते हैं, तथा हाइड्रोजन सलफेट की तत्कालीन उत्पत्ति से एथिल हाइड्रोजन, सलफाइड या एथिल मरकैपटन, कओ[२] मिथेन और उदजन ये द्रव्य उत्पन्न होते हैं। इन्डोल और स्केटोल नामक द्रव्यों से पुरीष में दूषित और विशिष्ट गन्ध प्रतीत होती है।

इण्डोल, स्केटोल और फेनोल विषात्मक द्रव्य हैं जिनका शरीर पर अत्यन्त हानिकारक प्रभाव हो सकता है, किन्तु यकृत् तथा अन्य धातुओं के निर्विषीकरण के द्वारा इनका विषैला प्रभाव नष्ट हो जाता है और यह मूत्र के साथ शरीर के बाहर निकल जाते हैं। इण्डोल मूत्र में इण्डिकन के रूप में तथा स्केटोल और फेनोल सेन्द्रिय सलफेट के रूप में मिले रहते हैं।

सामान्यतः मांसतत्त्व और स्नेह का जीवाणुज किण्वीकरण क्षुद्रान्त्र में अधिक नहीं होता है, क्योंकि लैक्टिक अम्ल के जीवाणु मांसतत्त्व और शाकतत्त्व पर कार्य करनेवाले अन्य जीवाणुओं के विरोधी होते हैं। दुग्ध भी मांसतत्त्व का पूतिभवन रोकता है। जब दुग्धशर्करा की अधिक मात्रा मुख के द्वारा ली जाती है, तब क्षुद्रान्त्र में दुग्धशर्करावर्तक की क्रिया इस पर अधिक नहीं होती और उसका अधिक भाग नीचे की ओर चला जाता है, जहाँ जीवाणुओं की क्रिया से वह लैक्टिक अम्ल में परिवर्तित हो जाता है। यह लैक्टिक अम्ल के जीवाणु स्वयं निर्दोष होते हैं तथा अन्य हानिकारक जीवाणुओं को नष्ट कर देते हैं। इसीलिए भोजनान्त में तक्र की महिमा

---

१. "आहारपरिणामकरास्त्विमे भावा भवन्ति; तद्यथा-ऊष्मा वायुः क्लेदः स्नेहः कालःसमयोगश्चेति । तत्र तु खल्वेषामूष्मादीनामाहारपरिणामकराणां भावानामिमे कर्मविशेषा भवन्ति तद्यथा–ऊष्मा पचति, वायुरपकर्षति, क्लेदः शैथिल्यमापादयति, स्नेहो मार्दवं जनयति, कालः पर्याप्तिमभिनिर्वर्तयति, समयोगस्त्वेषां परिणामधातुकरः संपद्यते।"—च. शा. ६

प्राचीन संहिताओं में बतलाई गई है।[1] कभी-कभी आमिषाम्लों से विघटन के द्वारा टोमेन नामक विषात्मक द्रव्य उत्पन्न हो जाते हैं। यह टोमेन सड़े मांस या मछली में भी उत्पन्न होते हैं। सामान्यतः इनकी उत्पत्ति नहीं होती, क्योंकि पित्ताम्लों के द्वारा अन्त्र की स्थिति इनके विकास के अनुकूल नहीं रह जाती है। द्रव्य यदि शोषित हो जायँ और वृक्क के द्वारा उनका उत्सर्ग न हो, तो वह बहुत हानि करते हैं। उनकी प्रबल क्रिया रक्तवह संस्थान पर विशेष होती है, जिससे अद्रिनिलीन के समान उनसे भी रक्तभार अधिक हो जाता है। हस्तमीन की क्रिया अद्रिनिलीन के विपरीत होती है।

जीवाणुज किण्वीकरण का महत्त्व

यद्यपि इसके अतियोग से विकार उत्पन्न हो सकता है, तथापि प्राकृत पाचन के लिए थोड़े अंश में यह आवश्यक समझा गया है। कोष्ठावरण पर जीवाणुओं की क्रिया से यह लाभकर पदार्थों में परिवर्त्तित हो जाता है जिससे रोमन्थ करने वाले प्राणियों को शक्ति प्राप्त होती है। अन्त्रमें जीवनीय द्रव्य के भी किण्वीकरण के परिणामस्वरूप ही उत्पन्न होता है। छोटे-छोटे जन्तुओं पर प्रयोग कर देखा गया है कि जीवाणुरहित आहार से उनका क्षय होने लगता है और वह मर जाते हैं। अतः इन प्राणियों के जीवन के लिए अन्त्रीय जीवाणुओं की उपस्थिति आवश्यक है। उत्तरी ध्रुव के निवासी स्वस्थ प्राणियों में जीवाणु नहीं देखे गये हैं।

आहार का शोषण (Absorption)

अन्ननलिका के विभिन्न रसों की क्रिया के द्वारा आहार शोषण के अनुकूल भौतिक या रासायनिक अवस्था में परिणत हो जाता है। आहार पहले ही शोषणयोग्य हो अथवा पाचनक्रिया के द्वारा इस योग्य बना दिया गया हो ; इस प्रकार शोषण उस क्रिया का नाम है जिसके द्वारा आहारतत्त्व रक्त और लसीका के द्वारा धातुओं में पहुंचते हैं।[2]

जल का शोषण

आमाशय—प्रयोगों द्वारा यह देखा गया है कि आमाशय से जल का

---

१. स्रोतःसु तक्रशुद्धेषु रसः सम्यगुपैति यः।
सेन पुष्टिर्बलं वर्णः प्रहर्षश्चोपजायते ॥—च० वि० १४
शोफार्शोग्रहणीदोषमूत्रकृच्छ्रोदरारुचौ।
स्नेहव्यापदि पाण्डुत्वे तक्रं दद्याद् गरेषु च।—च० सू० २०

२. 'आमाशयगतः पाकमाहारः प्राप्य केवलम्।
पक्वः सर्वाश्रयं पश्चाद् धमनीभिः प्रपद्यते ॥'—च० वि० २

शोषण नहीं होता। आमाशयप्रसार तथा मुद्रिकाद्वार—संकोच के रोगियों में मुख के द्वारा अत्यधिक जल देने पर भी पिपासा अधिक देखी जाती है और जब वही जल गुदा के द्वारा दिया जाता है तो तृष्णा शान्त हो जाती है।[1]

क्षुद्रान्त्र—क्षुद्रान्त्र से जल अधिक मात्रा में शोषित होता है। यह शोषण रक्तवह स्रोतों के द्वारा होता है न कि रसायनियों के द्वारा क्योंकि क्षुद्रान्त्र में जलाधिक्य होने से प्रतीहारी सिरा का रक्त अधिक तनु हो जाता है, किन्तु लसीकाप्रवाह में कोई वृद्धि नहीं होती।

बृहदन्त्र—बृहदन्त्र से भी जल का शोषण होता है। इसका प्रमाण यह है कि क्षुद्रान्त्र से द्रव पदार्थ बृहदन्त्र में जाते हैं, किन्तु पुरीष ठोस और कठिन होता है। इसके अतिरिक्त गुदद्वार से पानी देने पर तृष्णा की शान्ति हो जाती है, जिसका कारण जल का शोषण ही है।

शोषत जल का परिमाण उपयुक्त जल की मात्रा तथा शरीर की आवश्यकता दोनों पर निर्भर करता है। शरीर जलसाम्य की स्थिति में रहता है। यदि आवश्यकता से अधिक जल का ग्रहण किया जाय, तो जल का परित्याग भी अधिक होने लगता है, विशेषतः वृक्कों का मुख्य भाग होने के कारण मूत्र का आधिक्य हो जाता है। इसी प्रकार यदि जल स्वल्प मात्रा में लिया जाय तो शरीर के स्रावों और उत्सृष्ट मलों की मात्रा में भी कमी हो जाती है और सीमा से अधिक कम हो जाने पर 'धातुतृष्णा' की अवस्था उत्पन्न हो जाती है।[2]

निरिन्द्रिय लवणों का शोषण

आमाशय—कुछ सान्द्रता रहने पर निरिन्द्रिय लवणों का शोषण आमाशय से होता है, अधिक तनु विलयनों में इनका शोषण नहीं होता। कुछ अन्य द्रव्यों यथा मद्यसार या मसालों की उपस्थिति से इसमें सहायता मिलती है।

क्षुद्रान्त्र—क्षुद्रान्त्र से इनका शोषण होता है, किन्तु सभी लवणों का शोषण नहीं होता और विभिन्न लवणों के शोषणक्रम में विभिन्नता होती

---

१. 'उदकवहानां स्रोतसां तालु मूलं क्लोम च; प्रदुष्टानां तु खल्वेषामिदं विशेषविज्ञानं भवति; तद्यथा—जिह्वाताल्वोष्ठकण्ठक्लोमशोषं पिपासां चातिप्रवृद्धां दृष्ट्वोदकवहान्यस्य स्रोतांसि प्रदुष्टानीति विद्यात्।'
—च० वि० ५

२. 'रसक्षये हृत्पीडा कम्पः शून्यता तृष्णा च।'—सु० सू० १५

है। आपेक्षिक शोष्यता के अनुसार कशनी और वैलेस ने उनका निम्नाङ्कित वर्गीकरण किया है—

१. सोडियम क्लोराइड, ब्रोमाइड; आयोडाइड, एसिटेट,

२. एथिलसलफेट, नाइट्रेट, सैलिसिलेट, लैक्टेट

३. सलफेट, फास्फेट, साइट्रेट, टारटरेट,

४. आक्जलेट, क्लोराइड।

प्रथम श्रेणी के लवण बहुत आसानी से शोषित हो जाते हैं और द्वितीय श्रेणी के लवणों के शोषण में कुछ कठिनाई होती है। तृतीय वर्ग के लवण बहुत धीरे-धीरे शोषित होते हैं और उनके द्वारा अन्त्रनलिका में बहुत अधिक जल आकर्षित हो जाता है जिससे अन्त्रपरिसरण गति बढ़ जाती है। अतः यह लवण रेचन का कार्य करते हैं।[1] यह निम्नांकित प्रयोग द्वारा देखा जा सकता है :—

क्षुद्रान्त्र के किसी अंश में तीन बन्धनों के द्वारा उसके दो समान खण्ड बना दिए जायँ। एक खण्ड में प्राकृत लवण विलयन भर दिया जाय तथा दूसरे में मैगसल्फ के सान्द्र विलयन की कुछ बूँदें दी जायँ। एक घण्टे के बाद देखने पर पहला खण्ड लवण विलयन के शोषित हो जाने के कारण सिकुड़ा हुआ मिलेगा तथा दूसरा खण्ड रक्त से जल को आकर्षित कर लेने के कारण फूला हुआ रहेगा।

स्नेह का शोषण

आमाशय—स्नेह का शोषण आमाशय से एकदम नहीं होता।

क्षुद्रान्त्र—क्षुद्रान्त्र में स्नेह स्नेहाम्लों और ग्लिसरीन में विभक्त हो जाता है तथा स्नेहाम्ल फेनक में परिणत हो जाते हैं। यह फेनक पित्त में घुल जाता है और विलेय फेनक तथा ग्लिसरीन के रूप में क्षुद्रान्त्र से शोषित हो जाता है। इस प्रकार स्नेह के शोषण के लिए आन्त्र में पित्त की उपस्थिति अत्यन्त आवश्यक है। इसीलिए कामला रोग में जब पित्त ग्रहणी में नहीं जाता तब पुरीष अशोषित स्नेह के कारण मृत्तिकावर्ण या तिलपिष्टवत् श्वेत होता है।[2]

---

१. लवणो रसः पाचनः क्लेदनो दीपनश्च्यावनश्छेदनो भेदनः तीक्ष्णः सरो विकास्यधःस्रंस्यवकाशकरो वातहरः स्तम्भबन्धसंघातविधमनः सर्वरस-प्रत्यनीकभूतः।—च० सू० २६

२. 'तिलपिष्टनिभं यस्तु वर्चः सृजति कामली।
श्लेष्मणा रुद्धमार्गं तं कफपित्तहरैर्जयेत् ॥'
'कफसंमूर्च्छितो वायुः स्थानात् पित्तं क्षिपेद् बली।
हारिद्रनेत्रमूत्रत्वक् श्वेतवर्चास्तदा नरः ॥—च० चि० १६

अग्न्याशय का अन्तःस्राव स्नेह के शोषण के लिए आवश्यक है। इसलिए जब अग्न्याशयरस आन्त्र में नहीं जा पाता तब स्नेह का शोषण कुछ सीमा तक कम हो जाता है, किन्तु यदि अग्न्याशयग्रन्थि का विच्छेद कर दिया जाय तो स्नेह का शोषण बिलकुल नहीं होता। जीवनीय द्रव्य बी से भी स्नेह के शोषण में सहायता मिलती है। इसके अभाव में स्नेह बड़ी-बड़ी बूँदों के रूप में संचित होने लगता है।

शोषण रक्तकेशिकाओं के द्वारा नहीं होता, किन्तु रसांकुरिका की रसायनियों के द्वारा होता है। विलेय फेनक और ग्लिसरीन रसांकुरिका के स्तम्भाकार आवरक कोषाणुओं में प्रविष्ट हो जाते हैं और मेदोविश्लेषक किण्वतत्त्व की विपर्यय क्रिया के द्वारा पुनः उदासीन स्नेह में परिवर्तित हो जाते हैं। यह उदासीन स्नेहकण लसीकाणुओं के द्वारा गृहीत होकर रसांकुरिका की केन्द्रीय पयस्विनी में चले जाते हैं। इन स्नेहकणों को पयस्विनी तक पहुँचा कर लसीकाणु फिर लौट आते हैं और अन्य स्नेहकणों को ले जाते हैं। इस प्रकार लसीकाणु वाहक का कार्य करते हैं।

निम्नाङ्कित बातों से यह प्रमाणित होता है कि शोषण रसायनियों के द्वारा होता है न कि रक्तवह स्रोतों के द्वारा :—

(क) स्नेहशोषणकाल में प्रतीहारी रक्त में स्नेहकणों का आधिक्य नहीं होता।

(ख) रसकुल्या को बाँध देने से शोषण में बाधा होने लगती है।

(ग) रक्तवह स्रोतों में साबुन का अन्तःक्षेप करने से विषवत् प्रभाव देखा जाता है।

सामान्यतः ६० प्रतिशत स्नेह का शोषण लसीका के द्वारा होता है। शेष ४० प्रतिशत के सम्बन्ध में यह समझा जाता है कि वह क्षुद्रान्त्र की दीवालों में ही विश्लेषित होने के बाद रक्त में पहुँचता है। स्नेह का शोषण स्नेह की अवस्था, प्रकार तथा द्रवणाङ्क पर निर्भर करता है। स्वतन्त्र अवस्था तथा कम द्रवणाङ्क वाले स्नेह अधिक परिमाण में शोषित होते हैं।

शाकतत्त्व का शोषण

शाकतत्त्व शाकाहारी तथा सर्वाहारी प्राणियों के आहार का एक प्रधान अंश है। यह प्रधानतः बहुशर्करीय यथा कोष्ठावरण, श्वेतसार आदि रूप में होते हैं जिनका शोषण नहीं हो सकता। अतः पाचक किण्वतत्त्वों के द्वारा विश्लेषित होकर अन्त में वह एक-शर्करीय रूप में परिवर्तित हो जाते हैं और उस रूप में क्षुद्रान्त्रों में शोषित होते हैं।

आमाशय—निरिंद्रिय लवणों के समान तनु विलयनों में शर्करा का भी

शोषण नहीं होता। कम से कम ५ प्रतिशत सान्द्रता रहने पर ही उनका शोषण होता है।

द्विशर्करिद् का शोषण उस रूप में नहीं होता, किन्तु जलीय विश्लेषण के अनन्तर एक--शर्करीय रूप में उनका शोषण होता है। अतः निरिन्द्रिय लवणों की भाँति द्विशर्करीय, विशेषतः दुग्धशर्करा, अधिक मात्रा में रहने पर रेचन कार्य करते हैं।

क्षुद्रान्त्र—अन्त्रीय श्लेष्मलकला की विशिष्ट क्रिया के कारण कुछ शर्करा का शोषण अन्य शर्कराओं की अपेक्षा अधिक शीघ्रता से होता है। यथा दुग्ध-शर्करा सत्त्वशर्करा की अपेक्षा शीघ्र शोषित होती है और फलशर्करा उससे भी शीघ्रतर शोषित होती है।

शर्करा के शोषण का क्रम प्रायः एक-सा रहता है और उस पर शर्करा की मात्रा या सान्द्रता का कोई प्रभाव नहीं पड़ता। यह अनुमान किया गया है कि एक निश्चित काल में सत्त्वशर्करा के कुछ ही अणु अन्त्रीय श्लेष्मल कला के द्वारा भीतर जा सकते हैं। इसका कारण यह है कि शोषण के पूर्व शर्करा का स्तरीभवन होता है जिसका क्रम निश्चित रहता है। यह भी देखा गया है कि यदि अन्य द्रव्यों का भी शोषण उस समय हो रहा हो यथा मिश्रित आहार में, तो उस शर्करा का शोषण-क्रम मन्द हो जाता है। जीवनीय द्रव्य बी की कमी से भी शर्करा का शोषण कम हो जाता है।

शोषण के स्रोत—शोषण सीधे रक्तवह स्रोतों के द्वारा होता है न कि रसायनियों से। इसका प्रमाण यह है कि शर्करा के शोषण के बाद प्रतीहारी-रक्त में एक-शर्करीयों का आधिक्य हो जाता है तथा रसकुल्या के बांधने से उसके शोषण में कोई बाधा नहीं होती।

मांसतत्त्व का शोषण

आमाशय—सामान्यतः आमाशय में मांसतत्त्व का शोषण बिलकुल नहीं होता।

क्षुद्रान्त्र—क्षुद्रान्त्र में मांसतत्त्व का शोषण शीघ्रता से मुख्यतः आमिषाम्लों के रूप में होता है। शोषण रसांकुरिका की रक्तवाहिनियों से होता है न कि रासायनियों से, जो निम्नांकित बातों से प्रमाणित होता है:—

(क) मांसतत्त्व के शोषण के समय प्रतीहारी रक्त में आमिषाम्लों का आधिक्य हो जाता है।

(ख) रसकुल्या के बांधने से मांसतत्त्व के शोषण में कोई बाधा नहीं होती।

शोषण का परिमाण मांसतत्त्व के प्रकार पर निर्भर करता है। बृहदन्त्र

में प्रविष्ट आहाररस की परीक्षा करने पर उसमें जान्तव मांसतत्त्व बिलकुल नहीं मिलते, किन्तु औद्भिद मांसतत्त्व १५ से ३० प्रतिशत पाए जाते हैं। इससे सिद्ध है कि क्षुद्रान्त्र में दुग्ध, अण्डे, मांस इत्यादि जान्तव मांसतत्त्वों का शोषण पूर्णरूप से हो जाता है, किन्तु औद्भिद मांसतत्त्व ७० से ८५ प्रतिशत ही शोषित होते हैं।

बृहदन्त्र—इसमें रसांकुरिकायें नहीं होतीं तथा अनुलम्ब पेशीसूत्र भी तीन गुच्छों में स्थित रहते हैं। बृहदन्त्र से केवल जल, शर्करा और विलेय लवणों का शोषण होता है। इस प्रकार बृहदन्त्र में न तो पाचन की शक्ति होती है और न शोषण की।

शोषण की प्रक्रिया

पाचन के परिणामस्वरूप उत्पन्न अनेक पदार्थों का शोषण निस्यन्दन, प्रसरण या व्यापन की भौतिक प्रक्रियाओं के कारण ही नहीं होता, बल्कि प्रधानतः कोषाणुओं की शारीर क्रियाओं पर निर्भर करता है। इसके पक्ष में निम्न प्रमाण हैं :—

(१) शोषणकाल में धातुओं के द्वारा अधिक औक्सिजन का उपयोग होता है।

(२) शोषक कला के आवरक कोषाणुओं की क्रिया चयनात्मक होती है यथा इक्षुशर्करा की अपेक्षा द्राक्षशर्करा अधिक शीघ्रता से तथा मैगसल्फ की अपेक्षा सोडियम क्लोराइड अधिक शीघ्रता से शोषित होता है। इसके अतिरिक्त यह चयनात्मक शक्ति कोषाणुओं के आहत या विषाक्त हो जाने पर नष्ट या कम हो जाती है।

(३) अनेक लवणों तथा अन्य पदार्थों का शोषण उनकी प्रसार्यता से स्वतन्त्र रूप से होता है यथा द्राक्षशर्करा का शोषण क्षुद्रान्त्र द्वारा सोडियम क्लोराइड के समान ही शीघ्र होता है यद्यपि उसकी प्रसार्यता उससे कम होती है।

(४) शोषण दबाव के विरुद्ध होता है—क्योंकि अन्त्र की अपेक्षा रक्तवाहिनियों में दबाव अधिक (३० मि० मी०) होता है।

(५) शोषण साधारणतः अविपर्ययात्मक क्रिया है।

(६) यह भी देखा गया है कि यदि उसी प्राणी का रक्तरस क्षुद्रान्त्र में प्रविष्ट कर दिया जाय तो उसके अवयव रक्त के समान होने पर भी उसका पूर्ण शोषण हो जाता है।

चतुर्थ अध्याय

धातुपाक (Metabolism)

स्नेह

पोषणसम्बन्धी इतिहास—दो स्वरूपों में स्नेह का आहार किया जाता है—

(क) स्वतन्त्र स्थिति में—यथा मक्खन, तेल, घी, मोम।

(ख) कोषाणुकला में अन्तर्बद्ध—यथा मेदसंतन्तु।

पाचनजन्य परिवर्तन—

आमाशय—आमाशय में मेदसतन्तु का आवरण आमाशयिक अम्लरस के द्वारा गल जाता है और इस प्रकार अन्तर्बद्ध स्नेह स्वतन्त्र हो जाता है। इस स्नेह का आमाशय के ताप तथा घूर्णनगति के द्वारा पयसीभवन होता है, किन्तु अम्ल प्रतिक्रिया के कारण इसमें कुछ बाधा पड़ती है। पयसीभूत स्नेह के एक अंश पर आमाशयिक स्नेहावर्त्तक की क्रिया होती है और उसका सफेनीकरण हो जाता है, अर्थात् वह स्नेहाम्ल और ग्लिसरीन में परिवर्तित हो जाता है। विशेषतः दुग्धगत स्नेह इस पाचन क्रिया से अधिक प्रभावित होता है।

अन्त्र—अन्त्रों में प्रतिक्रिया क्षारीय होने के कारण स्नेह का पयसीभवन ठीक-ठीक होता है तथा उत्पन्न फेनक के द्वारा भी इस क्रिया में सहायता मिलती है। अन्त्र में उपस्थित पित्तलवणों के द्वारा इस क्रिया में अत्यधिक सहायता होती है। इससे पयसीभूत स्नेह क्षारीय अग्न्याशयिक रस के निकट सम्पर्क में चला आता है और इस प्रकार स्नेहावर्त्तक किण्व की क्रिया इस पर समुचित रूप से हो पाती है तथा पयसीभूत स्नेह का शीघ्रता तथा पूर्णरूप से सफेनीकरण हो जाता है।

शोषण—पित्त स्नेह के शोषण में आवश्यक योग देता है। पित्त के लवण उत्पन्न फेनक को घुला देते हैं और स्नेह विलेय फेनक तथा ग्लिसरीन के रूप में शोषित होता है। रसाङ्कुरिका को आवृत करनेवाले स्तम्भाकार कोषाणुओं में विलेय फेनक तथा ग्लिसरीन पुनः संश्लिष्ट होकर स्नेहकणों में परिवर्तित हो जाते हैं। यह स्नेहकण लसीकाणुओं में प्रविष्ट होकर उनके द्वारा रसाङ्कुरिका की मध्यस्थ पयस्विनी में चले जाते हैं और वहाँ से रसकुल्या के द्वारा हृदय में प्रविष्ट हो जाते हैं। स्नेह का पूर्ण भाग रसायनियों द्वारा शोषित नहीं होता, बल्कि उसका कुछ भाग रक्तवाहिनियों में प्रविष्ट हो जाता है और स्नेहाम्ल का कुछ भाग तथा थोड़ा अपक्व स्नेह पुरीष के साथ निकल जाता है।

सात्मीकरण—शरीर में पाये जानेवाले स्नेह (मेद) का प्राप्ति निम्न-लिखित रूप से होती है—

(१) आहार के साथ लिए गये स्नेह के द्वारा।

(२) मांसतत्त्व के द्वारा।

कुछ आमिषाम्ल सत्त्वशर्करा में परिवर्तित हो जाते हैं और सत्त्वशर्करा पुनः स्नेह में परिणत हो जाती है। इस प्रकार मांसतत्त्व से स्नेह का निर्माण होता है। उसकी विधि निम्न प्रकार की है।

(क) अलेनीन के निरामीकरण से लैक्टिक अम्ल उत्पन्न होता है।

(अलेनिन + जल = लैक्टिक अम्ल + अमोनिया)

(ख) लैक्टिक अम्ल से मेथिलग्लायौक्सल बनता है।

(लैक्टिक अम्ल + जल = मेथिलग्लायौक्सल)

(ग) मेथिलग्लायौक्सल से सत्त्वशर्करा की उत्पत्ति

(मेथिलग्लायौक्सल + २ जल + सत्त्वशर्करा)

प्रायः आमिषाम्लों का ५०% प्रतिशत भाग सत्त्वशर्करा में परिवर्तित हो जाता है अतः भोजन में मांसतत्त्व के आधिक्य से मेदःसञ्चय हो सकता है। स्नेह का सम्पूर्ण भाग शोषित हो कर रक्त में पहुँच जाता है और रक्तमस्तु के लेसिथिन नामक अवयव के द्वारा धातुओं में चला जाता है, रक्तकणों का इसमें कोई भाग नहीं होता।

(३) शाकतत्त्वों के द्वारा

(क) पाचन के द्वारा उत्पन्न कुछ सत्त्वशर्करा का किण्वीकरण होता है और उससे ग्लिसरौल की उत्पत्ति होती है:—

(सत्त्वशर्करा $\rightleftarrows$ ग्लिसरैल्डिहाइड $\rightleftarrows$ ग्लिसरौल)

(ख) शाकतत्त्व के समीकरण से पिरूविक अम्ल बनता है। इसके विश्लेषण से एसीटेल्डीहाइड बन सकते हैं और यह पुनः स्नेहाम्ल और स्नेह में परिवर्तित हो सकते हैं।

स्नेह का अन्तिम परिणाम—रक्त के द्वारा धातुओं तक पहुँचने पर स्नेहकणों में निम्नाङ्कित परिवर्तन होते हैं :—

(१) स्नेह का कुछ भाग शर्करा में परिवर्तित हो जाता है।

(२) मेदःसंचय—स्नेह का कुछ भाग जो तुरत काम में नहीं आता, शरीर में मुख्यतः मध्यान्त्रकला तक मेदसतन्तु के रूप में सञ्चित होने लगता है। शरीर में विजातीय स्नेह को सजातीय स्नेह में परिवर्तित करने की शक्ति होती है, किन्तु यह शक्ति सीमित होने के कारण यदि विजातीय स्नेह का सेवन अधिक मात्रा में किया जाय, तो उनका उसी रूप में सञ्चय होने लगता है।

(३) सञ्चित स्नेह का जलीय विश्लेषण हो कर वह धातुओं तक पहुँचता है और वहाँ शर्करा की भाँति अन्तःकोषाणवीय किण्वतत्त्वों के द्वारा ओषजनीकरण होने के बाद उससे शक्ति उत्पन्न होती है और वह कार्बनडाई-औक्साइड और जल में परिणत हो जाता है। इसकी पूरी प्रक्रिया अभी तक ज्ञात नहीं है। पूर्ण ओषजनीकरण न होने से इससे ब्यूटिरिक अम्ल तथा आक्सिब्यूटिरिक अम्ल उत्पन्न होता है।

(४) कुछ स्नेह स्फुरकयुक्त स्नेह में परिवर्तित हो जाता है यथा लेसिथिन।

(५) स्नेह का उत्सर्ग—स्नेहाम्ल तथा उदासीन स्नेह अधिक परिमाण में पुरीष के साथ उत्सृष्ट होते हैं। उपवासकाल में भी पुरीष में स्नेह का पर्याप्त भाग रहता है।

स्नेह के कार्य
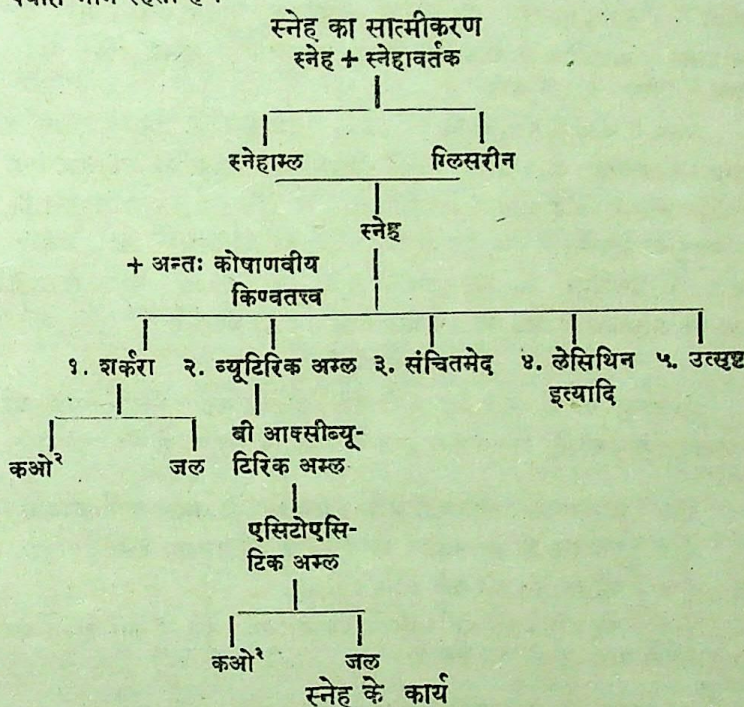
(१) स्नेह का सबसे बड़ा कार्य ताप और शक्ति उत्पन्न करना है। एक ग्राम स्नेह ९.४ केलोरी ताप उत्पन्न करता है जब कि एक ग्राम श्वेतसार केवल ४.० केलोरी उत्पन्न करता है। निम्नश्रेणी के स्नेहाम्लों का अधिक अनुपात रहने पर स्नेह की तापोत्पादक शक्ति भी कम हो जाती है।

(२) स्नेह शरीर में आसानी से सञ्चित हो जाता है और इस प्रकार शरीर में शक्ति का एक सञ्चित कोष बनाने में यह मुख्य साधन है।

(३) प्राकृतिक स्नेह में जीवनीय द्रव्य ए और डी का आधिक्य होता है, जो अस्थि की वृद्धि और निर्माण के लिए अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है।[१]

मांसतत्त्व

पोषणसम्बन्धी इतिहास

मांसतत्त्व स्थावर या जङ्गम रूप में, विशेषतः शारीरमांसतत्त्व, स्फुरक-मांसतत्त्व और केन्द्रक मांसतत्त्व के रूप में लिये जाते हैं।

पाचनसम्बन्धी परिवर्तन

आमाशय में शारीर मांसतत्त्व सर्वप्रथम फूल जाते हैं और आम्लिक मांस-तत्त्व में परिणत हो जाते हैं। इस पर पुनः आमाशयिक पाचकतत्त्व की क्रिया होती है और वह प्राथमिक मांसतत्त्वौज, द्वितीयक मांसतत्त्वौज तथा मांस-तत्त्वसार में परिवर्तित हो जाता है। सामान्य अवस्था में, इससे अधिक आमा-शय में परिवर्त्तन नहीं होते।

अन्त्र में अन्त्रीय पाचकतत्त्व की क्रिया आमाशय में उत्पन्न मांसतत्त्वौज तथा मांसतत्त्वसार पर होती है, जिसके कारण वह बहुपाचित मांसतत्त्व तथा विविध आमिषाम्ल इत्यादि में विश्लेषित हो जाते हैं। यह देखा गया है कि अनशन की अवस्था में एक कुत्ते के प्रति १०० घन सेंटीमीटर रक्त में लगभग ४ या ५ मिलीग्राम आमिषनत्रजन (Amino-nitrogen) पाया जाता है जब कि मांसाहार के बाद वह १५ मिलीग्राम तक हो जाता है।

शोषण

मांसतत्त्वों का शोषण आमाशय से नहीं होता। यद्यपि मांसतत्त्वसार, जो आमाशय में बनते हैं, प्रसरणशील द्रव्य हैं, तथापि उनका शोषण नहीं होता, क्योंकि

(१) मांसतत्त्वसार रक्तप्रवाह में जाने पर विष के समान कार्य करते हैं।

(२) वह रक्त की स्वाभाविक स्कन्दनीयता को नष्ट कर देते हैं।

(३) वह रक्तभार को कम कर देते हैं।

(४) वह केशिकाओं को अधिक प्रवेश्य बना देते हैं और इस प्रकार लसीका के उत्पादन को बढ़ा देते हैं।

---

१. स्नेहना जीवना वर्ण्या बलोपचयवर्धनाः।
स्नेहा ह्येते च विहिता वातपित्तकफापहाः॥—च० सू० १
'स्मृतिबुद्ध्यग्निशुक्रौजःकफमेदोविवर्धनम्।
वातपित्तविषोन्मादशोषालक्ष्मीविषापहम्॥
सर्वस्नेहोत्तमं शीतं मधुरं रसपाकयोः।
सहस्रवीर्यं विधिवद्घृतं कर्मसहस्रकृत्॥'—च० सू० २७
(देखिये सु० सू० ४५ अ०)

अधिकांश मांसतत्त्वों का शोषण क्षुद्रान्त्र से होता है। प्रायः समस्त जांगम मांसतत्त्व तथा ७० से ८५ प्रतिशत स्थावर मांसतत्त्व का यहां से शोषण होता है। यह शोषण रक्तवह स्रोतों के द्वारा होता है न कि रसायनियों के द्वारा। प्रयोगों द्वारा यह निश्चित किया गया है कि उपवास करते हुये कुत्ते के प्रतीहारी-रक्त में प्रति १०० घन सेण्टीमीटर रक्त में लगभग ४ से ५ मिलीग्राम आमिषनत्रजन मिलता है जो कि मांसाहार के बाद १० से १४ मिलीग्राम तक बढ़ जाता है। इससे यह भी सिद्ध है कि मांसतत्त्वों का शोषण आमिषाम्लों के रूप में होता है।

सात्मीकरण

इस प्रकार मांसतत्त्वविश्लेषण से उत्पन्न द्रव्य जो यकृत् में पहुँचते हैं, उनमें आमिषाम्ल, अमोनिया और केन्द्रकाम्ल मुख्य हैं। शोषित आमिषाम्ल दो वर्गों में विभक्त हो जाते हैं:—

१. सारिवक (Fuel) (२) तात्त्विक (Essential)

सात्त्विक आमिषाम्ल

अधिकांश सात्त्विक आमिषाम्लों का मुख्यतः यकृत् तथा कुछ धातुओं में भी निरामीकरण होता है और वह विश्लिष्ट होकर दो भागों में विभक्त हो जाते हैं—

(१) नत्रजनयुक्त भाग (Nitrogenous) (२) नत्रजनरहित भाग (Non-nitrogenous)

नत्रजनयुक्त भाग का अन्तिम परिणाम

(१) नत्रजनयुक्त वर्ग (NH_2) का निरामीकरण ओषजनीकरण के द्वारा होता है। ओषजनीकरण से NH_2 वर्ग अमोनिया में परिणत हो जाता है और वह कोषाणुओं में विद्यमान कार्बोनिक अम्ल से मिल कर अमोनियम कार्बोनेट में बदल जाता है। उसका विश्लेषण होने पर अमोनियम कार्बोनेट बनता है और उससे पुनः जलविश्लेषण के बाद यूरिया की उत्पत्ति होती है।

$$O=C<^{ONH_4}_{ONH_4} \quad O=C<^{ONH_4}_{NH_2} \quad O=C<^{NH_2}_{NH_2}$$
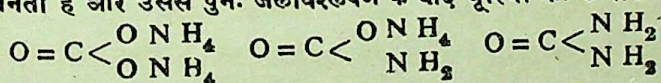
(अमोनियम कार्बोनेट) (अमोनियम कार्बोनेट) (यूरिया)

आजकल यह समझा जाता है कि एक द्वि-आमिषाम्ल, आर्निथिन, प्रवर्त्तक के रूप में अमोनिया के यौगिकों से यूरिया की उत्पत्ति में महत्त्वपूर्ण योग देता है। यह आर्निथिन अमोनिया और कार्बन डाइ-ऑक्साइड से मिलकर आर्गिनिन नामक द्रव्य में परिणत हो जाता है। यह पुनः यकृत् तथा वृक्क में उपस्थित 'अरिगणावर्तक' (Arginase) नामक किण्वतत्त्व के द्वारा यूरिया और आर्निथिन में विघटित हो जाता है। इस प्रकार आर्निथिन सदैव उपयोग में आता रहता है।

$C_6 H_{14} N_4 O_2 + H_2o = Co (N H_2) 2 + C_5 H_{12} N_2 o_2$
(आर्गिनिन) (यूरिया) (आर्निथिन)
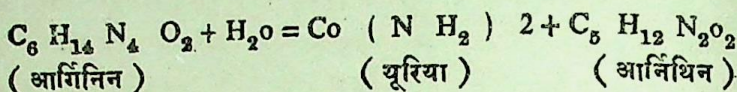
वार्नर के मत के अनुसार, आमिषाम्लों के ओषजनीकरण से सायनिक अम्ल की उत्पत्ति होती है :—

$N H_4 Hco_3 - 2 H_2o = HN-C-o$
(अमोनियम बाइकार्ब) (सायनिक अम्ल)
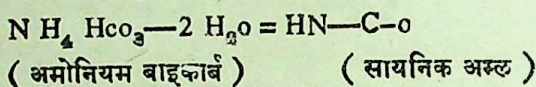
इस सायनिक अम्ल का अंशतः जलीय विश्लेषण होता है और वह अमोनिया और कार्बन डाइ-ऑक्साइड में विभक्त हो जाता है :—

$H N. C. o + H_2o = N H_3 + Co_2$
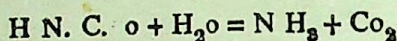
इस प्रकार उत्पन्न अमोनिया सायनिक अम्ल के अविश्लेषित भाग से मिल जाता है और यूरिया बनता है :—

$H N. C. O + N H_3 = H N. Co. N H_3$
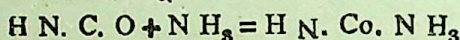
(२) आमिषाम्लों के निरामीकरण के द्वारा उत्पन्न अमोनिया यूरिया के निर्माण के अतिरिक्त निम्नांकित रूप से अन्य महत्त्वपूर्ण योग देता है :—

सभी आहारद्रव्यों के पाकक्रम में तथा पेशियों की क्रिया के फलस्वरूप अम्लों की उत्पत्ति होती है, यथा—

(क) लैक्टिक अम्ल पेशियों की क्रिया तथा शाकतत्त्व के सात्मीकरण से उत्पन्न होता है।

(ख) हाइड्रोक्सिब्यूटिरिक अम्ल स्नेह द्रव्यों से।

(ग) हाइड्रोक्सि या कटु अम्लों की उत्पत्ति मांसतत्त्वों से।

यदि इन अम्लों को उदासीन बनाकर निष्क्रिय न कर दिया जाय तो इनसे रक्त का उदजनकेन्द्रीभवन बढ़ जायगा किन्तु मांसतत्त्वों के निरामीकरण से प्राप्त अमोनिया इन अम्लों से संयुक्त होकर लवण बनाता है जो रक्त की स्वाभाविक क्षारीयता को बनाये रखने में सहायता करता है। इस प्रकार आमिषाम्लों के निरामीकरण से उत्पन्न अमोनिया सात्मीकरणसम्बन्धी क्रियाओं के क्रम में उत्पन्न हानिकारक द्रव्यों से शरीर की रक्षा करता है और इसलिए यह शरीर का प्रधान रक्षक माना गया है।

(ख) नत्रजनरहित भाग का अन्तिम परिणाम

आमिषाम्लों का अवशिष्ट नत्रजनरहित भाग (कार्बन, हाइड्रोजन और ऑक्सिजन) पूर्ण ज्वलनशील फलतः ताप और शक्ति उत्पन्न करने योग्य रूप में रहता है। अतः इन आमिषाम्लों को 'सात्त्विक' आमिषाम्ल कहते हैं। यह नत्रजन-रहित भाग स्नेह और शाकतत्त्वों के समान ताप और शक्ति उत्पन्न करने का ही कार्य करता है। इसके अतिरिक्त यह सात्मीकरण को उत्तेजित करता है और इसीलिए मांसतत्त्वों को विशिष्टप्रेरक क्रियाशील कहा गया है।

तात्त्विक आमिषाम्ल

मांसतत्त्वों का बहुत थोड़ा अंश तात्त्विक आमिषाम्लों के रूप में अपरिवर्तित अवस्था में ही यकृत् से होता हुआ रक्त के द्वारा शरीर के विभिन्न धातुओं में पहुँचता है। वहाँ यह पुनः संगठित होकर विभिन्न धातुओं में व्यवस्थित हो जाता है और उससे विशिष्ट धातुगत मांसतत्त्व बनते हैं, यथा मांसधातु में मायोसिनोजन और अन्य मांसतत्त्व, रक्त में रक्तरसगत अलब्यूमिन तथा अन्य रक्तगत मांसतत्त्व। दूसरे शब्दों में, मांसतत्त्व के इस अंश से जीवित ओजःसार का निर्माण होता है, जो क्षीणधातुओं की पूर्ति तथा वृद्धिशील बालकों में नवीन धातुओं की उत्पत्ति का कार्य करता है।[1] इसे 'अन्तर्जात सात्मीकरण' (Endogenous Metabolism) कहते हैं। प्रयोगों द्वारा यह देखा गया है कि तात्त्विक आमिषाम्लों को रक्त में प्रविष्ट करने पर यकृत् में उनका निरामीकरण नहीं होता और इसलिए मूत्रलवण के रूप में वह प्रकट नहीं होते। इन्हीं प्रयोगों द्वारा यह भी पाया गया है कि ट्रिप्टोफेन शरीरभार को स्थायी रखने के लिए आवश्यक है तथा लाइसिन, सिस्टीन, हिस्टीडिन शरीर की वृद्धि के लिए आवश्यक है। जन्तुओं को उपर्युक्त तत्त्वों से रहित आहार देने पर उनकी वृद्धि रुक जाती है और उन तत्त्वों के देने पर वृद्धि पुनः प्रारम्भ हो जाती है। दुग्ध इन तत्त्वों से परिपूर्ण होने के कारण बच्चों के विकास के लिए एकमात्र आहार माना गया है। इन तत्त्वों से यह सिद्ध है कि वृद्धि के लिए मांसतत्त्वों का परिमाण उतना

---

१. विविधमशितं पीतं लीढं खादितं जन्तोर्हितमन्तरग्निसंधुक्षितबलेन यथास्वेनोष्मणा सम्यग्विपच्यमानं कालवदनवस्थितसर्वधातुपाकमनुपहत-सर्वधातूष्ममारुतस्रोतः केवलं शरीरमुपचयबलवर्णसुखायुषा योजयति शरीर-धातूनूर्जयति च; धातवो हि धात्वाहाराः प्रकृतिमनुवर्त्तन्ते।

तत्राहारप्रसादाख्यो रसः किट्टं च मलाख्यमभिनिर्वर्तते। किट्टात् स्वेदमूत्र-पुरीषवातपित्तश्लेष्माणः कर्णाक्षिनासिकास्यलोमकूपप्रजननमलाः केशश्मश्रुलोमन-खादयश्चावयवाः पुष्यन्ति, पुष्यन्ति त्वाहाररसाद् रसरुधिरमांसमेदोस्थिमज्ज-शुक्रौजांसि पंचेन्द्रियद्रव्याणि धातुप्रसादसंज्ञकानि शरीरसंधिबन्धनपिच्छादय-श्चावयवाः।—च० सू० २८

भौमाप्याग्नेयवायव्याः पञ्चोष्माणः सनाभसाः।
पञ्चाहारगुणान् स्वान् स्वान् पार्थिवादीन् पचन्ति हि॥
यथास्वं स्वं च पुष्यन्ति देहे द्रव्यगुणाः पृथक्।
पार्थिवाः पार्थिवानेव शेषाः शेषांश्च कृत्स्नशः॥'

'षड्भिः केचिदहोरात्रैरिच्छन्ति परिवर्त्तनम्।
सन्तत्या भोज्यधातूनां परिवृत्तिस्तु चक्रवत्॥'—च० चि० १५

अधिक आवश्यक नहीं, जितना कि उनका गुणधर्म अर्थात् शरीर की वृद्धि के लिए निर्मापक शिलाओं के समान तात्त्विक आमिषाम्लों की समुचित प्राप्ति आवश्यक है। कुछ मांसतत्त्वों में यह तात्त्विक आमिषाम्ल प्रचुर परिमाण में होते हैं और ऐसे मांसतत्त्वों का जीवनसंबन्धी मूल्य भी अधिक समझा जाता है। नियमतः जांगम मांसतत्त्व इसी श्रेणी में आते हैं और इसलिए उन्हें प्रथम श्रेणी का मांसतत्त्व कहा गया है। प्राकृत भोजन में १०० से २०० ग्राम मांसतत्त्व होना चाहिये जिसमें कम से कम ३७ ग्राम प्रथम श्रेणी का मांसतत्त्व होना चाहिए।

यह तात्त्विक आमिषाम्ल बच्चों में वृद्धि के लिए नितान्त आवश्यक है तथा युवा व्यक्तियों में भी व्याधिमोक्ष की अवस्था में इनकी आवश्यकता होती है क्योंकि रुग्णावस्था में क्षीण धातुओं की पूर्ति के लिए यह अत्यन्त आवश्यक होते हैं। यह अनुमान किया गया है कि युवा व्यक्तियों के धातुकोषाणुओं में धातुनिर्माण के लिए आवश्यक शिलारूप तत्त्वों का समन्वय करने की शक्ति होती है और इस समन्वय कार्य के लिए जीवनीय द्रव्यों को आवश्यक माना गया है। इस कार्य के द्वारा आमिषाम्ल पुनः संघटित होकर मांसतत्त्व में परिणत हो जाते हैं। धातुओं में इस विशिष्ट गुणधर्म की सत्ता अनेक प्रयोगों द्वारा प्रमाणित की गई है। कुछ कुत्तों को कुछ महीनों तक केवल आमिषाम्लों के मिश्रण पर रक्खा गया और कोई मांसतत्त्व नहीं दिया गया, फिर भी उनका शरीर मांसल और विकसित हो गया।

भोजन के साथ कितना भी मांसतत्त्व लिया जाय, किन्तु उसके कुछ अंश का ही इस प्रकार तात्त्विक उपयोग होता है। अवशिष्ट भाग का यकृत् में निरामीकरण होता है जिससे उसका नत्रजनयुक्त भाग यूरिया में परिणत हो जाता है और शरीर से मल के रूप में बाहर निकल जाता है। कटु अम्ल स्नेह और शर्करा में परिवर्तित हो जाते हैं तथा ताप और शक्ति उत्पन्न करते हैं। इसे 'बहिर्जात सात्मीकरण' (Exogenous metabolism) कहते हैं।

आमिषाम्लों का समन्वय

मेण्डल ने प्रयोग द्वारा इसे सिद्ध किया है। उसने एक कुत्ते के बच्चे को ऐसे मांसतत्त्वों पर रक्खा, जिनमें लायसिन तथा अन्य आमिषाम्ल अनुपस्थित थे। इस आहार से उसके शरीर की वृद्धि नहीं हुई। जब उसकी माता को वही आहार दिया गया तो उसके शरीर की वृद्धि होने लगी और उसके स्तन्य से उसका बच्चा भी बढ़ने लगा। इससे प्रमाणित होता है कि आवश्यक तात्त्विक आमिषाम्लों का उसके शरीर में समन्वय हुआ और उसी के फलस्वरूप उसके शरीर का विकास हुआ।

ऐसा समझा जाता है कि यह तात्त्विक आमिषाम्ल धातुनिर्माण के लिए आवश्यक कुछ अन्तःस्रावों को शरीर में उत्पन्न करने की क्षमता रखते हैं। इसके पक्ष में एक यह भी प्रमाण है कि अद्रिनिलीन तथा थायरौक्सीन रासायनिक संघटन में टायरौसीन से अत्यन्त निकटतः सम्बद्ध है।

इस प्रकार शरीर में उत्पन्न धातुगत मांसतत्त्वों में भी क्षयात्मक परिवर्तन (Katabolic changes) होते हैं। यह अन्तःकोषाणवीय किण्वतत्त्व के द्वारा मांसतत्त्वों के विश्लेषण के रूप में होता है, अतः इसे 'आत्मविश्लेषण' (Autolysis) कहते हैं। इस विश्लेषण से उत्पन्न अन्तिम द्रव्य यूरिया, क्रिएटिनीन, मूत्राम्ल तथा उड़नशील सलफेट मल के रूप में शरीर से उत्सृष्ट होते हैं। इसलिए मांसतत्त्व का क्षय दो प्रकार का होता है :—

(१) बहिर्जात—यह आहार के परिणाम के अनुसार होता है और इससे यूरिया तथा निरिन्द्रिय सलफेट बनते हैं।

(२) अन्तर्जात—जो सदा एक समान और कम मात्रा में होता है और जिससे यूरिया, क्रिएटिनीन तथा उड़नशील सलफेट बनते हैं।

मांसतत्त्व के कार्य

(१) आमिषाम्लों के नत्रजनरहित भाग, जो स्नेह और शर्करा में परिणत हो जाते हैं, के कारण मांसतत्त्व ताप और शक्ति उत्पन्न करता है। १ ग्राम मांसतत्त्व ४·१ कैलोरी ताप उत्पन्न करता है।

(२) मांसतत्त्व के तात्त्विक आमिषाम्लों से नये धातुगत मांसतत्त्व बन जाते हैं और इस प्रकार शरीर की क्षतिपूर्ति होती है। नवीन धातुओं की वृद्धि और क्षतिपूर्ति के लिए आवश्यक नत्रजन और गन्धक का एक मात्र साधन यही तात्त्विक आमिषाम्ल हैं।

(३) आमिषाम्लों का उपयोग शरीर में किण्वतत्त्वों तथा अन्तःस्रावों के निर्माण में भी होता है।

(४) उनमें एक विशिष्ट प्रेरक क्रिया होती है, जिससे शरीर की सात्मीकरण क्रियायें उत्तेजित होती हैं।[1]

---

१. 'मांसं बृंहणीयानाम् ।'—च० सू० २५,
'शुष्यते क्षीणमांसाय कल्पितानि विधानवित् ।
दद्यान्मांसादमांसानि बृंहणानि विशेषतः ॥"—च० चि० ८,
'धार्तराष्ट्रचकोराणां दक्षाणां शिखिनामपि ।
चटकानां च यानि स्युरण्डानि च हितानि च ॥
क्षीणरेतःसु, कासेषु हृद्रोगेषु क्षतेषु च ।
मधुराण्यविदाहीनि सद्योबलकराणि च ॥
शरीरबृंहणे नान्यदाद्यं मांसाद् विशिष्यते ।'—च० सू० २७,

मांसतत्त्व का सात्मीकरण
मांसतत्त्व
आम्लिक या क्षारीय मांसतत्त्व + आमाशयिक पाचकतत्त्व
मांसतत्त्वौज
मांसतत्त्वसार + आन्त्रिक पाचकतत्त्व
तात्त्विक आमिषाम्ल + अन्तः कोषाणवीय निर्मापक किण्वतत्त्व
धातुगतमांसतत्त्व + अन्तः कोषाणवीय विनाशक किण्वतत्त्व
Co_2
जल
सलफट
क्रिएटिनीन
यूरिया
(अन्तर्जात)
सात्त्विक आमिषाम्ल + निरामीकरण किण्वतत्त्व
NH_2
NH_3 (अमोनिया)
$(NH_4)_2Co_3$
$-H_2O$
$(NH_3)_2Co_2$
$-H_2O$
$Co(NH_2)_2$
(यूरिया)
हानिकारक अम्लों का स्नेह + उदासीनीकरण
नत्रजनरहित अवशेष कटु अम्ल + अन्तः कोषाणवीय निर्मापक किण्वतत्त्व
अंतःकोषाणवीय वि० कि०
ग्लाइकोजन
Co_2
जल
Co_2
जल
(बहिर्जात)
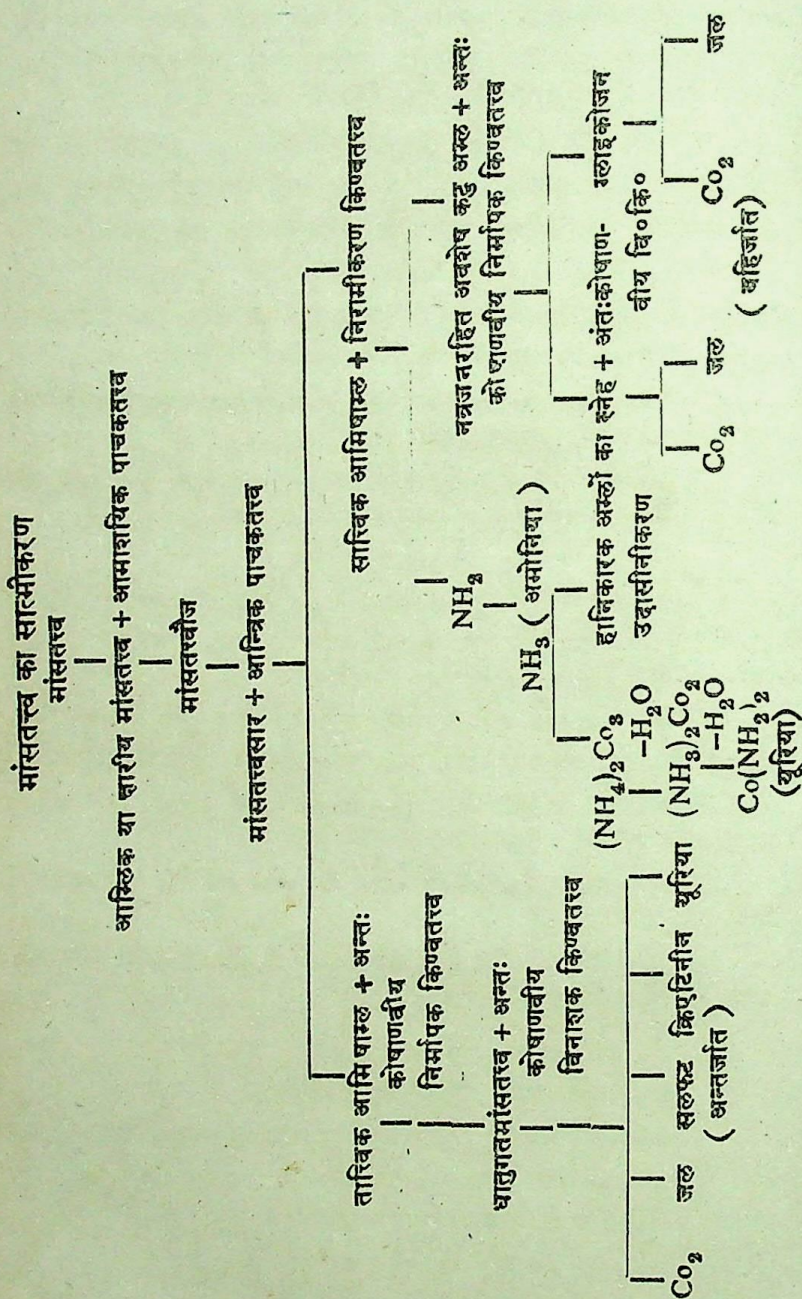
शाकतत्त्व

पोषणसम्बन्धी इतिहास

स्वरूप—शाकतत्त्व मुख्यतः श्वेतसार यथा रोटी, चावल, आलू इत्यादि के रूप में लिया जाता है। इसके अतिरिक्त द्विशर्करीय यथा इक्षुशर्करा और दुग्धशर्करा तथा एकशर्करीय यथा सत्त्वशर्करा और फलशर्करा इत्यादि के रूप में भी यह आहार के साथ लिया जाता है।

पाचनसम्बन्धी परिवर्तन

श्वेतसार पर सर्वप्रथम मुख में लालिक किण्वतत्त्व की क्रिया प्रारम्भ हो जाती है और आमाशय के स्कन्ध तक होती रहती है। उसके द्वारा श्वेतसार द्राक्षीन तथा यवशर्करा में परिणत हो जाते हैं। क्षुद्रान्त्र में श्वेतसारविश्लेषक की क्रिया होती है जिससे यह यवशर्करा में परिवर्तित हो जाता है। उपर्युक्त दोनों प्रकार से उत्पन्न यवशर्करा पर अन्त्रीय रस के यवशर्करावर्तक किण्वतत्त्व की क्रिया होती है और वह सत्त्वशर्करा तथा फलशर्करा में परिवर्तित हो जाती है। इक्षुशर्करा (द्विशर्करीय) पर आमाशय में आमाशयिक रस के उदहरिताम्ल की कुछ क्रिया होती है और उसे सत्त्वशर्करा और फलशर्करा में परिवर्तित कर देता है। अवशिष्ट इक्षुशर्करा तथा दुग्धशर्करा पर इक्षु-शर्करावर्तक तथा दुग्धशर्करावर्तक की क्रमशः क्रिया होती है और वह एक-शर्करीय में परिणत हो जाती हैं। इस प्रकार किसी भी रूप में शाकतत्त्वों का आहार करने से वह एकशर्करीय में परिवर्तित हो जाते हैं और इस रूप में वह शोषण के योग्य हो जाते हैं। यदि इक्षुशर्करा अधिक मात्रा में ली जाय तो उसका एक अंश रक्त में शोषित हो जाता है, जिसका उत्सर्ग वृक्कों द्वारा होता है और वह मूत्र में प्रकट होता है।

शोषण

आमाशय से एक—शर्करीय का निश्चित सान्द्रता रहने पर ही शोषण होता है। अन्त्र से उनका शोषण रक्तवह स्रोतों के द्वारा होता है और वह प्रतीहारी-रक्त में होते हुये यकृत् में चले जाते हैं।

सात्मीकरण

एकशर्करीय शोषित होकर यकृत् में चले जाते हैं। दुग्धशर्करा (Glactose) और मधुशर्करा सत्त्वशर्करा में परिणत हो जाती हैं। इस प्रकार उत्पन्न सत्वशर्करा बहुशर्करीय शर्करा-जनक (Glycogen) या प्राणिज श्वेतसार में जाती है। इस शर्कराजनक की उत्पत्ति यकृत् कोषाणुओं की जीवनी क्रियाओं के कारण होती है। इसके निम्नांकित प्रमाण हैं :—

(१) शाकतत्त्वबहुल आहार करने पर जब सत्त्वशर्करा का शोषण होता रहता है तब प्रतीहारी-रक्त में वह ०.२ से ०.४ प्रतिशत रहती है जब कि सांस्थानिक रक्तप्रवाह में लगभग ०.१ प्रतिशत ही मिलती है। इससे स्पष्ट है कि यकृत् में प्रतीहारिणी सिराओं के द्वारा जो रक्त पहुँचता है, उससे कुछ सत्त्वशर्करा यकृत् पृथक् कर देती है।

(२) यकृत् में वह विभिन्न परिमाणों में उपस्थित रहता है। उपवास की अवस्था में यह नितान्त अनुपस्थित रहता है तथा शाकतत्त्व-प्रचुर भोजन के बाद १० से १५ प्रतिशत मिल सकता है। सामान्यतः सत्त्वशर्करा से दसगुना शर्कराजनक पाया जाता है। पेशियों में भी विश्राम काल में ०.५ से ०.९ प्रतिशत मिलता है, किन्तु सङ्कोच काल में उसका उपयोग हो जाने के कारण वह नहीं मिलता।

(३) यकृत् में जब शुद्ध रक्त की कमी हो जाती है, तब शर्कराजनक की मात्रा भी घट जाती है।

इस प्रकार शाकतत्त्वों को आहार में किसी रूप में लेने पर वह शर्कराजनक के रूप में ही यकृत् में परिणत होते और उसी रूप में सञ्चित होते हैं। सत्त्वशर्करा, फलशर्करा एवं मधुशर्करा से शर्कराजनक बनाने की इस क्रिया को शर्कराजनकोत्पत्ति (Glycogenesis) कहते हैं। यह क्षमता यकृत् में ही होती है। इसके अतिरिक्त यकृत् ही एक ऐसा अङ्ग है जो आमिषाम्ल, ग्लिसरोल तथा वसाम्लों से भी शर्कराजनक का उत्पादन कर सकता है। इस प्रकार से शर्कराजनक की उत्पत्ति को 'नवशर्कराजनकोत्पत्ति' (Glyconeogenesis) कहते हैं।

शर्कराजनक (Glycogen)

गुणधर्म :—यह एक श्वेत चूर्ण है जिसको जल में मिलाने पर पिच्छिल विलयन बनता है। यह ईथर और मद्यसार में अविलेय है। शाकतत्त्व-बहुल आहार देने के चार घण्टे बाद एक मारित पशु के यकृत् खण्डों को उबलते जल में डालकर इसे प्राप्त किया जा सकता है।

उत्पत्ति

(क) शाकतत्त्व से—प्रतीहारी रक्त के द्वारा जो शोषित एकशर्करीय यकृत् कोषाणुओं में पहुँचते हैं, उन्हीं से शर्कराजनक की उत्पत्ति होती है। सभी एक-शर्करीय से सम परिमाण में शर्कराजनक का निर्माण नहीं होता। यह देखा गया है कि सत्त्वशर्करा की अपेक्षा फलशर्करा से इसका निर्माण अधिक मात्रा में होता है। द्विशर्करीय से शर्कराजनक की उत्पत्ति नहीं होती। यदि इक्षुशर्करा का प्रतीहारिणी सिरा में अन्तःक्षेप किया जाय तो वह यकृत्

से अपरिवर्तित रूप में बाहर चला आता है और उसी रूप में सांस्थानिक रक्त में पाया जाता है।

(ख) मांसतत्त्व से—यह देखा गया है कि यदि केवल मांसतत्त्वमय आहार पर किसी को रखा जाय, तब भी उसके यकृत् में शर्कराजनक की उपलब्धि होती है। अतः यह सिद्ध है कि मांसतत्त्व से भी शर्कराजनक की उत्पत्ति होती है। यह निम्नप्रकार से होता है :—

(१) कुछ मांसतत्त्व तो स्वयं शाकतत्त्वयुक्त होते हैं, अतः उसी से शर्कराजनक की उत्पत्ति होती है।

(२) आमिषाम्लों से भी इसका निर्माण पर्याप्त मात्रा में होता है।

(ग) स्नेह से—स्नेह से शर्कराजनक की उत्पत्ति नहीं होती, फिर भी आहार में स्नेह की मात्रा बढ़ा देने पर यकृत् में शर्कराजनक की मात्रा अधिक हो जाती है। इसका कारण शर्कराजनक का अधिक निर्माण नहीं है, बल्कि शक्त्युत्पादन का कार्य स्नेह से सम्पन्न हो जाने के कारण शर्कराजनक का व्यय कम होता है। इस प्रकार स्नेह 'शर्कराजनकरक्षक' (Glycogen-sparer) के रूप में कार्य करता है।

शर्कराजनक का भविष्य

सन् १८५७ में सर्वप्रथम क्लॉड बर्नर्ड ने शर्कराजनक का आविष्कार किया और उसने बतलाया कि वह शाकतत्त्व का सञ्चित कोष है जिसका उपयोग शरीर की आवश्यकताओं के अनुसार होता है। ऊपर कहा जा चुका है कि सम्पूर्ण शाकतत्त्व शोषित होकर एक-शर्करीय रूप में यकृत् में पहुँचते हैं और वहाँ शर्कराजनक (बहुशर्करीय) में परिवर्तित हो जाते हैं। इस क्रिया को 'शर्कराजनकोत्पत्ति' कहते हैं। यह यकृत् में सञ्चित रहता है और क्रमशः सत्त्वशर्करा में पुनः परिणत होकर सांस्थानिक रक्त में प्रविष्ट होता है और उसी के साथ-साथ धातुओं में पहुँचता है। यकृत् में स्थित शर्कराजनक का सत्त्वशर्करा में परिणाम 'शर्कराजनक-विश्लेषण' (Glycogenolysis) कहलाता है। यह क्रिया एक किण्वतत्त्व के कारण होती है, जिसे 'यकृदावर्तक' या 'शर्कराजनकविश्लेषक' (Liver diatase or Glycogenase) कहते हैं। इस किण्वतत्त्व की क्रिया निम्नलिखित अवस्थाओं में बढ़ जाती है :—

(क) यकृत् रक्तसंवहन का अवरोध

(ख) श्वासावरोध (ग) तीव्र रक्तस्राव

इसलिए इन अवस्थाओं में रक्त में शर्कराधिक्य (Hyperglyecmia)

की अवस्था उत्पन्न हो जाती है। शर्कराजनक के विश्लेषण की क्रिया पर अधिवृक्क, अवटु और अन्याशय के अन्तःस्रावों का भी प्रभाव पड़ता है।

इस प्रकार शर्कराजनक से उत्पन्न सत्वशर्करा सांस्थानिक रक्तसंवहन के द्वारा पेशियों में पहुँच जाती है और वहाँ पेशीगत (Muscle glycogen) के रूप में संचित होती है। पेशियों की क्रिया के समय यह पुनः सत्वशर्करा में परिणत हो जाता है, ओषजन के साथ संयुक्त होकर ताप और शक्ति उत्पन्न करता है, तथा अन्त में कार्बनडाईऑक्साइड और जल में परिणत हो जाता है। इस क्रिया को 'शर्कराविश्लेषण' (Glycolysis) कहते हैं।

इस प्रकार सम्पूर्ण शोषित शाकतत्त्व शरीर में उपयुक्त नहीं होता, बल्कि उसका एक अंश स्नेह में परिणत हो जाता है। केवल शाकतत्त्व का आहार करने से यकृत् में शर्कराजनक के साथ-साथ स्नेहकरण भी संचित होने लगते हैं। इसी कारण प्रारम्भ में पेवी का यह मत था कि सम्पूर्ण शर्कराजनक स्नेह में परिणत हो जाता है। दूसरे शब्दों में, वह समझते थे कि शरीर में ताप और शक्ति स्नेह के द्वारा ही उत्पन्न होती है और शर्करा भी स्नेह में रूपान्तरित होने पर शक्त्युत्पादन में समर्थ होती है।

शाकतत्त्व के कार्य

(१) शक्त्युत्पादन इसका मुख्य कार्य है।

(२) ताप की उत्पत्ति में महत्वपूर्ण योग देता है।

(३) जब शाकतत्त्व और स्नेह अनुपस्थित रहते हैं, तब मांसतत्त्व का ही उपयोग होता है। अतः यह प्रधान 'मांसतत्त्वरक्षक' के रूप में कार्य करता है।

(४) शर्करायुक्त मांसतत्त्वों के निर्माण में भाग लेता है।

(५) स्नेह के शक्त्युत्पादन कार्य की सम्पूर्णता के लिए इसकी उपस्थिति आवश्यक है। इसीलिए यह लोकोक्ति है कि 'स्नेह शाकतत्त्व की आग में प्रज्वलित होते हैं।'[1]

---

१. स्नेह के अपूर्ण पाक से उत्पन्न अम्लभाव तथा तज्जन्य दाह आदि लक्षणों को दूर करने के कारण संभवतः शर्करा को आयुर्वेद में पित्तशामक कहा गया है--

'यावत्यः शर्कराः प्रोक्ताः सर्वा दाहप्रणाशनाः।
रक्तपित्तप्रशमनाश्छर्दिमूर्च्छातृषापहाः॥'--सु० सू० ४५
'तृष्णासृक्पित्तदाहेषु प्रशस्ताः सर्वशर्कराः।'--च० सू० २७

तालिका

श्वेतसार + लालिक किण्वतत्त्व और शाकतत्त्वविश्लेषक

|

विलेय श्वेतसार (Erythrodextrin)

|

अर्कद्राक्षीन (Adhroodextrin)

|

यवशर्करा + यवशर्करावर्तक

|

एकशर्करीय

+ यकृत् कोषाणु | + यकृत् कोषाणु | + जीवाणु

(१) शर्कराजनक — (२) स्नेह — लैक्टिक अम्ल, सिरकाम्ल, ब्यूटिरिक अम्ल, सक्सीनिक „, मद्यसार, Co_2, जल, CH_2, हाइड्रोजन
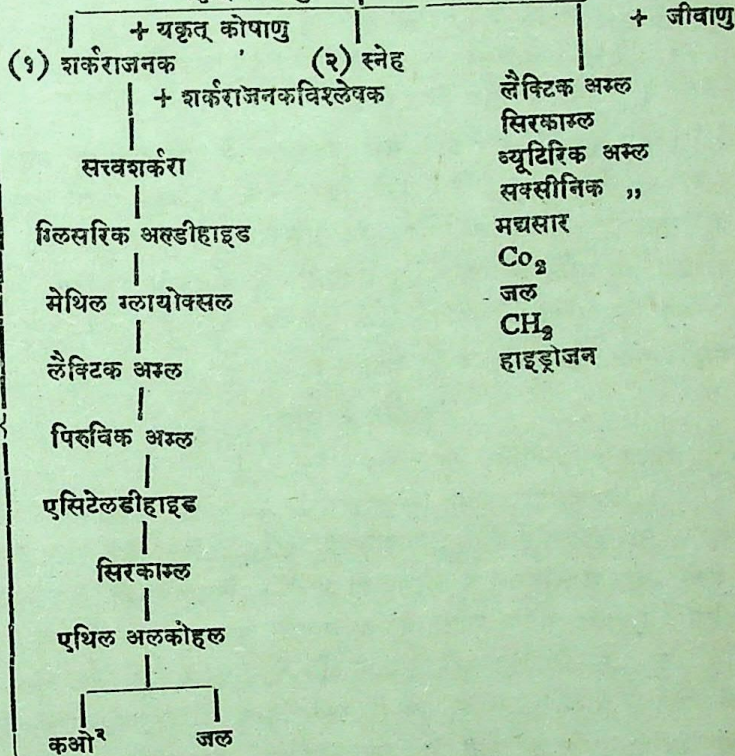
+ अन्तःकोषाणवीय शर्कराविश्लेषक किण्वतत्त्व और अंग्र्युलीन:

(१) शर्कराजनक
| + शर्कराजनकविश्लेषक
सत्त्वशर्करा
|
ग्लिसरिक अल्डीहाइड
|
मेथिल ग्लायोक्सल
|
लैक्टिक अम्ल
|
पिरुविक अम्ल
|
एसिटेलडीहाइड
|
सिरकाम्ल
|
एथिल अलकोहल
|
कओ² — जल

इक्षुमेह (Glycosuria)

सामान्यतः शरीर के संस्थानिक रक्त में ०·०८ से ०·१ प्रतिशत तक सत्त्वशर्करा पाई जाती है जिसका निरन्तर धातुओं द्वारा उपयोग होता रहता है तथा यकृत् भी शर्कराजनक को सत्त्वशर्करा में परिणत करके निरन्तर इसके परिमाण को बनाये रखता है। मनुष्य में सत्त्वशर्करा प्रायः रक्तरस तथा रक्त-

कणों में समान रूप से उपस्थित रहती है। धमनीगत रक्त में सिरागत रक्त की अपेक्षा शर्करा का परिमाण अधिक पाया जाता है, क्योंकि रक्तसंवहन से सत्वशर्करा की मात्रा धातुओं द्वारा ले ली जाती है और फलतः सिरागत रक्त में उसकी मात्रा कम हो जाती है।

सामान्यतः रक्त में शर्करा की प्रतिशत मात्रा समान ही रहती है। शर्करा के शोषण-काल में जब रक्त में शर्करा की अधिक मात्रा प्रविष्ट होती है तब निम्नांकित प्रक्रिया से रक्त की प्रतिशत शर्करा की मात्रा स्थिर रहती है :—

(१) यकृत् , पेशियों तथा अन्य धातुओं के द्वारा शर्करा की अधिक मात्रा शर्कराजनक में परिवर्तित हो जाती है।

(२) शरीर में शर्करा का ओषजनीकरण बढ़ जाता है।

(३) शर्करा की कुछ मात्रा स्नेह में परिणत हो जाती है।

(४) मूत्र में शर्करा का उत्सर्ग होने लगता है, इसे 'इक्षुमेह' कहते हैं। प्राकृत रक्त में शर्करा ०·१ से ०·१८ प्रतिशत तक बढ़ जाती है जो शर्करा के लिए वृक्कदेहली (Renal threshold) कहलाता है। वृक्ककोषाणु ०·१८ प्रतिशत तक शर्करा को रक्त में रहने देते हैं किन्तु जब शर्करा इससे अधिक हो जाती है तब वह वृक्ककोषाणुओं से निकलने लगती है जिसके फलस्वरूप मधुमेह तथा इक्षुमेह उत्पन्न हो जाता है।[1]

इक्षुमेह के प्रकार

इक्षुमेह के निम्नांकित प्रकार हैं :—

(१) आहारज इक्षुमेह :—आहार में शर्करा की अधिक मात्रा लेने से यह अवस्था उत्पन्न होती है। साधारणतः शर्करा शोषित होने पर यकृत् में जाकर पूर्णतः शर्कराजनक में परिणत हो जाती है, किन्तु इसकी भी एक सीमा होती है। इससे अधिक शाकतत्त्व का आहार करने से उसकी कुछ मात्रा शर्कराजनक में परिवर्तित नहीं हो पाती और वह उसी रूप में संस्थानिक रक्त में प्रविष्ट हो जाती है जिससे रक्त में शर्कराधिक्य (Hyperglycaemia) की अवस्था उत्पन्न हो जाती है। यह वृक्कदेहली को पारकर मूत्र में निकलने लगती है। यह एक प्राकृतिक अवस्था है जो स्वस्थ मनुष्य के शरीर से सत्त्व-शर्करा का अन्तःक्षेप करने से उत्पन्न की जा सकती है।

शर्करासहिष्णुता-सीमा

यदि किसी व्यक्ति को २०० ग्राम सत्वशर्करा मुख के द्वारा दी जाय तो

---

१. 'इक्षो रसमिवात्यर्थं मधुरं चेक्षुमेहतः।'—मा० नि०

सम्पूर्ण भाग का सात्मीकरण हो जाता है और मूत्र में शर्करा नहीं पाई जाती। जब ३०० से ५०० ग्राम दिया जाय तब मूत्र में शर्करा प्रकट हो जाती है। यदि सत्त्वशर्करा १०० ग्राम लेने पर भी मूत्र में शर्करा प्रकट हो जाय, तो उस व्यक्ति की शर्करासहिष्णुता घटी हुई समझनी चाहिये। यह सहिष्णुता-सीमा भिन्न भिन्न शर्कराओं के लिए भिन्न भिन्न होती है।

(१) याकृत इक्षुमेह—यकृत के कुछ विकारों यथा मद्य या स्फुरकविष में शर्करा की सामान्य मात्रा लेने पर भी उसका शर्कराजनक में पूर्ण परिणाम नहीं हो पाता। अतः उसका कुछ अवशिष्ट अंश संस्थानिक रक्त में प्रविष्ट हो जाता है और रक्त में शर्कराधिक्य की अवस्था उत्पन्न होकर इक्षुमेह उत्पन्न हो जाता है।

(२) वेधज इक्षुमेह—शर्कराजनक के विश्लेषण का परिमाण एक प्रत्यावर्तनचाप पर निर्भर रहता है जिसका केन्द्र चतुर्थ गुहा के तल में स्थित है। स्वभावतः जब पेशियाँ काम करती रहती हैं तब उनमें स्थित शर्कराजनक का भी उपयोग होता रहता है और उन पेशियों से एक उत्तेजना उपर्युक्त केन्द्र को जाती है। केन्द्र से चालक प्रेरणा यकृत् में बृहद् आशयिक नाड़ी के द्वारा जाती है, जिसके परिणामस्वरूप यकृत् में स्थित शर्कराजनक का परिणाम शर्करा में अधिक होने लगता है, जो संस्थानिक रक्त द्वारा पेशियों में पहुँचती है। बृहद् आशयिक नाड़ी के उन चेष्टावह सूत्रों को शर्कराजनक—विश्लेषक सूत्र कहते हैं। अत एव चतुर्थ गुहा के तल में वेधन करने से रक्त में शर्करा का परिणाम बढ़ जाता है और इससे इक्षुमेह उत्पन्न होता है। कन्दाधारिक भाग (Hypothalamus) में अभिघात होने से भी इक्षुमेह उत्पन्न होता है। वेधजन्य इक्षुमेह यकृत में स्थित शर्कराजनक के परिमाण पर निर्भर करता है। उपवास के समय जब यकृत में शर्कराजनक नहीं होता तब वेधजन्य इक्षुमेह की अवस्था उत्पन्न नहीं होती।

(४) अभिघातज इक्षुमेह :—यह नाड़ीजन्य विकारों के कारण होता और शिर पर तीव्र अभिघात होने से यह अवस्था उत्पन्न होती है।

(५) अद्रिनिलीन इक्षुमेह :—यदि एक स्वस्थ व्यक्ति में अद्रिनिलीन का अन्तःक्षेप किया जाय तो अत्यधिक परिमाण में शर्करा मूत्र में आने लगती है। इसका कारण यह है कि अन्तःस्राव का प्रभाव बृहद् आशयिक नाड़ी पर पड़ता है जिससे यकृत् के शर्कराजनक का शर्करा में अधिक परिणाम होने लगता है। इसी कारण अधिक मानसिक परिश्रम या चिन्ता करनेवाले व्यक्ति इक्षुमेह से पीड़ित हो जाते हैं, क्योंकि मानसिक परिश्रम या चिन्ता से अद्रि-

निलीन का स्राव बढ़ जाता है। इसी प्रकार पोषणक या अवटुग्रंथि के अन्तः-स्राव का निक्षेप करने से भी यह अवस्था उत्पन्न होती है।

(६) आवेशज इक्षुमेह :—अत्यधिक भावावेश के कारण भी इक्षुमेह उत्पन्न हो जाता है। इसका कारण यह है कि भावावेश से अधिनि-लीन का स्राव बढ़ जाता है और उससे उपर्युक्त प्रकार में वर्णित क्रम से मूत्र में शर्करा आने लगती है। तीव्र वृक्कशूल से पीड़ित व्यक्ति में २० प्रतिशत तक शर्करा मूत्र में पाई गई है जो पीड़ा की शान्ति के बाद लुप्त हो जाती है।

(७) अग्न्याशयिक इक्षुमेह :—आहार में शर्करा उचित परिमाण में लेने पर तथा यकृत् में शर्कराजनक-विश्लेषण समुचित रूप से होने पर भी यदि अग्न्याशय का ओषजनीकरण पाचकतत्त्व, अंशुलीन, उत्पन्न नहीं होता फलतः धातुओं में उपस्थित नहीं रहता, तब धातुओं में शर्करा का समुचित रूप से ओषजनीकरण नहीं होता और इस प्रकार अपरिणत शर्करा मूत्र में आने लगती है। प्रयोगों द्वारा यह देखा गया है कि यदि किसी प्राणी के शरीर से अग्न्याशयग्रन्थि निकाल दी जाय तो उसे अत्यन्त भयानक और घातक प्रकार का इक्षुमेह उत्पन्न हो जाता है जो अंशुलीन का अन्तःक्षेप करने से बहुत ठीक हो जाता है। इसके साथ-साथ स्नेह का भी समुचित सात्मीकरण नहीं हो पाता जिससे उसके अपूर्ण ओषजनीकरण से उत्पन्न द्रव्य, मुख्यतः एसिटोन और एसिटोएसिटिक अम्ल रक्त तथा मूत्र में पाये जाते हैं।

(८) वृक्कज इक्षुमेह :—इस अवस्था में वृक्कदेहली कम हो जाती है जिससे रक्त में शर्करा का परिमाण अल्प रहने पर भी उसका उत्सर्ग वृक्कों द्वारा होने लगता है। यही परिणाम प्राणी को फ्लोरिजिन नामक द्रव्य देने पर भी दृष्टिगोचर होता है। इसके निम्नांकित कारण प्रतीत होते हैं :—

(क) रक्तरस में विद्यमान शर्करा के लिए वृक्कों की प्रवेश्यता बढ़ जाती है।

(ख) रक्तरस की शर्करा के परिवर्तन जिससे वह वृक्कों के द्वारा आसानी से निकल जाती है।

(ग) आन्त्रों से शर्करा के शोषण तथा वृक्क की नलिकाओं से उसके पुनः शोषण में बाधा होती है।

(६) गर्भावस्थिक इक्षुमेह:—प्रायः १०--१५ प्रतिशत सगर्भा स्त्रियों में इक्षुमेह की अवस्था उत्पन्न हो जाती है। इसमें रक्त में शर्करा का आधिक्य नहीं होता अतः वृक्कदेहली कम होने से ही यह अवस्था होती है। यह अवस्था प्रथम गर्भ में तथा गर्भावस्था के पिछले महीनों में अधिक देखी जाती है, अतः इसका कारण पोषणक स्राव की वृद्धि समझा जाता है, जिससे अंशुलीन की क्रिया का विरोधी प्रभाव पड़ता है।

उपवासकाल में सात्मीकरण

अनेक प्राणियों में उपवास के प्रभावों का निरीक्षण किया गया है और यह देखा गया है कि मनुष्य ५० दिनों तक बिना आहार के रह सकता है। इस अवस्था में उसके शरीर के अपने धातुगत मांसतत्त्व, संचित स्नेह और शर्करा-जनक ही आहार का कार्य करते हैं और उन्हीं पर उसकी शरीरयात्रा चलती रहती है।

'आहारं पचति शिखी धातूनाहारवर्जितः पचति।'

शर्कराजनक:—सर्वप्रथम यकृत् में स्थित शर्कराजनक उपयोग में आता है, किन्तु यह थोड़ी मात्रा में होने के कारण विशेष महत्त्व का नहीं होता। यद्यपि यह शीघ्रता से कार्य में आने लगता है, तथापि यह पूर्णतः लुप्त नहीं होता। हृदय और पेशियों में विद्यमान शर्कराजनक का अधिक परिणाम नहीं होता। इस प्रकार पहले तो रक्तशर्करा घट जाती है, किन्तु बाद में वह बढ़ जाती है, क्योंकि स्नेह का भी परिणाम शर्करा में होने लगता है।

स्नेह :—उपवासकाल में शर्करा उपयुक्त हो जाने पर शक्ति के साधन केवल स्नेह और धातुगत मांसतत्त्व ही अवशिष्ट रह जाते हैं, किन्तु इनमें भी स्नेह का ही पहले उपयोग होता है। मेदस धातु का स्नेह पहले यकृत् में जाता है, जहाँ वह विसन्तृप्त हो कर लेसिथिन में परिणत हो जाता है और वहाँ से फिर धातुकोषाणुओं में ओषजनीकरण के लिए जाता है। रक्त में वर्तमान स्नेह का भाग परिवर्तित नहीं होता और बहुत दिनों तक उसी स्थिति में रहता है। श्वसनांक प्रथम दो दिनों तक प्रायः ०.९३ रहता है, किन्तु बाद में घट कर ०.७५ हो जाता है और वह ही बना रहता है, जिससे यह स्पष्ट होता है कि स्नेह शक्त्युत्पादन के मुख्य साधन है। कुछ समय बाद शाकतत्त्व के अभाव से स्नेह का ज्वलन पूर्णरूप से नहीं होता। अतः एसिटो-एसिटिक अम्ल तथा ऑक्सिब्यूटिरिक अम्ल बनने लगते हैं और मूत्र के साथ बाहर

निकलते हैं। आम्लिकता की इस वृद्धि के निराकरण के लिए शरीर में निम्नांकित क्रियायें होती हैं :—

(१) बाइकार्बोनेट लवणों का आधिक्य

(२) फुफ्फुसीय व्यजन की वृद्धि तथा वायु कोषों में कार्बन डाइ-ऑक्साइड के भार की कमी

(३) मूत्र में अम्लता की वृद्धि

(४) अमोनिया के उत्सर्ग की वृद्धि

मांसतत्त्व—धातुगत मांसतत्त्वों का विश्लेषण होने लगता है और विश्लेषित होकर वह सरवशर्करा में परिवर्तित हो जाते हैं। इसके दो प्रयोजन होते हैं—एक तो यह रक्तशर्करा को प्राकृत स्तर पर स्थिर रखता है और दूसरे इससे स्नेह का ज्वलन पूर्णता को प्राप्त करता है। प्रथम अवस्था में धातुगत मांसतत्त्व आमिषाम्लों में विश्लेषित हो जाते हैं, जो यकृत् में चले जाते हैं। वहाँ उनका निरामीकरण होता है और इस प्रकार अमोनिया शर्करा और एसिटोन द्रव्यों में परिणत हो जाता है। इनसे स्पष्ट है कि मूत्रगत यूरिया धातुगत मांसतत्वों के शारीर उपयोग का संकेत है।

आहार में मांसतत्त्वों की कमी होने से जिस प्रकार नत्रजन का उत्सर्ग कम हो जाता है, उसी प्रकार उपवासकाल में भी वह घट जाता है और दिनानुदिन घटता ही जाता है, जो एक सीमा पर आकर कुछ दिनों तक स्थिर हो जाता है। जब शरीर का सारा स्नेह उपयुक्त हो चुकता है, तब धातुगत माँसतत्त्वों पर अधिक भार आ जाता है और नत्रजन का उत्सर्ग पुनः बढ़ जाता है। इसे 'मृत्युपूर्व वृद्धि' कहते हैं। अन्त में, मृत्यु के लवणों का प्रारम्भ होने पर यह एकदम कम हो जाता है, जिसका प्रधान कारण वृक्कों का कार्यावरोध है।

सात्मीकरण का क्रम लगभग २० प्रतिशत कम हो जाता है। यह देखा गया है प्रायः ७१ ग्राम मांसतत्त्व और १९० ग्राम स्नेह प्रतिदिन नष्ट होता है। इसके अतिरिक्त प्रायः २५० घनसेंटीमीटर जल तथा ९ ग्राम लवणों का भी विनाश होता है। धातुओं का क्षय उनके महत्त्व के विपर्यस्त अनुपात में होता है यथा—

केन्द्रीय नाडीमण्डल	३ प्रतिशत
हृदय	,, ,,
पेशियाँ	३० ,,

यकृत्	५४	प्रतिशत
वृक्क	२६	,,
स्नेह	९७	,,

प्रथम दस दिनों में रोगी का भार अधिक और अचानक घटता है, किन्तु बाद में मन्द गति से क्रमशः नीचे उतरता है। जब स्नेह का कोष रिक्त हो जाता है, तब मृत्यु हो जाती है। यह प्रायः उपवास के चौथे सप्ताह में होता है, जब शरीर का भार आधा हो जाता है।

उपवासकाल में श्वसन क्रम और आयतन में घट जाता है, किन्तु तापक्रम साधारण ही रहता है। पेशीशक्ति तथा सहिष्णुता प्रायः प्रथम १०--१५ दिनों तक बढ़ती है, किन्तु इसके बाद पेशीबल का ह्रास होने लगता है और शीघ्र ही पेशीश्रम का प्रारम्भ हो जाता है।

अम्लभाव, कटुभाव और क्षारभाव (Acidosis, ketosis and alkaosis)

अम्लभाव ऐसी विकृत अवस्था है जो शरीर में अम्ल का संचय या क्षार का क्षय होने से उत्पन्न होती है तथा क्षारभाव ऐसी विकृत अवस्था है जो क्षार के सञ्चय या अम्ल के क्षय होने से उत्पन्न होती है। पहले 'अम्लभाव' शब्द से ऐसी अवस्था का बोध होता था जिसमें शरीर में स्नेह के अपूर्ण ओषजनीकरण के कारण रक्त और मूत्र में एसिटोन द्रव्य पाये जाते थे। एसिटोन द्रव्य निम्नांकित हैं :—

(१) हाइड्राक्सि-ब्यूटिरिक अम्ल CH_3 CHoH. CH_2 CooH
(२) एसिटोएसिटिक अम्ल CH_3Co. CH_3 CooH.
(३) एसिटोन CH_3. Co. CH_3

एसिटोएसिटिक अम्ल तथा एसिटोन कटुद्रव्य हैं और उनके ओषजनीकरण में जब शरीर असमर्थ हो जाता है, तब मूत्र में पाये जाते हैं। ये द्रव्य विष के समान कार्य करते हैं और श्वसन केन्द्र को अत्यधिक उत्तेजित कर गम्भीर श्वसन उत्पन्न कर देते हैं।[1] साथ ही उच्च केन्द्रों को अवसादित करने से

---

१. धात्वग्नियों की मन्दता के कारण धातुपाक अपूर्ण होने से जो अपक्व द्रव्य बनते हैं वह आयुर्वेद की दृष्टि से 'आम' कहलाते हैं, यह विषरूप हैं और शरीर में नानाविध विकार उत्पन्न करते हैं। इस अवस्था में पित्त भी विदग्ध होकर रक्त को विदग्ध कर देता है जिससे उसमें अम्लभाव उत्पन्न होता है।

संज्ञानाश भी हो जाता है। अतः ऐसी अवस्था को अम्लभाव न कहकर यथार्थतः कटुभाव कहा जा सकता है। एक विद्वान् ने लिखा है :—

'स्नेह शाकतत्त्व की आग में प्रज्वलित होते हैं और कटुभाव सात्मीकरण की अग्नि का धूम है।'

इस प्रकार रक्त में कटुद्रव्यों के सञ्चय को कटुभाव कहते हैं और मूत्र में इन द्रव्यों के अधिक उत्सर्ग को कटुमूत्रता कहते हैं।

यह कभी नहीं समझना चाहिये कि रक्त की प्रतिक्रिया सदैव क्षारीय से आम्लिक में परिवर्तित होती रहती है। यह नितान्त असंभव है क्योंकि यदि रक्त अम्लप्रतिक्रिया का हो जाय तो जीवन स्थिर रहना ही कठिन है। अतः अम्लभाव का अभिप्राय यही है कि रक्त प्राकृत की अपेक्षा कम क्षारीय हो गया है तथा क्षारभाव का अर्थ यह है कि रक्त प्राकृत की अपेक्षा अधिक क्षारीय हो गया है।

अम्लभाव निम्नांकित अवस्थाओं में हो सकता है :—

(क) शरीर में अम्लों की अधिक उत्पत्ति—यथा

(१) कुछ सात्मीकरण के विकार तथा मधुमेह

(२) व्यायाम के समय उत्पन्न लैक्टिक अम्ल का सञ्चय

(ख) उत्पन्न अम्लों का उत्सर्ग समुचित रूप से न होना

(ग) शरीर से अत्यधिक क्षार का क्षय यथा वृक्कशोथ या अतिसार

रक्त और सजीवधातु सदा क्षारीय रहते हैं। रक्त की प्राकृत क्षारीयता ७·३४ (सिरारक्त) ७.३३ (धमनीरक्त) मुख्यतः रक्त में उपस्थित बाइकार्बोनेट लवणों के कारण रहती है। प्राकृतिक क्षारीयता कम होने पर अम्लभाव के लक्षण प्रकट हो जाते हैं, जो निम्नलिखित हैं :—

अवसाद, हृल्लास, अग्निमान्द्य, शिरःशूल, अनिद्रा, अम्लमूत्र, आमाशय में अम्लाधिक्य तथा पित्तप्रकोप के अन्य लक्षण।[1]

'जठरानलदौर्बल्यादविपक्वस्तु यो रसः।
स आमसंज्ञको देहे सर्वदोषप्रकोपणः।
अपच्यमानं शुक्तत्वं यात्यन्नं विषरूपताम् ॥'—च० चि० १५
'पित्तं विदग्धं स्वगुणैर्विदहत्याशु शोणितम् ।'—मा० नि०

१. विस्फोटाम्लकधूमकाःप्रलपनं स्वेदस्रुतिर्मूर्च्छनं,
दौर्गन्ध्यं दरणं मदो विसरणं पाकोऽरतिस्तृड्भ्रमौ ।

शरीर में कुछ ऐसी क्रियायें हैं जो अम्लभाव तथा क्षारभाव के विरुद्ध शरीर की रक्षा करती हैं तथा उसकी प्रतिक्रिया सामान्य स्तर पर रखती हैं। वह क्रियायें निम्नलिखित हैं :—

(१) श्वसनकर्म (३) रक्त में रक्षक पदार्थों की क्रिया
(२) वृक्ककर्म (४) प्राकृतिज-अम्लक्षार-समीकरण

(१) श्वसनकर्म—निम्नांकित कारणों से रक्त की क्षारीयता कम हो जाती है :—

(क) आमाशयिक क्षारीयरस के स्रावकाल में (ख) अम्ल आहार (ग) मांसाहार (घ) अम्लभस्माहार

उपर्युक्त कारणों से अम्लभाव की वृद्धि होने से श्वसन-क्रिया उत्तेजित हो जाती है और श्वास अधिक तेजी से आने लगता है। इससे वायुकोषों में कओ$_2$ का भार कम हो जाता है, फलतः धमनीगत रक्त में भी उसका भार कम हो जाता है और आम्लिकता का निराकरण हो जाता है।

इसके विपरीत, निम्नलिखित अवस्थाओं में रक्त की क्षारीयता बढ़ने की प्रवृत्ति रहती है :—

(क) आमाशयिक अम्ल के स्रावकाल में (ग) शाकाहार
(ख) क्षारीय कार्बोनेट का आहार (घ) क्षारभस्माहार

क्षारीयता की वृद्धि होने से श्वसनकेन्द्र की क्रिया अवसादित हो जाती है। फलतः वायुकोषगत का कओ$_2$ भार बढ़ जाता है और धमनीगत रक्त में कओ$_2$ अधिक हो जाता है। फलस्वरूप उदजन केन्द्रीभवन बढ़ जाता है और इस प्रकार क्षारीयता का निराकरण होता है।

(२) वृक्ककर्म :—वृक्क प्राकृत क्षारीयता को बनाये रखने में सहायता करते हैं। कओ$_2$ की कमी से रक्त की क्षारीयता बढ़ जाती है, किन्तु उसी समय वृक्क अधिक मात्रा में क्षार को बाहर निकाल देता है और क्षारीय कोष में कमी हो जाती है। जिस प्रकार कओ$_2$ का आधिक्य श्वसनकर्म को उत्तेजित करता है, उसी प्रकार क्षार की वृद्धि वृक्कों को क्रियाशील बना देती है। इस प्रकार वृक्क रक्त की प्राकृत क्षारीयता को स्थिर रखने में सहायक होते हैं।

ऊष्माऽतृक्षितमःप्रवेशदहनं कट्वम्लतिक्ता रसा,
वर्णः पाण्डुविवर्जितः कथितता कर्माणि पित्तस्य वै ॥'
—मधुकोश (सुदान्तसेन)

स्वभावतः मूत्र की प्रतिक्रिया अम्ल होती है क्योंकि मूत्र में क्षारद्रव्यों की अपेक्षा अम्लपदार्थों का उत्सर्ग अधिक होता है। निम्नलिखित तीन कारण प्राकृत मूत्र को अम्ल रखने में सहयोग देते हैं :—

(१) स्वाभाविक द्विक्षारिक फास्फेट का एक--क्षारिक फास्फेट में परिवर्तन।

(२) सेन्द्रिय अम्ल का उसी रूप में मूत्र में उत्सर्ग।

(३) वृक्कों में अमोनिया बनाने की क्षमता।

जब कभी अम्लभाव होता है वृक्कों द्वारा अमोनिया अधिक परिमाण में बनने लगता है जो अम्लों के साथ संयुक्त होकर अमोनिया के लवण बनाता है और मूत्र के साथ बाहर निकल जाता है।

(३) रक्त में क्षाररक्षक (Buffer) पदार्थों की उपस्थिति :— क्षाररक्षक वह पदार्थ हैं जो किसी विलयन से उदजन या उदजोनिषल अणुओं को निकाल लेते हैं और उनसे मिल कर ऐसे यौगिक बनाते हैं, जिससे उदजनकेन्द्रीभवन में कोई अन्तर नहीं आता। इस प्रकार इन पदार्थों की क्रिया उदजनकेन्द्रीभवन में परिवर्तन का प्रतिरोधकरूप है। यदि ये पदार्थ शरीर में नही होते, तो रक्त में उपस्थित कओ² या कार्बोनेट लवणों के द्वारा अम्ल भाव या क्षार भाव इतना अधिक हो जाता कि जीवन-यात्रा असम्भव हो जाती। रक्त में उपस्थित निम्नांकित पदार्थ क्षाररक्षक के रूप में कार्य करते हैं :—

(१) सोडियम बाइकार्बोनेट ($NAHCo_3$)

(२) सोडियम फॉस्फेट (NA_2 HPo_4)

(३) सोडियम एसिड फास्फेट (NaH_2 Po_4)

(४) रक्तरञ्जक या अन्य मांसतत्त्व (आम्लिक मांसतत्त्व या क्षारीय मांसतत्त्व)—

शरीर का क्षारकोष (Alkali Reserve)

सभी स्थिर अम्लों को उदासीन करने के बाद अवशिष्ट क्षार सोडियम बाइकार्बोनेट के रूप में रहता है। इसका उपयोग रक्त द्वारा अम्लाधिक्य को उदासीन करने में होता है।[1] अतः स्वाभाविक अवस्था में रक्तरस में सोडियम बाइकार्बोनेट का परिमाण स्थिर रहता है और यह प्रतिक्रिया-रक्षक पदार्थ या शरीर के क्षारकोष के रूप में कार्य करता है। इसकी क्रिया निम्नांकित रीति से होती है :—

---

१. 'क्षारो हि याति माधुर्यं शीघ्रमम्लोपसंहितः।'—च० चि० २८

सोडियम वाइकार्बोनेट + उदहरिताम्ल = सैन्धव + जल + कार्बनडाइ औक्साइड

($NaHCo_3 + HCL = NACL + H_2 + Co_2$)
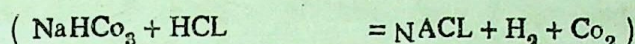
इस प्रकार उत्पन्न सैन्धवलवण वृक्क के द्वारा तथा कओ² फुफ्फुस के द्वारा उत्सृष्ट होता है।

जब कभी शरीर में अम्लभाव होता है, वाइकार्बोनेट लवण अम्लाधिक्य से संयुक्त होकर अम्लभाव का निराकरण करते हैं। इसलिए रक्तरस में उनकी मात्रा कम हो जाती है। इसी कारण एक विद्वान् ने अम्लभाव की परिभाषा निम्नांकित रूप से दी है :—

'अम्लभाव वह अवस्था है जिसमें रक्त में बाइकार्बोनेट की कमी हो जाती है।'

इसके विपरीत, जब शरीर से अम्ल का क्षय होता है, तब रक्त में बाइकार्बोनेट लवणों का आधिक्य हो जाता है और क्षारभाव की अवस्था उत्पन्न हो जाती है जिसका निराकरण निम्नप्रकार से होता है :—

(१) वृक्कों से क्षार का अधिक उत्सर्ग।

(२) फुफ्फुसीय व्यजन में कमी।

उपर्युक्त रीति से शरीर का क्षारकोष समावस्था में रहता है।[1]

इसी प्रकार सोडियम फास्फेट की क्रिया भी प्रतिक्रिया-रक्षक के रूप में होती है। रक्तरंजक तथा रक्त के अन्य मांसतत्त्व भी इसमें सहायता करते हैं, क्योंकि उनमें अम्ल और क्षार के साथ संयुक्त होकर लवण बनाने की शक्ति रहती है। इनमें भी रक्तरञ्जक की क्रिया सर्वोत्तम होती है और वह दो प्रकार से कार्य करता है :—

(क) वह अधिक परिमाण में क्षार उत्पन्न करता है।

(ख) वह क्लोराइड को रक्तरस से रक्तकणों की ओर आकर्षित करता है और इस प्रकार अधिक बाइकार्बोनेट बनता है।

शरीर के धातुओं में भी कुछ सीमा तक यह शक्ति होती है। यकृत् में यह शक्ति अधिक होती है जिससे वह लैक्टिक अम्ल को शोषित कर उसे शर्कराजनक में परिणत कर देता है और इस प्रकार रक्त की प्रतिक्रिया को बनाये रखने में सहायक होता है।

---

१. आयुर्वेदिक दृष्टि से यह 'पित्त' या 'अग्नि' की समावस्था है।

क्षार और अम्ल आहार का सन्तुलन
(प्राकृतिक अम्लक्षार-समीकरण)

स्वभावतः शरीर में शर्करा, स्नेह और मांसतत्त्वों के उपयोगकाल में कओ[२] उत्पन्न होता है जिसका उत्सर्ग श्वसन के द्वारा हो जाता है और इसलिए शरीर के क्षारकोष पर उसका कोई प्रभाव नहीं पड़ता। श्वसनकर्म में बाधा होने से, यथा न्यूमोनिया में, या स्वाभाविक रक्तप्रवाह में बाधा होने से जब कि अशुद्ध रक्त का फुफ्फुसों में समुचित संवहन नहीं होता अम्लभाव उत्पन्न होता है।

यद्यपि आहार के प्राकृत सात्मीकरण के मुख्य परिणत पदार्थ कओ[२] जल और यूरिया है तथापि कुछ निरिन्द्रिय अवयवों के भी अवशेष रह जाते हैं और सभी आहारद्रव्य ओषजनीकरण के बाद कुछ भस्म उत्पन्न करते हैं, जो स्वभावतः वृक्क द्वारा उत्सृष्ट होता है। यदि वृक्कों की क्रिया ठीक न हो या अम्लबहुल आहार का सेवन किया जाय, तो शरीर की प्राकृतिक क्षारीयता कम हो जायगी और अम्लभाव उत्पन्न हो जायगा। अम्ल आहार क्षार आहार के द्वारा ही उदासीन होता है, अतः मूत्र में अम्ल का आधिक्य यह सूचित करता है कि या तो अम्लाहार अधिक किया गया है या क्षार आहार की कमी की गई है।

निम्न तालिका में कुछ सामान्य आहार द्रव्यों की आम्लिकता या क्षारीयता का निर्देश किया गया है।

तालिका

अम्ल आहार	क्षार आहार
प्रति १०० ग्राम में अम्ल का परिमाण	प्रति १०० ग्राम में क्षार का परिमाण
रोटी—७·१ सी. सी.	बादाम—११·३ सी. सी.
अण्डे—१२.५	सेब—३·४
अण्डे के श्वेत—६·३	केला—८·४
,, ,, पीत—३२·०	सेम—११·७
मछली—१५·०	पातगोभी—४·३
मांस—१०·०	फूलगोभी—५·३
चावल—८·१	नींबू—५·५
उदासीन आहार	सन्तरा—९·१
मक्खन, प्याज	आलू—८·२
शर्करा, वनस्पति तैल	मटर—३·७
मोम, मलाई	मेवा—२३·७
	गाजर—१०·८

यह आश्चर्य का विषय है कि नींबू, सन्तरा आदि अम्ल फल अम्लभाव को रोकते हैं और रोटी, अण्डे और चावल अम्लभाव उत्पन्न करते हैं।[1] इस प्रकार आहार में फलों का अत्यधिक महत्त्व है, क्योंकि वह केवल खनिज लवण और जीवनीयद्रव्य ही शरीर को नहीं प्रदान करते, बल्कि वह अम्लाहार के कारण प्रादुर्भूत अम्लभाव को उदासीन करने में भी उपयोगी होते हैं।

सारांश—अम्लभाव या कटुभाव निम्न कारणों से उत्पन्न होता है :—

(क) शरीर में अम्लों या कटु पदार्थों की अधिक उत्पत्ति—

(१) स्नेह का अपूर्ण ओषजनीकरण--फलतः एसिटोन द्रव्यों की उत्पत्ति

(२) शाकतत्त्वों का अभाव और स्नेह का अत्यधिक उपयोग

(ख) शरीर में उत्पन्न अम्लों का समुचित निर्हरण न होना :—

(१) वृक्कों का कार्य ठीक न होना और स्फुरकाम्ल का समुचित निर्हरण न होना।

(२) वृक्कों में विकृति के कारण अमोनिया के निर्माण में बाधा।

(३) रक्तसंवहन का क्षीण होना, यथा हृदयरोग में, जिससे फुफ्फुसों में रक्त समुचित परिमाण में नहीं जाता और कओ^2 का निर्हरण भी पूर्ण नहीं होता।

(४) फुफ्फुस के रोग यथा वायुकोषविस्तृति

उदजन–केन्द्रीभवन (Hydrogen-Ion-Concentration)

रासायनिक विश्लेषण में किसी विलयन की आम्लिकता या क्षारीयता उस विलयन के १ लिटर में विलीन द्रव्य के ग्राम--अणुओं की संख्या के अनुसार अभिव्यक्त की जाती है। एक प्राकृत $\frac{\text{ग्रा}}{१}$ विलयन में द्रव्य का अणुभार होता है और उसके १००० सी. सी. में एक ग्राम उदजन होता है।

आधुनिक मत से, विलयन की क्षारीयता या आम्लिकता उसमें विलीन अम्ल या क्षार पदार्थ के परिमाण के कारण नहीं होती, बल्कि इन द्रव्यों के विश्लेषण से उत्पन्न उदजन अणुओं तथा उदोषित् अणुओं की संख्या के अनुसार होती है। कोई अम्ल जब जल में मिलाया जाता है तब

---

१. इसी समस्या के समाधान के लिए आयुर्वेद में 'विपाक' की कल्पना की गई है।

'जाठरेणाग्निना योगाद् यदुदेति रसान्तरम्।
रसानां परिणामान्ते स विपाक इति स्मृतः॥—अ० सू० ९

यह पूर्णतः अणुओं के रूप में नहीं रहता, बल्कि इसके कुछ अणु विश्लेषित होकर धन उदजन अणुओं तथा ऋण उदोषित् अणुओं में परिणत हो जाते हैं। जब उदजन अणुओं की अधिकता ओती है तब विलयन को अम्ल तथा उदोषित् अणुओं का आधिक्य होने से विलयन को क्षारीय कहते हैं। जब शुद्ध जल के समान उसमें दोनों अणुओं की संख्या समान हो तब वह उदासीन कहलाता है।

अतः १००० सी. सी. विलयन में विलीन उदजन के ग्राम अणुओं की संख्या उस विलयन का उदजन-केन्द्रीभवन कहलाता है।

१ लिटर शुद्ध जल में उदजन अणु $\frac{१}{१००००००००}$ अर्थात् $\frac{१}{७}$ या १०-७ ग्राम होते हैं। चूँकि उदासीन विलयन में उदोषित् अणुओं की संख्या भी उदजन अणुओं के समान ही होती है, अतः शुद्ध जल में उदोषित् अणुओं की संख्या भी $\frac{१}{७}$ या १०--७ होती है। यह ध्यान में रखना चाहिए कि भौतिक नियम के अनुसार एक निश्चित तापक्रम पर किसी विलयन में उदजन तथा उदोषित् अणुओं की संख्या समान है।

इस प्रकार विलयन चाहे अम्ल हो या क्षारीय, उदजन केन्द्रीभवन × उदोषित् केन्द्रीभवन = १०--१४ होता है। उदाहरणतः, यदि किसी विलयन का उदजन केन्द्रीभवन १०--५ है तो उसका उदोषित् अणु केन्द्रीभवन १०--९ होगा। इसलिए व्यवहारतः आम्लिकता या क्षारीयता की मात्रा उदजन केन्द्रीभवन से ही अभिव्यक्त की जाती है। दूसरी बात यह है कि उसके निर्देशक अंक में से १० और ऋण का चिह्न हटा दिया जाता है और अवशिष्ट अंक को विलयन का उद कहते हैं।

उदासीन विलयनों का उद ७ है। अम्ल विलयनों का उद ७ से कम तथा क्षारीय विलयनों का ७ से अधिक है। इस प्रकार अत्यधिक अम्ल विलयनों का उद लगभग ० तथा अत्यधिक क्षारीय विलयनों का कुछ लगभग १४ होता है।

उहारण :—

(१) शुद्ध जल का उद ७

(२) सोडियम हाइड्रोक्साइड का उद १३.२

(३) उदहरिताम्ल का उद १

क्षार या अम्ल की तीव्रता उसके विश्लेषण पर निर्भर करता है। यदि विश्लेषण पूर्ण हुआ तब वह तीव्र अन्यथा दुर्बल कहा जाता है। कुछ अम्लों एवं क्षारों के विश्लेषण का परिमाण प्रतिशत में नीचे दिया जाता है :—

उदहरिताम्ल	९१.०
औक्जेलिक अम्ल	५०.०
सिरकाम्ल	१.३४
कार्बनिक अम्ल	०.१७
सोडियम हाइड्रोक्साइड	९१.०७
पोटाशियम	९१.०
अमोनियम	०.४

उदजन-केन्द्रीभवन का मापन

किसी विलयन का उद निश्चित करने के लिए दो विधियाँ उपयुक्त होती हैं :—

(१) विद्युन्मापक विधि (Electrometric Method)
(२) वर्णमापक विधि (Colourimetric Method)

विद्युन्मापक विधि से विश्लेषित अणुओं को धन और ऋण विद्युत् के आधार पर संख्या निश्चित की जाती है और इस प्रकार धन विद्युत् की अधिकता में अम्ल तथा ऋण विद्युत् के आधिक्य में क्षार का परिज्ञान होता है।

वर्णमापकविधि में विलयन के वर्णपरिवर्तन के अनुसार उद का निश्चय होता है। यथा लिटमसपत्र उद ७ के उदासीन विलयनों में बैंगनी रंग का होता है और ७ से कम होने पर लाल तथा अधिक होने पर नीला हो जाता है। यद्यपि इसके द्वारा सामान्यतः अम्ल और क्षार की प्रतीति हो जाती है तथापि ठीक-ठीक उसका निर्णय नहीं हो पाता। इसलिए एक सर्वनिर्देशक (Universal indicator) प्रस्तुत किया गया है जिससे अनेक वर्णपरिवर्तनों के अनुसार विलयन का उद निश्चित किया जाता है।

यह सर्वनिर्देशक निम्नाङ्कित विधि से प्रस्तुत किया जाता है :—

फेनोल थैलीन	०.१ ग्राम
लाल मेथिल	०.२ ,,
डाइमेथिल एमिडो एजोवेन्जोल	०.२ ,,
नीला ब्रोमो थाइमोल	०.४ ,,
नीला थाइमोल	०.५ ,,
एबसौलूट अलकोहल	५०० सी० सी०

इस निर्देशक की एक बूँद एक सी० सी० विलयन में डाल देने से वर्ण परिवर्तनों के अनुसार उद का निश्चय किया जाता है यथा :—

लाल वर्ण	लगभग	उद	२
नारङ्गी ,,	,,	,,	४
पीला ,,	,,	,,	६
पीताभ हरित	,,	,,	७
हरित	,,	,,	८
नील	,,	,,	१०

मानवशरीर के कुछ द्रव्यों का उद नीचे लिखा जाता है :—

रक्तमस्तु	७.३	से	७.५
सुषुम्नाद्रव	७.३	,,	७.५
लाला	६.५	,,	७.५
आमाशयिकरस	१.२	,,	१.२
अग्न्याशयिकरस	८.२	,,	८.२
मूत्र	४.८	,,	८.४
दुग्ध	६.६	,,	७.६
पित्त	६.८	,,	७.०

धातुपाक का अध्ययन

धातुपाक के अध्ययन के लिए आहरण तथा निर्हरण का सावधानी से परीक्षण करना पड़ता है। महास्रोत तथा श्वासपथ (अन्नवहस्रोत उदकवह स्रोत तथा प्राणवहस्रोत) द्वारा गृहीत द्रव्यों की मात्रा नापी जाती है तथा दूसरी ओर इन अवयवों से तथा वृक्क और त्वचा द्वारा बाहर निकले हुये मलों का मापन किया जाता है। इसके अतिरिक्त, अन्य द्रवों यथा रक्त, मस्तिष्क-सुषुम्नाद्रव, आमाशयिक अम्ल आदि का भी परीक्षण किया जाता है। आजकल अवयवों के टुकड़े लेकर उनकी अणुवीक्षणीय तथा रासायनिक परीक्षा की जाती है।

धातुपाक के अध्ययन के लिए सन्तुलन—प्रयोग किये जाते हैं। ये दो प्रकार के होते हैं—१. द्रव्यसंतुलन (**Material balance**) २. शक्तिसंतुलन (**Balance of energy**)।

द्रव्यसंतुलन

जिन द्रव्यों का धातुपाक नहीं होता है यथा जल या जो तत्त्व शरीर के मूल धातुओं और आहार के संघटन में भाग लेते हैं यथा नत्रजन या सुधा उनके आहरण तथा निर्हरण में साम्य होना चाहिए, अन्यथा स्वास्थ्य में विकृति आ जाती है। इसके विपरीत, मूल धातुओं द्वारा उपयुक्त या उत्पादित द्रव्यों में साम्य की स्थिति संभव नहीं है। यदि आहरण अधिक होगा तो धनात्मक संतुलन और यदि निर्हरण अधिक होगा तो ऋणात्मक संतुलन होगा। उदाहरणार्थ, शाकतत्त्व में धनात्मक संतुलन होता है जो निरन्तर उपयोग की स्थिति सूचित करता है। इसके विपरीत, युरिया या क्रिएटिनिन का ऋणात्मक संतुलन होगा जो शरीर में इसके निरन्तर उत्पादन का सूचक है। आहरण तथा निर्हरण के अतिरिक्त शरीर में उस द्रव्य की स्थिति का भी ध्यान रखना आवश्यक होता है।

शक्तिसंतुलन

शक्ति के आहरण तथा निर्हरण से इसका पता चलता है। शक्ति का आहरण आहारद्रव्य तथा ओषजन के रूप में होता है और शरीर में इनकी पारस्परिक प्रतिक्रिया से शक्ति उत्पन्न होती है। शक्ति का निर्हरण बाह्य वातावरण में ताप के क्षय से होता है। अतः शक्तिसंतुलन के लिए निम्नांकित परीक्षण किये जाते हैं :—

१. गृहीत आहारद्रव्य की मात्रा का मान

२. गृहीत ओषजन की मात्रा का मान

३. उत्पन्न शक्ति का मान

समस्त शक्ति आहारद्रव्य से प्राप्त होती है, अतः इसके अध्ययन से शरीर द्वारा उपयुक्त कुल शक्ति का ज्ञान होता है। इसके लिए आहार के विविध उपादानों के शक्ति-मूल्य का ज्ञान अपेक्षित है तथा यह भी आवश्यक है कि उसका अन्त्र से पूर्णतः शोषण हो जाता है। इससे शरीर की आवश्यकता के अनुकूल शक्ति-आपूर्त्ति का पता चलता है यद्यपि तात्कालिक आवश्यकता का ज्ञान इससे नहीं होता।

इसके विपरीत, ओषजन का आहरण तात्कालिक आवश्यकता से घनिष्ठ रूप से संबद्ध है। ओषजन का शरीर में संचय नहीं हो सकता, शरीर में वायव्य या द्रव रूप में ओषजन की कुल मात्रा केवल तीन मिनट के लिए

पर्याप्त है । जब शरीर की क्रिया बढ़ जाती है तब ओषजन का आहरण भी बढ़ जाता है । अतः गृहीत ओषजन की मात्रा का मान प्राणी के सात्मीकरण क्रम के मापन की एक विधि है । शक्ति-उत्पादन के मापन की इस विधि को परोक्ष शक्तिमापन (Indirect Calorimetry) कहते हैं । इसके अतिरिक्त, शक्तिसंतुलन का मापन प्रत्यक्ष शक्तिमापन (Direct Calorimetry) विधि से भी करते हैं जिसमें शरीर में उत्पन्न ताप का मापन करते हैं । इन विधियों का विस्तृत वर्णन तत्तद् आकरग्रन्थों में देखें ।

आधारिक धातुपाकक्रम

(Basal Metabolic Rate)

धातुपाक प्राणी के शारीरिक श्रम पर निर्भर है । परिश्रम के समय यह बढ़ जाता है तथा विश्राम के समय घट जाता है । विश्राम-काल में जब धातुपाक-क्रम न्यूनतम हो जाता है तब इसे आधारिक धातुपाकक्रम कहते हैं । इस काल में केवल हृदय, श्वसनपेशियों तथा अन्य प्राणाधिष्ठानों की क्रिया होती है । आधारिक धातुपाकक्रम का मापन भोजन के कुछ देर बाद करते हैं जिससे आमाशय की क्रिया तथा आहार का शोषण इसे कम से कम प्रभावित कर सकें । रोगी लेटा रहे तथा शारीरिक एवं मानसिक दोनों दृष्टियों से विश्राम में हो । वातावरण का तापक्रम भी आरामदेह हो क्योंकि बाह्य तापक्रम में कमी होनें से धातुपाक बढ़ जाता है ।

औसत मूल्य

आधारिक धातुपाकक्रम शरीरपृष्ठ के अनुपात में स्थिर किया जाता है । एक स्वस्थ युवा व्यक्ति में यह ४० कैल / मि² / घं. या १ कैल / कि. ग्रा. शरीरभार / घं. होता है । सामान्यतः यह शरीरपृष्ठ के अनुपात में व्यक्त किया जाता है । यह देखा गया है कि ९० प्रतिशत व्यक्ति औसत मूल्य के १५ प्रतिशत के भीतर आते हैं । अतः किसी व्यक्ति का सात्मीकरण–क्रम इस प्रतिशत में कमी या अधिक के रूप में व्यक्त किया जाता है । १५ प्रतिशत से ऊपर होने पर ही सात्मीकरण के क्रम में परिवर्तन समझा जाता है ।

तालिका १ में आधारिक धातुपाक-क्रम के लिए फ्लीश का मानक (कैल / मि.² / घं.) दिया गया है । तालिका २ और ३ में ओषजन के आहरण तथा शक्ति-उत्पादन के सामान्य मूल्य दिये गये हैं (डर्निन एवं पासमोर १९६७)

तालिका १

आधारिक धातुपाकक्रम के लिए फ्लीश का मान (कैल/मि०^{२}/हो०)

वय—	१	३	५	७	९	११	१३	१५	१७	१९	२०
पुरुष	५३.०	५१.३	४९.३	४७.३	४५.२	४३.०	४२.३	४१.८	४०.८	३९.२	३८.६
स्त्री	५३.०	५१.२	४८.४	४५.४	४२.८	४२.०	४०.३	३७.९	३६.३	३५.५	३५.३
वय	२५	३०	३५	४०	४५	५०	५५	६०	६५	७०	७५	८०
पुरुष	३७.५	३६.८	३६.५	३६.३	३६.२	३५.८	३५.४	३४.९	३४.४.	३३.८	३३.२	३३.०
स्त्री	३५.२	३५.१	३५.०	३४.९	३४.५	३३.९	३३.३	३२.७	३२.२	३१.७	३१.३	३०.९

तालिका २

विश्रामकाल में ओषजन का आहरण

पुरुष	स्त्री	मेद%	भार कि० ४५	५०	५५	६०	६५	७०	७५	८०
			(ओ$_{२}$ मिलि / मिन०)							
कृश		५		२०६	२२०	२३४	२४८	२६२	२७६	२९०
मध्यम		१०		१९६	२१०	२२४	२३८	२५२	२६६	२८०
स्थूल	कृश	१५	१७२	१८६	२००	२१४	२२८	२४२	२५६	२७०
अतिस्थूल	मध्यम	२०	१६२	१७६	१९०	२०४	२१८	२३२	२४६	२६०
	स्थूल	२५		१६६	१८०	१९४	२०८	२२२	२३६	२५०
	अतिस्थूल	३०			१७०	१८४	१९८	२१२	२२६	२४०

तालिका ३

विश्रामकाल में शक्ति का उपयोग

पुरुष	स्त्री	मेद%	भार कि॰ ४५	५०	५५	६०	६५	७०	७५	८०
			कैल / मिन॰							
कृश		५		०.९९	१.०६	१.१२	१.१९	१.२६	१.३१	१.३९
मध्यम		१०		०.९४	१.०१	१.०८	१.१४	१.२१	१.२८	१.३४
स्थूल	कृश	१५	०.८२	०.८९	०.९६	१.०३	१.०९	१.१६	१.२३	१.३०
अतिस्थूल	मध्यम	२०	०.७८	०.८४	०.९१	०.९८	१.०५	१.११	१.१८	१.२५
	स्थूल	२५		०.८०	०.८६	०.९३	१.००	१.०७	१.१३	१.२०
	अतिस्थूल	३०			०.८१	०.८८	०.९५	१.०२	१.०८	१.१५

आधारिक सात्मीकरण-क्रम को प्रभावित करनेवाले कारण

आधारिक सात्मीकरण-क्रम को प्रभावित करनेवाले निम्नांकित कारण प्रमुख हैं :—

१. वय—नवजात शिशुओं में यह कम, लगभग २५ कैल/मि^{2}/ हो० होता है किन्तु पहले मास में बढ़ने लगता है और साल के अन्त में ५३ कैल/मि^{2}/हो० हो जाता है। उसके बाद यह क्रमशः घटता जाता है। २५ वर्ष की आयु में यह ३७.५ तथा ८० वर्ष की आयु में ३३ हो जाता है।

२. लिंग—पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियों में कम होता है।

३. आहार—उपवास-काल में यह कम हो जाता है। कुछ तो यह कृशता के कारण शरीर पुष्ट कम होने के कारण और कुछ कोषाणुओं के सात्मीकरण-क्रम में कमी से होता है। मेदस्वी व्यक्तियों में कुल मिलाकर यह अधिक होता है किन्तु शरीर-पृष्ठगत इकाई की दृष्टि से यह प्राकृत की अपेक्षा कम हो जाता है।

४. विकार—अनेक विकारों में यह प्रभावित होता है। अन्तःस्राव ग्रन्थियों के विकार विशेषतः अवटु ग्रन्थि की विकृति में इसमें परिवर्त्तन दृष्टिगोचर होता है। अवटुग्रन्थि की अतिक्रियाशीलता के कारण यह अधिक तथा अल्प क्रियाशीलता के कारण कम हो जाता है।

५. औषधद्रव्य—थाइरौक्सीन इसे बढ़ाता है। नाइट्रोफेनाल से भी वृद्धि होती है, इसका कारण ATP का संघटन नहीं होना है। स्वभावतः सात्मीकरणजन्य शक्ति का उपयोग तभी हो सकता है जब इसका एक अंश ADP से ATP के रूप में संघटित हो जाय। कुछ प्रोटीन यथा टाइरोसीन भी क्रियाशीलता को बढ़ाते हैं।

पञ्चम अध्याय

पित्तं पंगु कफः पंगुः पंगवो मलधातवः।
वायुना यत्र नीयन्ते तत्र गच्छन्ति मेघवत् ॥

महास्रोतोगत गतियाँ

चर्वण (Mastication)

सर्वप्रथम आहार का चर्वण क्रिया जाता है। चर्वण के द्वारा ठोस आहार छोटे छोटे कणों में विभक्त हो जाता है तथा लाला से मिलकर श्लेष्मा से युक्त एक आर्द्र और क्लिन्न वस्तु में परिणत हो जाता है।[1] इस रूप में ही आहार निगरणक्रिया के द्वारा अन्ननलिका में प्रविष्ट होता है।

चर्वण एक प्रत्यावर्तित क्रिया है। इस प्रत्यावर्तनचाप का केन्द्र मस्तिष्क में होता है। संज्ञावह सूत्रों के द्वारा मुख और जिह्वा से स्पर्श और भार की संज्ञायें तथा चर्वण पेशियों से पेशीसंज्ञा केन्द्र तक पहुँचती हैं। चेष्टावह सूत्रों के द्वारा केन्द्र से चर्वण पेशियों तक चालक उत्तेजना जाती है। निम्नाङ्कित पेशियाँ चर्वण कार्य को संपन्न करती हैं:—

१. हनुकूटकर्षणी २. शंखच्छदा ३. हनुमूलकर्षणी उत्तरा ४. हनुमूलकर्षणी अधरा ५. जिह्वाकण्ठिका ६. तन्तुगुच्छिका रसनापेशी।

निगरण (Deglutition)

क्लेदक श्लेष्मा से क्लिन्न आहार निगरणक्रिया के द्वारा मुख से गला होते हुए अन्ननलिका में और वहाँ से आमाशय में पहुंचता है।[2] निगरणक्रिया की तीन अवस्थायें होती हैं:—

प्रथम अवस्था—ऐच्छिक होती है। इसमें आहारगोलक मुख से गले तक पहुँचता है।

द्वितीय अवस्था—अनैच्छिक है। इसमें आहारगोलक गले से होता हुआ अन्ननलिका के ऊर्ध्वभाग तक पहुँच जाता है।

तृतीय अवस्था—अनैच्छिक है। आहारगोलक अन्ननलिका से होते हुए आमाशय में प्रविष्ट होता है।

प्रथम अवस्था

लाला से क्लिन्न आहारगोलक जिह्वा के पूर्वभाग के उन्नयन से गले की

---

१. 'क्लेदः शैथिल्यमापादयति।'—च० शा० ६

२. 'अन्नमादानकर्मा तु प्राणः कोष्ठं प्रकर्षति।'—च० चि० १५

ओर चला जाता है। जिह्वा अग्रभाग से पृष्ठ भाग की ओर कोमलतालु पर दबाव डालती है, इसलिए इसके पृष्ठभाग पर स्थित आहारगोलक पीछे की ओर चला जाता है। जिह्वा का यह उन्नयन अनुलम्ब रसनापेशी और जिह्वा-कण्ठिका पेशियों के संकोच से होता है।

द्वितीय अवस्था

मुखभूमि में स्थित मुखभूमिकण्ठिका के संकोच से आहार सहसा तीव्र गति से अन्ननलिका में प्रविष्ट होता है। इसमें कण्ठजिह्विका पेशियाँ भी सहायता करती हैं।

इस अवस्था में गले के आसपास स्थित अन्य स्रोत बन्द हो जाते हैं जिससे आहार उनमें प्रवेश नहीं करता। यथा—

मुखस्रोत—निम्न प्रकार से बन्द होता है :—

(१) जिह्वा के पूर्वभाग का कठिनतालु पर दबाव होने से।

(२) जिह्वामूल का उन्नयन होने से।

(३) गलबिल की पूर्वस्तम्भगत पेशियों के संकोच से।

नासास्रोत—बन्द होने के निम्न कारण हैं :—

(१) कोमल तालु का उन्नयन।

(२) गलबिल की पश्चिमस्तम्भगत पेशियों का संकोच।

(३) काकलक का उन्नयन।

जब गले की पेशियाँ सुषुम्नाशीर्षकरोग या रोहिणीविष आदि के कारण निश्चेष्ट हो जाती हैं तब निगरण में कठिनता होती है और आहार नासागुहा में प्रविष्ट हो जाता है।

स्वरयन्त्र द्वार बन्द होने के निम्न कारण हैं :—

(१) स्वरतंत्रियों का अन्तर्नयन

(२) सम्पूर्ण स्वरयन्त्र का प्रबल उन्नयन

(३) उपजिह्विका का स्वरयंत्र पर अवनमन

जब स्वरयन्त्र की नाड़ियाँ विकृत हो जाती हैं तब आहार स्वरयन्त्र में प्रविष्ट हो जाता है।

यह जटिल और सहबद्ध गतियाँ आहार के द्वारा पश्चिम भित्ति के संवेदनाशील बिन्दुओं की यान्त्रिक उत्तेजना से प्रत्यावर्तित रूप में उत्पन्न होती हैं। इस प्रत्यावर्तित क्रिया में संज्ञावह नाड़ियाँ कण्ठरासनी और ऊर्ध्व स्वरयंत्रीय नाडियाँ होती हैं। यह क्रिया कण्ठ में कोकेन के प्रयोग से नष्ट हो जाती है, जिससे आहार नासागुहा या स्वरयन्त्र में प्रविष्ट हो सकता है।

तृतीय अवस्था

अन्ननलिका में आहार की गति भोजन का स्वरूप, भोक्ता की स्थिति तथा आहारगोलक के आकार पर निर्भर करती है। यदि भोजन द्रव या अत्यन्त मृदु हो तो वह ०.१ सेकण्ड में ही तीव्र गति से अन्ननलिका को पार कर जाता है। यदि भोजन ठोस हो तो वह अन्ननलिकागत पेशियों की परिसरणगति से क्रमशः नीचे की ओर ६ सेकण्ड में उतरता है। यह परिसरणगति एक प्रत्यावर्तित क्रिया है जिसके निम्नलिखित भाग हैं :—

(१) संज्ञावह नाड़ियाँ—जल और अन्ननलिका की श्लेष्मलकला से सम्बद्ध नाडीसूत्र–यथा–कण्ठरासनी, त्रिधारा, प्राणदा की गलीय शाखायें तथा ऊर्ध्व स्वरयन्त्रीय शाखा।

(२) चेष्टावह नाडियाँ :—

अधोजिह्विका, त्रिधारा की तृतीय शाखा, प्राणदा और कण्ठरासनी—

(३) निगरणकेन्द्र—यह श्वसनकेन्द्र के निकट पिण्ड में है। यह संभवतः हृदयावरोधक तथा श्वसनकेन्द्रों के सन्निकट स्थित है, इसलिए निगरण के समय हृदय की गति तीव्र और श्वसन बन्द हो जाता है।

आमाशय की गति

सामान्यतः आमाशय संकोच की स्थिति में रहता है और अपने भीतर स्थित पदार्थों पर १०० मिलीमीटर दबाव डालता है। खाली रहने पर इसकी दीवाल एक दूसरे से मिली रहती है और जब भोजन इसमें प्रविष्ट होता है तब इसका आयतन समान रूप से बढ़ जाता है। यह जन्तुओं को विस्मथयुक्त आहार देकर एक्सरे के द्वारा देखा गया है।

भोजन करने के बाद शीघ्र आमाशय के लगभग बीच में एक संकीर्णता उत्पन्न हो जाती है जिसे पूर्वमुद्रिका-संकोचक कहते हैं। इसके द्वारा आमाशय का हार्दिक द्वार मुद्रिकाद्वार से पृथक् हो जाता है। छोटा मुद्रिकाद्वार पुनः एक संकीर्ण भाग के द्वारा दो भागों में विभक्त हो जाता है :—मुद्रिका-कुहर और मुद्रिका-नली। पूर्वमुद्रिका-संकोचक से एक संकोच की तरङ्ग मुद्रिकाद्वार की ओर जाती है और इसके पीछे पुनः एक तरङ्ग उठती है। इस प्रकार आमाशय का मुद्रिकाभाग सक्रिय एवं गतिशील हो जाता है। यह परिसरण संकोच प्रायः ४ से ६ प्रतिमिनट होता है और बहुधा इसके साथ गुड़गुड़ शब्द भी होता है जो नाभि और वक्षोस्थि के बीच में मध्यरेखा के कुछ बायें श्रवण-यन्त्र रखने से प्रतीत किया जा सकता है।

आमाशय का हार्दिक भाग कोष का काम करता है। इसमें परिसरण संकोच नहीं होता, किन्तु यह स्थायी संकोच की स्थिति में रहता है, जिससे

आमाशयिक भोजन दबाव के कारण मुद्रिका भाग में जाता है और वह धीरे धीरे आकार में घटता जाता है यथा आमाशयिक पाचन के अन्त में पूर्णतया रिक्त हो जाता है।

मुद्रिकाद्वार मुद्रिकासंकोचक पेशी द्वारा बना रहता है जो कभी-कभी प्रसारित होने पर आमाशय के अतिरिक्त द्रव पदार्थों को अन्त्र में जाने देती है। यह प्रसार प्रारम्भ में थोड़ा और क्षणिक होता है किन्तु धीरे यह अधिक होने लगता है और जब पाचन पूर्ण हो जाता है (प्रायः ५-६ घण्टे के बाद) तब संकोचक पेशी पूर्णतः प्रसारित हो जाती है और आमाशय रिक्त हो जाता है। मुद्रिकाद्वार का उद्घाटन एक स्थानिक नाड़ीयन्त्र के द्वारा नियन्त्रित होता है जो अम्ल आमाशयिक पदार्थों के ग्रहणी में जाने पर प्रत्यावर्तित क्रिया के कारण प्रवृत्त होता है। इससे मुद्रिकाद्वार शीघ्र बन्द हो जाता है और तब तक नहीं खुलता, जब तक कि ग्रहणीगत पदार्थ उसके क्षारीय स्रावों द्वारा उदासीन न हो जाँय। इसे मुद्रिकाद्वार का अम्ल नियंत्रण कहा जाता है। इसके कारण आमाशयिक पदार्थ अतिशीघ्र बाहर नहीं निकलने पाता और भोज्य पदार्थ को पाचन के लिए भी पर्याप्त समय मिल जाता है।

स्नेह और शाकतत्त्व आमाशय में अधिक देर तक रह जाते हैं, क्योंकि मांसतत्त्व की अपेक्षा इनकी उपस्थिति में आमाशय का संकोच कम होता है। यह संकोच की कमी आमाशय से नाड़ीविच्छेद के बाद भी देखी जाती है, अतः यह अनुमान किया जाता है कि स्नेह और शाकतत्त्वों से कुछ ऐसे अवरोधक पदार्थ बनते हैं जो आमाशयिक गति को बन्द कर देते हैं। आमाशयिक व्रण की अवस्था में संज्ञावह -नाड़ियाँ अधिक उत्तेजित हो जाती हैं जिससे मुद्रिकाद्वार अधिक संकुचित हो जाता है और आमाशय के खाली होने में विलंब हो जाता है।

आमाशय में विभिन्न प्रकार के भोज्य पदार्थों की गति का क्रम देखा गया है जिससे यह पता चला है कि शाकतत्त्व सर्वाधिक शीघ्रता तथा स्नेह सर्वाधिक मन्दता से गति करते हैं। आमाशय के पूर्ण रिक्त होने का काल निम्नांकित बातों पर निर्भर करता है :—

१. आहार का परिणाम।
२. आहार की पाच्यता।
३. मन और शरीर की साधारण दशा।

सामान्यतः यह काल २ से ५ घंटा है। बच्चों में आमाशय शीघ्र खाली हो जाता है, अतः बच्चे भोजन काल में अत्यधिक द्रवपदार्थ का ग्रहण कर

सकते हैं। यह भी देखा गया है कि रिक्तावस्था में भी आमाशय में लगातार प्रायः दो घण्टे पर परिसरणगति की तरंग उठती रहती है। इसी समय मनुष्य को कड़ी भूख मालूम होती है।

आमाशयिक गति का नाडीयन्त्र

(क) आन्तरिक—(Intrinsic)

सभी आमाशयिक नाड़ियों को काट देने पर भी देखा गया है कि आमाशय की गति निरन्तर नियमित रूप से होती रहती है। अतः यह नियन्त्रण आमाशय के पेशीगत स्तर में स्थित नाड़ीजालकों द्वारा होता है।[1]

(ख) बाह्य—(Extrinsic)

(१) प्राणदा नाड़ी पेशीस्तर के संकोच को बनाये रखती है और मुद्रिका की गति में वृद्धि करती है। यह हार्दिक द्वार को प्रसारित करती है तथा मुद्रिकाद्वार को संकुचित करती है।

(२) सांवेदनिक सूत्र—मुद्रिकासंकोचक की शक्ति एवं गति को कम करते हैं।

क्षुद्रान्त्र की गति

आन्त्रीय पदार्थ अन्त्रनलिका में धीरे-धीरे आगे बढ़ते जाते हैं और साथ ही उनका सम्मिश्रण भी होता जाता है। यह गति कई प्रकार की होती है :—

(१) पुरस्सरण—यह संकोच की तरङ्गों के द्वारा होता है जो अन्त्र के पेशीस्तर में प्रत्येक तीन या चार मिनट पर उत्पन्न होती हैं। इसी को परिसरणगति कहते हैं। इससे अन्त्रीय पदार्थ प्रतिमिनट १-२ इञ्च आगे बढ़ते हैं।

(२) सम्मिश्रण—अन्त्र में भोज्य पदार्थों का सम्मिश्रण मुद्रिकासंकोच के द्वारा होता है। इससे भोजन आगे तो नहीं बढ़ता, किन्तु एकदम मिल जाता है। इसके द्वारा आहार सूक्ष्म कणों में विभक्त हो जाता है और अन्त्ररस से सुमिश्रित हो जाता है। इससे भोज्य पदार्थ रसाङ्कुरिकाओं के निकट सम्पर्क में आ जाता है जिससे शोषण में सहायता मिलती है इसके अतिरिक्त यह श्लेष्मल तथा अन्त्रीय रस के स्राव तथा लसीका एवं रक्त के संवहन में सहायता पहुँचाती है।

(३) घटिकागति—यह गति प्रतिमिनट लगभग १० बार होती है और अनुलम्ब पेशीसूत्रों के नियमित सङ्कोच के कारण होता है। इससे भोज्य पदार्थों में सामने और पीछे की ओर गति होती है।

---

१. 'वायुरपकर्षति'—च० शा० ६

(४) अंकुरगति—यह अनियमित होती है और इसके द्वारा अन्त्र के एक खण्ड विशेषतः बृहदन्त्र में एककालिक सङ्कोच उत्पन्न होते हैं । अन्तिम दो गतियां नाड़ीविच्छेद के बाद भी अन्त्र में देखी जाती हैं, इसका कारण यह है कि यह अन्त्र में कोलीन के द्वारा उत्पन्न एसिटिल कोलीन नामक द्रव्य की उत्तेजना के फलस्वरूप प्रादुर्भूत होती है ।

परिसरणगति (Peristalsis)

किसी यान्त्रिक उत्तेजक से इसका प्रारम्भ होता है । सामान्यतः आहार-गोलक पर्याप्त उत्तेजक है । अतः शाकाहार का अपाच्य भाग इस गति के उत्पन्न करने में महत्त्वपूर्ण है । इसके दो चिह्न हैं :—

१. इसके पूर्व प्रसार की एक तरङ्ग होती है ।
२. यह केवल आगे की ओर ही जाती है ।

यह गति निम्न कारणों से बढ़ जाती हैं :—

१. अन्त्र में भोजन या अन्य पदार्थ ।
२. आमाशय में भोजन यथा—पुरीषोत्सर्ग के पूर्व जलपान या लघ्वाहार ।
३. मानसिक आवेश । ४. शीत बस्ति । ५. औषध ।

क्षुद्रान्त्र की नाड़ियाँ

१. प्राणदा—इसकी उत्तेजना से प्रारम्भिक प्रसार के बाद अन्त्र की दीवाल में संकोच होता है ।

२. सांवेदनिक नाड़ी को उत्तेजित करने से अन्त्रभित्ति का प्रसार एवं अन्त्रोण्डुक-संकोचक का संकोच होता है ।

केन्द्रीय नाड़ीमण्डल का प्रभाव भी देखा जा सकता है । यथा शूल के समय गति का अवरोध तथा मानसिक आवेशों के समय गति की वृद्धि स्पष्टतः प्रतीत की जा सकती है ।

बृहदन्त्र की गति

उण्डुक और आरोही बृहदन्त्र भोजन के प्रायः तीन घण्टे के बाद क्षुद्रान्त्र की परिसरणगति से प्रभावित हो जाते हैं और उस काल में पूर्णतः निष्क्रिय रहते हैं जिससे जल के पुनः शोषण एवं पुरीष के निर्जलीकरण के लिए पूरा समय मिल जाता है ।[1] बाद में वहाँ भी क्षुद्रान्त्र के समान ही मुद्रिकागति प्रारम्भ हो जाती है, जिससे नलिकास्थित पदार्थ मिश्रित हो जाते हैं तथा

---

१. 'यकृत् समन्तात् कोष्ठं च तथान्त्राणि समाश्रिता ।
उण्डुकस्थं विभजते मलं मलधरा कला ॥'—सु० शा० ४

जल के शोषण में सहायता मिलती है। इन भागों से अनुप्रस्थ एवं अवरोही भाग में पुरीष का निर्गमन देर के बाद प्रायः २४ घण्टों में तीन से चार बार
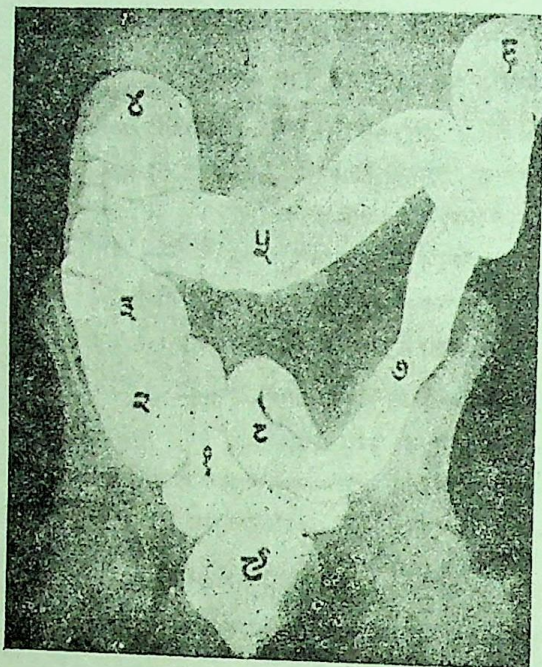
बृहदन्त्र

१. अन्त्रपुच्छ २. उण्डुक ३. आरोही भाग ४. याकृत कोण ५. अनुप्रस्थ भाग ६. प्लैहिक कोण ७ अवरोही भाग ८. कुंडलिका ९. मलाशय।

परिसरण संकोचों के द्वारा होता है। ये गतियाँ सामान्यतः आमाशय में आहार प्रविष्ट होने पर होती हैं और आमाशयान्त्रिक प्रत्यावर्तन (Gastro-colic reflex) या आहारप्रत्यावर्त्तन में कारण होती है।[1]

बृहदन्त्र की नाड़ियाँ

(१) बृहदन्त्र के ऊर्ध्वभाग के लिए प्राणदा।

(२) अवशिष्टभाग के लिए तथा मलाशय के लिए श्रोणिगुहीय नाडियाँ।

(३) सांवेदनिक।

---

१. आयुर्वेदिक दृष्टि से यह गतियाँ अपान वायु के कारण होती हैं। 'गुदेऽपानः।'

षष्ठ अध्याय

रञ्जकपित्त का स्थान

यकृत्

यकृत् शरीर में सब से बड़ी और महत्त्वपूर्ण ग्रन्थि है और यकृत्-कोषाणुओं से संघटित छोटे और वृत्ताकार खण्डों ने बनी है। ये कोषाणु कणयुक्त होते हैं तथा इनके ओजःसार में छोटी-छोटी नलिकायें होती हैं। जालक तन्तु
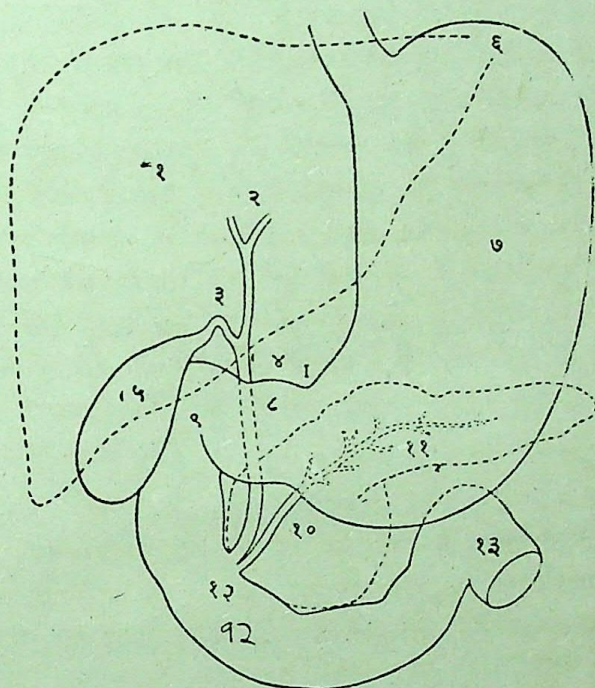
यकृत्

१. यकृत् २. याकृती नलिका ३. पित्ताशय नलिका ४. सामान्य पित्तनलिका ५. पित्ताशय ६. आमाशय स्कन्ध ७. आमाशय मध्य ८. मुद्रिका भाग ९. मुद्रिका द्वार १०. अग्न्याशय-नलिका ११. ग्रहणी १२. क्षुद्रान्त्र।

१. 'दक्षिणतो यकृत् क्लोम च।'—सु० शा० ४

के सूक्ष्म जाल के द्वारा ये परस्पर आबद्ध और आश्रित रहते हैं। इन कोषाणुओं के ओजःसार में मेद के कण, शर्कराजनक एवं लौहयुक्त रञ्जककण रहते हैं।[1] पित्त पहले अन्तःकोषाणवीय अवकाशों (स्रोतों) में जाता है, उसके बाद यकृत्खण्डों के भीतर नलिकाओं में प्रविष्ट होता है। ये नलिकायें यकृत् पिण्डों में परस्पर मिलने लगती हैं और इन्हीं के द्वारा पित्तनलिका बनती है, वाम और दक्षिण यकृत्-नलिकाओं के मिलने से सामान्य पित्तनलिका बनती है जो अग्न्याशयनलिका के साथ ग्रहणी में खुलती है। पित्त यकृत्-नलिका के द्वारा सीधे ग्रहणी में प्रविष्ट होता है, किन्तु जब पाचनक्रिया नहीं होती है तब वह पित्ताशयनलिका द्वारा पित्तकोष में सञ्चित होता है।

पित्तकोष पित्त का सञ्चयस्थान है। यहां जलांश का अधिक शोषण हो जाने के कारण पित्त गाढ़ा हो जाता है। यकृत् में रक्त प्रतीहारिणी सिरा तथा याकृती धमनी द्वारा आता है। प्रतीहारिणी सिरा याकृती धमनी, पित्तनलिका और रसायनियों के साथ यकृत् के अधःपृष्ठ पर एक आवरण में बंधी रहती है जिसे ग्लिसन का आवरण (Glisson's Capsule) कहते हैं। यकृत् के खण्ड संयोजक तन्तु द्वारा एक दूसरे से पृथक् रहते हैं जिसमें अन्तःखण्डीय रक्तवह स्रोत (Interlobular blood vessels) अवस्थित रहते हैं। प्रत्येक खण्ड के प्रान्तभाग में प्रतीहारिणी सिरा की शिखायें पाई जाती हैं, जिनसे होकर रक्त याकृती केशिकाओं में जाकर यकृत्-कोषाणुओं के साक्षात् सम्पर्क में आता है। इन केशिकाओं से याकृती धमनियों से भी रक्त आता है और यह खण्ड के केन्द्र में जाकर याकृती सिरा की अन्तःखण्डीयशाखा बनाती हैं।

याकृत कोषाणुओं के अतिरिक्त यकृत् में कुछ और कोषाणु होते हैं जिन्हें 'कूफर के तारक-कोषाणु' (Stellate cells of kupffer) कहते हैं। ये अनियमित आकार के होते हैं और इनसे याकृत केशिकाओं का अन्तःस्तर निर्मित होता है। यह तीव्र कणभक्षक होते हैं और उनमें रक्तकण विनाश की विभिन्न अवस्थाओं में देखे जाते हैं। ये कोषाणु जालकान्तःस्तरीय यन्त्र के सदस्य होते हैं।

---

१. 'पित्तस्य यकृत्प्लीहानौ।'

'यत्तु यकृत्प्लीह्नोः पित्तं तस्मिन् रंजकोऽग्निरिति संज्ञा। स रसस्य रागकृदुक्तः।'—सु० सू० २१

'स खलु आप्यो रसो यकृत्प्लीहानौ प्राप्य रागमुपैति।'—सु०सू० १४

'प्लीहानं च यकृच्चैव तदधिष्ठाय वर्तते।
स्रोतांसि रक्तवाहीनि तन्मूलानि हि देहिनाम्॥'—च० चि० ४

याकृत कोषाणु तथा तारक कोषाणु दोनों पित्त एवं शर्कराजनक के उपादान अवयवों को उत्पन्न करते हैं तथा यकृत् की यन्त्रशाला का प्रतिनिधित्व करते हैं।

यकृत् के कार्य

यकृत् के निम्नलिखित प्रधान कार्य हैं :—

१. शर्कराजनक का निर्माण (शाकतत्त्व के सात्मीकरण का नियमन)
२. मूत्रलवण का निर्माण (मांसतत्त्व के ,, ,,)
३. मूत्राम्ल का निर्माण (प्यूरिन सात्मीकरण का नियमन)
४. पित्त का निर्माण ।
५. औषधों का बहिरुत्सर्ग ।
६. निर्विषीकरण (अमोनिया लवणों का यूरिया में परिवर्तन)
७. रक्तनिर्माण (रञ्जकद्रव्य का निर्माण)
८. रक्तकण का विनाश ।
९. प्रतिस्कन्दिन द्रव्य का निर्माण ।
१०. सूत्रजन का निर्माण ।

पित्त

पित्त याकृत कोषाणुओं द्वारा उत्पन्न एक रस है जो आहार के पाचन में सहायक होने के कारण पाचकरस कहा जाता है। अन्य पाचकरसों से यह भिन्न एवं विशिष्ट है, क्योंकि—

(१) इसमें कोई विशिष्ट किण्वतत्त्व नहीं होता ।

(२) इसका उत्पादन निरन्तर होता रहता है और पाचन के अवकाशकाल में भी यह पित्तकोष में सञ्चित होता रहता है ।

(३) यह किसी स्रावोत्पादक नाडीयन्त्र के साक्षात् नियन्त्रण में नहीं है ।

(४) इसका परिणाम यकृतरक्तसंवहन के द्वारा नियमित रहता है ।

इस प्रकार पित्त का निर्माण बहुत कुछ मूत्र के स्राव के समान है, किन्तु दोनों में महत्त्वपूर्ण अन्तर यह है कि वृक्क अन्य अङ्गों के द्वारा प्रस्तुत तथा उसी रूप में रक्त में विद्यमान त्याज्य पदार्थों का उत्सर्ग करते हैं जब कि पित्त के अवयव याकृत कोषाणुओं की क्रियाशीलता के परिणामस्वरूप उत्पन्न होते हैं। इस प्रकार वृक्क निष्क्रिय रूप में तथा यकृत् सक्रिय रूप में कार्य करते हैं।

पित्त का निर्माण

जन्तुओं पर प्रयोग करने के बाद यह देखा गया है कि पित्त का निरन्तर

स्राव होता रहता है यद्यपि विभिन्न अवस्थाओं में इसके परिमाण में अन्तर हो जाता है। उपवासकाल में इसका स्राव कम हो जाता है और मांस या स्निग्ध आहार के लगभग १ घण्टे के बाद इसका स्राव बढ़ जाता है। शाकाहार का स्राव के क्रम पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता।

पित्त का निर्माण बहुत निम्न दबाव पर होता है, अतः पित्त के प्रवाह में थोड़ी बाधा होने पर भी वह अन्त्र में नहीं जा पाता और पयस्विनियों के द्वारा वह रक्त में शोषित हो जाता हैं जिससे 'शोषण-कामला' (Absorption Jaundice) की अवस्था उत्पन्न हो जाती है।[1] पित्तोत्पादन का कार्य भौतिक पद्धति से नहीं होता, बल्कि कोषाणुओं की शारीर क्रियाओं के द्वारा होता है। इसका प्रमाण यह है कि इसका निर्माण दबाव के विपरीत होता है। नलिका में दबाव ३० मिलीमीटर है जब कि याकृती सिरा में तीन गुना कम है।

यह देखा गया है कि पित्त का स्राव गर्भावस्था के १२ वें सप्ताह से प्रारम्भ होकर जीवन भर जारी रहता है। लम्बे उपवासकाल में भी यह बन्द नहीं होता। स्रावक नामक अन्तःस्राव की क्रिया भी यकृत् कोषाणुओं पर होती है और पित्तस्राव में सहायता करती है। पित्तस्रावकों में सर्वोत्तम पित्तलवण ही माने गये हैं।

पित्तकोष से ग्रहणी में पित्त का प्रवेश आहार के स्वरूप और परिणाम के द्वारा नियमित होता है। जब भोजन आमाशय में पहुँचता है तब उसके आध घण्टे के बाद पित्त का स्राव अन्त्र में होने लगता है और समस्त पाचनकाल तक जारी रहता है। सब से अधिक स्राव भोजन के ५-६ घण्टे के बाद होता है जब भोजन शोषित होकर प्रतीहारी रक्त के द्वारा यकृत् में पहुँचता है। पच्यमान भोजन के ग्रहणी में प्रविष्ट होने पर उससे एक सक्रिय तत्त्व उत्पन्न होता है, जिसे पित्तस्रावक (Cholecystokinin) कहते हैं।

यकृज्जन्य पैत्तिक स्राव के प्रमाण

ऊपर बतलाया जा चुका है कि पित्त के विभिन्न अवयव यकृत् कोषाणुओं की क्रिया से निर्मित होते हैं और न कि मूत्र के समान रक्त से लेकर ही उनका उत्सर्ग होता है। इसके पक्ष में निम्नलिखित प्रमाण हैं :—

(१) प्रतीहारी रक्त में पित्तलवण या पित्तरञ्जक द्रव्य नहीं मिलते।

---

१. 'कफसंमूर्च्छितो वायुः स्थानात् पित्तं क्षिपेद्बली।
हारिद्रनेत्रमूत्रत्वक् श्वेतवर्चास्तदा नरः॥'—च० चि० १६

(२) यदि यकृत् शरीर से पृथक् कर दिया जाय तो रक्त में पित्त के अवयवों का संचय नहीं होता।

(३) इसके विपरीत, यदि पित्तनलिका बांध दी जाय तो रक्त में पित्त के अवयवों का संचय होने लगता है और कामला की अवस्था उत्पन्न हो जाती है।

(४) यकृत् के मेदस अपकर्ष में न तो पित्तस्राव होता है और न कामला ही होता है।

(५) यदि पित्त के लवण मांसतत्त्व के सात्मीकरण के क्रम में उत्पन्न परित्याज्य द्रव्य ही केवल होते, तो मांसतत्त्व के अनुपात से ही उनका परिमाण निश्चित किया जाता, किन्तु ऐसी बात नहीं है। यह देखा गया है कि २ गुना मांसतत्त्व का आहार करने पर भी पित्त के लवण केवल दूने हो जाते हैं और वही परिणाम तब देखने में आता है, जब मांसतत्त्व की मात्रा वही रहती है, किन्तु स्नेह अधिक मात्रा में लिया जाता है।

(६) पित्तरञ्जक द्रव्य रक्तकणों से प्राप्त होते तथा यकृत् के भीतर बनते हैं इसका प्रमाण यह है कि जब शरीर में अधिक रक्तक्षय होता है तो मूत्र में पित्तरञ्जक द्रव्य बहुत अधिक मिलने लगते हैं। किन्तु यदि रक्तक्षय के पूर्व ही यकृत् को पृथक् कर दिया जाय तो मूत्र में पित्तरञ्जक द्रव्यों के स्थान पर रक्तरञ्जक द्रव्य ही अधिक मात्रा में मिलता है।

अब यह सिद्ध किया गया है कि यद्यपि पित्तरञ्जक द्रव्य मुख्यतः यकृत् में बनते हैं, तथापि अन्य तन्तुओं के कोषाणुओं में भी इनके उत्पादन की शक्ति होती है। अतः यकृत् के पृथक् करने पर भी जन्तुओं के रक्तरस और मूत्र में पित्तरञ्जक द्रव्य मिलते हैं। कुछ लोगों का यह भी मत है कि पित्तरञ्जक द्रव्य मुख्यतः मज्जा और प्लीहा में बनते हैं और यकृत् के द्वारा केवल उनका उत्सर्ग होता है।

पित्त का संघटन

जल	८६ प्रतिशत
घनभाग	१४ ,,
पित्तलवण	९ ,,
पित्तरञ्जक, म्यूसिन	३ ,,
स्नेह	१ ,,
कौलेस्टरोल	०·२ ,,
खनिज लवण	०·८ ,,

(सोडियम क्लोराइड, मैग्नेसियम, खटिक तथा लोह के फास्फेट आदि)

परिमाण—मनुष्य में २४ घण्टे में लगभग ५०० से १००० सी० सी० पित्त का निर्माण होता है।[१]

प्रतिक्रिया—इसकी प्रतिक्रिया क्षारीय होती है।

वर्ण—इसका वर्ण सामान्यतः स्वर्णिम पीत से लेकर नींबू के समान हरा होता है। वर्ण में भिन्नता पित्तरंजक द्रव्यों (बिलीरुबीन तथा बिलीवर्डिन) पर निर्भर करता है। बिलीरुबीन के आधिक्य से पित्त का वर्ण सुनहला, पीला तथा बिलीवर्डिन की अधिकता से हरा होता है। मनुष्य में दोनों रंजकद्रव्य प्रायः समान परिमाण में पाये जाते हैं।[२]

स्वरूप—यकृत् कोषाणुओं द्वारा स्रुत पित्त तनु द्रव होता है तथा ग्रहणी में प्रविष्ट होनेवाला पित्त पित्त-कोष तथा पित्त-नलिकाओं की श्लेष्मलकला के स्राव से मिलने के कारण गाढ़ा हो जाता है।

पित्तलवण

पित्तकोष में सञ्चित पित्त में सोडियम के टौरोकौलेट (C_{26} H_{44} Na No_7s) तथा ग्लाइकोकौलेट (C_{26} H_{42} Na No_6) नामक लवण लगभग ९ प्रतिशत मिलते हैं। ये लवण सोडियम के ग्लाइकोलौलिक एसिड ($C_{26}H_{43}$ ND_6) तथा टौरोकौलिक एसिड (C_2 H_{45} No_7s) नामक दो पित्ताम्लों के साथ संयुक्त होने से बनते हैं।

पित्त लवण के कार्य

(१) यह स्नेह के कणों को सूक्ष्म बनाकर उनका पयसीकरण करते हैं और इस प्रकार अग्न्याशयरस के किण्वतत्त्वों विशेषतः मेदोविश्लेषक किण्वतत्त्वों के कार्य में सहायक होते हैं।

(२) पक्व पदार्थों के शोषण में सहायता करते हैं।

(३) कौलेस्टरोल तथा लेसिथिन को विलीन कर लेते हैं। जब पित्त-लवण कम या अनुपस्थित होते हैं तब कौलेस्टरीन सञ्चित होने लगता है और उसी को केन्द्र बनाकर पित्ताश्मरी बनने लगती है। इस प्रकार पित्त के द्वारा अनेक विषों का निर्हरण होता है।

---

१. 'पञ्च (अञ्जलयः) पित्तस्य।'—च० शा० ७

२. 'पित्तं तीक्ष्णं द्रवं पूति नीलं पीतं तथैव च।
उष्णं कटुरसं चैव विदग्धं चाम्लमेव च॥'—सु० सू० २१

(४) अन्त्र की पुरस्सरण गति में सहायता करते हैं।

(५) ये जीवाणुनाशन का कार्य करते हैं। पित्त की अनुपस्थिति में अन्त्रगत भोज्यपदार्थ में सड़न पैदा हो जाती है।

(६) ये पित्तस्रावक का कार्य करते हैं।

(७) पित्तलवण अन्त्र में अविलेय स्नेहाम्लों को घुलाकर रखते हैं और उनको अवक्षिप्त नहीं होने देते।

पित्तलवणों की परीक्षा

इक्षुशर्करा तथा तीव्र गन्धकाम्ल थोड़ी मात्रा में पित्त में मिलाओ। इससे उसका रंग लाल हो जायगा।

मात्रा—प्राकृत पित्तकोषगत पित्त में पित्तलवण ९.५ प्रतिशत होते हैं। वस्तुतः इनका परिमाण आहार के स्वरूप पर निर्भर है—मांसाहार में शाकाहार की अपेक्षा इनका स्राव अधिक होता है। सामान्य अवस्था में, पित्तलवण ग्रहणी में प्रविष्ट होने पर पुनः शोषित होकर प्रतिहारी रक्त के साथ यकृत् में चले आते हैं। यह पित्तस्रावक का कार्य करते हैं और पुनः पित्तकोष तथा अन्त्र में चले जाते हैं। मिलेनबी के अनुसार पित्तलवण पुनः शोषित होने के समय ग्रहणी की श्लेष्मल कला में उत्पन्न स्रावक तत्त्व को भी साथ ले जाते हैं जो अग्न्याशय की क्रिया को प्रेरित करता है। इस प्रकार एक 'आन्त्र-यकृत् संवहन' (Intestino-hepatic circulation) स्थापित हो जाता है और पित्त को अपनी क्रिया की पुनरावृत्ति के लिए समय मिल जाता है। नाडीव्रण की दशा में जब पित्त ग्रहणी में प्रविष्ट नहीं होने पाता, तब आन्त्र-यकृत् संवहन नहीं होता और फलतः यकृत् कोषाणुओं की स्रावक क्रिया में अवरोध होने से पित्तलवणों का निर्माण अत्यल्प हो पाता है।

पित्तलवणों का भविष्य

पित्तलवण अन्त्र में कोलेलिक एसिड, ग्लाइसिन और टॉरिन में विश्लेषित हो जाते हैं और उसी रूप में वह पुरीष और थोड़ा मूत्र में पाये जाते हैं। इन विश्लेषित पदार्थों का $\frac{७}{८}$ भाग प्रतिहारिणी सिरा द्वारा शोषित हो जाता है तथा यकृत् में जाकर वे पुनः पित्तलवणों में संश्लेषित हो जाते हैं।

पित्तरञ्जक द्रव्य

पित्तरञ्जक द्रव्य रक्तरञ्जक द्रव्य के विनाश से बनते हैं। इन द्रव्यों में दो मुख्य हैं:—

१. पीत पित्तरञ्जक ($C_{32}H_{38}N_4O_4$)—(Bilirubin)

२. हरित पित्तरञ्जक ($C_{33}H_{36}N_4O_8$)—(Biliverdin)

पीत पित्तरञ्जक मांसहारी जन्तुओं के पित्त में तथा हरित पित्तरञ्जक

शाकाहारी प्राणियोंके पित्त में पाया जाता है। मनुष्य के पित्त में दोनों प्रकार होते हैं, किन्तु पीत पित्तरञ्जक अधिक होता है।

पित्तरञ्जक द्रव्यों की उत्पत्ति

पित्तरञ्जक द्रव्यों का निर्माण रक्तरञ्जक द्रव्यों से होता है। रक्तनिर्मापक संस्थान, विशेषतः यकृत् के कूफर कोषाणुओं में जब रक्तकोषाणुओं का विघटन होता है, तब एक लौहयुक्त रञ्जकद्रव्य उत्पन्न होता है, जिसे 'हिमेटिन' कहते हैं। जब इससे लौह पृथक् हो जाता है तब यह 'हिमेटोपॉरफिरीन' नामक द्रव्य में परिवर्तित हो जाता है जो पीत पित्तरञ्जक का समवर्गीय है। पृथक् हुआ लौह यकृत् में जमा होता है और हिमेटौपॉरफिरीन पीत पित्तरञ्जक में परिणत हो जाता है। हिमेटापॉरफिरीन एक विषाक्त पदार्थ है अतः इसका पीत पित्तर[illegible] (निर्विष पदार्थ) में परिणाम यकृत् की निर्विषीकरण क्रिया का एक उदा[illegible] है। कुछ पीत पित्तरञ्जक ओषजनीकरण के अनन्तर हरित पित्तरञ्जक में परिणत हो जाता है।

पित्तरञ्जक द्रव्यों का स्वरूप

पीत पित्तरञ्जक :—

यह सुनहला, पीला स्फटिकीय यौगिक है तथा जल में अविलेय, ईथर या बेन्जीन में किञ्चित् विलेय एवं क्लोरोफार्म में अधिक विलेय है।

हरित पित्तरञ्जक :—

यह हरे रंग का चूर्ण है जो मद्यसार में घुलनशील है, किन्तु जल, क्लोरोफार्म या ईथर में अविलेय है।

ये दोनों द्रव्य, नवजात उदजन के संयोग से सोदपित्तरञ्जक में परिणत हो जाते हैं।

पित्तरञ्जक द्रव्यों का भविष्य

पित्तरञ्जक द्रव्यों का कुछ अंश अन्त्र में जीवाणुओं की क्रिया से परिवर्तित होकर पुरीषपित्त ($C_{33}H_{42}N_4O_6$) के रूप में पुरीष के साथ बाहर जाता है। इसी के कारण पुरीष का रङ्ग पीताभ परिवर्त्तित हो जाता है जो अन्य अपरिणत पित्तरञ्जक द्रव्यों के साथ कपिल होता है। कुछ अंश पुनः मूत्रपित्तजन ($C_{33}H_{44}N_4O_6$) में अन्त्र में शोषित हो जाते हैं और वृक्क द्वारा मूत्रपित्त, यूरोएरथ्रिन तथा मूत्ररञ्जक के रूप में मूत्र के साथ उत्सृष्ट होते हैं।

परीक्षा

मेलिन की परीक्षा :—

एक पात्र में थोड़ा पित्त लेकर उसमें १ बूंद नत्रिकाम्ल डालने से रञ्जक

द्रव्यों के ओषजनीकरण के कारण उसमें पीला, लाल, बैंगनी, नीला और हरा रंग उत्पन्न होते हैं। हरा रंग पीत पित्तरञ्जक से ओषजनीकरण के द्वारा हरित पित्तरञ्जक बनने के कारण होता है। अन्य वर्णों की उत्पत्ति उत्तरोत्तर द्रव्यों के परिणाम से होती है :—

पीत पित्तरञ्जक
| + ओ
हरित पित्तरञ्जक
| + ओ
नील पित्तरञ्जक
| + ओ
अरुण पित्तरञ्जक
| + ओ
कोलेटिनिन

कोलेस्टरौल

पित्त में प्रायः ०·०१ से ०·१ प्रतिशत तक कोलेस्टरौल होता है। इसकी उत्पत्ति के सम्बन्ध में अभी तक स्पष्ट ज्ञान नहीं हुआ है, तथापि अनुमानतः यह निम्नांकित प्रकार से बनता है :—

१. पित्तनलिकाओं की आवरक कला से।

२. नश्यमान यकृत् कोषाणुओं से।

३. रक्तकोषाणुओं के विघटन से।

यह समझा जाता था कि शरीर में कोलेस्टरौल से कोलिक अम्ल बनता है, किन्तु यह देखा गया है कि जन्तुओं को कोलेस्टरौल देने पर पित्ताम्ल के उत्पादन में वृद्धि नहीं हुई।

यह पित्तलवणों के विलयन में घुलनशील है अतः पित्त के द्वारा ही इसका अधिक अंश उत्सृष्ट होता है। पित्तलवण रक्तविलायक हैं, किन्तु ये उसके विपरीत गुणवाले होते हैं।

प्लीहा

यह स्पञ्ज के समान एक अङ्ग है जो आमाशय के बाईं ओर स्थित रहता है। यह एक कोमल स्थितिस्थापक सौत्रिक आवरण से ढँका रहता है। इससे अंकुरवत् प्रवर्धन निकलकर भीतर की ओर फैले रहते हैं। इसकी आभ्यन्तरिक कला केशिकाओं के साथ मिली रहती है जिसके कारण प्लीहा के सिकुड़ने से रक्त बाहर स्रोतों में चला जाता है। भावावेश, ओषजन की कमी तथा सांवेदनिक संस्थान को उत्तेजित करने वाले कारणों से यह संकुचित होता है।

कार्य—

(१) इसमें रक्तकण सञ्चित रहते हैं जो आवश्यकता पड़ने पर रक्तसंवहन में आते हैं :

(२) इसमें श्वेतकणों का भी निर्माण होता है।

(३) रक्तकणों के निर्माण में भी इसका महत्त्वपूर्ण योग रहता है। इसके हटा देने से लाल अस्थिमज्जा बढ़ जाती है।

(४) रक्तकणों के विनाश में भी सहायक होता है। अतः इसमें स्नेह तथा लोह का अंश अधिक पाया जाता है।

(५) नत्रजनयुक्त पदार्थों के सात्मीकरण, विशेषतः मूत्राम्ल के निर्माण में योग देता है।

सामान्य अवस्थाओं में इसकी क्रियाओं पर ध्यान नहीं जाता, किन्तु रोग की अवस्थाओं में इसकी क्रियायें विषम हो जाने से इसका आकार अत्यधिक बढ़ जाता है।

सप्तम अध्याय

साधक पित्त

अन्तःस्रवा ग्रन्थियाँ

(Endocrine organs or ductless gland)

शरीर के अङ्गों की कार्यक्षमता के लिए उनका पारस्परिक सहयोग निम्नांकित कारणों से स्थापित होता है :—

(१) नाड़ीसंस्थान—जो पेशी की चेष्टाओं में साम्य उत्पन्न करता है।

(२) रक्त के खनिज लवण—यथा सोडियम, पोटाशियम यथा सुधा के अणु हृत्प्रतीघात का नियमन करते हैं।

(३) पाचननलिका में उत्पन्न कुछ पदार्थ जो शोषित होकर रासायनिक परिवर्तन में कारण होते हैं यथा आमाशयीन और स्रावीन की उत्पत्ति और पाचक रसों पर उनकी क्रिया।

(४) धातुओं के सात्मीकरण से उत्पन्न मल पदार्थ—यथा कार्बन द्विओषिद् का श्वसनसंस्थान पर प्रभाव।

(५) धातुक्षय के कारण उत्पन्न मल पदार्थ—यथा हिस्टेमीन का रक्तवाहिनियों और पाचनसंस्थान पर प्रभाव।

(६) निःस्रोत ग्रन्थियों के अन्तःस्राव जो रासायनिक कार्यों में सहायक होते हैं और सीधे लसीका और रक्त में पहुँचते हैं।

ऐसे अङ्ग जो अन्तःस्राव उत्पन्न करते हैं अन्तःस्राव ग्रन्थियाँ कहलाते हैं। ये स्राव किसी स्रोत में न जा कर सीधे रक्त या लसीका में पहुंचते हैं। स्रोत न रहने के कारण इन्हें निःस्रोत ग्रन्थियाँ भी कहते हैं।

ये ग्रन्थियाँ दो प्रकार की होती हैं :—

(१) जो केवल अन्तःस्राव उत्पन्न करती हैं और कोई अन्य कार्य नहीं करती—यथा अवटु, पोषणक ग्रन्थि तथा अधिवृक्क ग्रन्थि।

(२) जिनके कोषाणु अन्तःस्राव उत्पन्न करते हैं किन्तु उनके अधिष्ठानभूत ग्रन्थि से बहिःस्राव भी होता है—यथा अग्न्याशय आदि।

कार्य—

अन्तःस्रवा ग्रन्थियों के निम्नांकित कार्य हैं :—

(१) शरीर के विकास का नियमन।

(२) शरीर के सात्मीकरण का नियमन।

(३) सहकारी यौन भावों के विकास का नियमन।

(४) स्वतन्त्र नाड़ीमण्डल की क्रिया को प्रभावित करना।

ये सभी ग्रन्थियाँ एक दूसरे पर आश्रित होती हैं, अतः एक की क्रिया में विकृति होने से अन्य ग्रन्थियों पर भी वैकारिक प्रभाव होते हैं।

इन ग्रन्थियों के विशिष्ट कार्यों का निरूपण निम्नांकित पद्धतियों से होता है :—

(१) नैदानिक तथा वैकारिक पद्धति (Clinical & pathological method)—इसमें ग्रंथियों के विकार द्वारा उत्पन्न लक्षणों का अध्ययन किया जाता है।

(२) शारीर पद्धति (Physiological method)—इसमें प्रयोग के रूप में आंशिक या पूर्ण ग्रंथियों को शरीर से पृथक् कर तज्जन्य क्षय के लक्षणों को देखा जाता है।

(३) नैदानिक पद्धति (Clinical method)—इसमें ग्रंथियों के पृथक् करने पर उत्पन्न लक्षणों में उनके अन्तःस्रावों का अन्तःक्षेप कर उसके प्रभाव का निरीक्षण किया जाता है।

(४) औषधविज्ञान एवं जीवरसायनविज्ञान-सम्बन्धी पद्धति (Pharmacological & Biochemical method)—ग्रन्थिवस्तु के अंश को दूसरे प्राणी में स्थापित करके तथा स्वस्थ पुरुषों में अन्तःस्रावों का अन्तःक्षेप करके उनका प्रभाव देखा जाता है।

अन्तःस्राव (Hormones)

अन्तःस्रवा ग्रंथियों के अन्तःस्रावों की निम्नांकित संज्ञायें हैं :—

(१) उत्तेजक अन्तःस्राव (Hormones)—ये शरीर पर विशिष्ट रासायनिक या शारीर प्रभाव डालते हैं और सात्मीकरण को उत्तेजित कर देते हैं—यथा अद्रिनिलीन, पिट्यूटरीन आदि।

(२) अवसादक अन्तःस्राव (Chalons)—ये सात्मीकरण की क्रियाओं पर अवसादक प्रभाव डालते हैं। यथा अपरा का सत्त्व स्तन्य के स्राव को कम कर देता है।

(३) औषधरूप अन्तःस्राव (Autacoids)—इनका शरीर पर औषध के समान प्रभाव होता है, अतः ये प्राकृत औषध-द्रव्य के रूप में कार्य करते हैं। इनका शरीर के विभिन्न अङ्गों पर उत्तेजक या अवसादक प्रभाव पड़ता है।

अन्तःस्रावों का स्वरूप

(१) ये प्रतिजन नहीं हैं—अर्थात् शरीर-रक्त में अन्तःक्षेप करने पर वे प्रतियोगी पदार्थ उत्पन्न नहीं करते।

(२) इनका रासायनिक संघटन अपेक्षाकृत सरल होता है।

(३) स्वल्पकाल तक उबालने से ये नष्ट नहीं होते हैं।

(४) अधिक काल तक उबालने से क्रियाहीन हो जाते हैं।

(५) आसानी से प्रसरणशील होते हैं।

(६) रक्तप्रवाह में वे शीघ्र नष्ट हो जाते हैं जिससे उनका प्रभाव चिरस्थायी नहीं होता।

(७) इतने अस्थिर होते हैं कि मुख के द्वारा देने पर उनका कोई प्रभाव नहीं होता।

(८) शरीर से इनका उत्सर्ग नहीं होता—(थाइरोआयडिन छोड़ कर)

अन्तःस्रावों की क्रिया का स्वरूप

अन्तःस्रावों की क्रिया दो प्रकार से होती है :—

(१) उनका औषध के समान शीघ्र प्रभाव होता है जिससे वे धातुओं को शीघ्र उत्तेजित या अवसादित कर देते हैं।

(२) जीवनीय द्रव्यों के समान शरीर के विकास तथा सात्मीकरण पर मन्द प्रभाव होता है।

अधिवृक्क ग्रन्थि (Suprarenal Glands)

यह वृक्क के शिखर पर त्रिकोणाकार या टोपी के आकार की होती है। बाहर की ओर यह एक सौत्रिक कोष से आवृत रहती है। इसके दो भाग होते हैं :—

(१) बहिर्वस्तु (Cortex) (२) अन्तर्वस्तु (Medulla)

बहिर्वस्तु:—यह गर्भ के मध्यस्तर से विकसित होते हैं। इनके कोषाणु अनेकाकार होते हैं और उनके ओजःसार में स्नेहकणों की प्रचुरता होती है। इसके केन्द्रक अतिस्पष्ट होते हैं। ये कोषाणु अनेक रूपों में व्यवस्थित होते हैं और इसके अनुसार बहिर्वस्तु तीन स्तरों में विभक्त होती है :—

(१) पुटक क्षेत्र (Zona glomerulosa)—इनमें कोषाणु गोलाकार व्यवस्थित रहते हैं।

(२) स्तम्भाकार क्षेत्र (Zona fasciculata)—इनके कोषाणु स्तम्भाकार व्यवस्थित होते हैं।

(३) जालक क्षेत्र (Zona reticularis)—इनके कोषाणु जालकरूप में व्यवस्थित होते हैं।

अन्तर्वस्तु—यह गर्भ के बाह्यस्तर से विकसित होता है और बहिर्वस्तु की अपेक्षा कम होता है। इसके कोषाणु अनियमित आकार के होते हैं।

इस ग्रन्थि में रक्तवाहिनियों की अधिकता होती है जो बहिर्वस्तु में स्तम्भाकार कोषाणुओं के बीच-बीच में रहती है तथा जालक क्षेत्र और अन्तर्वस्तु में केशिकायें फैलकर बड़े-बड़े स्रोतों का रूप धारण करती हैं।

अन्तर्वस्तु में असंख्य अमेदस नाड़ियाँ रहती हैं जो परस्पर मिलकर जालक बनाती हैं। इन नाड़ियों की उत्तेजना से अद्रिनिलीन का स्राव होता है। अन्तर्वस्तु के कोषाणु वस्तुतः सांवेदनिक नाड़ी-गण्डों के समान हैं और परिवर्तित नाड़ीकोषाणुओं से बने हुए हैं। इसके निम्नांकित प्रमाण हैं :—

(१) अन्तर्वस्तु के कोषाणुओं में क्रोमोफिल नामक रञ्जक कण होते हैं जो सांवेदनिक नाड़ीसंस्थान के गण्डों में भी होते हैं।

(२) विकास की दृष्टि से भी दोनों समान हैं।

(३) सांवेदनिक नाड़ीसंस्थान के नाड़ीसूत्र अंगों में पहुंचने के पूर्व गण्ड-कोषाणु से सम्बद्ध रहते हैं, किन्तु अन्तर्वस्तु में आनेवाले नाड़ीसूत्रों के मार्ग में कोई गण्डकोषाणु नहीं होता।

(४) अद्रिनिलीन का प्रभाव सांवेदनिक नाड़ियों के समान ही होता है।

(५) निम्नांकित कारणों से अधिवृक्क ग्रन्थियाँ भी उत्तेजित होकर अधिक स्राव उत्पन्न करती हैं :—

(क) सांवेदनिक नाड़ियों की उत्तेजना।

(ख) भय, क्रोध के आवेश।

ग्रन्थि के कार्यों का अध्ययन निम्नांकित तीन अवस्थाओं में लक्षणों को देखकर किया गया है :—

१. ग्रन्थि के विकार।

२. स्वस्थ पुरुष की दोनों ग्रन्थियों का पृथक्करण।

३. अद्रिनिलीन का अन्तःक्षेप।

अन्तर्वस्तु का कार्य

पहले कुछ विद्वानों ने यह दिखलाया था कि अन्तर्वस्तु में एक ऐसा पदार्थ उत्पन्न होता है जो रक्तभार को बनाये रखता है। बाद में टैकेमिन (Takamine) नामक विद्वान् ने उसको पृथक् कर उसका रूप निर्धारित किया।

अद्रिनिलीन टाइरोसिन से प्राप्त किया जाता है और सोमसत्त्व (Ephedrine) से अधिक सादृश्य रखता है। यह एक श्वेतवर्ण का स्फटिकीय द्रव्य है जो वायु और प्रकाश में शीघ्र नष्ट हो जाता है। प्राकृत अद्रिनिलीन वामावर्तक है। शरीर पर इसकी क्रिया सांवेदनिक नाड़ियों की उत्तेजना के समान होती है। इसका प्रभाव सांवेदनिक नाड़ियों के अग्रभाग या नाड़ी-सन्धियों पर होता है।

अद्रिनिलीन के निम्नांकित मुख्य कार्य हैं :—

(१) स्वतन्त्र पेशियों पर प्रभाव डालना और सूक्ष्म धमनियों के स्वाभाविक संकोच को बनाये रखना जिससे रक्तभार प्राकृत सीमा पर रहे।

(२) यकृत् में शर्कराजन के परिणाम को नियन्त्रित कर रक्तगत शर्करा का परिमाण स्थिर रखना।

इस प्रकार यह इन्सुलीन के विरुद्ध कार्य करता है। इन्सुलीन शर्कराजन की उत्पत्ति में सहायक होता है और अद्रिनिलीन उसको शर्करा में परिणत करने में सहयोग देता है।

विश्रामकाल में इसका स्राव बहुत कम होता है, किन्तु कुछ अत्यधिक अवस्थाओं में, जब सांवेदनिक संस्थान को सहायता की आवश्यकता होती है, इसका स्राव बहुत बढ़ जाता है। इसके कारण रक्तभार बढ़ जाता है और शर्कराजन के अधिक परिणाम से रक्तगत शर्करा की मात्रा भी बढ़ जाती है। इस प्रकार इसका स्राव क्रियाशील अवस्थाओं (यथा घूमना, दौड़ना आदि), मानसिक भावावेश तथा शीत में बढ़ जाता है।

अद्रिनिलीन का प्रभाव

इसका अन्तःक्षेप करने पर मुख्यतः निम्नांकित संस्थानों पर प्रभाव देखने में आता है :—

(१) रक्तवह स्रोत। (२) हृदय।
(३) पाचननलिका। (४) श्वासनलिका की पेशियां।
(५) बस्ति। (६) गर्भाशय।
(७) सात्मीकरण। (८) रक्त।
(९) स्वतन्त्र पेशियां।

स्वेदग्रंथियों को छोड़कर सांवेदनिक संस्थान से सम्बद्ध सभी अंगों पर इसका प्रभाव होता है।

(१) रक्तवह स्रोत

इससे सभी रक्तवह स्रोतों का संकोच हो जाता है, केवल हार्दिक रक्तवाहिनियों का प्रसार हो जाता है। इस प्रकार इसके कारण शीघ्र रक्तभार बढ़ जाता है। प्राणदा नाड़ी को विच्छिन्न कर देने पर यह प्रभाव और अधिक दृष्टिगोचर होता है क्योंकि प्राणदा के मन्दक प्रभाव के कारण इसकी क्रिया में अवरोध होता है। अद्रिनिलीन का प्रभाव नाड़ी के अग्रभागों या सूक्ष्म धमनियों की पेशियों पर न होकर पेशीनाड़ी-सन्धि पर होता है। इसका प्रमाण यह है कि यदि एपोकोडीन (Apocodeine), जो नाड़ी के अग्रभागों को विषाक्त कर देता है, पहले शरीर में प्रविष्ट कर दिया जाय तो अद्रिनिलीन का उस पर कोई प्रभाव नहीं होता, यद्यपि बेरियम लवण, जो रक्तवाहिनियों की पेशियों पर सीधे प्रभाव डालते हैं, संकोच उत्पन्न करते हैं।

पाचननलिका की रक्तवाहिनियों में संकोचक नाड़ियों की बहुलता के कारण उन पर अद्रिनिलीन का प्रभाव अधिक स्पष्ट होता है, जब कि शिर और फुफ्फुस की रक्तवाहिनियों (जिनमें सांवेदनिक नाड़ीसूत्र बहुत कम हैं) पर इसका प्रभाव अत्यन्त कम होता है। पहले से प्रसारित धमनियों पर इसका प्रभाव अधिक होता है। हार्दिक धमनियों का प्रसार होने के कारण रक्तभार बढ़ने पर भी हृदय की कार्यक्षमता बनी रहती है।

(२) हृदय

अद्रिनिलीन का हृदय के अलिन्दों और निलयों पर सीधा प्रभाव पड़ता है, जिससे हृदय की गति बढ़ जाती है और संकोच का वेग भी बढ़ जाता है, फलतः हृदय के निर्यात में वृद्धि हो जाती है। प्राणदा को विच्छिन्न कर देने पर यह प्रभाव अधिक स्पष्ट होता है।

(३) पाचननलिका

आमाशय, क्षुद्रान्त्र एवं बृहदन्त्र की पेशियाँ प्रसारित हो जाती हैं तथा आमाशय और अन्त्र की गति मन्द हो जाती है। मुद्रिका एवं उण्डुकद्वार की संकोचनी पेशियों का संकोच हो जाता है। संक्षेप में, इसका प्रभाव सांवेदनिक नाड़ियों के समान होता है जिससे अन्त्र की परिसरण गति तथा पाचन क्रियायें मन्द पड़ जाती हैं। लालास्राव भी कम हो जाता है।

(४) श्वासनलिकीय पेशियाँ

इससे श्वासनलिका की पेशियों का प्रसार होता है इसलिए श्वासरोग में इसका उपयोग किया जाता है।

(५) वृक्क

वृक्क के रक्तवह स्रोतों का संकोच हो जाने के कारण वृक्क में रक्त कम हो जाता, फलतः मूत्रस्राव कम हो जाता है।

(६) बस्ति

बस्ति की पेशियों का प्रसार तथा मूत्रप्रसेक-संकोचनी का संकोच हो जाता है।

(७) गर्भाशय

गर्भावस्था में यह गर्भाशय को उत्तेजित करता है, किन्तु सामान्यतः इसका कोई विशेष प्रभाव नहीं होता।

(८) यकृत्

यकृत् की सांवेदनिक नाड़ियों के उत्तेजित होने से शर्कराजन का विश्लेषण होता है जिससे यकृत् में संचित शर्कराजन शर्करा में परिणत होकर रक्त में पहुँचता है और वहाँ रक्तगत शर्करा की मात्रा बढ़ा देता है। इससे मूत्र में भी शर्करा आने लगती है। शर्करा अधिक मिलने से धातुओं को अधिक शक्ति प्राप्त होती है जिससे पेशीश्रम कम हो जाता है या नहीं होता।

तीव्र भावावेश की अवस्थाओं से अद्रिनिलीन का स्राव बढ़ जाता है जिससे मूत्र में शर्करा आने लगती है। अत्यधिक शोक और चिन्ता से ग्रन्थि पर अवसादक प्रभाव पड़ता है और उसकी कार्यक्षमता नष्ट हो जाती है। अद्रिनिलीन से पित्ताशय की दीवाल का संकोच भी होता है।

(९) प्लीहा

इससे प्लीहा का कोष संकुचित हो जाता है।

(१०) रक्तस्कन्दन

इसकी थोड़ी मात्रा से रक्त का स्कन्दनकाल कम हो जाता है, किन्तु अधिक मात्रा देने पर विपरीत प्रभाव होता है।

(११) स्वतन्त्र पेशियाँ

सांवेदनिक नाड़ियों से असंबद्ध धातुओं पर भी इसका प्रभाव होता है। चेष्टावह नाड़ियों को उत्तेजित करके यह स्वतन्त्र पेशियों के संकोच को बढ़ा देता है और श्रम को भी शीघ्र निवृत्त करता है।

(१२) श्वसन

इसके प्रभाव से श्वसनक्रम घट जाता है।

(१३) सांवेदनिक संस्थान

प्रान्तीय रक्तवाहिनियों के संकोच से त्वचा श्वेतवर्ण हो जाती है। स्वेद-

ग्रन्थियों से संबद्ध पेशियों का संकोच होता है किन्तु स्वेद के स्राव में वृद्धि नहीं होती। सात्मीकरण बढ़ जाता है।

यह देखा गया है कि अद्रिनिलीन का सम्बन्ध ग्रैवेयक के अन्तःस्राव से होता है। यदि पहले ग्रैवेयक की नाड़ियाँ उत्तेजित कर दी जायँ या ग्रैवेयक के सत्त्व का अन्तःक्षेप शरीर में किया जाय तो उसके बाद अद्रिनिलीन प्रविष्ट करने से रक्तभार में अधिक वृद्धि होती है।

बहिर्वस्तु के कार्य

इसका प्रभाव अस्थियों के विकास और वृद्धि पर होता है। अतः बहिर्वस्तु के विकारों में अस्थिवक्रता उत्पन्न हो जाती है। इसका यौनग्रन्थियों से भी सम्बन्ध होता है। गर्भावस्था के समय इसकी वृद्धि हो जाती है। बहिर्वस्तु में अर्बुद या वृद्धि हो जाने से यौन ग्रन्थियाँ भी उत्तेजित हो जाती हैं जिससे ७–१० वर्ष की बालिकाओं में भी पूर्ण युवती के लक्षण मिलते हैं। यही अवस्था यदि युवती स्त्रियों में हो तो मासिक बन्द हो जाता है और पुंस्त्व के लक्षण क्रमशः प्रकट होने लगते हैं।

अधिवृक्क ग्रन्थि विशेषतः बहिर्वस्तु के चिरकालीन क्षय से ऐड्सिन का रोग उत्पन्न हो जाता है जिसमें त्वचा में ताम्रवर्ण, वमन, कम्प, आक्षेप, रक्ताल्पता, कृशता, रक्तभार की कमी और सात्मीकरण में ह्रास ये लक्षण उत्पन्न होते हैं।

यदि बहिर्वस्तु को पृथक् कर दिया जाय तो निम्नांकित लक्षण उत्पन्न होते हैं—

(१) रक्त में यूरिया, क्रियेटिनीन आदि की वृद्धि।

(२) शरीर के जलांश का क्षय।

(३) क्षारकोष में कमी।

(४) रक्त में सोडियम लवणों की कमी तथा पोटाशियम लवणों की वृद्धि।

(५) अत्यधिक दौर्बल्य।

(६) कृशता।

(७) रक्तभार में कमी।

(८) रक्तगत शर्करा में कमी।

(९) मन्द नाड़ी।

(१०) पाचन के विकार।

(११) श्वास कष्ट।

इसके बाद ४-५ दिनों में मृत्यु हो जाती है।

यदि एक ही ग्रन्थि निकाल दी जाय तो कोई प्रभाव नहीं दीखता, क्योंकि दूसरी ग्रंथि बढ़ कर उसका कार्य ले लेती है। दोनों ग्रन्थियों को निकाल देने

पर भी यदि बहिर्वस्तु का सत्त्व शरीर में प्रविष्ट किया जाय तो उसकी आयु बढ़ जाती है। इससे सिद्ध है कि बहिर्वस्तु जीवन के लिए आवश्यक है। बहिर्वस्तु का स्राव 'कौर्टिन' (Cortin) कहलाता है जो मुख के द्वारा देने पर भी कार्यकर होता है। बहिर्वस्तु से एक और स्राव होता है जिसे 'न्यूमीन' (Pneumin) कहते हैं। यह पहले रसवह संस्थान में प्रविष्ट होता है और फिर रक्तसंवहन में प्रविष्ट होता है। इसका श्वसनकेन्द्र पर उत्तेजक प्रभाव पड़ता है। इसका प्रमाण यह है कि यदि अधिवृक्क से सम्बन्धित रसायनियों को काट दिया जाय तो श्वसनक्रिया बन्द हो जाती है और इस स्थिति में यदि बहिर्वस्तु का सत्त्व प्रविष्ट किया जाय तो श्वसनक्रिया पुनः लौट आती है।

कौर्टिन और न्यूमीन के अतिरिक्त दो और पदार्थ बहिर्वस्तु में पाये गये हैं :—कार्टिलैक्टिन (Cartilactin) और कार्डियासिन (Cardiasin)। पहला पदार्थ स्तन्य बढ़ाता है और दूसरा हृदय को उत्तेजित करता है। इस प्रकार बहिर्वस्तु में कुल चार प्रकार के स्राव उत्पन्न होते हैं :—

(१) जीवनीय (Cortin)।
(२) श्वासोत्तेजक (Pneumin)।
(३) स्तन्यजनन (Cartilactin)।
(४) हृदयोत्तेजक (Cardiasin)।

बहिर्वस्तु में जीवनीय द्रव्य सी० भी प्रचुर परिमाण में पाया जाता है।

पोषणक ग्रन्थि (Pituitary body)

पोषणकग्रन्थि मस्तिष्कतल में दृष्टिनाड़ीयोजिका के पीछे जतूकास्थि के पोषणकग्रन्थि-खात में स्थित है।

इसके तीन भाग होते हैं—अग्रिम भाग, मध्य भाग और पश्चिम भाग। ये भाग रचना की दृष्टि से यद्यपि समान हैं तथापि उत्पत्ति और क्रिया की दृष्टि से इनमें परस्पर महान् अन्तर है।

अग्रिम भाग (Anterior lobe)

यह मुख के बाह्यस्तर से विकसित होता है और इसका निर्माण विभिन्न प्रकार के कोषाणुओं से होता है जो निम्नलिखित हैं :—

(१) कणरहित कोषाणु (Chromophobe cells)—ये अधिक संख्या में लगभग ५२ प्रतिशत होते हैं। इनका ओजःसार कणरहित होता है।

(२) कणयुक्त कोषाणु (Chromophil cells)—इनका ओजःसार

कणयुक्त होता है और ये आसानी से रञ्जित होते हैं। ये दो प्रकार के होते हैं :—

(क) अम्लेच्छु (Acidophilic)—ये ३७ प्रतिशत होते हैं और इनसे मुख्यतः वृद्धिजनक पदार्थों का स्राव होता है।

(ख) भस्मेच्छु (Basophilic)—ये ११ प्रतिशत होते हैं और केवल भास्मिक रंगों यथा मेथिलिनब्ल्यू आदि से रंजित होते हैं। इनसे यौन अन्तःस्रावों की उत्पत्ति होती है।

इस ग्रन्थि में रक्तवाहिनियाँ प्रसृत और बड़े स्रोतों के रूप में होती हैं।

अग्रिम भाग में अनेक प्रकार के अन्तःस्राव होते हैं यथा :—

(१) वृद्धिजनक अन्तःस्राव (Growth promoting hormones)—इनसे शरीर, विशेषतः अस्थियों और संयोजक तन्तुओं के विकास में सहायता मिलती है। अतः प्राणियों के आहार में इसके मिलाने से वृद्धि का क्रम बढ़ जाता है।

(२) यौन विकासक (Gonadotropic)—ये यौनग्रन्थियों के विकास में सहायक होते हैं।

स्त्रियों में ये अन्तःस्राव दो प्रकार के होते हैं :—

(क) प्रोलेन ए (Prolan A)—जो स्त्रीबीज की उत्पत्ति को उत्तेजित करता है।

(ख) प्रोलेन बी (Prolan B)—जो बीजकिणपुट के निर्माण में सहायता करता है।

यह प्रोलेन अन्तःस्राव गर्भिणी स्त्रियों के मूत्र में गर्भधारण के लगभग तीन सप्ताह बाद अत्यधिक परिणाम में बाहर निकलता है। इसी आधार पर जोन्डक नामक विद्वान् ने गर्भ की निदान-विधि निश्चित की है।

पुरुषों में भी यह दो प्रकार का होता है। एक शुक्रकीटों की उत्पत्ति में सहायक होता है तथा दूसरा वृषणग्रन्थि के अन्तःस्राव का नियन्त्रण करता है।

(३) स्तन्यजनन (Prolactin)—इनसे गर्भावस्था में स्तन्यग्रंथियों की वृद्धि तथा बाद में स्तन्य की उत्पत्ति होती है।

(४) अग्न्याशयिक (Pancreatropic)—इसकी अधिकता से इक्षुमेह उत्पन्न होता है।

(५) मधुमेहजनक तथा कटुजनक (Diabetogenic & ketogenic)—इनका स्नेह तथा शाकतत्त्व के सात्मीकरण पर पर्याप्त प्रभाव पड़ता है। इनकी कमी से मेदोरोग तथा अधिकता से कटुभवन की स्थिति उत्पन्न हो जाती है जिससे मूत्र में एसिटोन आने लगता है।

(६) ग्रैवेयकीय (Thyrotropic)—यह ग्रैवेयक ग्रन्थि को उत्तेजित करता है। पोषणक ग्रन्थि के अग्रिम भाग को अलग कर देने पर ग्रैवेयक ग्रन्थि का क्षय तथा सात्मीकरण में कमी हो जाती है।

(७) अधिवृक्कीय (Adrenotropic)—यह अधिवृक्क की बहिर्वस्तु को उत्तेजित करता है।

(८) परिग्रैवेयकीय (Parathyroid hormone)—यह परिग्रैवेयक की क्रिया को बढ़ा देता है, फलतः रक्त में सुधा की मात्रा बढ़ जाती है।

(९) रक्तकणनिर्मापक (Erythropoietic)—यह रक्तकणों की उत्पत्ति में सहायक होते हैं।

(१०) स्नेहसात्मीकरण (Fat metabolism hormone)—यह दो प्रकार का होता है :—

(क) कटुजनक (Ketogenic)—यह रक्त में कटु पदार्थों को बढ़ा देता है।

(ख) मेदस (Lipoitrin)—यह अल्प मात्रा में प्रयुक्त होने पर स्नेह को यकृत में सञ्चित होने में सहायता करता है। अधिक मात्रा में देने पर इसका विपरीत प्रभाव होता है।

(११) नत्रजन सात्मीकरण (Nitrogen metabolism hormone)–यह मांसतत्त्व के पाचन और सात्मीकरण में सहायक होता है।

(१२) ब्रोमिक (Bromic hormone)—ग्रन्थि के क्रियाकाल में इसके द्वारा ब्रोमिन की उत्पत्ति होती है जो निद्राकाल में लुप्त हो जाता है।

(१३) याकृत (Hepatogenic)—यह यकृत के आकार एवं उसकी अनेक क्रियाओं पर प्रभाव डालता है।

(१४) रञ्जक (Melanophoric)—इसकी क्रिया रञ्जक कणों पर होती है, विशेषतः अधिवृक्क के बहिर्वस्तु के विकारों में उत्पन्न विवर्णता पर इसका स्पष्ट प्रभाव देखा जाता है।

अग्रिम पोषणक ग्रन्थि का अस्थिसंस्थान से सम्बन्ध

निम्नाङ्कित प्रयोगों से यह सिद्ध है कि पोषणक ग्रन्थि के अग्रिम भाग का शरीर की अस्थियों के विकास एवं वृद्धि से घनिष्ठ सम्बन्ध है।

प्रायोगिक प्रमाण :—

(१) ग्रन्थि के पृथक्करण या आंशिक क्षय से अस्थियों की वृद्धि रुक जाती है।

(२) चूहों के उदरावरण के भीतर इसके सत्त्व का अन्तःक्षेप करने से विशाल आकृति के चूहे उत्पन्न होते हैं।

नैदानिक प्रमाण :—

(१) इस ग्रन्थि में अर्बुद होने से पोषणकवृद्धि (Hyperpituitarism) की अवस्था उत्पन्न होती है।

(२) पोषणक ग्रन्थि के क्षय से शरीर की वृद्धि रुक जाती है और मनुष्य वामन हो जाता है।

ग्रन्थि का यौन अंगों से सम्बन्ध

पुरुषों में—यह वृषणग्रन्थि के विकास तथा शुक्र-कीटोत्पत्ति को नियन्त्रित करता है और इससे एक ऐसा स्राव उत्पन्न होता है जो सन्तानोत्पत्ति के सहायक अंगों तथा अन्य यौन लक्षणों को नियमित करता है।

स्त्रियों में—(क) ग्रन्थि के आम्लिक कोषाणुओं से एक स्राव होता है जिसकी प्राप्ति अग्रिम पोषणक का आम्लिक सत्त्व तैयार करने से होती है। इसी को प्रोलेन ए कहते हैं। इसको शरीर में प्रविष्ट करने से गुरुकोष (Graffian follicles) का शीघ्र परिपाक होता है। इस प्रकार प्रोलेन ए स्त्रीबीज की उत्पत्ति में सहायक होता है।

(ख) भस्मेच्छु कोषाणुओं से भी एक अन्तःस्राव निकलता है। ग्रन्थि का क्षारीय सत्त्व बना कर इसे प्राप्त करते हैं। यह प्रोलेन बी कहलाता है। इसका सम्बन्ध बीजकिणपुट की उत्पत्ति, विकास और स्थिति से होता है।

(ग) अग्रिम पोषणक को छोटी चुहियों में प्रत्यारोपित कर देने पर उनके बीजकोष की क्रिया बढ़ जाती है। गुरुकोष समय से पूर्व ही विकसित हो जाते हैं और योनि तथा गर्भाशय में तदनुकूल परिवर्तन हो जाते हैं।

पोषणकवृद्धि (Hyperpituitarism)

अग्रिम पोषणक की वैकृत वृद्धि से किशोरावस्था में दानवास्थि (Gigantism) रोग होता है। इसमें अस्थियाँ निरन्तर बढ़ती जाती हैं और धीरे-धीरे शरीर की आकृति बढ़ते-बढ़ते दानव के आकार में आ जाती हैं। इसी

अस्थिवृद्धि

विकार से प्रौढ़ावस्था में अस्थिवृद्धि (Acromegaly) नामक रोग होता है। इसमें विशेषकर लम्बी अस्थियाँ यथा हाथ और पैर की तथा मुखमण्डल की बढ़ जाती हैं। उन स्थानों के सौत्रिक तन्तु की भी वृद्धि हो जाती है। दृष्टिनाड़ीयोजक पर दवाव पड़ने के कारण दृष्टिशक्ति का नाश तथा क्रमशः अन्धता उत्पन्न हो जाती है। साथ ही अधिवृक्क की बहिर्वस्तु पर प्रभाव पड़ने के कारण यौन क्रिया का ह्रास हो जाता है।

पोषणकग्रन्थिक्षय (Hypopituitarism)

ग्रन्थि का विकास रुक जाने या उसका आंशिक पृथक्करण करने से यह अवस्था उत्पन्न होती है। इसके कारण युवा व्यक्तियों में यौन अंगों का क्षय होने लगता है तथा बच्चों में यौवनोचित विकास नहीं होने पाता। शरीर में शर्करा का अत्यधिक संचय होने लगता है। शरीर का विकास रुक जाता है और मेद की वृद्धि होने लगती है। सात्मीकरण कम हो जाता और मूत्र की राशि बढ़ जाती है। ग्रन्थि को पूर्णतः निकाल देने पर मनुष्य की मृत्यु हो जाती है।

पोषणक ग्रन्थि का पश्चिम भाग (Posterior lobe)

इसका मस्तिष्क की तृतीय गुहा के तल से सम्बन्ध रहता है। यह मुख्यतः नाड़ीकोषाणुओं से बना है। इसके पृथक्करण का शरीर पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता।

पोषणक ग्रन्थि का मध्यभाग (Pars intermedia)

यह पश्चिम भाग से बिलकुल मिला रहता है। यह स्वच्छ कोषाणुओं से निर्मित है जिनसे पिट्विटरीन (पीयूषरस) स्राव होता है।

पीयूषरस (Pituitria)

ग्रन्थि के पश्चिमार्ध के सत्त्व का नाम पीयूषरस दिया गया है। इसमें अनेक कार्यकारी तत्त्व होते हैं जिनमें दो मुख्य हैं :—

(१) धमनीसंकोचक (Pitressin or Vasopressin)—यह सूक्ष्म धमनियों को संकुचित करता और रक्तभार बढ़ाता है। कुछ स्वतन्त्र पेशियों यथा श्वास नलिका, बस्ति और अन्त्र को संकुचित करता है। कम मात्रा में देने पर मूत्रल है, किन्तु अधिक मात्रा में मूत्र को कम कर देता है।

(२) पेशीसंकोचन (Pitocin or oxytocin)—यह अनेक आशयों की स्वतन्त्र पेशियों को उत्तेजित करता है। विशेषतः गर्भाशय की पेशियों पर इसका प्रभाव देखा जाता है। इस प्रकार अन्त्रगति को बढ़ाने तथा प्रसव में सहायता देने के लिए इसका उपयोग किया जाता है। कुमारी स्त्रियों के गर्भाशय पर इसका कोई प्रभाव नहीं होता, किन्तु गर्भयुक्त गर्भाशय पर विशेष कर प्रसव की द्वितीय अवस्था में इसका स्पष्ट प्रभाव होता है। उस समय देने से गर्भाशय का संकोच बढ़ा देता है और गर्भ एवं अपरा के निष्कासन में सहायक होता है।

पीयूषरस की क्रिया

(१) रक्तवह संस्थान (क) हृदय—यह हृत्पेशी को उत्तेजित करता है, किन्तु साथ ही हार्दिक धमनियों को संकुचित करने से उसके पोषण में बाधा भी उत्पन्न करता है। अतः इसका कोई दृश्य प्रभाव नहीं होता और हृदयोत्तेजक रूप में भी इसका कोई महत्त्व नहीं।

(ख) सूक्ष्म धमनियाँ—पीपूषरस के अन्तःक्षेप से सूक्ष्म धमनियों का संकोच होता है और रक्तभार बढ़ जाता है। स्वतन्त्र पेशियों पर क्रिया होने से शरीर की सभी रक्तवाहिनियों पर समान रूप से इसका प्रभाव पड़ता है।

(२) मूत्रवह संस्थान—(क) वृक्क—पीयूषरस के अन्तःक्षेप से मूत्र का स्राव कम हो जाता है क्योंकि इससे मूत्रवह स्रोतों की आवरककला उत्तेजित हो जाती है अतः अधिक जल का शोषण कर लेती है। ग्रन्थि के पश्चिमार्ध के क्षत या विकार से बहुमूत्र रोग उत्पन्न हो जाता है अतः इस स्थिति में पीयूष रस अत्यधिक लाभ करता है। ऐसा भी समझा जाता है कि यह प्रभाव एक विशिष्ट कार्यकारी तत्त्व के कारण है।

(ख) बस्ति—पीयूषरस बस्ति की पेशियों को उत्तेजित कर मूत्र के निर्हरण में सहायक होता है।

(३) गर्भाशय—गर्भरहित गर्भाशय पर इसका क्या प्रभाव होता है यह कहना कठिन है, किन्तु सगर्भ गर्भाशय पर इसका निश्चित रूप से उत्तेजक प्रभाव पड़ता है। यह प्रभाव गर्भावस्था के अन्तिम दिनों में अधिक स्पष्ट हो जाता है।

(४) पाचन संस्थान—यह पाचन संस्थान की पेशियों को उत्तेजित कर उनका संकोच बढ़ा देता है। आमाशयिक रस की उत्पत्ति कम होने लगती है।

(५) स्तन्य ग्रन्थियाँ—यह स्तन्य नलिकाओं से सम्बद्ध स्वतन्त्र पेशियों को संकुचित करता है जिससे स्तन्य ग्रन्थियों में संचित स्तन्य का प्रवाह बढ़ जाता है। सगर्भ प्राणियों में भी इसे प्रविष्ट करने पर स्तन्य का स्राव होने लगता है।

(६) शाकतत्त्व का सात्मीकरण—यह इक्षुमेह उत्पन्न करता है तथा रक्तगत शर्करा को भी बढ़ा देता है। इस प्रकार इसका प्रभाव इन्सुलीन के विपरीत होता है अतः इन्सुलीन के अत्यधिक प्रयोग से जब रक्तशर्करा कम हो जाती है तब इसका उपयोग करते हैं।

ग्रैवेयक ग्रन्थि (Thyroid gland)

ग्रैवेयक ग्रन्थि दो अण्डाकार अवयवों के रूप में स्वरयन्त्र तथा श्वास· नलिका के पार्श्वभागों में अवस्थित है। ये दोनों अवयव मध्य में स्थित एक योजक भाग (Isthmus) से जुड़े रहते हैं। इसका बाहरी रूप फटे हुये अखरोट फल के समान है और संयोजक धातु से बना हुआ है। भीतर की रचना मधुचक्रवत् होती है और पृथक् पृथक् कोषों में विभक्त है जो भीतर की ओर घनाकार आवरक तन्तु से आवृत रहते हैं। इन कोषों के भीतर पीली गोंद के समान वस्तु रहती है जिसे आयडो-थाइरोग्लोब्यूलिन या थाइरोक्सिन (Iodo-Thyroglobulin or Thyroxin) कहते हैं। इसमें सेन्द्रिय संयोग के रूप में आयडिन ६५ प्रतिशत होता है। कृत्रिम रूप से भी इसका निर्माण निम्नांकित सूत्र के अनुसार किया जाता है :—

```
          I
          |                        I
        C═CH                       |═CH
       /     \                    /     \
  Ho C C       C – O – C          C–CH₂
       \\     /          \\     /
        C—CH              C—CH   CH NH₂ CooH
        |                 |
        I                 I
```
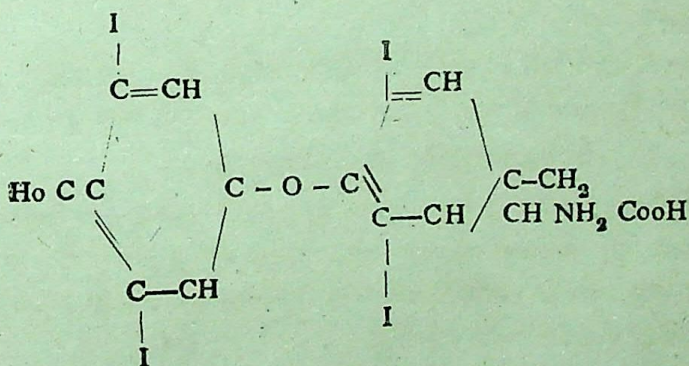
यह पदार्थ ग्रन्थि के विश्राम काल में संचित होता है और कार्यकाल में कम हो जाता है। इसके साथ साथ कुछ आवरक कोषाणु तथा रक्त और

श्वेतकण भी पाए जाते हैं। ग्रन्थि का विकास गर्भ की पाचननलिका के आद्यभाग से होता है, किन्तु प्रसव के पूर्व ही उससे इसका सम्बन्ध विच्छिन्न हो जाता है। इस ग्रन्थि में आकार के अनुपात से बहुत अधिक रक्तवाहिनियाँ होती हैं।

ग्रंथि के कार्यों का अध्ययन निम्नांकित प्रकार से किया गया है :—

(१) युवावस्था में ग्रन्थि के क्षय से उत्पन्न लक्षणों को देख कर (Myxoedema) या उसकी वृद्धि से उत्पन्न लक्षणों के द्वारा (Exophthalmic goitre)।

(२) बाल्यावस्था में ग्रन्थिक्षयजन्य लक्षणों से (Cretinism)।

(३) ग्रन्थिसत्त्व को स्वस्थ पुरुषों तथा ग्रन्थिक्षय-पीडित व्यक्तियों में प्रविष्ट कर उसके परिणाम को देखने से।

ग्रैवेयकग्रन्थिक्षय (Hypothyroidism)

यह दो प्रकार का होता है :—

(१) मुख्य (Primary)—यह ग्रंथि के रोगों के कारण तथा ग्रंथि धातु की कमी से होता है जिसके कारण ग्रन्थि का अन्तःस्राव कम हो जाता है। पोषणक ग्रन्थि के पूर्वार्ध से उत्पन्न ग्रैवेयकीय स्राव की कमी से भी होता है जिससे ग्रैवेयक ग्रन्थि की उत्तेजना कम हो जाती है।

(२) गौण (Secondary)—यह क्षयरोग, उपवास तथा यौन ग्रन्थियों के रोगों के कारण होता है जिससे अन्तःस्राव की उत्पत्ति और शोषण में बाधा होती है। ग्रैवेयक के प्रतिकूल अन्तःस्राव की अधिक उत्पत्ति से भी ऐसा होता है।

ग्रैवेयक ग्रन्थि क्षय में शरीर की सभी क्रियायें मन्द पड़ जाती हैं। पेशियों की क्रिया कम हो जाती है और मस्तिष्क भी मन्द हो जाता है।

ग्रैवेयकग्रन्थिवृद्धि (Hyperthyroidism)

इस विकार में शरीर की सभी क्रियायें अधिक बढ़ जाती हैं तथा स्वतंत्र नाडीमण्डल का सन्तुलन नष्ट हो जाता है जिससे हृदयगति तीव्र हो जाती है, मानस उद्वेग, बेचैनी, कम्प, क्षोभ रक्तभाराधिक्य तत्पश्चात् रक्तभार की कमी ये लक्षण उत्पन्न होते हैं।

श्लैष्मिक शोथ (Myxoedema)

ग्रन्थि का क्षय होने पर युवा व्यक्तियों में दो प्रकार के लक्षण उत्पन्न होते हैं :—

श्लैष्मिक शोथ

(१) वातिक लक्षण :—मानसिक शक्ति का ह्रास, मस्तिष्क केन्द्रों का विलम्ब से विकास, शक्तिक्षय, मूढता, व्यवहारवैषम्य, रुचिवैषम्य ये लक्षण उत्पन्न होते हैं। पेशियों में आक्षेप भी आते हैं।

(२) सात्मीकरणसम्बन्धी लक्षण :—मन्द नाड़ी, तापक्रम प्राकृत से भी कम, भोजन की कमी, यूरिया तथा अन्य मलपदार्थों के उत्सर्ग में कमी ये लक्षण होते हैं। सारांश यह कि शरीर की सामान्य सात्मीकरण क्रिया में अत्यधिक ह्रास हो जाता है।

इसके अतिरिक्त, अधस्त्वक् स्थूल हो जाती है। पहले ऐसा समझा जाता था कि त्वचा के नीचे श्लेष्मा का संचय हो जाता है और उसी आधार पर इसका नाम श्लैष्मिक शोथ (Myxoedema = mucous oedema) रक्खा गया था, किन्तु वस्तुतः ऐसी बात नहीं होती। त्वचा शुष्क, झुर्रीदार तथा नख भंगुर हो जाते हैं। यौन क्रियायें विकृत हो जाती हैं और स्त्रियों में रजोरोध हो जाता है। त्वचा पीली और मोम के समान् हो जाती है और बाल झड़ जाते हैं।

ऐसी अवस्था में ग्रैवेयक सत्व ½ से २ ग्रेन प्रतिदिन देने से रोगी की शारीरिक और मानसिक स्थिति में अत्यधिक लाभ होता है। सात्मीकरण भी बढ़ जाता है और धीरे-धीरे रोग शान्त हो जाता है।

अस्थिक्षय (Cretinism)

जब ग्रैवेयक का स्राव जन्म ही से कम हो, बचपन में ही ग्रन्थि का क्षय

हो जाय या शैशवावस्था में ग्रन्थि को निकाल दिया जाय तो यह रोग उत्पन्न होता है। इसके निम्नांकित लक्षण हैं :—

(१) अस्थिविकास का बन्द होना। अस्थियों की लम्बाई बहुत कम रह जाती है, यद्यपि वे मोटाई में बढ़ती है और इस प्रकार शरीर अष्टावक्र के समान विरूप हो जाता है।

(२) मानसिक शक्ति का विकास नहीं होता और युवावस्था में भी शैशव की ही बुद्धि रहती है। रोगी वामन, जड़ और मूढ़ होता है और १६ वर्ष की आयु में भी २-३ वर्ष के बच्चों के समान ही उसकी बुद्धि होती है। दूसरे शब्दों में, शारीरिक आयु अधिक होने पर मानसिक आयु बहुत कम कम होती है।

इस स्थिति में, रोगी की ग्रैवेयक ग्रन्थि का सत्व देने से अत्यधिक लाभ होता है और उसकी शारीरिक और मानसिक शक्ति पुनः विकसित हो जाती है।

बहिर्नेत्रिक गलगण्ड (Exophthalmic goitre)

यह रोग ग्रैवेयक ग्रन्थि की वृद्धि से होता है। इसमें शरीर पर एक प्रकार का विषाक्त प्रभाव पड़ता है जिससे नेत्र बाहर की ओर निकल आते हैं, नाडी-संस्थान अस्थिर हो जाता है तथा कम्प, हृदयगति की तीव्रता और सात्मीकरण की वृद्धि ये लक्षण उत्पन्न होते हैं। यह रोग पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियों में अधिक होता है जिसका अनुपात ६:१ है।

बहिर्नेत्रिक गलगण्ड

ग्रैवेयक के इस विकार के निम्नाङ्कित कारण हो सकते हैं :—

(१) वंशगत

(२) अन्य अन्तःस्राव ग्रन्थियों के विकार विशेषतः पोषणक ग्रन्थि के ग्रैवेयकीय अन्तःस्राव का विकार

(३) अतिव्यायाम

(४) मानसिक आघात

(५) ग्रैवेयक के अन्तःस्राव के प्रतियोगी पदार्थ की कमी

इस रोग के निम्नांकित लक्षण होते हैं :—

(१) चिन्तित मुखमुद्रा तथा मुखमण्डल स्वेदयुक्त

(२) नेत्र बाहर की ओर निकले

(३) ग्रीवा में ग्रन्थि का स्पष्ट उभार

(४) हृदयगति की तीव्रता और श्वासकष्ट

(५) अग्नि ठीक, किन्तु शरीर-भार में कमी। गम्भीर अवस्थाओं में वमन, अतिसार और हल्लास

(६) सामान्यतः सात्मीकरण बढ़ जाता है।

(७) बहुमूत्रता, सामान्य अलव्यूमिनमेह तथा इक्षुमेह

स्थानविशेष में यह रोग अधिक होता है। ग्रन्थि के बढ़े हुये अंश को निकाल देने से लक्षण शान्त हो जाते हैं। प्रारंभिक अवस्थाओं में आयोडाइड देने से भी लाभ होता है।

ग्रैवेयक-सत्त्व के अन्तःक्षेप का प्रभाव

ग्रैवेयक सत्त्व का अन्तःक्षेप करने या मुख द्वारा देने से निम्नाङ्कित लक्षण उत्पन्न होते हैं :—

१. अतितीव्र हृद्द्रव

२. नाड़ी की तीव्रता

३. शरीर के सात्मीकरण में वृद्धि :—

नत्रजनयुक्त पदार्थों के अधिक निःसरण, अधिक भोजन, क्षुधावृद्धि, अधस्त्वक् मेद की कमी, रक्तशर्करा की वृद्धि, इक्षुमेह

ग्रैवेयक का क्रियाकारी तत्त्व

केण्डल नामक विद्वान् ने इस तत्त्व को पृथक् किया था। इसे थाइरौक्सिन या आयडोथाइरिन (Thyroxin or iodothyrin) कहते हैं। यह वर्ण-रहित, गन्धरहित स्फटिकीय पदार्थ है तथा इसका द्रवणांक २३१° सेन्टीग्रेड है। इसमें आयोडीन ५५ प्रतिशत रहता है, फिर भी इसकी मात्रा आहार के साथ लिये गये आयोडिन की राशि पर निर्भर होती है। आयोडिन की

उपस्थिति अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि इसी के अनुपात से ग्रन्थिसत्त्व का शारीर प्रभाव होता है। रासायनिक दृष्टि से यह टाइरोसिन के समान है। अत्यल्प मात्रा में भी इसका प्रभाव होता है क्योंकि यह अत्यन्त सक्रिय पदार्थ है। मनुष्य में ग्रैवेयक ग्रन्थि प्रतिदिन १ मिलीग्राम थाइरोक्सिन उत्पन्न करती है।

परिग्रैवेयक (Parathyroid)

ये संख्या में ४ या ६ हैं तथा ग्रैवेयक ग्रन्थि के दोनों पिण्डों के पीछे सटी हुई और ग्रन्थि-वस्तुभाग से सम्बद्ध रहती हैं। इस ग्रन्थि में दो प्रकार के कोषाणु होते हैं :—

(१) मुख्य कोषाणु (Chief cells)—ये आकार में अनेककोणीय होते हैं और इनमें रक्तवाहिनियों की अधिकता होती है।

(२) आम्लिक कोषाणु (Oxyphil cells)—इन कोषाणुओं में आम्लिक कण होते हैं इनके अतिरिक्त कुछ पिच्छिल-द्रव्य-पूर्ण कोषाणु भी जहां तहां मिलते हैं किन्तु इस पिच्छिल पदार्थ में आयडिन नहीं होता।

इन ग्रन्थियों से एक अन्तःस्राव उत्पन्न होता है जो सुधा एवं निरिन्द्रिय फास्फेट के सात्मीकरण को नियमित करता है। यह एक प्रकार का मांसतत्त्व है जिसकी क्रिया अन्त्र की दीवालों पर होती है जिससे जीवाणुज किण्वीकरण के द्वारा उत्पन्न विषों की प्रवेश्यता में अन्तर आ जाता है।

इन ग्रन्थियों को निकाल कर इनके कार्यों का अध्ययन किया गया है। इनके निकाल देने पर अतितीव्र मांसक्षय, विकास में अवरोध, इक्षुमेह और मृत्यु हो जाती है। रक्त में खटिक की प्राकृत मात्रा (१० मिलीग्राम प्रति १०० सी० सी०) घट कर ६ मिलीग्राम प्रति १०० सी० सी० तक हो जाती है जिससे दाँतों और अस्थियों का खटिकीभवन ठीक-ठीक नहीं हो पाता। सुधा देने पर ये लक्षण शान्त हो जाते हैं। रक्त में सुधा की कमी होने से स्वतन्त्र पेशियों में स्तम्भ तथा नाडीजन्य विकार भी उत्पन्न होते हैं क्योंकि स्वभावतः सुधा नाडीसंस्थान की उत्तेजना को नियन्त्रित करती है।

परिग्रैवेयक के अन्तःस्राव का रासायनिक स्वरूप अभी तक अज्ञात है। ऐसा समझा जाता है कि यह मांसतत्त्व के वर्ग का एक पदार्थ है, किन्तु अभी तक इसे शुद्ध रूप में प्राप्त नहीं किया गया है।

यदि केवल ग्रैवेयक ग्रन्थि शरीर से पृथक् कर दी जाय और परिग्रैवेयक ग्रन्थि को रहने दिया जाय तो केवल श्लैष्मिक शोथ के सात्मीकरणसम्बन्धी लक्षण उत्पन्न होते हैं और नाडीसंस्थान के लक्षण, पेशियों में स्तम्भ आदि नहीं मिलते और रोगी मरता भी नहीं।

पीयूषग्रन्थि (Pineal gland)

यह ग्रन्थि मस्तिष्क–मूलपिण्ड के पीछे रहती है। यह छोटी, गोलाकार तथा गुलाबी रंग की होती है। यह आवरक कोषाणुओं से बनी है जो नलिकाओं और कोषों के रूप में व्यवस्थित है और जिनके बीच-बीच में नाड़ी कोषाणु भी होते हैं। इसमें रक्तवाहिनियों तथा नाड़ियों की बहुलता होती है तथा इसमें बहुत से छोटे-छोटे बालू के समान खटिकीय द्रव्य पाये जाते हैं जिन्हें 'मस्तिष्कसिकता' (Brain sand) कहते हैं। इस ग्रन्थि में एक अवसादक तत्त्व होता है।

यह यौनग्रन्थियों से सम्बन्धित होता है और उनके प्राक्कालिक विकास को रोकता है। इस ग्रन्थि की वृद्धि होने से यौन अङ्गों का समय से पूर्व ही विकास हो जाता है, शरीर बढ़ जाता है, बाल बढ़ जाते हैं और विशिष्ट मानसिक भावों का उदय हो जाता है।

युवावस्था के बाद ग्रन्थि में क्षयात्मक परिवर्तन होते हैं और अन्त में ग्रन्थि केवल सौत्रिक तन्तु का समूह रह जाता है।

बालग्रैवेयक (Thymus)

यह ग्रन्थि बाल्यावस्था में उरःफलक के पीछे और महाधमनी के तोरणांश के ऊपर रहा करती है। इसका शिखर गले में श्वासनलिका के सामने कुछ दूर तक फैला हुआ है। जन्म के समय इसका भार लगभग ½ औंस होता है, किन्तु धीरे-धीरे यह आकार और भार में बढ़ती जाती है और दो वर्ष की आयु में यह पूर्ण विकसित हो जाती है, युवावस्था के प्रारम्भ में यह धीरे-धीरे क्षीण होने लगती है और पूरी जवानी में इसका कोई चिह्न अवशिष्ट नहीं रहता।

यह लसीकाधातु से बनी है जो कोषों के रूप में व्यवस्थित है। ये कोष परस्पर सौत्रिकतन्तु से सम्बद्ध रहते हैं। प्रत्येक कोष बहिर्वस्तु और अन्तर्वस्तु इन दो भागों में विभक्त रहता है। अन्य लसीकाधातु के समान इसमें भी लसीका-कोषाणु होते हैं जो बालग्रैवेयक कोषाणु (Thymocyte) कहलाते हैं। ये कोषाणु बहिर्वस्तु में अधिक पाये जाते हैं और इनके अतिरिक्त वहाँ कुछ कणयुक्त कोषाणु भी होते हैं। अन्तर्वस्तु में आवरक कोषाणुओं के कुछ समूह होते हैं।

कार्य

(१) लसीकाधातु से संघटित होने के कारण यह श्वेत कणों के निर्माण में भाग लेती है।

(२) स्त्री और पुरुष दोनों के शरीर में प्रजनन यन्त्रों की पुष्टि के साथ इसका लोप हो जाता है। बाल्यावस्था में निरण्ड किये हुये मनुष्य और पशु में यह ग्रन्थि यावज्जीवन रहा करती है। यह भी देखा गया है कि यदि यह ग्रन्थि बाल्यावस्था में ही निकाल दी जाय तो उसी समय यौवन के लक्षण प्रकट हो जाते हैं। अतः इस ग्रन्थि का कार्य जब तक शरीर सुदृढ़ न हो जाय तब तक यौवनोचित प्रजनन-यन्त्रों की वृद्धि को रोक रखना है। यह भी समझा जाता है कि स्वभावतः परिपक्व प्रजनन-यन्त्रों से उत्पन्न अन्तःस्राव ही इस ग्रन्थि को युवावस्था में क्षीण करने लगता है।

(३) इसका अन्तःस्राव सुधा के सात्मीकरण में भी योग देता है क्योंकि बच्चों में यह ग्रन्थि निकाल देने से सुधा का उत्सर्ग अधिक होने लगता है और अस्थिवक्रता उत्पन्न हो जाती है। वह बालक शिथिल और मंद हो जाता है तथा पेशियों में आक्षेप भी आने लगते हैं। विद्वानों का मत है कि ग्रन्थि का यह प्रभाव उसमें विद्यमान ग्लुटाथायोन (Glutathione) नामक पदार्थ के कारण होता है।

जीवनीय द्रव्य बी० की कमी के कारण भी बच्चों में इस ग्रन्थि का क्षय देखा जाता है। कहीं कहीं पर युवावस्था में भी इसका क्षय न होकर इसकी वृद्धि होने लगती है। इन अवस्थाओं में शरीर की पेशियाँ दुर्बल और शिथिल हो जाती हैं और हृदय भी दुर्बल हो जाता है। ऐसे व्यक्ति साधारण क्षत या संक्रमण से ही मृत्यु के शिकार हो जाते हैं। संज्ञानाशक औषधों का भी प्रभाव इन पर बहुत बुरा होता है। थोड़ा ईथर क्लोरोफार्म देने पर ही रोगी में आक्षेप आने लगते हैं और वह मर जाता है।

प्लीहा

यह शरीर में सबसे बड़ी निःस्रोत ग्रन्थि है। इसका शरीर संयोजक तन्तु तथा स्वतन्त्र पेशियों से बना है, जिनके भीतर प्लैहिक वस्तु भरी रहती है। प्लैहिक वस्तु सूक्ष्म सौत्रिक जालों की बनी होती है जिसके भीतर बड़े बड़े प्लैहिक कोषाणु, अनेक केन्द्रक सहित बृहत् कोषाणु तथा जालक बनाने वाले जालककोषाणु रहते हैं। इनके अतिरिक्त, लसीकाकोषाणु तथा रक्तकण भी मिलते हैं। प्लैहिक कोषाणुओं में रक्तकण के विघटन की अनेक अवस्थायें देखी जाती हैं। ये कोषाणु जालककोषाणुओं के साथ रक्त निर्मापक संस्थान के अंगभूत हैं। प्लीहा बाहर की ओर सौत्रिक तथा पेशीतन्तु से बने हुये कोष से ढँका है।

जिस प्रकार लसीका साक्षात् रूप से लसीका-ग्रन्थियों में बहती हुई धातुओं के सम्पर्क में आती है उसी प्रकार प्लीहा में रक्त प्लैहिक कोषाणुओं

के साक्षात् सम्पर्क में आता है क्योंकि यहाँ पर केशिकाओं का मुख खुला रहता है। प्लैहिक सिरायें धमनियों की अपेक्षा बड़ी होती हैं और उनका प्रारम्भ इन्हीं खुले स्थानों से होता है, अतः रक्तप्रवाह में कुछ लसीकाकण भी चले जाते हैं। सूक्ष्म प्लैहिक धमनियों के बाह्य आवरण पर लसीकाधातु की छोटी छोटी ग्रन्थियाँ पाई जाती हैं।

कार्य

(१) गर्भ की प्रारम्भिक अवस्था में यह रक्तकणों तथा श्वेतकणों (विशेषतः बृहत् एककेन्द्री कणों) का निर्माण करता है, किन्तु बाद में जब मज्जा के द्वारा यह कार्य होने लगता है तब यह मुख्यतः एक कोष के रूप में रहता है जहां रक्तकण संचित होते हैं और वहाँ से रक्तसंवहन में जाते हैं।

(२) यहाँ रक्तकणों का विघटन भी होता है, इसलिए प्लैहिक वस्तु में लौह की मात्रा अधिक मिलती है, किन्तु कुछ विद्वानों का मत है कि यहां रक्तकणों का विघटन नहीं होता, केवल अन्य स्थानों से प्राप्त लौह का यहाँ संचय होता है, क्योंकि प्लैहिक सिरा में शुद्ध रक्तरञ्जक द्रव्य अधिक परिमाण में नहीं मिलता।

(३) यह नत्रजन के सात्मीकरण में, विशेषतः यूरिक अम्ल के निर्माण में योग देता है, क्योंकि यहाँ केन्द्रक परिवर्तक किण्वतत्त्व अधिक मात्रा में होता है जो केन्द्रकाम्ल का विश्लेषण करता है।

(४) यह पित्तरञ्जकों का निर्माण करता है। रक्तकण शरीर में निरन्तर नष्ट होते रहते हैं और इस प्रकार उन्मुक्त रक्तरञ्जक प्लीहा में आकर निस्यन्दित होते हैं तथा पित्तरञ्जकों में परिणत हो जाते हैं। इनका उत्सर्ग यकृत् के द्वारा होता है।

(५) यह पाचन-नलिका विशेषतः आमाशय की रक्तवाहिनियों के कोष का कार्य करती है क्योंकि यह भोजन के पाचनकाल में आकार में छोटी हो जाती है। इसका कारण प्लीहा में स्वतन्त्र पेशियों की उपस्थिति है जिससे वह संकुचित होकर रक्त को बाहर भेज देती है। प्लीहा का संकोच नियमित रूप से भी होता रहता है।

(६) इससे एक अन्तःस्राव निकलता है जो आमाशयिक ग्रन्थियों को उत्तेजित करता है।

(७) यह रक्तनिस्यन्दक के रूप में भी कार्य करता है जिससे रक्त में प्रविष्ट जीवाणु छन कर वहीं पृथक् हो जाते हैं और श्वेतकणों द्वारा नष्ट कर दिये जाते हैं।

यौन ग्रन्थियाँ (Gonads)

पुरुष और स्त्री यौन ग्रन्थियों (वृषणग्रन्थि और बीजकोष) का भी अन्तर्भाव अन्तःस्राव ग्रन्थियों में किया गया है, क्योंकि उनसे दो प्रकार का स्राव होता है, एक बाह्य और दूसरा अन्तः।[1] बाह्य स्राव शुक्र और रज हैं जिनसे सन्तानोत्पत्ति का कार्य होता है। अन्तःस्राव सीधे रक्तप्रवाह में प्रविष्ट होते हैं और इनसे अन्य यौन भावों का विकास होता है।

अन्य अन्तःस्राव ग्रन्थियों से इनमें अन्तर यही है कि इनकी क्रियायें चक्रवत् कालनियत होती हैं और इनके अन्तस्राव यौन क्रियाओं की विभिन्न अवस्थाओं में स्वरूप एवं मात्रा में भिन्न होते हैं।

वृषणग्रन्थि

इससे 'प्राविनन' (Provinon) नामक अन्तःस्राव उत्पन्न होता है जो बाह्य पुंस्त्वव्यञ्जक चिह्नों के प्रादुर्भाव का कारणभूत माना गया है। यह अन्तःस्राव शुक्रजनक धातु से उत्पन्न न होकर उनके मध्यवर्ती धातु से निकलता है। वृषण ग्रन्थियों के सहज विकारों तथा बाल्यावस्था में ही निरण्ड किये हुये व्यक्तियों में पुंस्त्वव्यंजक चिह्न विकसित नहीं होते; दाढ़ी, मूंछ नहीं निकलती, स्वरयन्त्र छोटा रह जाता है और मेद का संचय होने लगता है जिसे निरण्ड-मेदस्विता (Castration obesity) कहते हैं। इसके अतिरिक्त अस्थियों के प्रान्त भागों का गात्रों से संयोग विलम्ब से होता है जिससे शरीर की लम्बाई बहुत अधिक हो जाती है।

वृषणग्रन्थि के सत्वों को वृद्ध व्यक्तियों में प्रविष्ट कर उनके प्रभाव का अध्ययन किया गया है[2]। वृद्ध व्यक्तियों में चिम्पैंजी की वृषणग्रन्थि के अंश को प्रस्थापित करने से उनमें पुनर्यौवन के चिह्न उत्पन्न हुये हैं। इसी प्रकार के परिणाम शुक्रवाहिनी को बाँध देने से भी हुये हैं जिसका कारण शुक्रजनक धातु का क्षय तथा तदन्तर्वर्ती धातु की वृद्धि बतलाया जाता है।

बीजकोष

बीजकोष या बीजग्रन्थि से मासिक रजःस्राव-चक्र की विभिन्न अवस्थाओं में तीन भिन्न-भिन्न अन्तःस्राव उत्पन्न होते हैं :—

---

१. सप्तमी शुक्रधरा नाम। या सर्वप्राणिनां सर्वशरीरव्यापिनी।
यथा पयसि सर्पिस्तु गूढश्चेक्षौ रसो यथा।
शरीरेषु तथा शुक्रं नृणां विद्याद् भिषग्वरः॥—सु० शा०

२.—आयुर्वेद में बस्ताण्ड तथा हंस, दक्ष, बर्हिण, नक्र तथा मुर्गे के अण्डे का पुंस्त्ववृद्धि के लिए प्रयोग किया जाता है। (देखिए चरक चिकित्सा १ अ०)

(१) गर्भोत्पादक (Oestrin)—यह बीजकोष से मासिक स्राव के एक सप्ताह पूर्व उत्पन्न होता है। इससे स्तन्य ग्रन्थियों की स्वल्प तात्कालिक वृद्धि हो जाती है था गर्भाशय में भी परिवर्तन होने लगते हैं। यह गर्भाधान में सहायक होता है, अतः वन्ध्यात्व रोग में इसका प्रयोग किया जाता है। यह स्त्रीत्वव्यञ्जक अन्य बाह्य चिह्नों के विकास में भी कारण होता है। स्तन्यग्रन्थियों के विकास पर नियन्त्रण रखता है। यह केवल बीजकोष में ही नहीं पाया जाता, बल्कि गर्भिणी स्त्रियों के मूत्र में (Oestrone or Theelin) तथा अपरा में (Oestriol or Theelol) भी अधिक परिमाण में पाया जाता है।

(२) गर्भधारक (Progestin or Corpus luteum hormone)—यह बीजकिणपुट से उत्पन्न होता है। यह बीजकोष के स्राव को रोक कर गर्भाधान में सहायक होता है तथा गर्भकला के विकास में सहायता प्रदान कर एवं गर्भाशय की श्लेष्मलकला में स्त्री बीज को स्थिर कर गर्भधारण में सहयोग देता है यह देखा गया है कि यदि गर्भावस्था में बीजकिणपुट को हटा दिया जाय तो गर्भपात हो जायगा। अतः इसका प्रयोग चिकित्सा में भी गर्भधारण तथा गर्भपात को रोकने के लिए किया जाता है। इस अन्तः-स्राव से स्तनों की वृद्धि भी होती है।

सारांश में, यह अन्तःस्राव स्त्री–बीजोत्पत्ति को रोकता है, गर्भाशय में स्त्रीबीज को स्थिर रखता है तथा स्तन्यग्रन्थियों की वृद्धि में सहायक होता है।

(३) प्रसव–सहायक अन्तःस्राव (Interstitial hormone)—यह गर्भावस्था के अन्त में, जब बीजकिणपुट क्षीण होने लगता है, उत्पन्न होता है। यह पोषकग्रन्थि के ओषीन (Oxytocsin) नामक अन्तःस्राव की उत्पत्ति को प्रेरित करता है जो प्रसव को प्रारम्भ करने में सहायक होता है।

अष्टम अध्याय

तप सन्तापे

ताप

शरीर तापक्रम की दृष्टि से प्राणियों के दो वर्ग किये गये हैं :—

(१) उष्णरक्त या स्थिरताप (Warmblooded or Homoiothermal)—इन प्राणियों का तापक्रम बाह्य वायुमण्डल के तापक्रम की अपेक्षा न रखते हुए प्रायः स्थिर होता है। स्तनधारी प्राणी तथा पक्षी इस वर्ग में आते हैं।

(२) शीतरक्त या अस्थिरताप (Coldblooded or poikilothermal)—सरीसृप, मेढक, मछली और प्रायः सभी पृष्ठवंशविहीन प्राणिवर्ग के शरीर का तापक्रम अस्थिर होता है। इन प्राणियों का वायु के तापक्रम के अनुसार बदलता रहता है क्योंकि इनके सात्मीकरण का क्रम उसी के अनुपात से होता है।

ताप का नियमन

मनुष्यों तथा अन्य उष्णरक्त प्राणियों का तापक्रम बराबर एक समान प्राकृत सीमा पर रहता है। बाह्य वायुमण्डल के शैत्य या उष्णता का उस पर कोई विशेष प्रभाव नहीं होता। इसका कारण यह है कि तापोत्पत्ति (Thermogenesis) तथा तापक्षय (Thermolysis) की क्रिया पूर्ण सन्तुलित रहती है। उदाहरणतः, जब बाह्य वायुमण्डल का तापक्रम कम होता है, तब शरीर में ताप की उत्पत्ति अधिक तथा क्षय कम होता है। इसी प्रकार जब बाहर गर्मी अधिक होती है, तब शरीर में ताप की उत्पत्ति कम हो जाती है और क्षय अधिक हो जाता है।

सामान्यतः मनुष्य का तापक्रम औसतन—

(१) कक्षा में ९८·४५° फ०

(२) मुख में ९८·६६° फ०

(३) गुदा में ९८·९६° फ० रहता है। विभिन्न व्यक्तियों का तापक्रम भी ९७·५° से ९९° तक होता है।

इस प्रकार ताप का नियमन दो प्रकार से होता है :—

(क) ताप की उत्पत्ति में परिवर्तन के द्वारा (रासायनिक नियमन—Chemical regulation)

(ख) ताप के क्षय में परिवर्तन के द्वारा (भौतिक नियमन—Physical regulation)

रासायनिक नियमन (तापोत्पत्ति)

शरीर ताप का नियमन (Thermotaxis) शरीर में कार्बन तथा उदजन के ओषजनीभवन के फलस्वरूप उत्पन्न ताप की मात्रा को बढ़ाने या घटाने से होता है। यह ओषजनीभवन मुख्यतः शरीर की परतन्त्र पेशियों तथा ग्रन्थियों में होता है, अतः ये ही दोनों तापोत्पत्ति के मुख्य साधन हैं।

आकार और भार की दृष्टि से ग्रन्थियों के द्वारा अधिक ताप उत्पन्न होता है, किन्तु यह निरन्तर नहीं होता, क्योंकि पाचनकाल में यह ग्रन्थियाँ अधिक सक्रिय रहती हैं और बाद में इनकी क्रिया मन्द पड़ जाती है। इसके विपरीत पेशियों के निरन्तर संकोच की अवस्था में रहने के कारण ताप की उत्पत्ति भी निरन्तर होती रहती है।

शीतऋतु में पेशियों का संकोच अधिक हो जाता है, अतः ताप भी अधिक उत्पन्न होता है और इस प्रकार वायुमण्डल का तापक्रम कम होने पर भी शरीर ठण्ढा नहीं होने पाता। जब बाह्य तापक्रम और कम होता है, तब पेशियों की क्रिया और बढ़ जाती है और शरीर काँपने लगता है जिससे ताप अधिक उत्पन्न होता है और प्राकृत ताप स्थिर रहता है। इसके विपरीत, उष्ण ऋतु में पेशियाँ शिथिल हो जाती हैं जिससे ताप कम उत्पन्न होता है। जाड़े में अधिक भूख लगती और भोजन भी अधिक किया जाता है। इससे भी ग्रन्थियों की क्रिया बढ़ जाती है और ताप अधिक उत्पन्न होता है। गर्मी के दिनों में, इसके विपरीत, भूख कम हो जाती है और भोजन घट जाता है जिससे ग्रन्थियों के द्वारा ताप कम उत्पन्न होता है।

जब पेशी का संकोच औषधद्रव्य के द्वारा नष्ट कर दिया जाता है तो उसका तापक्रम शीघ्र ही गिर जाता है और फिर बाह्य तापक्रम के अनुसार बढ़ जाता है, अर्थात् वह शीतरक्त प्राणी हो जाता है और उनका तापक्रम वायुमण्डल के तापक्रम के समान घटता बढ़ता है। जब वायुमण्डल का तापक्रम बहुत नीचे गिर जाता है तब ताप की उत्पत्ति तो बढ़ ही जाती है, साथ ही तापक्षय भी कम हो जाता है और ये दोनों मिलकर प्राकृत ताप को स्थिर रखते हैं।

भौतिक नियमन (तापक्षय)

तापक्षय के निम्नांकित स्रोत हैं :—

(१) त्वचा ८७.५ प्रतिशत

(२) फुफ्फुस १०.७ ,,

(३) शारीर द्रव और मल १.८ ,,

(१) त्वचा के द्वारा तापक्षय

निम्नांकित प्रक्रियाओं से त्वचा के द्वारा ताप का क्षय होता है :—

(क) चालन (Conduction)

(ख) वाहन (Convection)

(ग) विकिरण (Radiation)

(घ) वाष्पीभवन (Evaporation)

(क) चालन—इसके द्वारा शरीर के पृष्ठभाग से ताप निकलकर त्वचा के सम्पर्क में आने वाले माध्यम में प्रविष्ट हो जाता है। अर्थात् इन दोनों माध्यमों में ताप का विनिमय होता है। चालन के द्वारा ताप का क्षय निम्नांकित बातों पर निर्भर करता है :—

(१) वायु की आर्द्रता—आर्द्र वायु के द्वारा शीघ्र और अधिक तापक्षय होता है।

(२) व्यक्ति का आकार—मेद ताप का कुचालक है, अतः मेदस्वी पुरुषों में इसके द्वारा तापक्षय बहुत कम होता है। उत्तरी ध्रुव के शीत प्रदेश के व्यक्ति इसीलिए मेदस्वी होते हैं।

(३) वस्त्र का प्रभाव—वस्त्र ताप का कुचालक है, अतः वह तापक्षय को रोकता है, किन्तु कपड़ा भींगा होने पर तापक्षय अधिक होता है, क्योंकि जल ताप का अच्छा चालक है। इसीलिए आर्द्र वस्त्र पहनने पर ठंढक मालूम पड़ती है।

(ख) वाहन—इस प्रक्रिया से गतिशील वायु के द्वारा शारीर ताप का निर्हरण होता है। जब वायु स्थिर होती है तो त्वचा के निकट संपर्क में आने वाली वायु चालन के द्वारा शारीर ताप का ग्रहण करने के कारण गरम हो जाती है। यह गरम वायु हलकी होने से ऊपर की ओर उठती है और दूसरी ठंडी वायु इसका स्थान लेती है। तीव्र प्रवात या पंखे की हवा में अधिक शीत और गतिशील वायु का त्वचा के साथ संपर्क होने के कारण शरीर से ताप का क्षय अधिक होता है। इसीलिए गर्मी के दिनों में बिजली के या दूसरे पंखों की आवश्यकता होती है।

(ग) विकिरण—इसके द्वारा शरीर के पृष्ठभाग और बाह्य शीतल माध्यम के बीच ताप का विनिमय होता है। इस प्रक्रिया से शरीरका लगभग ७३ प्रतिशत ताप नष्ट होता है। इस पर निम्नांकित कारणों का प्रभाव पड़ता है :—

५. वायु की आर्द्रता—शीतशुष्क वायु में यह क्रिया अत्यधिक होती है। और वायु में आर्द्रता होने पर इस प्रक्रिया के द्वारा तापक्षय में बाधा होती है।

२. व्यक्ति का आहार—कृश और लम्बे व्यक्तियों में विकिरण के द्वारा ताप का क्षय अधिक होता है, क्योंकि शरीर का पृष्ठभाग जितना ही अधिक होगा, ताप का क्षय भी उतना ही अधिक होगा।

३. वस्त्र—वस्त्र से भी तापक्षय में बाधा होती है। शरीर का ताप पहले कपड़ों में प्रविष्ट होता है और फिर वहाँ से बाह्य वायुमण्डल में जाता है।

(घ) वाष्पीभवन—लगभग ६०० मि. ली. स्वेद वाष्पीभवन के द्वारा शरीर के पृष्ठभाग से बाहर निकलता है और यह मात्रा व्यायाम के समय अधिक हो जाती है। इस काल में रक्त का सञ्चित ताप त्वचा की रक्तवाहिनियों में आ जाता है और बाष्पीभवन के द्वारा बाहर निकल जाता है। जब बाह्य वायुमण्डल का तापक्रम अत्यधिक होने से उपर्युक्त तीनों विधियों से ताप का क्षय नहीं हो पाता, तब मुख्यतः यह विधि काम में आती है और शरीर के स्वेद पर्याप्त मात्रा में निकल कर त्वचा पर सञ्चित होने लगता है।

इस विधि के द्वारा तापक्षय निम्नाङ्कित कारणों पर निर्भर होता है :—

१. व्यक्ति का आकार—नाटे और स्थूल व्यक्तियों में यह प्रक्रिया अधिक उपयुक्त होती है, क्योंकि शरीर का पृष्ठभाग कम होने तथा मेद ताप का कुचालक होने से अन्य विधियों से ताप का क्षय नहीं हो पाता। विशिष्ट अवस्थाओं में जब स्वेदावरोध हो जाता है तब तापक्रम बहुत बढ़ जाता है।

२. वायु की आर्द्रता—वायुमण्डल आर्द्र होने पर बाष्पीभवन की क्रिया में अवरोध होता है। अतः गर्मी के दिनों में बाह्य तापक्रम अधिक होने पर कष्ट नहीं मालूम होता जब कि बरसात में तापक्रम कम होने पर भी अधिक कष्ट होता है।

(२) फुफ्फुसों के द्वारा ताप का क्षय

फुफ्फुसों के द्वारा ताप का क्षय दो प्रकार से होता है :—

(क) श्वासमार्ग में स्थित जल के वाष्पीभवन से।

(ख) निःश्वसित वायु को उष्ण करने से।

प्रथम प्रकार से लगभग ७ प्रतिशत तथा द्वितीय प्रकार से ४ प्रतिशत ताप नष्ट होता है। कुत्ते आदि जन्तुओं में, जिनके शरीर से पसीना नहीं निकलता, यह प्रक्रिया अधिक उपयुक्त होती है। इसीलिए शरीर का तापक्रम अधिक होने पर तथा बाह्य वायुमण्डल का ताप अधिक होने से श्वास की क्रिया बढ़ जाती है जिससे बाष्पीभवन के द्वारा ताप का क्षय अधिक होता है।

(३) आहार और मल के द्वारा ताप का क्षय

लगभग २ प्रतिशत ताप मूत्र तथा पुरीष को उष्ण बनाने में नष्ट होता है। भोजन आमाशय में जाने पर भी गरम हो जाता है और कुछ ताप का शोषण करता है।

इस प्रकार प्रतिदिन जितना ताप उत्पन्न होता है, उतना ही नष्ट भी होना चाहिये क्योंकि अधिक या कम ताप का क्षय होने से शरीर का तापक्रम कम या अधिक हो जायगा। हलका परिश्रम करने वाले व्यक्ति में प्रतिदिन लगभग ३७०० कैलोरी ताप उत्पन्न होता है, अतः इतना ही ताप प्रतिदिन नष्ट होना चाहिये। विभिन्न स्रोतों से यह ताप किस प्रकार नष्ट होता है, यह निम्नांकित तालिका से स्पष्ट होगा :—

	कैलोरी	प्रतिशत
(क) चालन, वाहन और विकिरण	२१००	७०
(ख) त्वचा और फुफ्फुस से बाष्पीभवन	८१०	२७
(ग) श्वसित वायु को उष्ण करने में	६०	२
(घ) मूत्र और पुरीष	३०	१
प्रतिदिन कुल तापक्षय	३०००	१००

तापनियामक केन्द्र (Heat-regulating centre)

तापनियामक केन्द्र मस्तिष्क के कन्दाधरिक (Hypothalamus) भाग में रहता है। यह रक्तवहचालन, श्वसन एवं स्वेदन के केन्द्रों को प्रभावित करता है जिससे आवश्यकतानुसार ताप की उत्पत्ति एवं क्षय का सन्तुलन बना रहता है। इस केन्द्र के नष्ट या विकृत होने से मनुष्य का ताप शीतरक्त प्राणी के समान अस्थिर हो जाता है।

तापनियमन के विकार

ऊपर बतलाया जा चुका है कि ताप की उत्पत्ति और क्षय में संतुलन के कारण शरीर का प्राकृत तापक्रम स्थिर रहता है। इस सन्तुलन के नष्ट होने से शरीर में तापसम्बन्धी विकार उत्पन्न हो जाते हैं। उष्णस्नान, स्वेदन या अतिव्यायाम से शरीर का ताप थोड़ी देर के लिए बढ़ जाता है। ताप की उत्पत्ति का रासायनिक नियमन होने से प्राकृत व्यक्तियों में ताप की कमी कम देखने में आती है।

(क) अंशुघात (Heat or sunstroke)

उष्ण आर्द्र वायुमण्डल में अधिक देर तक रहने से शरीर से ताप का क्षय

पूर्णतः नहीं होने पाता जिससे तापक्रम अधिक हो जाता है। सूर्य की रश्मियों से शरीर में ताप का शोषण होने से तापक्रम बढ़ जाता है। इससे नाड़ीतन्तु में विकार उत्पन्न होते हैं और अन्त में मृत्यु भी हो जाती है। तीव्र ताप होने पर भी यदि ताप का क्षय हो तो यह विकार उत्पन्न नहीं होता। इससे बचने के लिए लघु आहार, व्यायाम का निषेध, पर्याप्त जलपान, ढीले वस्त्र, पंखे, शीतल जलधारा का सेवन तथा शिर की धूप और गरमी से रक्षा करनी चाहिये।

ज्वर

इसमें जीवाणुविष या अन्य दोषों के कारण त्वचा की रक्तवाहिनियाँ संकुचित हो जाती हैं और रक्त भीतर अंगों में चला जाता है तथा धातुओं में द्रव आकर्षित होने के कारण रक्त के आयतन में भी कमी हो जाती है।[1] इससे ताप का क्षय कम होने लगता है और साथ ही ताप की उत्पत्ति अधिक होती है। इस प्रकार ताप का सन्तुलन नष्ट हो जाने से शरीर का प्राकृत तापक्रम बढ़ जाता है। ज्वर के प्रारंभ में त्वचा से रक्त के हट जाने के कारण ही शीत का अनुभव होता है। शीत से शरीर काँपने लगता है जिससे पेशियों की क्रिया अधिक होने से ताप अधिक उत्पन्न होता है और तापक्रम बढ़ाने में सहायक होता है। थोड़ी देर में रक्त पुनः त्वचा में आने लगता है और रोगी उष्णता का अनुभव करने लगता है। यह उष्णता का अनुभव उष्ण रक्त के द्वारा त्वचा की संज्ञावह नाड़ियों की उत्तेजना से होता है। फिर भी तापक्रम प्राकृत से अधिक ही रहता है। ज्वर के अन्त में पसीना आता है जिससे तापक्षय जो अवरुद्ध था फिर होने लगता है और तापक्रम कम हो जाता है। इस प्रकार तापसन्तुलन प्राकृत सीमा पर पहुँच जाता है।[2]

ज्वरघ्न औषधें ताप के निर्हरण में सहायता पहुँचाती हैं। उन औषधों के प्रभाव से रक्तगत शर्करा की मात्रा बढ़ जाती है जिससे धातुओं से रक्त

---

१. 'स्रोतसां संनिरुद्धत्वात् स्वेदं ना नाधिगच्छति।
स्वस्थानात् प्रच्युते चाग्नौ प्रायशस्तरुणे ज्वरे।
अरुचिश्चाविपाकश्च गुरुत्वमुदरस्य च ॥' —च. चि. ३
'स्वेदावरोधः संतापः सर्वांगग्रहणं तथा।
'युगपद् यत्र रोगे च स ज्वरो व्यपदिश्यते ॥' —सु. उ. ३९।

२. 'ज्वरप्रमोक्षे पुरुषः कूजन् वमति चेष्टते।
श्वसन् विवर्णः स्विन्नांगो वेपते लीयते मुहुः ॥' —च. चि. ३

खिंचकर त्वचा में आ जाता है और इस प्रकार ताप के निर्हरण में आसानी होती है।

(ग) कफखण्ड

शरीर में जो सौम्यजातीय अंश है वह कफ का है। कफवर्ग के ऐसे द्रव्यों में लसीका, शुक्र और ओज परिगणित हुये हैं। शुक्र और ओज का धातु एवं धातुसार के रूप में ग्रहण होने से लसीका ही मुख्य रूप से कफ का प्रतिनिधित्व करती है। लसीका से संबद्ध विचार कफजन्य माने गये हैं। लसीका का वर्णन पहले किया जा चुका है।

तृतीय खण्ड

मलविज्ञानीय

प्रथम अध्याय

मूत्रवह संस्थान

इस संस्थान में वृक्क, गवीनी, बस्ति तथा मूत्रप्रसेक इन चार अवयवों का समावेश होता है। वृक्क में मूत्रनिर्माण कार्य होता है। जहां से मूत्र गवीनी के द्वारा बस्ति में पहुँचता है और थोड़ी देर तक वहाँ ठहरता है वस्ति से मूत्र-प्रसेक नामक नलिका के द्वारा मूत्र बाहर निकल जाता है।

वृक्क

इनका आकार महाशिम्बी-बीज के समान होता है तथा ये उदरगुहा के कटिप्रदेश में पृष्ठवंश के दोनों ओर एकादश एवं द्वादश पर्शुका के समीप रहते हैं।[1] इनकी लम्बाई ४ इञ्च तथा भार ४½ औंस होता है। उदर्यकला इनके सामने की ओर रहती है।

रचना :—वृक्क एक सौत्रिक कोष से आवृत रहते हैं जो उनके भीतरी पृष्ठ पर सूक्ष्म सूत्रगुच्छों के द्वारा लगा रहता है। वृक्क का छेदन करने पर उसके निम्नांकित भाग दृष्टिगोचर होते हैं :—

(१) वृक्कवस्तु :—यह वृक्क का स्थूल उपादानभाग होता है। यह दो प्रकार का है :—(क) बहिर्वस्तु (Cortical matter) जो वृक्क का बाह्य परिधि भाग बनाता है तथा (ख) अन्तर्वस्तु (Medullary matter) जो भीतर की ओर रेखाओं से अङ्कित होता है और वृक्कद्वार की ओर अभिमुख शिखरिकाओं से युक्त है। शिखरिकाओं के मूलभाग स्थूल तथा बहिर्वस्तु से संबद्ध होते हैं और अग्रभाग पुष्पमुकुलाकार वृक्कालिन्द भाग में देखे जाते हैं।

(२) वृक्कद्वार (Hilum)—यह वृक्क की अन्तःपरिधि में स्थित खात है जहाँ गवीनी का शिर मिलता है।

(३) वृक्कालिन्द (Pelvis)—यह वृक्कद्वार में स्थित गवीनी का प्रसारित शिरोभाग है जो वृक्ककोष नामक स्थूलकला से ढँका रहता है। वहाँ वृक्कशिखारिकाओं के अग्रभाग से परिस्रुत मूत्र बूँद-बूँद कर सञ्चित होता है तथा वहाँ वृक्कशिखरिकाओं के दस या बारह मुकुलाकार अग्रभाग दृष्टि-गोचर होते हैं।

(४) वृक्कोष (Renal Capsule)—यह प्रत्येक वृक्क के चारों ओर लगा हुआ स्थूलकलामय आवरण है। यह कला वृक्कद्वार के पास पहुंच

---

१. 'वृक्कौ मांसपिण्डद्वयम्। एको वामपार्श्वस्थितः। द्वितीयो दक्षिणपार्श्व-स्थितः।' —सु० नि० ९

कर वृक्कद्वार के चारों ओर स्थित होकर वृक्कालिन्द का परिसर भाग बनाती है और वहाँ से पीछे की ओर मुड़ कर गवीनी के शिरोभाग को आवृत करती है।
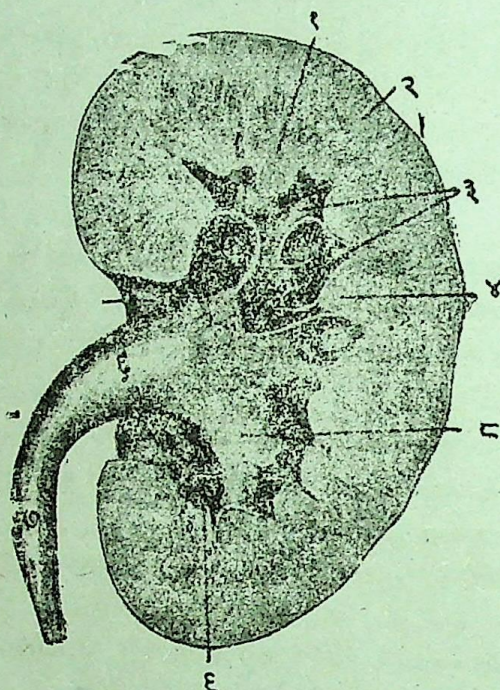
१—अन्तर्वस्तु २—बहिर्वस्तु ३—आलवालिका ४—शिखरिकाग्र ५—वृक्ककोष ६—गवीनीग्रीवा ७—गवीनी ८—गवीनीमुख ९—वृक्कद्वार

सूक्ष्मरचना :—वृक्क की सूक्ष्म रचना अत्यन्त विचित्र है। वृक्क के परिधि भाग में स्थित बहिर्वस्तु मूत्रनिर्मापक सूक्ष्म, गोलाकार तथा जालकमय यन्त्रों से निर्मित है। उन्हें मूत्रोत्सिका (Glomerulus) कहते हैं, क्योंकि उनसे निरन्तर जल चूता रहता है। उनकी संख्या एक अंगुल स्थान में प्रायः ९० होती हैं। ये सूक्ष्मसिरा और धमनियों के बीच-बीच में फल के गुच्छे के समान स्थित होती है। एक-एक उत्सिका में एक-एक गुच्छमुखी सूक्ष्म धमनी प्रविष्ट होती है और वहाँ वर्तुलाकार गुच्छ में परिणत हो जाती है। इसे एक कलामय कोष आवृत करता है जिसे 'उत्सिकापुटक' (Bowman's Capsule) कहते हैं। इस पुटक के भीतर धीरे-धीरे सूक्ष्मबिन्दुओं के रूप में रक्त का जलीय त्याज्य भाग निःसृत होता है जिसे मूत्र कहते हैं। मूत्र वहां से उत्सिकापुटक से निकले हुए सूक्ष्म मूत्रवहस्रोत के द्वारा वृक्क के भीतर चला

जाता है। ये मूत्रवह स्रोत क्षुद्रान्त्र के समान फैले होते हैं और सर्प की तरह कुण्डलाकार गति में केन्द्र की ओर जाते हैं। इस प्रकार प्रत्येक स्रोत में ४ भाग होते हैं :—

वृक्क की सूक्ष्म रचना
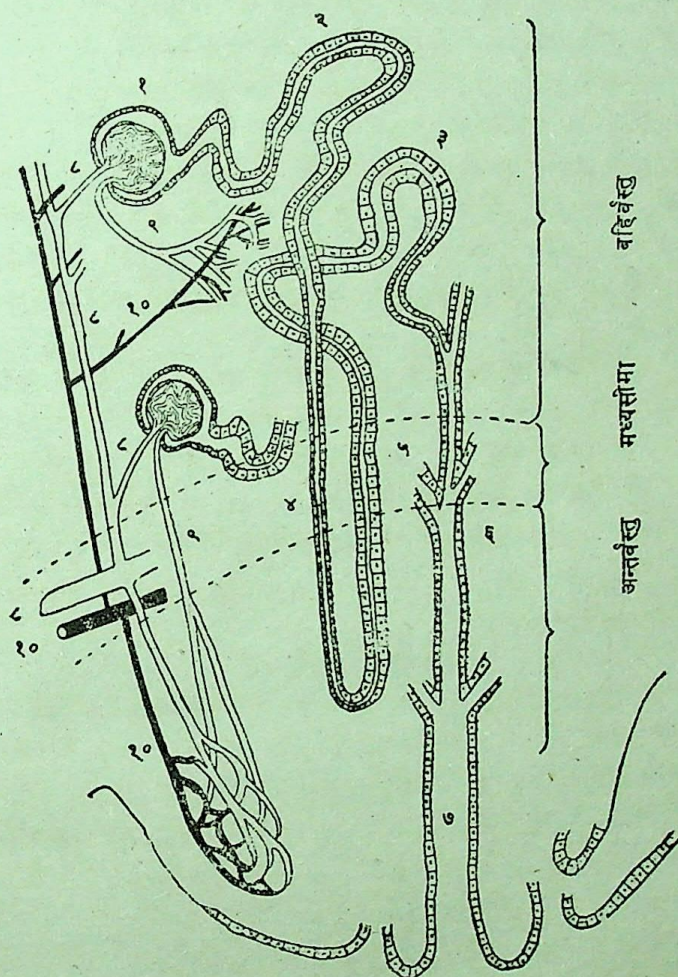
१–मूत्रोत्सिका २–प्रथम कुंडलिका भाग ३–द्वितीय कुंडलिका भाग
४–अवरोही भाग ५–आरोही भाग ६–संचायक नलिकायें
७–महानलिकायें ८–धमनी ९–सिरा (बहिर्मुखी) १०–सिरा

(१) आद्य कुण्डलिकाभाग (First convoluted tubule)

(२) पाशभाग (Henle's boop)

(३) अन्त्य कुण्डलिकाभाग (Second convoluted tubule)

(४) ऋजुभाग (Straight tubule)

एक दूसरे के पार्श्वभाग में स्थित ऋजुस्रोतों से वृक्कशिखरिकाओं का निर्माण होता है। अन्त्र के समान फैले रहने के कारण इन स्रोतों को आन्त्र स्रोत (Uriniferous of convoluted tubules) कहते हैं।

रक्तसंवहन :—प्रत्येक उत्सिका से मूत्रोत्सर्गावशिष्ट रक्त उससे निकली हुई सूक्ष्मसिरा के द्वारा लौट आता है। इस प्रकार उत्सिकाओं से निकली हुई छोटी-छोटी सिरायें परस्पर मिलकर धमनी के साथ रहने वाली सिराओं में प्रविष्ट हो जाती हैं। वे भी वृक्ककेन्द्र की ओर जाने वाले मूत्रवह स्रोतों के साथ-साथ चलती हुई परस्पर एकत्रित होकर स्थूल सिराओं में परिणत हो जाती हैं और अन्त में अनुवृक्क सिराओं के द्वारा अधरा महासिरा में प्रविष्ट होती हैं।

अनुवृक्क धमनी की अन्तिम अनुशाखायें वृक्क के बहिर्वस्तु में दोनों ओर स्थित होकर उत्सिका का अपनी शाखाओं के द्वारा धारण और पोषण करती हैं। इन्हें ऋजुका धमनियाँ (Arteroe rectae) कहते हैं। उन्हीं के पार्श्व में उन्हीं के समान ऋजुका सिरायें (Venae rectae) हैं जिनमें उत्सिकाओं से निकली हुई सिरायें मिलती हैं। वृक्क रोगों के अतिरिक्त मूत्र के साथ रक्तस्थ लसीका का स्राव नहीं होता, इसका कारण उत्सिकापुटकों की आभ्यन्तरकला का विशिष्ट प्रभाव है।

गवीनी (Ureters)

ये वृक्क में निर्मित मूत्र को मूत्राशय में पहुँचानेवाली नलिकायें हैं।[1] इनकी लम्बाई १२ से १३ इञ्च तक होती है तथा नलिका का विस्तार हंस-पक्षगत नलिका के बराबर होता है। इनका शिर ऊपर की ओर वृक्कालिन्द से संलग्न है और नीचे की ओर तिरछी गति से पृष्ठवंश के सामने श्रोणिगुहा में उतर कर बस्ति के दोनों पार्श्वों में पीछे की ओर खुलती हैं।

रचना :—इसमें तीन आवरण होते हैं :—

(क) सौत्रिक (बाह्य) (ख) पेशीय (मध्यम)

(ग) श्लेष्मलकला (आभ्यन्तर)

---

१. 'यदान्त्रेषु गवीन्योर्यद् बस्तावधिसंश्रितम्।
एवा ते मूत्रम्। —अथर्ववेद १।१।३
'मूत्रवहे द्वे, तयोर्मूलं बस्तिर्मेढ्रं च। —सु० शा० ९

बस्ति (Bladder)

यह छोटे कद्दू के आकार का होता है और बस्तिगुहा में भगास्थिसन्धि के पृष्ठभाग में स्थित है। यह पुरुष में गुदनलक के आगे तथा स्त्रियों में योनि और गर्भाशय के आगे रहता है। ऊपर और पीछे की ओर इसके चौड़े भाग को शिर तथा निचले संकीर्ण भाग को ग्रीवा कहते हैं जो मूत्रप्रसेक से मिला रहता है।[1]

रचना:—यह चार स्तरों से निर्मित होता है :—

(१) स्नैहिक (Scrous) (२) पेशीय (Muscular)।

(३) उपश्लैष्मिक (Submucous or areoler)

(४) श्लैष्मिक (Mucous)

इसकी स्वतन्त्र पेशियाँ आमाशय के समान वृत्त, लम्ब तथा तिर्यक् तीनों दिशाओं में व्यवस्थित होती हैं। ग्रीवा के पास वृत्त पेशियाँ विशेषतः विकसित होती हैं जिनसे बस्तिसंकोचनी (Sphincter vesicae) का निर्माण होता है। इसकी श्लेष्मलकला गवीनी के समान ही होती है जिसमें श्लेष्मग्रन्थियाँ रहती हैं। इन ग्रन्थियों का ग्रीवा के पास बाहुल्य होता है।

वस्ति में रक्तवह तथा रसवह स्रोत एवं नाड़ियों की बहुलता होती है। यहाँ त्रिक तथा बस्तिप्रदेश में स्थित नाड़ीचक्रों की शाखायें आती हैं। नाड़ीसूत्रों के मार्ग में जहाँ तहाँ गण्डकोषाणु भी पाये जाते हैं।

मूत्रप्रसेक (Urethra)

यह मूत्रवाहिनी नलिका कलानिर्मित तथा १२ अंगुल लम्बी है और पुरुष पुरुष के बस्तिद्वार से शिश्नाग्र तक शिश्न के अधोभाग में मध्यरेखा में फैली हुई है।[2] इसके तीन भाग होते हैं।

(१) बस्तिद्वारिक (Prostatic)

(२) मूलाधारिक (Membranous) (३) शैश्निक (Penile)।

प्रथम भाग दो अंगुल लम्बा पौरुषग्रंथि के बीच में फैला हुआ है। उसके भीतर दोनों ओर शुक्रप्रसेक के छिद्र होते हैं। द्वितीय भाग मूलाधार देश में

---

१. 'अल्पमांसशोणितोऽभ्यन्तरतः कट्यां मूत्राशयो बस्तिर्नाम।'

—सु० शा० ६

'बस्तिस्तु स्थूलगुदमुष्कसेवनीशुक्रमूत्रवहानां नाडीनां मध्ये मूधाधारोऽम्बुवहानां सर्वस्रोतसामुदधिरिवापगानां प्रतिष्ठा।'—च० सि० ९

२. 'मूत्रप्रसेको नाम मूत्रं येन बस्तिमुखाश्रयेण स्रोतसा क्षरति।'

—सु० चि० ७ डल्हण

स्थित है तथा कलानिर्मित और एक अंगुल लम्बा है। वहीं पर मूत्रद्वारसंकोचनी पेशी रहती है। अन्तिम भाग शिश्न के अधोभाग में लगा रहता है और सबसे लम्बा है। यह मध्य में कुछ विस्तृत और ९ अंगुल लम्बी है। उसका मूलभाग विस्तृत गोलाकार और शिश्नमूल में रहता है। उसके बाहर दोनों ओर शिश्नमूलिक ग्रन्थियाँ रहती हैं जिनके स्रोत मूलप्रसेक के भीतर खुलते हैं। स्त्रियों का मूत्रप्रसेक २ अंगुल लम्बा होता है और उसका द्वार योनिद्वार के ऊपर आगे की ओर तथा भगशिश्निका के नीचे देखा जा सकता है।

वृक्क का कार्य

वृक्क का कार्य रक्त से मूत्र के उपादानों को पृथक् करना है जिससे रक्त का संघटन समान रूप से बना रहता है। वृक्क के कोषाणु अत्यन्त उत्तेजनाशील हैं जिससे रक्त के संघटन में स्वल्प परिवर्तन होने से भी उनके द्वारा पता चल जाता है और उसके कारण मूत्र का अधिक स्राव या उसके रासायनिक संघटन में अन्तर आ जाता है। मूत्र के कुछ उपादानों, जैसे यूरिया, का वृक्क के द्वारा पूर्णतः उत्सर्ग हो जाता है और कुछ, जैसे सामान्य लवण, प्राकृत परिमाण से अधिक होने पर त्याज्य होते हैं। फुफ्फुसों के साथ मिलकर वृक्क प्राकृत रक्तप्रतिक्रिया को भी बनाये रखते हैं।

यद्यपि वृक्क के विभिन्न भागों की क्रिया के सम्बन्ध में अनेक मतभेद हैं, तथापि वृक्क का कार्य समष्टिरूप से आसानी से समझा जा सकता है। वृक्क में एक प्रकार का द्रव (धमनीरक्त) प्रविष्ट होता है और दो प्रकार के द्रव (सिरारक्त और मूत्र) उससे बाहर निकलते हैं ये दोनों द्रव धमनीरक्त से संघटन में भी भिन्न होते हैं। निम्नांकित तालिका में धमनीरक्त तथा मूत्र के प्रमुख अवयवों की तुलना की गई है :—

	धमनीरक्त		मूत्र	
कुल ठोस पदार्थ	१०	प्रतिशत	४	प्रतिशत
मांसतत्त्व	७.५ से ८	,,	०	,,
सामान्य लवण	०.८	,,	१.२	,,
यूरिया	०.०३	,,	२.०	,,
शर्करा	०.१५	,,	०	,,
मूत्राम्ल	०.००३	,,	०.०५	,,
हिप्प्यूरिक अम्ल	०	,,	०.०७	,,
क्रियेटिनीन	०.००१	,,	०.०९	,,

ऐसी स्थिति में यह स्पष्ट है कि किसी द्रव पदार्थ को दो अन्य द्रव पदार्थों में, जिनका संघटन भिन्न है, बिना किसी बाह्य शक्ति के परिणत करना सम्भव नहीं। अन्य स्रावक ग्रन्थियों के समान वृक्क में यह शक्ति उसके कोषाणुओं तथा धमनीरक्त के दबाव से आती है। इस प्रकार मूत्रस्राव वृक्क के कार्य का परिणाम है। शक्ति का उपयोग ज्वलन के द्वारा होता है और ज्वलन के लिए ओषजन की आवश्यकता होती है। अतः स्वस्थ वृक्क के लिए ओषजन की उचित प्राप्ति अर्थात् रक्त का समुचित संवहन आवश्यक है। इसीलिए हृद्रोगों के उपद्रव स्वरूप भी वृक्क रोगों की उत्पत्ति होती है। इन वैकृत अवस्थाओं में वृक्क का कार्यभार कम करने के लिए त्वचा को स्वेदन के द्वारा उत्तेजित किया जाता है जिससे कुछ मलोत्सर्ग का कार्य त्वचा के द्वारा भी सम्पन्न होता है और वृक्क को थोड़ा विश्राम मिलता है।

मूत्रनिर्माण की प्रक्रिया

इसके सम्बन्ध में तीन मुख्य सिद्धान्त प्रचलित हैं :—

(१) लुडविग का भौतिक या यान्त्रिक सिद्धान्त।

(२) बोमेन या हिडेनहेन का शारीर या धातवीय सिद्धान्त।

(३) कुशनी का शोषण सिद्धान्त।

(१) लुडविग का भौतिक सिद्धान्त—कार्ल लुडविग (१८४४) के भौतिक सिद्धान्त के अनुसार मूत्र के सभी अवयव यथा जल, सेन्द्रिय घटक तथा निरिन्द्रिय लवण मूत्रोत्सिका में निस्यन्दन और प्रसरण की सामान्य भौतिक विधियों से उत्पन्न होते हैं। मूत्र के विविध उपादान मूत्रोत्सिका-पुटक के रक्त में पाये जाते हैं और प्रादुर्भूत मूत्र पहले अत्यन्त पतला होता है। इसके अनन्तर मूत्रवहस्रोतों में आगे बढ़ने पर उसके अनेक घटक तथा अधिकांश जल पुनः शोषित हो जाते हैं और इस प्रकार इन पदार्थों का प्रतिशत परिमाण बढ़ने से मूत्र गाढ़ा हो जाता है। दूसरे शब्दों में, स्राव मूत्रोत्सिका के कोषाणुओं का तथा शोषण मूत्रवह स्रोतों का कार्य है।[१]

---

१. नाभिपृष्ठकटीमुष्कगुदवंक्षणशेफसाम्।
एकद्वारस्तनुत्वक्को मध्ये बस्तिरधोमुखः॥
बस्तिर्बस्तिशिरश्चैव पौरुषं वृषणौ गुदम्।
एकसंबन्धिनो ह्येते गुदास्थिविवरस्थिताः॥
अलाब्वा इव रूपेण सिरास्नायुपरिग्रहः।
मूत्राशयो मलाधारः प्राणायतनमुत्तमम्॥
पक्वाशयगतास्तत्र नाड्यो मूत्रवहास्तु याः।

मूत्रवहस्रोतों में पुनः शोषण के प्रमाण

इसमें रिचार्ड्स और वर्न की विधि द्वारा मूत्रोत्सिकास्रुत मूत्र जो मूत्रोत्सिका में संचित होता है प्राप्त किया जाता है और उसकी परीक्षा की जाती है। मूत्रोत्सिका-पुटक में एक पिपेट को प्रविष्ट किया जाता है और वहाँ स्थित मूत्र को उसके द्वारा खींच कर देखा जाता है।

(१) यह देखा गया है कि एक भूखे कुत्ते के मूत्राशय में सञ्चित मूत्र क्लोराइड से रहित था जब कि मूत्रोत्सिका में उत्पन्न तथा उपर्युक्त विधि द्वारा प्राप्त मूत्र में क्लोराइड की वही मात्रा मिली जो स्वभावतः रक्त में उपस्थित रहती हैं। इस प्रकार मूत्रवह स्रोतों के द्वारा पुनःशोषण सिद्ध हो चुका है।

(२) यह भी देखा गया है कि मूत्रवह स्रोतों के कोषाणु पोटाशियम सायनाइड के तनु विलयन के प्रविष्ट करने से क्रियाहीन हो जाते हैं। इस प्रकार मूत्रवह स्रोतों के कोषाणुओं को निष्क्रिय बना देने के बाद उसके बस्ति में एकत्रित मूत्र का संघटन मूत्रोत्सिका में निर्मित मूत्र के समान ही पाया गया।

(३) पीयूषीन का अन्तःक्षेप करने पर मूत्र का स्राव कम हो जाता है। इसका कारण यह बतलाया गया है कि पीयूषीन मूत्रवह स्रोतों के कोषाणुओं को उत्तेजित करता है जिससे जल का अधिक शोषण होने लगता है और इस लिए मूत्र गाढ़ा और मात्रा में कम हो जाता है इसके अतिरिक्त क्लोराइड तथा अन्य लवणों का शोषण कम होने लगता है जिससे मूत्र में अपेक्षाकृत क्लोराइड की अधिकता हो जाती है।

(२) बोमेन–हिडेनहेन का सिद्धान्त—बोमेन (१८४२) के शारीर-सिद्धान्त के अनुसार जो बाद में हिडेनहेन के प्रायोगिक कार्यों से समर्थित हुआ था, निम्नांकित तथ्यों का अनुसन्धान हुआ :—

तर्पयन्ति सदा मूत्रं सरितः सागरं यथा ॥
सूक्ष्मत्वान्नोपलभ्यन्ते मुखान्यासां सहस्रशः ।
नाडीभिरुपनीतस्य मुखस्यामाशयान्तरात् ॥
जाग्रतः स्वपतश्चैव स निःस्यन्देन पूर्यते ।
आमुखात् सलिले न्यस्तः पार्श्वेभ्यः पूर्यते नवः ॥
घटो यथा तथा विद्धि बस्तिर्मूत्रेण पूर्यते । —सु० नि० ३
'आहारस्य रसः सारः सारहीनो मलद्रवः ।
शिराभिस्तज्जलं नीतं बस्तौ मूत्रत्वमाप्नुयात् ॥ —शा० पू०

(१) मूत्रोत्सिका–पुटक में भौतिक तथा शारीर दोनों प्रक्रियाओं के सम्मिश्रण से मूत्र के अधिकांश निरिन्द्रिय लवण तथा जल परिस्रुत होते हैं। सारांशतः यहाँ पर भौतिक प्रक्रियायें मूत्रवह स्रोतों के कोषाणुओं की शारीर-क्रियाओं से अत्यधिक परिवर्तित हो जाती हैं अतः मूत्रनिर्माण में दोनों का सम्मिलित प्रभाव देखा जाता है।

(२) मूत्र के सभी सेन्द्रिय उपादान तथा कुछ निरिन्द्रिय उपादान मूत्रवह स्रोतों के कुण्डलाकार तथा वक्र भागों में परिस्रुत होते हैं जिसका कारण स्रोतों के इन भागों में स्थित कोषाणुओं की शारीर क्रियायें बतलाई जाती हैं।

अतः इस सिद्धान्त के अनुसार वृक्क में दो विभिन्न प्रतिक्रियायें होती हैं—

(१) इस मूत्रोत्सिकापुटक में जल तथा निरिन्द्रिय लवणों का निस्यन्दन होता है।

(२) मूत्रवह स्रोतों में सेन्द्रिय उपादानों का स्राव होता है। इसके पक्ष में निम्नांकित प्रमाण दिये जाते हैं :—

(क) मेढक के वृक्कों में :—

(१) मेढक में वृक्कधमनी के अतिरिक्त वृक्कप्रतीहारिणी सिरा भी होती है जो केवल मूत्रवह स्रोतों के कुण्डलिका भागों में रक्त प्रदान करती है। नसबौम (१८७८) नामक विद्वान् ने दिखलाया कि यदि वृक्कधमनी को बाँध दिया जाय तो मूत्रस्राव एकदम रुक जाता है यद्यपि कुण्डलिकाभागों में वृक्कप्रतीहारिणी सिरा द्वारा रक्त पहुँचता रहता है।

(२) यदि वृक्कधमनी को बांधकर जल, लवणों, शर्करा या मांसतत्त्वसार का वृक्कप्रतीहारिणी सिरा में अन्तःक्षेप किया जाय तो मूत्रस्राव नहीं होगा।

(३) किन्तु यदि उसमें यूरिया, मूत्राम्ल या अन्य सेन्द्रिय उपादानों का अन्तःक्षेप किया जाय तो उसमें थोड़ा मूत्र का स्राव होता है जिसमें यूरिया आदि अन्तःक्षिप्त पदार्थों का आधिक्य देखा जाता है। इससे सिद्ध है कि यूरिया मूत्रवह स्रोतों के आवरक कोषाणुओं की क्रियाशीलता को उत्तेजित करता है।

उपर्युक्त तीनों प्रयोगों से यह सिद्ध है कि—

(१) मूत्रोत्सिकापुटक में रक्तसंवहन अवरुद्ध हो जाने से जल का स्राव बिलकुल बन्द हो जाता है, और जल, लवणों, शर्करा तथा मांसतत्त्वसार का निर्हरण मूत्रोत्सिका द्वारा होता है।

(२) यूरिया, मूत्राम्ल आदि सेन्द्रिय अवयव मूत्रवह स्रोत के कुंडलिका भागों में कोषाणुओं से स्रुत होते हैं।

(ख) पक्षी के वृक्क में :—

पक्षी के मूत्र में मूत्राम्ल अधिक परिमाण में होता है और गवीनियों को बाँध देने पर यूरेट केवल मूत्रवह स्रोत के कुण्डलिकाभागों के स्तम्भाकार कोषाणुओं में पाये जाते हैं न कि मूत्रोत्सिकापुटक में।

(ग) स्तनधारी जीवों के वृक्क में :—

यदि कोई रञ्जक द्रव्य (सोडियम सल्फिन्डिगोडट या इण्डिग कार्मिन) स्तनधारी जीवों में प्रविष्ट किया जाय तो उसका उत्सर्ग वृक्ककोषाणुओं द्वारा होता है। हिडेनहेन के प्रयोग द्वारा यह प्रदर्शित किया कि यदि वृक्क के एक भाग की सूक्ष्मदर्शक यन्त्र से परीक्षा की जाय तो ये रञ्जक द्रव्य केवल कुंडलिकाभागों के स्तम्भाकार कोषाणुओं में देखे जाते हैं न कि मूत्रोत्सिकापुटक के चपटे कोषाणुओं में। मूत्रवह स्रोत की नलिका में भी मूत्रोत्सिकाभाग में स्राव रंगहीन तथा कुण्डलिकाभागों में रञ्जित दिखलाई देते हैं।

मूत्रोत्सिका में निस्यन्दन के प्रमाण

मूत्रोत्सिका में स्राव निस्यन्दन विधि से होता है, यह निम्नांकित प्रमाणों से सिद्ध होता है :—

(१) मूत्रोत्सिकापुटक की सूक्ष्म रचना इसके पक्ष में है क्योंकि उनमें स्थित चपटे कोषाणु निस्यन्दन की भौतिक प्रक्रिया के अत्यधिक उपयुक्त है।

(२) यदि वृक्कनाड़ियों को विच्छिन्न कर वृक्क की सूक्ष्म धमनियों का रक्तभार बढ़ा दिया जाय तो मूत्रनिर्माण अधिक होने लगता है।

(३) यदि उनका रक्तभार कम कर दिया जाय तो मूत्र का स्राव कम हो जाता है।

(४) शीत से त्वचा की रक्तवाहिनियों का संकोच हो जाता है और उसके परिणाम स्वरूप वृक्क की रक्तवाहिनियों में प्रसार एवं रक्तभार बढ़ जाता है, अतः मूत्र का निर्माण अधिक होने लगता है।

(५) यदि रिंगर के द्रव का रक्तसंवहन में अन्तःक्षेप किया जाय तो मूत्र अत्यधिक परिमाण में निकलता है और उसका संघटन प्रायः उस द्रव के समान ही होता है। इससे स्पष्ट है कि अन्तःक्षिप्त द्रव का मूत्रोत्सिका में केवल निस्यन्दन होता है।

मूत्रोत्सिका-कोषाणुओं की धातवीय शारीरक्रियाओं के प्रमाण

मूत्रोत्सिका के कोषाणु अधिकांशतः भौतिक प्रक्रियाओं को प्रभावित करते हैं, इसके निम्नांकित प्रमाण हैं :—

(१) वृक्कसिरा को बाँध देने से जब वृक्कगत केशिकाओं का दबाव अत्यधिक बढ़ जाता है तब निस्यन्दन के अनुकूल स्थिति रहने पर भी मूत्रस्राव बढ़ने के बदले घट जाता है।

(२) यदि वृक्कधमनी को केवल १० सेकण्ड के लिए बाँध दिया जाय तो मूत्रस्राव उतने ही काल के लिए नहीं रुकता, बल्कि लगभग २ घण्टों तक रुका रहता है।

उपर्युक्त प्रमाणों की व्याख्या करने से स्पष्ट होता है कि मूत्रस्राव रक्तभार पर निर्भर नहीं है, बल्कि रक्त के परिमाण फलतः रक्त में प्रवाहित ओषजन की मात्रा पर निर्भर है। वृक्कसिरा को बाँध देने से वृक्कों का रक्तप्रवाह रुक जाता है अतः वृक्ककोषाणुओं का कार्य बन्द हो जाता है। दूसरी ओर, वृक्कधमनी को केवल १० सेकन्ड के लिए भी बाँध देने से वृक्ककोषाणु इतने विकृत हो जाते हैं कि क्षतिपूर्ति में कुछ समय लग जाता है अतः मूत्रस्राव लगभग २ घण्टों तक बन्द रह जाता है। इस प्रकार वृक्कों में अतिशीघ्र श्वासावरोध (ओषजनाल्पता) की स्थिति उत्पन्न हो जाती है।

(३) वृक्क अत्यधिक उत्तेजनाशील हैं, ओपजन की कमी को सहन नहीं कर सकते। अतः वृक्कों में स्वल्प ओषजनयुक्त रक्त के प्रवाहित होने पर मूत्र की मात्रा कम हो जाती है या एकदम बन्द हो जाती है।

(४) तीव्र वृक्कशोथ में मूत्रोत्सिका-कोषाणुओं के शोथयुक्त तथा क्षत होने पर अलब्यूमिन तथा रक्तकोषाणु भी मूत्रोत्सिकापुटक में चले जाते हैं और मूत्र में पाये जाते हैं।

(५) यदि रक्तसंवहन में सोडियम सलफेट का अन्तःक्षेप किया जाय तो ओषजन का शरीर में उपयोग अधिक होने से मूत्र का परिमाण बढ़ जाता है।

(६) सोडियम सलफेट के अन्तःक्षेप से मूत्र का प्रवाह बढ़ जाता है, जिसमें सोडियम सलफेट की मात्रा अधिक होती है तथा क्लोराइड का उत्सर्ग कम होता है। दूसरा अर्थ यह है कि वृक्ककोषाणु विशिष्ट क्रिया से सलफेट का स्राव करते हैं तथा क्लोराइड को रोक लेते हैं।

(७) गवीनियों को कुछ संकुचित कर देने पर मूत्रवह स्रोतों का दबाव बढ़ जाता है फलतः मूत्र का स्राव भी बढ़ जाता है। यदि एक गवीनी को बाँध दिया जाय और सोडियम सलफेट का उसी समय अन्तःक्षेप किया जाय तो जिस ओर बन्धन के कारण मूत्रवह स्रोतों में दबाव बढ़ा है उस ओर के वृक्क से मूत्र का स्राव अधिक होता है। इसका कारण यह है कि कुछ बाधा होने पर शारीर क्रियायें बढ़ जाती हैं। यदि स्राव केवल निस्यन्दन के कारण होता तो मूत्रवह स्रोतों में दबाव बढ़ जाने के कारण मूत्रस्राव कम हो जाता।

(८) मूत्र का व्यापनभार रक्त की अपेक्षा अत्यधिक है। इसका अर्थ यह है कि वृक्क के मूत्रनिर्माण कार्य में अवश्य कुछ शक्ति नष्ट होती है और इस कार्य का परिमाण व्यापनभार के अन्तर से निश्चित किया जा सकता है।

इससे स्पष्ट है कि मूत्रस्राव एक विशुद्ध निस्यन्दन प्रक्रिया नहीं है, बल्कि कोषाणुओं की धातवीय क्रिया का परिणाम है।

मूत्रवह स्रोतों के कोषाणुओं की धातवीय क्रिया

मूत्रवह स्रोतों में स्राव केवल धातवीय शारीर क्रियाओं से उत्पन्न होता है। इसके पक्ष में निम्नांकित प्रमाण हैं :—

(१) मूत्रवह स्रोतों की सूक्ष्म रचना (स्थूल स्तम्भाकार कोषाणु रेखांकित ओजःसार से युक्त) निस्यन्दन के लिए अनुकूल नहीं है, अपितु धातवीय शारीर क्रियाओं के अनुकूल है।

(२) शक्ति के उपयोग में ओषजन अनिवार्यतः आवश्यक है और इस लिए शारीर क्रियाओं के बढ़ने से मूत्रवह स्रोतों की क्रिया भी बढ़ जाती है। जितना ही मूत्र का परिमाण अधिक होगा ओषजन का उतना ही उपयोग हुआ तथा कार्बन द्विओषिद् की उतनी ही उत्पत्ति हुई, यह समझना चाहिये।

वृक्कों के द्वारा ओषजन का उपयोग हृदय के समान ही अत्यधिक होता है। इसीलिए वृक्कों में रक्त भी अधिक मात्रा में पहुँचता रहता है। यह अनुमान किया गया है कि मनुष्य के वृक्कों में प्रतिदिन ५०० से १००० लिटर रक्त का आयात-निर्यात होता है।

(३) मूत्र के अम्लपदार्थ मूत्रवह स्रोतों के कुण्डलिका भागों में हीउत्सृष्ट होते हैं, अतः किसी अम्ल द्रव्य का अन्तःक्षेप करने पर यदि वृक्क की परीक्षा की जाय तो उसके कुण्डलाकृति स्रोतों के कोषाणु रक्तवर्ण मिलते हैं तथा पुटक भाग वर्णहीन होता है। यह स्रोतों के कोषाणुओं की विशिष्ट स्रावक क्रिया का निदर्शक है।

(४) वृक्क कोषाणुओं के द्वारा सेन्द्रिय फास्फेटों से हिप्यूरिक अम्ल, अमोनिया तथा एसिड सोडियम का निर्माण भी उनकी धातवीय क्रिया का प्रबल प्रमाण है।

कुशनी का शोषण सिद्धान्त

मूत्रोत्पति के सम्बन्ध में एक आधुनिक सिद्धान्त कुशनी (१९१७) ने प्रचलित किया। यह सिद्धान्त लुडविग के भौतिक सिद्धान्त के समान ही है किन्तु दोनों में अन्तर यही है कि कुशनी के मत में मूत्रवह स्रोतों में जो पुनः शोषण होता है वह सामान्य न होकर सापेक्ष या विशिष्ट (Differential or Selective) होता है, जिससे मूत्र के कुछ अवयव अधिक तथा कुछ कम परिमाण में शोषित होते हैं। इस प्रकार यह केवल एक भौतिक सिद्धान्त

ही नहीं है, बल्कि इसके द्वारा मूत्रवह स्रोतों के कोषाणुओं की धातवीय क्रिया भी सिद्ध होती है।

इस मत के अनुसार यूरिया या मूत्र के सभी अवयवों का स्राव मूत्रवह स्रोतों में नहीं होता, बल्कि मूत्र के सभी अवयव मूत्रोत्सिका-पुटक में ही बनते हैं और उनका परिमाण भी वही होता है जिस परिमाण में वे रक्तमस्तु में रहते हैं। इस प्रकार मूत्रोत्सिका से निस्यन्दित पदार्थ और कुछ नहीं होता बल्कि वह रक्तमस्तु ही है जिससे मांसतत्त्व का भाग पृथक् हो जाता है। इसकी प्रतिक्रिया भी रक्त के समान ही क्षारीय होती है न कि बहिर्निःसृत मूत्र के समान अम्ल। जल का पुनःशोषण इतना अधिक हो जाता है कि मूत्रोत्सिका से निस्यन्दित द्रव का $\frac{1}{200}$ ही बाहर मूत्र के रूप में निकलता है। मांसतत्त्व सामान्यतः निस्यन्दित नहीं होते, क्योंकि प्राकृतिक वृक्ककोषाणु पिच्छिल द्रव्यों यथा रक्तगत मांसतत्त्वों के लिए अप्रवेश्य होते हैं। इसका प्रमाण यह भी है कि यदि अन्य पिच्छिल द्रव्य यथा बबूल की गोंद का शरीर में अन्तःक्षेप किया जाय तो उसका उत्सर्ग मूत्र में नहीं होता।

मूत्रोत्सिका में निर्मित मूत्र के अवयवों को कुशनी ने दो वर्गों में विभाजित कर दिया है :—

(१) उपादेय द्रव्य (Threshold substances)—ऐसे द्रव्य जो शरीर की क्रिया के लिए उपादेय हों तथा शर्करा, क्लोराइड आदि।

(२) अनुपादेय द्रव्य (Non-threshold substances) :—ऐसे द्रव्य जो शरीर के लिए उपयोगी नहीं, फलतः त्याज्य हैं, यथा यूरिया, सलफेट आदि।

मूत्रवह स्रोतों के कोषाणुओं की विशिष्ट या धातवीय क्रिया से मूत्र के विविध उपादानों का विभिन्न रूप से शोषण होता है। उपादेय द्रव्य जो रक्त के प्राकृत अवयव हैं पुनःशोषित होकर रक्त में लौट जाते हैं। उनका उत्सर्ग केवल उसी अवस्था में होता है जब रक्त में उनकी उपस्थिति प्राकृत परिमाण से अधिक होती है। यथा सत्त्वशर्करा ०·१८ प्रतिशत से अधिक होने पर ही मूत्र में आने लगती है। उपादेय द्रव्यों का पुनः शोषण मूत्रवह स्रोत के प्रत्येक भाग में समान रूप से नहीं होता। सत्त्वशर्करा का पुनः शोषण मूत्रवह स्रोत के आद्य भाग में अधिक होता है तथा क्लोराइड का अन्त्य भाग में अधिक होता है। अनुपादेय द्रव्य शोषित नहीं होते, बल्कि पूर्णतः उत्सृष्ट हो जाते हैं और मूत्रवह स्रोतों में कुछ जल का पुनःशोषण हो जाने के कारण ये अधिक सान्द्र रूप में उपस्थित होते हैं।

यदि रक्त और मूत्र के विविध उपादानों की सान्द्रता की तुलना की जाय तो पता चलेगा कि उपादेय द्रव्यों यथा क्लोराइड, सोडियम, खटिक तथा मैगनीशियम की सांद्रता प्रायः समान है और अनुपादेय द्रव्यों यथा यूरिया, क्रियेटिन, सलफेट, फास्फेट आदि की सान्द्रता रक्त की अपेक्षा मूत्र में अधिक है। समान मात्रा के रक्त की अपेक्षा मूत्र में यूरिया ६० गुना, मूत्राम्ल २५ गुना, क्रियेटिनिन १०० गुना, फास्फेट ३० गुना तथा सलफेट ६० गुना पाया जाता है। सान्द्रता की इस विभिन्नता से कुशनी इस निर्णय पर पहुँचे कि १ लिटर मूत्र की उत्पत्ति के लिए ९० लिटर रक्तमस्तु का निस्यन्दन मूत्रोत्सिका से होना चाहिये।

स्टार्लिंग और वर्न ने अपने प्रयोगों द्वारा यह सिद्ध किया है कि जब मूत्रवह स्रोतगत आवरक धातु की क्रिया सायनाइड विषों के द्वारा विकृत हो जाती है, तब मूत्र में यूरिया और सलफेट का परिमाण कम तथा क्लोराइड का अधिक हो जाता है। इसका कारण यह है कि विष के कारण मूत्रवह स्रोतों के आवरक कोषाणुओं की स्रावक शक्ति कम हो जाती है, अतः यूरिया और सलफेट का स्राव कम हो जाता है तथा क्लोराइड का पुनः शोषण भी कम हो जाता है।

यह भी देखा गया है कि मूत्रवह स्रोतों पर शीत का प्रभाव भी विष के समान ही होता है। वृक्कों को १३ डिग्री सेण्टीग्रेड के नीचे तक ठण्डा कर देने से रक्तप्रवाह कम होने पर भी मूत्र की मात्रा बढ़ जाती है। ऐसी अवस्था में मूत्र का संघटन केवल मांसतत्त्व छोड़ कर रक्त के समान ही होता है। इससे यह स्पष्ट है कि शीत के द्वारा मूत्रवह-स्रोतों की क्रिया बाधित हो जाती है जिससे जल तथा उपादेय द्रव्यों का शोषण नहीं होने पाता।

वृक्ककार्य का नियन्त्रण

यद्यपि इस विषय में अभी बहुत कम तथ्यों का पता लग सका है तथापि यह समझा जाता है कि वृक्कजन्य मूत्रस्राव का नियन्त्रण नाड़ीसंस्थान के द्वारा होता है। वृक्क से सम्बद्ध नाड़ियाँ दोनों पार्श्वों में स्थित वृक्क-नाड़ीचक्र से आती हैं। वृक्क-नाड़ीचक्र में मेदस तथा अमेदस दोनों प्रकार के नाड़ीसूत्र होते हैं और गण्डकोषाणुओं के समूह भी पाये जाते है। इस नाड़ीचक्र में ११ वीं, १२ वीं तथा १३ वीं वक्षीय नाडियों के पूर्वमूल से सूत्र भी आते हैं जो रक्तवाहिनियों का संकोच और प्रसार करते हैं। प्राणदा नाड़ी की शाखायें भी वृक्क-नाड़ीचक्र में आती हैं। अभी तक वास्तविक स्रावक नाडियों का सम्बन्ध वृक्क में नहीं देखा गया है तथापि मूत्र के परिमाण पर

केशिकाओं के रक्तभार का कुछ हद तक प्रभाव पड़ता है, किन्तु इस सम्बन्ध में यह बात ध्यान में रखनी चाहिये कि केवल रक्तभार की उच्चता पर ही मूत्र का परिमाण निर्भर नहीं है, बल्कि रक्त के प्रवाह पर भी निर्भर है। उदाहरणतः यदि वृक्कसिरा को बाँध दिया जाय तो रक्तभार तो बढ़ जायगा, किन्तु रक्तप्रवाह कम होने से मूत्रस्राव बन्द हो जायगा। व्यायाम से मूत्र कम हो जाता है तथा उदर्य नाड़ियों की उत्तेजना से मूत्र का प्रवाह कम हो जाता है, इससे स्पष्ट है कि सांवेदनिक नाड़ियों की उत्तेजना से वृक्क की क्रियायें कम हो जाती हैं। इसके अतिरिक्त, जलांश के उत्सर्ग के लिए वृक्क और त्वचा का पारस्परिक नियन्त्रण अवश्य प्रतीत होता है, किन्तु यह कहाँ तक रक्त की सान्द्रता पर निर्भर है, यह कहना कठिन है।

वृक्क के स्राव से पीयूषग्रन्थि का भी सम्बन्ध है, क्योंकि उसके पश्चिम खण्ड के सत्व का अन्तःक्षेप करने से मूत्रप्रवाह कम हो जाता है और इसीलिए इसका उदकमेह में औषध के रूप में उपयोग किया जाता है। कुछ विद्वानों ने यह भी बतलाया है कि पीयूषग्रन्थि क्लोराइड के उत्सर्ग का नियंत्रण करती है और इस प्रकार परोक्ष रूप से मूत्रनिर्हरण पर प्रभाव डालती है।

वृक्क की कार्यक्षमता

वृक्क की कार्यक्षमता का निर्णय यूरिया के केन्द्रीकरण की शक्ति से किया जाता है। इसी प्रकार रञ्जकद्रव्यों के निर्हरण की शक्ति से भी इसका अनुमान किया जाता है। रञ्जकद्रव्य का सिरा में अन्तःक्षेप किया जाता है और उसका ७० प्रतिशत प्रायः दो घण्टों में बाहर निकल जाता है।

मूत्र का बस्ति में प्रवेश

जैसे-जैसे मूत्र का स्राव होता है, अग्रवर्ती मूत्र वृक्कालिन्द की ओर बढ़ता जाता है जहाँ से गवीनी के द्वारा वह बस्ति में पहुँचता है। मूत्र की गति का क्रम और प्रकार बस्तिदर्शक यन्त्र से देखा गया है। मूत्र किसी नियमित गति से बस्ति में प्रविष्ट नहीं होता और न दोनों गवीनियों में ही समान रूप से प्रवाह होने का नियम है। उपवासकाल में, प्रतिमिनट २ या ३ बूँद मूत्र बस्ति में आता है। प्रत्येक बिन्दु गवीनी द्वार से बस्ति में चला जाता है और उसके बाद द्वार तुरन्त बन्द हो जाता है। मूत्र की गति में गवीनियों के परिसरण संकोच से सहायता मिलती है और वह दीर्घ श्वास, प्रवाहण, व्यायाम तथा भोजन के बाद १५–२० मिनटों तक बढ़ जाती है। गवीनियों के बस्ति से विशिष्ट संबन्ध के कारण मूत्र पुनः गवीनी में नहीं लौट पाता।

मूत्रत्याग (Micturition)

मूत्रत्याग अपान वायु के द्वारा होता है।

मूत्रत्याग की प्रक्रिया नाडीजन्य होती है। नाडीसम्बन्ध के निम्नांकित भाग होते हैं :—

(१) संज्ञावह नाडियाँ—यह बस्ति से प्रारम्भ होकर द्वितीय और तृतीय त्रिकनाडियों के पश्चिम मूलों के द्वारा सुषुम्नाकाण्ड में पहुँचती हैं।

(२) केन्द्र—यह निम्नकटिप्रदेश में स्थित है।

(३) दो चेष्टावह नाड़ियाँ—बस्तिसंकोचनी अधिबस्तिकी नाड़ी (Nervi erigens) तथा बस्तिप्रसारणी संवाहिनी नाड़ियाँ (Hypogastric nerves)

संज्ञावह नाड़ियाँ

(१) जब क्रमशः बस्ति मूत्र से पूर्ण हो जाता है तब उसकी पेशियाँ फैल जाती हैं और इस प्रसार से संज्ञावह नाड़ियों के द्वारा उत्तेजना बाहर जाती है। बस्तिगत मूत्र के दबाव में सहसा वृद्धि होने से क्रमिक वृद्धि की अपेक्षा केन्द्र पर अधिक प्रभाव पड़ता है। सामान्यतः बस्तिगत दबाव १६० मिलीमीटर (जल) के बराबर हो जाता है तब प्रबल उत्तेजना केन्द्र में जाती है और मूत्रत्याग होने लगता है।

(२) मूत्रप्रसेक में स्थित मूत्रबिन्दु या अन्य किसी कारण से मूत्रप्रसेकगत नाड़ियों की उत्तेजना होती है और वहाँ से वह केन्द्र में पहुँच जाती है। अतः एक बार जब मूत्रत्याग प्रारम्भ हो जाता है तब बिना पूर्ण हुये वह रुकता नहीं।

(३) कृमि आदि से अन्त्र की उत्तेजना से भी केन्द्र उत्तेजित हो जाता है।

चेष्टावह नाड़ियाँ

बस्ति की चेष्टावह नाड़ियाँ सांवेदनिक और प्रसांवेदनिक दोनों संस्थानों से आती हैं।

सांवेदनिक सूत्र उर्ध्वकटिमूलों से उत्पन्न होते हैं और अधः मध्यान्त्रिक गण्ड में समाप्त हो जाते हैं। वहाँ से धूसर सूत्र उत्पन्न होकर संवाहिनी नाड़ियाँ (Hypogastric nerves) बनाते हैं जो बस्ति के आधार में स्थित एक नाड़ीचक्र में समाप्त हो जाती है। प्रसांवेदनिक सूत्र द्वितीय तथा तृतीय त्रिकमूलों में उत्पन्न होकर बस्ति की दीवाल में स्थित एक गण्ड में समाप्त हो जाते हैं। मूत्रप्रसेक की संकोचनी पेशियों का नियन्त्रण गुदोपस्थिका नाड़ी (Pudic nerve) के द्वारा होता है जिनका उद्गम द्वितीय, तृतीय तथा चतुर्थ त्रिकमूलों से होता है।

जब कभी अधिबस्तिकी (बस्तिसंकोचनी) नाड़ियों के द्वारा चेष्टा का

वेग बस्ति में आता है तब बस्ति की पेशियों का संकोच तथा मूत्र प्रसेक संकोचनी का प्रसार हो जाता है और मूत्र बाहर निकल जाता है। इसके विपरीत, बस्ति नाड़ियों के द्वारा बस्ति की पेशियों का प्रसार तथा मूत्रप्रसेक संकोचनी का संकोच हो जाता है जिससे मूत्र बस्ति में रुका रहता है।

केन्द्र

बस्ति तथा मूत्रप्रसेक से उत्तेजना ग्रहण करने के अतिरिक्त यह केन्द्र उच्चतर केन्द्रों के नियन्त्रण में रहता है। शिशुओं में यह केन्द्र उच्चतर केन्द्रों के नियन्त्रण में नहीं होता, अतः जब थोड़ा-सा भी मूत्र बस्ति में संचित होता है तब उसके दबाव से संज्ञावह नाड़ियों के द्वारा केन्द्र में उत्तेजना पहुँचती है और केन्द्र बस्तिसंकोचनी नाड़ियों द्वारा चेष्टावह वेग प्रेरित करता है जिससे मूत्रत्याग होने लगता है। इस प्रकार यह प्रत्यावर्तित क्रिया पूर्ण स्वतन्त्र रूप से होती है। युवा व्यक्तियों में यह प्रत्यावर्तित क्रिया परतन्त्र नियन्त्रण में रहती है अतः मूत्रत्याग के लिए केन्द्र में संज्ञावह नाड़ियों के द्वारा वेग पहुँचने पर भी बस्तिनाड़ियों की क्रिया द्वारा मूत्रप्रसेक का संकोच होने से मूत्र बस्ति में रुका रहता है। इसी समय मूलाधार की पेशियाँ सिकुड़ती हैं जो मूत्रप्रसेक को बन्द रखती हैं। केन्द्र का यह परतन्त्र नियन्त्रण केन्द्र के ऊपर सुषुम्नाकाण्ड का आघात या छेद होने से नष्ट हो जाता है।

इस प्रकार मूत्रत्याग सिद्धान्ततः एक प्रत्यावर्तित क्रिया होने पर भी व्यवहारतः परतन्त्र क्रिया है और उदर की परतन्त्र पेशियाँ बस्ति पर दबाव डाल कर उसके रिक्त होने में सहायता करती हैं। परतन्त्र मूत्रत्याग में निम्न क्रिया होती है :—

मूत्रत्याग की इच्छा से उदर्य पेशियों का संकोच होता है और इस प्रकार बस्ति पर दबाव बढ़ जाने से प्रत्यावर्तित क्रिया होती है। यह भी संभव है कि मूत्रत्याग की इच्छा मात्र से बस्तिकेन्द्र पर प्रभाव पड़ता हो और उसे उत्तेजित कर देता हो। इसके अतिरिक्त, मूत्रप्रसेक में मूत्रबिन्दु के प्रविष्ट होते ही मूत्रत्याग की इच्छा प्रबल हो जाती है।

यदि मूत्रत्याग अधिक बार हो तो उसके कारण निम्नांकित हो सकते हैं :—

(१) प्रान्तीय :—बस्तिशोथ में जब कि बस्ति अत्यन्त उत्तेजनाशील हो जाता है और मूत्र के दबाव को सहन नहीं कर सकता।

(२) केन्द्रीय :—यथा भय और आवेश में जब कि बस्तिकेन्द्र की उत्ते-जनीयता बढ़ जाती है।

बच्चों में जब कि केन्द्र का नियन्त्रण पूर्णतः विकसित नहीं होता अनेक बार तथा स्वतन्त्र रूप से मूत्रत्याग होता है।

मूत्र को बाहर निकालने की शक्ति में भी कभी कभी कमी दिखलाई देती है यथा पौरुषग्रन्थि की वृद्धि या मूत्रप्रसेक के संकोच के कारण मूत्रमार्ग में बाधा होने से। इसका कारण बस्तिगत पेशियों की दुर्बलता, शक्तिहीनता तथा उसका नाड़ीजन्य आघात भी होता है।

गवीनी

गवीनी के ऊर्ध्वभाग का सम्बन्ध कोष्ठीय नाड़ियों तथा अधोभाग का संबंध वस्तिनाड़ियों से है और उसमें निरन्तर संकोचतरंगें उत्पन्न होती रहती हैं। कोष्ठीय नाड़ियों की उत्तेजना से गवीनी का संकोच बढ़ जाता है। इन्हीं संकोचतरंगों के कारण वृक्कालिन्द खुला रहता है और व्यक्ति की शारीरिक स्थिति जैसी भी हो मूत्र बराबर बस्ति में जाता रहता है।

मूत्र का सामान्य स्वरूप

मात्रा :—वृक्कों का प्रधान कार्य शरीर के जलांश को सन्तुलित रखना है[1] अतः मूत्र की मात्रा शरीर में वर्तमान जल की कमी या अधिकता पर निर्भर करती है। इसके अतिरिक्त भोजन तथा रहन-सहन के अनुसार वैयक्तिक विभिन्नतायें भी पाई जाती हैं।[2] यह—

युवा व्यक्तियों में	१००० से १५०० सी. सी.
शिशुओं में	३०० सी. सी.
३ से ६ वर्ष के बालकों में	५०० सी. सी. होती है।

मूत्र की मात्रा निम्नांकित अवस्थाओं में स्वभावतः बढ़ जाती है :—

(१) शीत ऋतु (२) गुरु आहार, (३) सात्मीकरण की वृद्धि

(४) वातिक प्रकृति (५) भावावेश की अवस्था में

(६) द्रव का अधिक पान (७) मांसतत्त्व बहुल भोजन

निम्नांकित अवस्थाओं में मूत्र की मात्रा में वैकृत वृद्धि हो जाती है[3] :—

(१) इक्षुमेह (२) उदकमेह (३) ज्वरोत्तर दौर्बल्य

(४) कुछ वृक्करोग यथा जीर्ण वृक्कशोथ (५) नाड़ीसंस्थान के कुछ रोग

मूत्र की मात्रा स्वभावतः निम्नांकित अवस्थाओं में कम हो जाती है :—

(१) उष्ण ऋतु में अत्यधिक स्वेदन से

---

१. बस्तिपूरणविक्लेदकृन् मूत्रम्—सु० सू० १५।५

२. 'चत्वारो (अञ्जलयः) मूत्रस्य।'—च० शा० ७

३. सामान्यं लक्षणं तेषां प्रभूतानिलमूत्रता—या० नि०

(२) आहारसंयम (३) द्रवाहार की कमी

मूत्र की मात्रा में वैकृत कमी निम्नलिखित कारणों से होती है[1] :—

(१) तीव्र वृक्कशोथ (२) ज्वर

(३) तीव्र अतिसार या वमन (४) हृद्रोग

(५) मूत्रविषमयता (६) स्तब्धता

विशिष्ट गुरुत्व

स्वस्थ व्यक्तियों में यह १·०११ से १·०२५ तक रहता है और मूत्र की मात्रा के विपर्यस्त अनुपात में होता है। विशिष्ट गुरुत्व निम्नांकित अवस्थाओं में स्वभावतः अधिक होता है :—

(१) जलपान नहीं करने से १२ घण्टों के बाद

(२) अत्यधिक स्वेदन (३) मूत्र की मात्रा कम होने से

निम्नांकित वैकारिक अवस्थाओं में बढ़ जाता हैं :—

(१) तीव्र वृक्कशोथ (२) इक्षुमेह (१.०४० तक)

विशिष्ट गुरुत्व १·००२ तक कम हो सकता है। स्वभावतः निम्नांकित अवस्थाओं में विशिष्ट गुरुत्व कम होता है :—

(१) अधिक जल पीने से (२) मूत्र की मात्रा अधिक होने से

निम्नांकित वैकारिक अवस्थाओं में भी कमी हो जाती है :—

(१) जीर्ण वृक्कशोथ जब वृक्क की उत्सर्गशक्ति घट जाती है।

वर्ण

प्राकृत मूत्र यूरोबिलिन, यूरोएरिथ्रिन यथा मुख्यतः यूरोक्रोम की उपस्थिति के कारण लोहित-पीत वर्ण का होता हैं। इसके अतिरिक्त मूत्र में निम्नांकित वर्ण पाये जाते हैं :—

(१) वर्णहीन—अत्यधिक मात्रा में

(२) सान्द्रपीत से कपिश रक्त—सान्द्र मूत्र में

(३) श्वेताभ और दुग्धाभ—पूय या स्नेहकणों की उपस्थिति में

(४) धूमाभ या कपिश कृष्ण-रक्त की उपस्थिति में

(५) नारंग वर्ण— सैन्टोनीन

हरित, हरितनील— मेथिलिन ब्लयू

हरित, कपिशरक्त— कार्बोलिक अम्ल।

आयुर्वेद में दोषानुसार मूत्र का वर्ण निधारित किया गया है यथा, वात में

---

१. मूत्रक्षये बस्तितोदोऽल्पमूत्रता च—सु० १५।११

पाण्डुर, नील और रूक्ष, पित्त में रक्त या पीत वर्ण और कफ में सफेन, स्निग्ध और श्वेतवर्ण तथा सन्निपात में कृष्णवर्ण का मूत्र आता है। रोगानुसार भी मूत्र के वर्ण का परीक्षण किया गया है (देखें योगरत्नाकर का संबद्ध प्रकरण)।

पारदर्शकता

प्राकृत मूत्र बिलकुल साफ और पारदर्शक होता है। कुछ देर रखने पर फास्फेट के अवक्षेप से गदला हो जाता है जो अम्ल मिलाने पर दूर हो जाता है। यूरिया के विघटन से मूत्र से अमोनिया की गंध आती है और वह गन्दा हो जाता है। मूत्र की मलिनता पूय तथा अन्य वैकारिक अवस्थाओं के कारण होती है।

प्रतिक्रिया

प्राकृत मूत्र की प्रतिक्रिया अम्ल होती है जिसका कारण मूत्र में अम्ल-लवणों विशेषतः एसिड सोडियम फास्फेट की उपस्थिति है।—

मूत्र की प्रतिक्रिया में काल तथा भोजन के अनुसार परिवर्तन होता रहता है। मांसाहार से यह अम्ल हो जाता है, इसका कारण यह है कि मांस के गन्धक और स्फुरक ओषजनीकरण से गन्धकाम्ल एवं स्फुरकाम्ल में परिणत हो जाते हैं। उसके विपरीत, शाकाहार से मूत्र की प्रतिक्रिया क्षारीय हो जाती है, उसका कारण यह है कि शाक के सेन्द्रिय लवण, साइट्रेट, टारट्रेट आदि ओषजनीकरण से क्षारीय कार्बोनेट में परिवर्तित हो जाते हैं। मांसाहार के बाद अम्ल का अधिक निर्हरण शरीर के लिए उपादेय है, क्योंकि यदि अम्ल शरीर में रह जाय, तो रक्त के क्षारकोष की समाप्ति हो सकती है।

जब मूत्र में पूतिभवन की क्रिया होती है तब वह अत्यन्त क्षारीय हो जाता है और उसकी गन्ध अमोनिया के समान हो जाती है। इसका कारण यूरिया का विघटन, फलतः अमोनिया कार्बोनेट की उत्पत्ति है।

मूत्र की अम्लता प्रातःकाल सर्वाधिक होती है। भोजन के कुछ घण्टों के बाद मूत्र उदासीन या क्षारीय हो जाता है। इसका कारण यह है कि भोजन के अनन्तर पाचन के निमित्त आमाशयिक रस के उदहरिताम्ल के निर्माण के लिए अधिक अम्ल का उपयोग हो जाता है और रक्त के क्षारीय अंश मूत्र में आकर उसे क्षारीय या उदासीन बना देते हैं। इसे 'क्षारीय वृद्धि' (Alkaline tide) कहते हैं। इस प्रकार वृक्क रक्त को अपनी प्रतिकिया बनाये रखने में कुछ हद तक सहायता पहुँचाते हैं। यह कार्य दो प्रकार से सम्पन्न होता है:—

(१) अम्ल-निर्हरण से तथा (२) क्षार-धारण से।

इस प्रतिक्रिया-नियामक कार्य में मूत्रवह स्रोत भाग लेते हैं, इसके निम्नाङ्कित प्रमाण हैं :—

(क) मूत्रोत्सिका में स्रुत मूत्र में सोडियम के अम्ल तथा क्षारीय फास्फेट रक्त के समान अनुपात में ही होते है, किन्तु मूत्रवह स्रोतों में जाने पर कुछ सोडियम मुक्त होने के कारण क्षारीय फास्फेट अम्ल फास्फेट में परिणत हो जाते हैं और मुक्त सोडियम मूत्रवह स्रोतों के कोषाणुओं द्वारा पुनः शोषित हो जाता है।

(ख) प्रयोगों द्वारा भी यह देखा गया है कि द्विक फास्फेट (Dibasic phosphate) का रक्त में अन्तःक्षेप करने से मूत्र की अम्लता बढ़ जाती है जिसका कारण क्षारीय फास्फेट की अम्ल फास्फेट में परिणति है।

उद्जन-अणु-केन्द्रीभवन

प्राकृत मूत्र का उद्जन-अणु-केन्द्रीभवन उद ६ है। अम्लता अधिक से अधिक उद ४.८ तथा क्षारीयता उद ७.५ तक हो सकती है।

घननाङ्क

किसी विलयन का घननाङ्क उसमें विलीन ठोस पदार्थ के अणुओं की कुल संख्या पर निर्भर होता है। प्राकृत मूत्र का घननाङ्क—१·३° से-२·५° सेण्टीग्रेड तक है। अधिक जल पीने के बाद यह—०·०७५° सेण्टीग्रेड तथा अत्यधिक स्वेदागम या लवणबहुल और अल्पद्रव आहार की अवस्था में—५° सेण्टीग्रेड तक हो सकता है।

ठोस पदार्थ

मूत्र में कुल ठोस पदार्थों का माप निम्नाङ्कित सूत्र से किया जाता है :—

२५° सेण्टीग्रेड पर मूत्र के विशिष्ट गुरुत्व के अन्तिम दो अङ्कों में २·६ से गुणा करने पर प्रतिलिटर ठोस पदार्थ की मात्रा ग्राम में निकलती है। यथा—यदि मूत्र का विशिष्ट गुरुत्व २५° से० पर १-०२० हो तो १००० सी० सी० में कुल ठोस पदार्थों की मात्रा २० × २·६ = ५२ ग्राम हुई।

मूत्र का सामान्य संगठन

औसतन १२५ ग्राम मांसतत्त्व से युक्त भोजन लेने पर प्रतिदिन मूत्र का स्राव १५०० सी० सी० होता है। इसमें कुछ ठोस पदार्थ ६० ग्राम (३५ ग्राम सेन्द्रिय और २५ ग्राम निरिन्द्रिय) होते हैं जिसका विवरण निम्न तालिका में दिया गया है :—

यूरिया	३२·० ग्राम	यूरिक अम्ल	०·७ ग्राम
क्रियेटिनीन	१·५ ,,	हिप्यूरिक अम्ल	०·८ ,,

आमिषाम्ल आदि	२·१ ग्राम	सोडियम क्लोराइड	१५·० ग्राम
पोटाशियम	३·२ ,,	गन्धक	२·५ ,,
स्फुरक	२·५ ,,	अमोनिया	०·७ ,,
मैग्नीशियम	०·५ ,,	खटिक	०·३ ,,

प्राकृत अवस्था में नत्रजन का अधिक अंश यूरिया में पाया जाता है। नत्रजन का औसत उत्सर्ग निम्नांकित रूपों में होता है :—

यूरिया	८५ से ९२%	यूरिया अम्ल	१ से २·५%
अमोनिया	२ ,, ४%	अन्य पदार्थ	५ ,, ६%
क्रियेटिनीन	३ ,, ५%		

मूत्र के संघटन पर आहार का प्रभाव

भोजन में मांसतत्त्व की अधिकता होने से मूत्र में नत्रजनयुक्त द्रव्यों का आधिक्य हो जाता है यथा यूरिया, यूरिक अम्ल, अमोनिया आदि। उपवास करने पर प्रथम दिन तो नत्रजनयुक्त द्रव्य तथा सलफेट कम हो जाते हैं क्योंकि उस समय शरीर में शर्करा से शक्ति का उत्पादन होता है। जब शर्करा का कोष भी समाप्त हो जाता है तब धातुओं का ही पाचन होने लगता है। अतः उपवास के चौथे दिन मूत्र में नत्रजनयुक्त द्रव्य पुनः बढ़ जाते हैं। इसके अतिरिक्त स्नेह का अपूर्ण ओषजनीकरण होने से एसिटोन की उत्पत्ति होने लगती है, अतः उस समय मूत्र में अमोनिया की अधिकता हो जाती है। धातुगत मांसतत्त्व के विश्लेषण से क्रियेटिनिन के अतिरिक्त क्रियेटिन भी पाया जाता है। निरिन्द्रिय लवणों में क्लोराइड की कमी हो जाती है।

यूरिया

मांसतत्त्व के सात्मीकरण से उत्पन्न अन्तिम द्रव्यों में यह मुख्य है और इस रूप में नत्रजन का अधिक अंश (लगभग ८६ प्रतिशत) शरीर के बाहर निकलता है। युवा व्यक्ति में लगभग ३२ ग्राम यूरिया २४ घण्टों में उत्सृष्ट होता है, किन्तु आहार में मांसतत्त्व अधिक लेने से उसकी मात्रा अधिक हो जाती है। यह मूत्रल के रूप में कार्य करता है और जिस प्रकार कार्बन द्विओषिद् श्वसनकेन्द्र को उत्तेजित करता है उसी प्रकार यह भी वृक्क का प्राकृत उत्तेजक है। इस प्रकार मूत्र के उत्सर्ग पर इसका निरन्तर प्रभाव होता है, अतः यह एक प्रकार के अन्तःस्राव के समान ही कार्य करता है।

यूरिया के चतुःपार्श्विक या षट्पार्श्विक् स्फटिक बनते हैं जो वर्णहीन और गन्धहीन होते हैं। यह जल में शीघ्र विलेय है तथा मद्यसार एवं एसिटोन में घुल जाता है, किन्तु ईथर या क्लोरोफार्म में अविलेय है। यद्यपि

इसका विलयन क्षारीय नहीं है, तथापि यह दुर्बल पीठ के रूप में कार्य करता है और अम्लों के साथ मिलकर स्फटिकाकार लवण बनाता है । यथा नत्रिकाम्ल के साथ संयुक्त होकर यह यूरिया नाइट्रेट में परिणत हो जाता है, और आक्जेलिक अम्ल के साथ मिलकर यूरिया आक्जेलेट बनाता है ।

यूरिया सोयाबीन तथा अन्य वानस्पतिक एवं जान्तव धातुओं में उपस्थित 'यूरियेज' (Urease) नामक किण्वतत्त्व के कारण विश्लेषित होकर अमोनियक कार्बोनेट में परिणत हो जाता है । तीव्र खनिज अम्लों तथा क्षारों के साथ गरम करने पर भी यह अमोनिया में विघटित हो जाता है । सोडियम हाइपोब्रोमाइट से भी यह विश्लेषित हो जाता है और इससे नत्रजन तथा कार्बन द्विओषिद् उपलब्ध होते हैं ।

$$Co(NH_2)2 + 3NaBro = Co_2 + N_2 + 2H_2o + 3\ NaBr$$
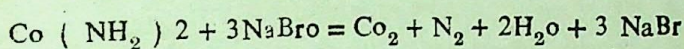
एक ग्राम यूरिया से ३५४ सी.सी. नत्रजन उपलब्ध होता है, अतः नत्रजन के परिणाम से मूत्र में यूरिया की मात्रा भी ज्ञात हो जाती है और इसीलिए यह प्रतिक्रिया यूरिया की मात्रा नापने के लिए काम में लाई जाती है ।

यूरिया की उत्पत्ति

इसकी उत्पत्ति तीन प्रकार से होती है :—

(क) आहार के मांसतत्त्व से ।
(ख) धातुगत मांसतत्त्व के अपचय से ।
(ग) यूरिक अम्ल के कुछ भाग से ।

(क) **आहारगत मांसतत्त्व से** :—आहारगत मांसतत्त्व पाचनसंस्थान में मांसतत्त्वविश्लेषक किण्वतत्त्वों की क्रिया से आमिषाम्लों के रूप में परिणत हो जाता है जो अन्त्रनलिका में शोषित होकर यकृत् में पहुँचता है । वहाँ किण्वों के द्वारा निरामिषीकरण होने पर वह दो भागों में विभक्त हो जाता है, नत्रजनयुक्त (NH_2) तथा नत्रजनरहित । नत्रजनरहित भाग बाद में शर्कराजन तथा स्नेह में परिणत हो जाता है और शरीर के उपयोग में आता है । नत्रजनयुक्त भाग अमोनिया में परिणत हो जाता है जो कार्बोनिक अम्ल, दुग्धाम्ल तथा सक्सिनिक अम्ल के साथ मिलकर अमोनियम कार्बोनेट, लैक्टेट या सक्सिनेट बनता है। इन अमोनियालवणों का मुख्यतः कार्बोनेट पर यकृत् के किण्वतत्त्वों की क्रिया होती है और उनसे यूरिया प्राप्त होती है । अमोनियम कार्बोनेट से जल के दो अणु पृथक् होने पर यूरिया बन जाता है :—

$$(NH_4)_2 Co_3 \text{ or } Co < {ONH_4 \atop NH_4} - 2H_2O = Co < {NH_2 \atop NH_2}$$
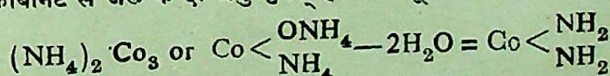
(अमोनियम कार्बोनेट) (यूरिया)

अमोनियम कार्बोनेट से जल का एक अणु पृथक् होने पर अमोनियम कार्बेमेट बनता है तथा पुनः दूसरा अणु पृथक् होने पर यूरिया बन जाता है :—

$$Co<^{ONH_4}_{ONH_4} - H_2O = Co<^{ONH_4}_{NH_2}$$

(अमोनियम कार्बोनेट) (अमोनियम कार्बेमेट)

$$Co<^{ONH_4}_{NH_4} - H_2O = CO<^{NH_2}_{NH_2}$$
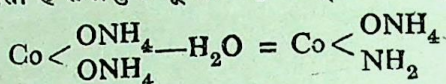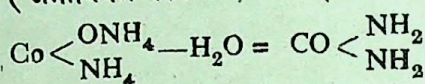
(अमोनियम कार्बेमेट) (यूरिया)

इस प्रकार उत्पन्न यूरिया को बहिर्जात यूरिया (Exogenous urea) कहते हैं और इसकी मात्रा आहारगत मांसतत्त्व के ऊपर निर्भर होती है। स्वभावतः मूत्र में ८५% यूरिया बहिर्जात होता है।

बहिर्जात यूरिया के प्रमाण :—

(१) उपवासकाल में, मूत्र में यूरिया की मात्रा कम हो जाती है।

(२) उपवासकाल में, मांसतत्त्वयुक्त आहार देने पर यूरिया की मात्रा बढ़ जाती है।

(३) उपवासकाल में, अमोनियम कार्बोनेट, लैक्टेट या सक्सिनेट या आमिषाम्लों का आहार देने पर भी इसकी मात्रा बढ़ जाती है।

तथापि आमिषाम्लों से यूरिया की उत्पत्ति निर्जलीकरण की सामान्य प्रक्रिया से नहीं होती, बल्कि यह एक जटिल प्रक्रिया है जिसमें औनिथिन (Ornithine) नामक द्रव्य प्रवर्तक के रूप में कार्य करता है।

(ख) धातुगत मांसतत्त्वों के अपचय से—यदि आहार में मांसतत्त्व न भी लिया जाय तो भी धातुगत मांसतत्त्वों के विघटन से शरीर में लगभग १५ प्रतिशत यूरिया का निर्माण होता है। धातुगत मांसतत्त्व पहले आमिषाम्लों में परिणत होते हैं, उसके बाद यकृत् में यूरिया में बदल जाते हैं। इस प्रकार उत्पन्न यूरिया को 'अन्तर्जात' (Endogenous) कहते हैं। इसकी मात्रा शरीरगत मांसतत्त्व के अपचय पर निर्भर होती है, अतः यह अत्यधिक व्यायाम के बाद बढ़ जाती है।

(ग) यूरिक अम्ल से—शरीर में उत्पन्न यूरिक अम्ल का प्रायः आधा भाग मूत्राम्लविश्लेषण किण्वतत्त्व के द्वारा यूरिया में परिणत हो जाता है।

यूरिया का उत्पत्तिस्थान

यूरिया प्रधानतः यकृत् में तथा लगभग ५ प्रतिशत शरीर के अन्य धातुओं में बनता है। इसके निम्नाङ्कित प्रमाण हैं :—

(क) यकृत्—यूरिया आमिषाम्लों के द्वारा यकृत् में बनता है न कि वृक्कों में । यह निम्नलिखित प्रमाणों से सिद्ध है :—

(१) वृक्कों को निकाल देने से शरीर में यूरिया का सञ्चय होने लगता है। इसके अतिरिक्त वृक्कों की अकार्यक्षमता होने पर शरीर में मूत्र-विषमयता की अवस्था उत्पन्न हो जाती है।

(२) यकृत् को पृथक् कर देने पर शरीर में यूरिया नहीं मिलता बल्कि रक्त में आमिषाम्लों की प्रचुरता पाई जाती है।

(३) यदि प्रतिहारिणी सिरा का सीधा सम्बन्ध याकृती सिरा से कर दिया जाय तो मूत्र में यूरिया नहीं आता तथा उसमें अमोनियालवणों और आमिषाम्लों की वृद्धि हो जाती है।

(४) यकृत् के तीव्र पीतक्षय (जिसमें यकृत् धातु का पूर्ण क्षय हो जाता है) में मूत्र में यूरिया अनुपस्थित होता है।

(५) प्रयोग द्वारा यह देखा गया है कि मांसतत्त्व के आहार के बाद यदि किसी जन्तु का प्रतिहारिणी-सिरागत रक्त किसी स्वस्थ एवं पृथक्कृत यकृत् में प्रविष्ट किया जाय तो यकृत् से आने वाले द्रव में यूरिया अधिक मिलेगा।

(६) यदि उपवासकाल में इस प्रकार रक्त लेकर प्रविष्ट किया जाय तो यूरिया की उत्पत्ति नहीं होगी।

(७) यदि उपर्युक्त उपवासकालीन व्यक्ति के रक्त में अमोनिया के यौगिक मिला दिये जाँय, विशेषतः अमोनिया कार्बोनेट, लैक्टेट या सक्सिनेट, तो यकृत् से आने वाले रक्त में शीघ्र ही यूरिया की मात्रा अधिक पाई जायगी। अमोनिया के सभी लवण यूरिया नहीं बनाते यथा अमोनियम क्लोराइड यूरिया में परिणत नहीं होता है।

इन प्रयोगों से यह सिद्ध है कि यूरिया शोषित मांसतत्त्व से उत्पन्न कुछ द्रव्यों मुख्यतः अमोनिया और आमिषाम्लों के द्वारा यकृत् में बनता है।

(ख) धातु :—यकृत् के पृथक् कर देने पर भी लगभग ५ प्रतिशत यूरिया बनता है। इससे सिद्ध है कि शरीर के अन्य धातु भी स्वल्प मात्रा में यूरिया बना सकते हैं।

यूरिया का मापन

मूत्र में साडियम हाइपोब्रोमाइट मिलाने पर जो नत्रजन उत्पन्न होता है, उसी से उपस्थित यूरिया की मात्रा का निश्चय किया जाता है। इसके लिए जिस यन्त्र का उपयोग होता है उसे यूरियामापक (Ureameter) कहते

हैं। यह यन्त्र अनेक रूपों में मिलता है, जिनमें डुप्रे का यूरिया-मापक अधिक उपयोगी है।

चित्र ४५ यूरियामापक यन्त्र
क-१५ सी.सी. हाइपोब्रोमाइट बिलयन से युक्त काचपात्र
ख-५ सी.सी. मूत्र से युक्त काचनली
ग-मापकनलिका
घ-जलपूर्ण काचपात्र
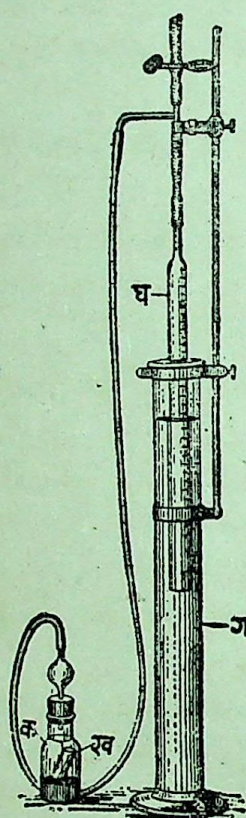
एक बोतल में २५ सी० सी० हाइपोब्रोमाइट का विलयन रक्खा जाता है। एक परीक्षणनलिका में ५ सी० सी० मूत्र लेकर इस प्रकार रखा जाता है जिससे मूत्र गिरने न पावे। उधर बोतल से सम्बद्ध नलिका का दूसरे पात्र से सम्बन्ध रहता है जिसमें मापक चिह्न अङ्कित होते हैं। इस मापक नलिका में जल को शून्य अंक पर स्थित कर मूत्र को बोतल के हाइपोब्रोमाइट विलयन में मिला दिया जाता है। इसके बाद यूरिया का प्रतिशत देख लिया जाता है।

यूरिया की परीक्षा

(१) एक काच के टुकड़े पर यूरिया का विलयन १ बूँद रखकर थोड़ा सुखा ले और उसमें नत्रिकाम्ल १ बूँद मिलावें। सूक्ष्मदर्शक यन्त्र से देखने पर वहाँ यूरिया नाइट्रेट के स्फटिक मिलेंगे।

(२) उपर्युक्त प्रकार से प्रस्तुत यूरिया विलयन में यदि १ बूँद सन्तृप्त आक्जेलिक अम्ल का विलयन मिलाया जाय तो यूरिया आक्जेलेट के स्फटिक मिलेंगे।

(३) उसमें सोडियम हाइपोब्रोमाइट मिलाने से केवल गैसों की उत्पत्ति होगी।

(४) परीक्षण नलिका में यूरिया के कुछ स्फटिक लेकर गरम करें। बाद उसमें सोडियम या पोटाशियम हाइड्रोक्साइड तथा तुत्थ का तनु विलयन मिलावें। उसमें बैंगनी या गुलाबी रंग उत्पन्न हो जायगा।

यूरिक अम्ल

यूरिक अम्ल पक्षियों तथा सरीसृप जन्तुओं में मांसतत्त्व के सात्मीकरण का मुख्य अन्तिम द्रव्य है और मानव शरीर में यह केन्द्रक मांसतत्त्वों से उत्पन्न

प्यूरिन पीठों का अन्तिम ओषजनीभूत द्रव्य है। सर्वप्रथम १७७६ ई० में शिली नामक विद्वान् ने मूत्राश्मरी में इसका प्रत्यक्ष किया था।

रासायनिक दृष्टि से यह त्रि-ओष-प्यूरिन (Tri-oxy-Purin) है।

(१) प्यूरिन $C_5 H_4 N_4$ है और प्यूरिन केन्द्र $C_5 N_4$ का उदजन यौगिक है। इनमें ओषजन के एक, दो या तीन परमाणुओं के मिलने से ओष-प्यूरिन बनते हैं यथा :—

(२) $C_5 H_4 N_4 O$—एकौषप्यूरिन (Monoxy–Purine or Hypoxanthine)

(३) $C_5H_4N_4O_2$—द्विओषप्यूरिन (Dioxv·purine or Xanthine)

(४) $C_5 H_4 N_4 O_3$—त्रिओषप्यूरिन या यूरिक अम्ल

इनके अतिरिक्त दो आमिषप्यूरिन भी महत्त्व के हैं :—

(५) $C_5H_3N_4NH_2$—एडिनीन (Adenine or amino purine)

(६) $C_5 H_3 N_4 O. NH_2$—ग्वेनीन (Guanine or amino-hypo xathine)

दो मेथिलप्यूरिन भी होते हैं :—

(७) $C_5H_4N_2(C H_3)_2 O_2$ —थियोब्रोमिन (Theobrormine)

(८) $C_5 H_4 N (C H_3)_3 O_2$—कैफीन और थीन (Caffein & theine) ये मेथिलप्यूरिन चाय, कौफी तथा कोको में पाये जाते हैं।

शुद्ध रूप में यूरिक अम्ल एक श्वेत स्वादरहित चूर्ण या स्फटिकीय द्रव्य है। अशुद्धि होने पर स्फटिक रंगीन होते हैं तथा अनेक आकार के होते हैं। ये जल में अविलेय तथा सान्द्र गन्धकाम्ल और क्षार एवं क्षारीय कार्बोनेट में विलेय होते हैं। ये मद्यसार तथा ईथर में अविलेय होते हैं।

यूरिक अम्ल मूत्र में मुख्यतः यूरेट के रूप में रहता है और मूत्र के अम्ल होने पर स्फटिकाकार में एकत्रित हो जाता है। यह एक दुर्बल द्वैपीठिक अम्ल के रूप में कार्य करता है तथा इससे उदासीन और अम्ल दो प्रकार के लवण बनते हैं। परमैंगनेट से इनका शीघ्र ओषजनीकरण हो जाता है, अतः परमैंगनेट की उपयुक्त मात्रा से यूरिक अम्ल का परिमाण निश्चित किया जाता है।

यूरिक अम्ल की उत्पत्ति

(१) बहिर्जात(Exogenous) :—यह आहार के केन्द्रक मांसतत्त्व तथा प्यूरिन द्रव्यों से उत्पन्न होता है :—

(क) जैन्थीन तथा हाइपोजैन्थीन नामक ओषप्यूरिन मांसरस में अधिक पाये जाते हैं।

(ख) कैफीन और थीन ये मेथिलप्यूरिन चाय, कॉफी तथा कोको में पाये जाते हैं।

(ग) ऐडिनीन और ग्वेनीन नामक आमिषप्यूरिन कोषाणुओं के केन्द्रकों से अधिक मात्रा में प्राप्त किये जाते हैं। आहार में जितने ही कोषाणु होते हैं, उतने ही केन्द्रक होते हैं, अतः यकृत्, बालग्रैवेयक ग्रन्थि आदि कोषाणु-प्रधान अंगों में प्यूरिन अधिकता से पाये जाते हैं।

(२) अन्तर्जात (Endogenous) :—यह धातुगत मांसतत्त्वों के केन्द्रकाम्ल से उत्पन्न होता है। उपवासकाल या प्यूरिनरहित आहार करने पर भी कुछ न कुछ यूरिक अम्ल का उत्सर्ग अवश्य होता है, अतः यह सिद्ध है कि शारीर धातुओं, विशेषतः श्वेतकणों और पेशियों से यह अवश्य उत्पन्न होता है।

आहार में प्यूरिन नत्रजन का परिमाण

मांस, मछली	६० मिलीग्राम	प्रति	१००	ग्राम
यकृत्	१२० ,,	,,	,,	,,
प्लीहा	१६० ,,	,,	,,	,,
बालग्रैवेयक	४४० ,,	,,	,,	,,
अग्न्याशय	१८० ,,	,,	,,	,,
सेम, मटर	१५–२५ ,,	,,	,,	,,

अण्डे, दूध तथा बन्दगोभी, गोभी और फलों में प्रायः नहीं होता। सुरा में अधिक मात्रा में पाया जाता है।

आहार के केन्द्रक मांसतत्त्वों पर सर्वप्रथम मांसतत्त्वविश्लेषक किण्वतत्त्वों की क्रिया होती है जिससे वे केन्द्रीन तथा मांसतत्त्वसार में परिणत हो जाते हैं। केन्द्रीन पुनः केन्द्रिक अम्ल तथा मांसतत्त्वसार में परिवर्तित हो जाता है। केन्द्रिक अम्ल एक जटिल स्फुरकयुक्त सेन्द्रिय अम्ल है।

उत्पत्तिस्थान

पक्षियों में यूरिक अम्ल की उत्पत्ति यकृत् में होती है। प्रयोगों के द्वारा यह देखा गया है कि यकृत् को निकाल देने पर यूरिक अम्ल का उत्सर्ग कम होने लगता है तथा मूत्र में अमोनिया की मात्रा बढ़ जाती है।

यूरिक अम्ल की उत्पत्ति

केन्द्रक मांसतत्त्वों पर अनेक किण्वतत्त्वों की क्रिया होने से यूरिक अम्ल का निर्माण होता है, जो निम्नांकित तालिका से स्पष्ट होगा :—

किण्वतत्त्व	क्रियाधार द्रव्य	उत्पन्न द्रव्य
पेप्सिन ट्रिप्सिन इरेप्सिन	केन्द्रकमांसतत्त्व	आमिषाम्ल तथा केन्द्रकाम्ल
टेट्रान्यूक्लियेज	केन्द्रकाम्ल	प्यूरिन डाइन्यूक्लि-ओटाइड, साइटोसिन, यूरेकिल थाइमिन
फास्फोन्यक्लियेज या न्यूक्लिओटाइडेज	प्यूरिन डाइन्यूक्लिओटाइड	स्फुरकाम्ल, ऐडिनोसिन और ग्वैनोसिन
न्यूक्लिओसाइडेज	ऐडिनोसिन, ग्वैनोसिन	ऐडीनीन और शर्करा ग्वैनीन और शर्करा
ऐडिनेज	ऐडिनीन	हाइपोजैन्थीन और अमोनिया
ग्वैनेज	ग्वैनीन	जैन्थीन और अमोनिया
जैन्थो औक्सिडेज	हाइपोजैन्थीन, जैन्थीन	जैन्थीन, यूरिक अम्ल
मूत्रविश्लेषक (Uricolytic)	यूरिक अम्ल	यूरिया
मूत्रपरिवर्तक (Uricase)	यूरिक अम्ल	अलेण्ट्वायन (Allantoin)

एक व्यक्ति प्रतिदिन प्यूरिनविरहित आहार लेने पर भी लगभग ०·४ ग्राम यूरिक अम्ल का उत्सर्ग करता है। यह अन्तर्जात यूरिक अम्ल है जिसका निर्माण धातुओं के केन्द्रक मांसतत्त्व के समान होता है। यह अन्तर्जात यूरिक अम्ल यकृत् में बनता है।

इस प्रकार उत्पन्न यूरिक अम्ल का पूर्णतः उत्सर्ग उसी रूप में नहीं होता, बल्कि उसका आधा भाग ओषजनीकरण के द्वारा यूरिया तथा अन्य द्रव्यों में परिणत हो जाता है। इस प्रकार यूरिया का निर्माण यकृत् में मूत्रविश्लेषक किण्व के द्वारा होता है। कुत्ते आदि कुछ जन्तुओं में यूरिक अम्ल के ओषजनी-करण से यकृत् में अलण्ट्वायन नामक द्रव्य की उत्पत्ति होती है जिसका कारण मूत्रपरिवर्तक किण्वतत्त्व होता है। यह द्रव्य अत्यधिक घुलनशील है अतः इसका उत्सर्ग आसानी से होता है।

यूरिक अम्ल का भविष्य

इस प्रकार उत्पन्न यूरिक अम्ल का निर्हरण दो प्रकार से होता है :—

(१) उत्सर्ग के द्वारा—यूरिक अम्ल का उत्सर्ग मुख्यतः मूत्र के द्वारा

होता है, किन्तु उसका कुछ अंश पाचननलिका में आमाशयिक रस तथा पित्त के साथ भी उत्सृष्ट होता है जो पुरीष के साथ मिलकर बाहर निकल आता है या जीवाणुओं के द्वारा नष्ट हो जाता है।

मांसतत्त्वों से यूरिक अम्ल के उत्सर्ग में सहायता मिलती है। आहार में प्यूरिनविरहित मांसतत्त्व यथा अण्डे, दूध आदि अधिक लेने से मूत्र में यूरिक अम्ल की मात्रा बढ़ जाती है क्योंकि ये मांसतत्त्व वृक्कों की क्रिया को बढ़ा देते हैं। शाकतत्त्वों का भी प्रभाव ऐसा ही होता है, किन्तु स्नेहद्रव्यों का विपरीत प्रभाव होता है और वे उसके उत्सर्ग में अवरोध उत्पन्न करते हैं। कुछ लोगों का मत है कि मासतत्त्व अधिक लेने से यूरिक अम्ल की उत्पत्ति अधिक होती है, अतः उसका उत्सर्ग भी बढ़ जाता है।

(२) ओषजनीकरण के द्वारा यूरिया, अलेण्ट्वायन आदि द्रव्यों में परिणति—अनेक स्तनधारियों के शरीर में उत्पन्न यूरिक अम्ल का एक अंश यकृत् में मूत्र परिवर्तक किण्वतत्त्व के द्वारा अलेण्ट्वायन में बदल जाता है जो अत्यधिक घुलनशील है और आसानी से बाहर निकल जाता है। मनुष्यों में मूत्र-परिवर्तक किण्वतत्त्व नहीं होता, अतः यूरिक अम्ल पर मूत्रविश्लेषक किण्वतत्त्व की क्रिया होने से वह यूरिया में बदल जाता है।

उपवास का प्रभाव

उपवासकाल में स्वभावतः यूरिक अम्ल के उत्सर्ग में कमी हो जाती है जिससे दो-तीन दिनों में अन्तर्जात यूरिक अम्ल की मात्रा आधी रह जाती है। उत्सर्ग में कमी होने से रक्त में उसकी मात्रा बढ़ जाती है, इसका कारण यह है कि वृक्कों की क्रिया मन्द हो जाने से उसका उत्सर्ग कम होने लगता है और शरीर में सञ्चय होने लगता है। प्रायः १० दिनों के बाद यह पुनः अन्तर्जात की प्राकृत सीमा पर पहुंच जाता है जो पूरे उपवासकाल तक बना रहता है, अन्त में, अत्यधिक धातुक्षय के कारण इसकी मात्रा बढ़ जाती है।

यूरिक अम्ल की परीक्षा

(१) Murexide test (म्यूरेक्साइड की परीक्षा) :—

एक पोर्सिलेन में थोड़ा यूरिक अम्ल लो और उसमें सान्द्र नत्रिकाम्ल की कुछ बूँदे मिलाओ तथा वाष्पीभवन के द्वारा उसे सुखाओ। इससे रक्तवर्ण या पीतरक्त अधःक्षेप मिलेगा जो अमोनिया का अतितनु विलयन मिलाने से बैंगनी-लाल तथा कास्टिक सोडा मिलाने से नीला-बैंगनी हो जाता है।

(२) शिफ की परीक्षा (Schiff's test) :—

सोडियम कार्बोनेट में यूरिक अम्ल का विलयन बनाओ और सिलवर

नाइट्रेट के विलयन से आर्द्र निस्यन्दन पत्र पर उसे डालो। इससे पत्र पर एक काला दाग मिलेगा।

यूरिक अम्ल की मात्रा

स्वभावतः प्रतिदिन लगभग ०·७५ ग्राम यूरिक अम्ल का उत्सर्ग होता है, किन्तु विभिन्न व्यक्तियों में तथा आहार-भिन्नता के कारण इसकी मात्रा में परिवर्तन भी हो जाता है।

क्रियेटिनीन (Creatinine)

यह जलविरहित क्रियेटिन है जो मांसपेशियों में अधिकता से पाया जाता है। क्रियेटिन जब अम्लों के सम्पर्क में आता है, तब जल का एक अणु उससे प्रथक् हो जाता है और क्रियेटिनीन बन जाता है :—

$$C_4H_9N_2—H_2O=C_4H_7N_3O$$
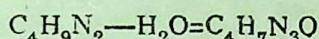
(क्रियेटिन)—(जल) = (क्रियेटिनीन)

क्रियेटिन का उत्सर्ग एक निश्चित मात्रा में होता है जिस पर आहार या व्यायाम का कोई प्रभाव नहीं पड़ता। लगभग एक ग्राम प्रतिदिन बाहर निकलता है। यह मात्रा यद्यपि एक व्यक्ति में निश्चित होती है तथापि विभिन्न व्यक्तियों में शारीर मांस-धातु के अनुपात से इसमें विभिन्नता पाई जाती है। मनुष्य के शरीर में इसका उत्सर्ग सलफेट के समान होता है। यह अवश्य है कि व्यायाम के समय मूत्र में क्रियेटिनीन की मात्रा बढ़ जाती है, किन्तु विश्राम के समय उसकी मात्रा में कमी हो जाती है, इस प्रकार दिन रात में उसकी कुल मात्रा में कोई अन्तर नहीं आने पाता।

फौलिन नामक विद्वान् के मत के अनुसार आहारगत मांसतत्त्व का इस पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता, क्योंकि यह धातुसात्मीकरण का ही परिणाम है अतः उसीका निदर्शक है। क्रियेटिन या क्रियेटिनीन रहित आहार लेने पर शरीरभार के प्रति किलोग्राम प्रति घण्टे उत्सृष्ट क्रियेटिनीन का परिमाण फौलिन का क्रियेटिनीन-निदर्शक (Folin's Creatinine Co-efficient) कहलाता है।

क्रियेटिनीन की उत्पत्ति

आधुनिक प्रयोगों से यह देखा गया है कि पेशियों में क्रियेटिन का संचय करने का गुण है ओर वे एक प्रकार से उसके कोष का कार्य करती हैं। अतः क्रियेटिन की एक मात्रा देने पर भी पेशियों के द्वारा उसका शोषण हो जाता है। किन्तु यदि २—३ सप्ताह तक लगातार कई बार दिया जाय तो पेशियों सन्तृप्त हो जाती है और मूत्र में उसी अनुपात से क्रियेटिनीन की मात्रा बढ़

जाती है। अतः अब ऐसा समझा जाता है कि पेशीगत क्रियेटिन से ही क्रियेटिनीन की उत्पत्ति होती है।

क्रियेटिनीन के स्फटिक वर्ण-रहित सूच्याकार होते हैं और ११ भाग जल तथा मद्यसार में विलेय हैं। ईथर में ये नहीं घुलते। भारी धातुओं से मिलकर ये दो लवण बनाते हैं।

क्रियेटिन (Creatine)

क्रियेटिनीन के अतिरिक्त, बच्चों के मूत्र में क्रियेटिन भी स्वभावतः रहता है। युवावस्था के बाद मूत्र में यह नहीं मिलता किन्तु कुछ युवती स्त्रियों में कभी कभी यह प्रकट हो जाता है। मांसपेशी के अत्यधिक क्षय की अवस्था में भी यह पाया जाता है यथा ज्वर, उपवास और गर्भावस्था के बाद गर्भाशय-मुकुलीभवन की स्थिति।

धातुगत मांसतत्त्वों के अपचय से उत्पन्न पदार्थ रक्तप्रवाह के द्वारा यकृत् में पहुँचते हैं और उन्हीं से यकृत्-कोषाणुओं के द्वारा क्रियेटिनीन बनता है। सम्भवतः इसके पहले ग्लाइसिन और आर्गिनिन नामक द्रव्य बनते है। इस प्रकार उत्पन्न क्रियेटिनीन पेशियों में जाकर क्रियेटिन के रूप में संचित होता है और अतिरिक्त भाग क्रियेटिनीन के रूप में बाहर निकल जाता है।

क्रियेटिन का क्रियेटिनीन में परिणाम क्रियटेज नामक किण्वतत्त्व के द्वारा होता है जो रक्तमस्तु तथा यकृत् में रहता है। क्रियेटिनीन का विनाश क्रियेटिनेज नामक किण्वतत्त्व के द्वारा होता है जो यकृत् में ही रहता है। इसका प्रमाण यह है कि यकृत् के विकारों में क्रियेटिनीन की मात्रा बहुत कम हो जाती है। स्फुरक-विष में भी क्रियेटिनीन के बदले क्रियेटिन की उपस्थिति अधिक मात्रा में होती है।

क्रियेटिनीन की परीक्षा

(१ जाफ की परीक्षा (Jaffe's test) :—५ सी० सी० मूत्र में पिक्रिक अम्ल के सान्द्र जलीय विलयन की कुछ बूँदें डालो तवा उसमें कास्टिक पोटाश के २० प्रतिशत विलयन की कुछ बूँदें डालो। क्रियेटिनीन पिक्रेट बनने से गहरा लाल रंग मिलेगा। इस परीक्षा में क्रियेटिन के द्वारा कोई वर्ण नहीं मिलता।

(२) वील की परीक्षा (Weyl's test)—५ सी० सी० मूत्र में सोडियम नाइट्रोप्रुसाइड के ५ प्रतिशत विलयन की कुछ बूँदें डालो। उसमें सोडियम हाइड्रोक्साइड के ५ प्रतिशत विलयन की कुछ बूँदें मिलाओ। इससे लाल रंग उत्पन्न होगा जो गरम करने पर पीला हो जायगा। इसमें तीव्र

सिरकाम्ल मिलाने से पीला विलयन हरा हो जाता है और नीचे नीले रंग का अवक्षेप हो जाता है।

इन परीक्षाओं के पूर्व मूत्र को अच्छी तरह उबाल लिया जाय जिससे यदि एसिटोन होगा तो दूर हो जायगा और परीक्षा के परिणाम सन्तोष-जनक होंगे।

अमोनिया

मूत्र के नत्रजनयुक्त त्याज्य पदार्थों में अमोनिया मुख्य है और मूत्र के कुल नत्रजन का ३ से ५ प्रतिशत तक इसीसे बनता है। कुल नत्रजन की प्रतिशत विधि से अमोनिया की जो मात्रा होती है उसे अमोनिया-निदर्शक कहते हैं। स्वभावतः मूत्र का अमोनिया-निदर्शक ३ से ५ प्रतिशत होता है। अमोनिया का उत्सर्ग अमोनिया लवणों के रूप में होता है जिससे स्थिर क्षार मिलाने पर स्वतन्त्र अमोनिया मुक्त हो जाता है।

अमोनिया का उत्पत्तिस्थान

(१) यकृत्—यकृत् में पाचन नलिका के द्वारा शोषित आमिषाम्लों के बहुत बड़े अंश का निरामिषीकरण होता है जिससे उसके नत्रजनयुक्त (NH_2) तथा नत्रजनरहित ये दो भाग हो जाते हैं। नत्रजनयुक्त भाग यकृत् में पूर्णतः अमोनिया में परिणत हो जाता है जिससे बहिर्जात यूरिया का निर्माण होता है। अमोनिया का कुछ भाग अपरिवर्तित रहता है और उसी रूप में रक्त के साथ शरीर में भ्रमण करता है।

(२) कुछ अंश में अमोनिया अन्त्रों में आमिषाम्लों पर निरामिषी-करण किण्वतत्त्व की क्रिया से उत्पन्न होता है। इस प्रकार निर्मित अमोनिया के लवण शोषित होकर यकृत् में पहुँचते हैं।

(३) कुछ लोगों का मत है कि अमोनिया की उत्पत्ति वृक्कों में ही होती है जिसके निम्नाङ्कित प्रमाण हैं :—

(क) स्वभावतः वृक्कधमनी की अपेक्षा वृक्कसिरा में अमोनिया की अधिक मात्रा मिलती है जब कि शाखाओं की धमनी और सिरा के रक्त में अमोनिया समान मात्रा में ही मिलता है।

(ख) वृक्कों के पृथक् कर देने पर रक्त में अमोनिया का सन्चय नहीं होता।

(ग) वृक्क के तनु आमिषाम्लों का अमोनिया तथा कटु-अम्लों में अधिक शीघ्रता से निरामिषीकरण करते हैं, किन्तु यकृत् के तन्तुओं द्वारा इतनी शीघ्रता से नहीं होता।

अमोनिया के कार्य

(१) अमोनिया के लवण शरीर में उत्पन्न अम्लों के प्रतिरक्षक का कार्य करते हैं। अतः खनिज अम्लों के अत्यधिक आहरण तथा वृक्क द्वारा अम्लों के अत्यधिक उत्सर्ग के बाद इसकी मात्रा बढ़ जाती है। इस प्रकार अम्लों के उत्सर्ग के अनुपात से वृक्कों में मूत्रगत अमोनिया की उत्पत्ति होती है।

शाकाहारियों में आहार से ही क्षार-पीठों की पर्याप्त उत्पत्ति हो जाती है जिससे शरीर में उत्पन्न अम्ल उदासीन हो जाते हैं अतः उनमें लगभग सारा अमोनिया यकृत् में यूरिया में परिणत हो जाता है। इसके विपरीत, मांसाहारियों में भोजन के द्वारा अधिक अम्लों की उत्पत्ति होती है, अतः यदि अमोनिया अधिक मात्रा में न हो, तो शरीर को हानि पहुंच सकती है। इस प्रकार स्वतन्त्र अमोनिया अम्लों के साथ मिल कर अमोनिया के लवण बनाता है और शरीर की अत्यधिक अम्लता से रक्षा करता है। यदि ऐसी रक्षण-व्यवस्था शरीर में न हो और पर्याप्त अमोनिया उत्पन्न न हो तो अम्लों के द्वारा शरीर के आवश्यक क्षारीय उपादान यथा सोडियम, पोटाशियम, खटिक, मैगनीशियम आदि पर हानिकर प्रभाव पड़ेगा।

(२) इस प्रकार अमोनिया शरीर धातुओं एवं रक्त के उदजन-अणु-केन्द्रीभवन को स्थिर रखता है, क्योंकि जिस प्रकार अम्लों के आहरण के बाद अमोनिया का उत्सर्ग बढ़ जाता है, उसी प्रकार क्षारीयता-वृद्धि की अवस्थाओं में वह कह कम हो जाता है।

स्वभावतः मूत्र की अम्लता के अनुपात से ही अमोनिया का उत्सर्ग होता है। यदि मूत्र में अम्लता अधिक हो तो उसमें अमोनिया की मात्रा भी अधिक होती है। वृक्कशोथ, जिसमें वृक्कों की क्रिया विकृत हो जाती है, पर्याप्त अमोनिया उत्पन्न न होने से अत्यधिक अम्लता-वृद्धि हो जाती है। इसी प्रकार कुछ विकारों में रक्त में अमोनिया लवणों की वृद्धि के कारण मूत्र में अमोनिया लवणों का उत्सर्ग बढ़ जाता है। यथा व्यायाम के बाद दुग्धाम्ल-जन्य अम्लता-वृद्धि तथा स्नेह का सम्यक् सात्मीकरण न होने से अम्लों की उत्पत्ति होने के कारण अमोनिया लवणों की मात्रा अधिक हो जाती है।

मिश्रित आहार करने पर स्वभावतः प्रतिदिन ०'७५ ग्राम अमोनिया का उत्सर्ग होता है, अतः अमोनिया-निदर्शक ५ प्रतिशत अधिक होने पर निम्नाङ्कित विकारों की सूचना मिलती है :—

(१) धातुगत मांसतत्वों का अत्यधिक क्षय।

(२) स्नेह का असम्यक् सात्मीकरण।

(३) अम्लतावृद्धि (अम्लविष)।

२ ग्राम प्रतिदिन उत्सर्ग होने से कटुभवन तथा ५ ग्राम से अधिक होने पर गम्भीर विषमयता समझनी चाहिये।

हिप्प्यूरिक अम्ल (Hippuric acid)

नत्रजन का कुछ अंश आमिषाम्लों के रूप में बाहर निकलता है जो कभी स्वतन्त्र और कभी दूसरे द्रव्यों के साथ संयुक्त हो जाता है। हिप्प्यूरिक अम्ल इसी प्रकार का एक संयुक्त आमिषाम्ल है। यह ग्लाइसिन, आमिषसिरकाम्ल (Amino-acetic acid) तथा बेन्जोइक अम्ल (Benzoic acid) के संयोग से बनता है। इसका सूत्र C_9 N_9 No_3 है जिसे बेन्जिल ग्लाइसिन कहते हैं।

यदि बेन्जोइक अम्ल और इसके अम्ल किसी प्राणी को मुख द्वारा दिये जाँय तो इसका बेन्जोइक अम्ल के रूप में निर्सरण बहुत थोड़ा होता है; अधिक अंश हिप्प्यूरिक अम्ल के रूप में बाहर निकलता है।

इसके सम्बंध में विशेष बात यह है कि यह इसी रूप में रक्त में उपस्थित नहीं रहता, बल्कि यह वृक्क की धातवीय क्रियाओं से उत्पन्न होता है। यदि पृथक्कृत वृक्क में ग्लाइसिन और बेन्जोइक अम्ल प्रविष्ट किये जांय तो हिप्प्यूरिक अम्ल प्राप्त होगा। इसके विपरीत, वृक्कशोथ में इसका निर्माण कम हो जाता है। वृक्कों में 'हिप्प्यूरिकेज' (Hippuricase) नामक किण्वतत्त्व होता है जो हिप्प्यूरिक अम्ल का जलीय विश्लेषण कर उसे बेन्जोइक अम्ल तथा ग्लाइसिन में परिणत कर देता है। ऐसा भी समझा जाता है कि वही किण्वतत्त्व विभिन्न दशाओं में उनका संयोग भी कराता है।

यह घोड़ा, गौ तथा अन्य शाकाहारी जन्तुओं के मूत्र में अधिक मात्रा में पाया जाता है क्योंकि शाकाहार में बेन्जोइक अम्ल के यौगिक रहते हैं। मनुष्य के मूत्र में यह बहुत थोड़ा लगभग ०·७ ग्राम प्रतिदिन मिलता है तथा शाकाहार की वृद्धि से थोड़ा बढ़ जाता है। हिप्प्यूरिक अम्ल के स्फटिक जल, मद्यसार तथा ईथर में विलेय हैं तथा उष्णोदक में अधिक विलेय हैं।

तीव्र नत्रिकाम्ल के साथ वाष्पीभवन करने पर इससे नाइट्रोबेन्जीन बनता है जिसकी पहचान कटु बादाम तैल की गन्ध से होती है।

इस प्रकार हिप्प्यूरिक अम्ल बहिर्जात पदार्थ है जिसकी मात्रा शाकाहार पर निर्भर रहती है। किन्तु उसका कुछ अंश अन्तर्जात भी होता है जो धातवीय सात्मीकरण के परिणामस्वरूप उत्पन्न होता है क्योंकि विशुद्ध

मांसाहार या उपवास की अवस्था में भी मूत्र में यह स्वल्प परिमाण में पाया जाता है।

शरीर क्रिया की दृष्टि से इसका अत्यधिक महत्त्व है क्योंकि यह बेन्जोइक अम्ल आदि द्रव्यों के निर्विषीकरण और उत्सर्ग का मुख्य साधन है। बेन्जोइक अम्ल आदि पदार्थ प्रधानतः फलों के द्वारा लिए जाते हैं जिनका शरीर में ओषजनीभवन होने पर हिप्यूरिक अम्ल उत्पन्न होता है।

मूत्र के निरिन्द्रिय लवण

क्लोराइड :—यह मुख्यतः सोडियम क्लोराइड और कुछ पोटाशियम क्लोराइड के रूप में मूत्र में मिलते हैं तथा आहार में लिए गये क्लोराइड से उत्पन्न होते हैं। इसकी मात्रा प्रतिदिन १२ से १५ ग्राम होती है, किन्तु आहार में क्लोराइड की मात्रा के अनुसार इसमें विभिन्नता पाई जाती है। उपवासकाल में इनकी मात्रा में कमी हो जाती है तथा न्यूमोनिया में स्रावों की उत्पत्ति के समय भी ये कम हो जाते हैं।

सलफेट :—ये मूत्र में दो रूपों में पाये जाते हैं—

(१) सोडियम और पोटाशियम के निरिन्द्रिय सलफेट।

(२) सेन्द्रिय सलफेट।

ये सलफेट थोड़ी मात्रा में आहार के साथ लिए गये सलफेट से उत्पन्न होते हैं और मुख्यतः मांसतत्त्वों के सात्मीकरण के परिणामस्वरूप उत्पन्न होते हैं। इनका उत्सर्ग बहिर्जात मांसतत्त्व-सात्मीकरण का सूचक है और यूरिया के समान ही होता है। सामान्यतः ५ नत्रजन में १ गन्धक के अनुपात में इनका उत्सर्ग होता है।

मांसाहार के बाद अतिशीघ्र लगभग ३ घण्टे के भीतर ही वृक्कों के द्वारा इनका उसर्ग हो जाता है। इससे यह भी सिद्ध होता है कि गन्धकयुक्त आमिषाम्ल अतिशीघ्र शोषित हो जाते हैं।

इनके उत्सर्ग की कुल मात्रा ३ ग्राम प्रतिदिन है। सेन्द्रिय सलफेट कुल सलफेट का दशमांश बनाते हैं। ये सेन्द्रिय सलफेट पोटाशियम या सोडियम के निरिन्द्रिय सलफेटों का इण्डोल, स्केटोल या फेनोल (जो अन्त्रों में मांसतत्त्वों के जीवाणुजन्य विघटन से उत्पन्न होते हैं) के साथ संयोग होने से बनते हैं।

इण्डोल शोषित होकर ओषजनीभवन के बाद 'इण्डोक्सिल (Indoxyl) में परिणत हो जाता है जो पोटाशियम के निरिन्द्रिय सलफेट के साथ मिलकर **'पोटाशियम का इण्डोक्सिल सलफेट'** (Indoxyl sulphate of pota-

ssium) बनाता है इसी को 'इण्डिकन' (Indican) कहते हैं। इसी प्रकार फेनोल और स्केटोल के साथ भी यौगिक बनते हैं।

क्रिण्वतत्त्वों की क्रिया मन्द होने से या शोषण कम होने से जब मांसतत्त्व का जीवाणुज विघटन अधिक होने लगता है जब इण्डोल, स्केटोल और फेनोल भी अधिक बनने लगते हैं जो निरिन्द्रिय सलफेटों के साथ संयुक्त होकर उपर्युक्त यौगिक बनाते हैं। अतः इस अवस्था में मूत्र में सेन्द्रिय सलफेटों की मात्रा बढ़ जाती है।

(३) उदासीन गन्धक :—कुछ अवस्थाओं में गन्धक उदासीन (अपूर्णतः ओषजनीभूत) रूप में निकलता है यथा सिस्टिन (Cystine), टौरिन (Taurine), थायोसाइनेट्स (Thiocyanates), मरकैपटन (Mercaptans) तथा थायोसलफेट (Thiosulphates)। ये मुख्यतः अन्तर्जात हैं। क्रियेटिनीन के समान इसके उत्सर्ग की मात्रा भी आहारगत मांसतत्त्व के अधीन न होकर प्रायः स्थिर होती है। जब मांसतत्त्वों का सिस्टिन विकृत सात्मीकरण के कारण उपयुक्त नहीं होता तब मूत्र में अधिक मात्रा में आने लगता है इस अवस्था के 'सिस्टिन्यूरिया' (Cystinuria) कहते हैं। इसकी विशेषता यह है कि यह अवस्था कुलज होती है और इसमें यद्यपि मांसतत्त्वों के साथ संयुक्त सिस्टिन का उपयोग नहीं होता, तथापि स्वतन्त्र सिस्टिन लेने पर उसका पूर्ण सात्मीकरण हो जाता है।

इसी प्रकार कुछ व्यक्तियों में टाइरोसिन के अपूर्ण ओषजनीभवन से 'होमोजेन्टिसिन अम्ल' (Homogentisic acid) उत्पन्न होता है जिससे मूत्र पहले भूरे रंग का आता है जो थोड़ी देर में गहरा हो जाता है। इस अवस्था को क्षारमेह (Alkaptonuria) कहते हैं।

सलफेट की परीक्षा

मूत्र में तनु उदहरिताम्ल की कुछ बूँदे डालो और उसमें बेरियम क्लोराइड का विलयन थोड़ा-सा मिलाओ। बेरियम सलफेट का सफेद अवक्षेप मिलेगा।

इण्डिकन की परीक्षा

(१) जाफ की परीक्षा (jaffe's test) :—५ सी० सी० मूत्र लो, उसमें ५ सी०सी० सान्द्र उपहरिताम्ल मिलाओ। यह गन्धकाम्ल को विश्लेपित कर देता है और इण्डौक्सिल स्वतन्त्र हो जाता है। अब उसमें ३ सी० सी० क्लोरोफार्म मिलाओ और पोटाशियम क्लोरेट के तनु विलयन की बूँद-बूँद कर उसमें मिलाकर खूब जोर से हिलाओ। इससे इण्डोक्सिल का ओष-

जनीभवन होने से नील वर्ण उत्पन्न होगा। क्लोरोफार्म का स्तर नीलाभ होगा, और उसकी गहराई इण्डिकन की मात्रा के अनुसार होगी।

(२) ओबरमेयर की परीक्षा (Obermeyer's test) एक परीक्षण नलिका में १० सी० सी० ओबरमेयर का द्रव लेकर उसमें १० सी सी० मूत्र तथा २ सी० सी० क्लोरोफार्म मिलाओ। सबको खूब मिलाकर थोड़ी देर छोड़ दो। क्लोरोफार्म के स्तर नीलवर्ण हो जायेंगे। नीलवर्ण की गहराई से इण्डिकन की मात्रा का अनुमान किया जा सकता है।

फास्फेट—ये मुख्यतः आहार से प्राप्त होते हैं और कुछ लेसिथिन, फास्फोप्रोटीन आदि स्फुरकयुक्त आहारद्रव्यों के ओषजनीभवन से उत्पन्न होते हैं। ये दो रूपों में उपस्थित होते हैं :—

(१) क्षारीय धातुओं तथा अमोनिया के लवण यथा सोडियम और पोटाशियम के क्षारीय फास्फेट।

(२) क्षारीय पार्थिव लवण यथा खटिक और मैगनीशियम के पार्थिव फास्फेट।

फास्फेट का मुख्यतः उत्सर्ग सोडियम और पोटाशियम के क्षारीय फास्फेटों के रूप में लगभग ३ ग्राम प्रतिदिन होता है। जब मूत्र का विघटन होता है, तब यूरिया अमोनिया में परिणत हो जाता है और पार्थिव फास्फेट अवक्षेप के रूप में नीचे बैठ जाते हैं। इसमें तनु सिरकाम्ल मिलाने से यह अवक्षेप दूर हो जाता है।

फास्फेट की परीक्षा

मूत्र में अमोनिया मिलाने पर पार्थिव फास्फेटों का सफेद रंग का अवक्षेप मिलता है।

नत्रिकाम्ल तथा अमोनियम मोलिबडेट के साथ मूत्र को उबालने में पीतवर्ण के स्फटिक मिलते हैं।

कार्बोनेट—ये अहारगत कर्बोनेट से प्राप्त होते हैं तथा शाक में उपस्थित वानस्पतिक अम्लों के परिणाम से उत्पन्न होते हैं।

ये क्षारीय मूत्र तथा शाकाहारी जन्तुओं के मूत्र में पाये जाते हैं। खटिक के कार्बोनेट सफेद पिण्डों के रूप में होते हैं जो दुर्बल अम्लों के मिलाने पर फेन के साथ लुप्त हो जाते हैं।

मूत्र के वैकृत अवयव

अलब्यूमिन

यह निम्नांकित विकारों में निर्मोक (Casts) के सहित मूत्र में उपस्थित होता है :—

१. ब्राइट रोग (Bright's disease) के विभिन्न रूप
२. प्रसूतिसन्निपात (Eclampsia)
३. विसूचिका, मसूरिका, रोमान्तिका और न्यूमोनिया के उपद्रवस्वरूप वृक्कशोथ।
४. जीर्ण ऊर्ध्वग वृक्कशोथ (Chronic ascending nephritis)
५. औषध—तारपीन, कैन्थराइडिस आदि।
६. जीवाणुविष—टाइफायड, न्यूमोनिया, विसर्प और रोहिणी।

सामान्यतः वृक्ककोषाणु मांसतत्त्वों के लिए अप्रवेश्य होते हैं, किन्तु वृक्क-रोगों में वे प्रवेश्य हो जाते हैं फलतः मूत्र में वे अलब्यूमिन के रूप में आने लगते हैं। इसे अङ्गविकारज अलब्यूमिनमेह (Organic albuminuria) कहते हैं। निम्नांकित रोगों में निर्मोक अलब्यूमिन से रहित पाया जाता है :—

१. दग्ध व्रण (Burns & scalds)
२. जीर्ण मदात्यय (Chronic Alcoholism)
३. यकृद्दाल्युदर (Hepatomegaly)
४. इक्षुमेह
५. बहिर्नेत्रीय गलगण्ड (Exophthalmic goitre)
६. सन्धिवात
७. शीश, पारद, स्फुरक और शंखविष
८. श्वेतकणवृद्धि, घातक रक्ताल्पता, मलेरिया, उपदंश और यक्ष्मा के बाद गम्भीर रक्ताल्पता।
९. हाजकिन का रोग (Hodgkin's disease)
१०. तीव्रज्वर
११. हृद्रोग
१२. प्राकृत :— (Physiological or functional)
(क) अतिव्यायाम
(ख) मांसतत्त्व का अधिक आहार
(ग) शीतस्नान के कारण कोष्ठ में रक्त का आकर्षण
(घ) गर्भावस्था के अन्तिम दिनों में वृक्कसिराओं पर गर्भाशय का दबाव

अलब्यूमिन की परीक्षा

(१) तापपरीक्षा (Heat test) :—परीक्षण-नलिका का $\frac{3}{4}$ भाग मूत्र से भरो और उसका ऊपरी भाग गरम करो। नलिका के खाली भाग में

गर्मी न पहुँचने पावे नहीं तो नलिका टूट जायगी। गरम करने पर मूत्र का ऊपरी भाग मलिन हो जाय तो फास्फेट, अलब्यूमिन या दोनों की उपस्थिति समझनी चाहिये। इसके बाद इसमें सिरकाम्ल की कुछ बूँदें डालो। यदि मलिनता नष्ट हो जाय तो फास्फेट की स्थिति समझनी चाहिए। यदि मलिनता कुछ कम हो जाय तो फास्फेट और अलब्यूमिन दोनों की उपस्थिति समझनी चाहिए। यदि वह ज्यों की त्यों बनी रहे, तो अलब्यूमिन की उपस्थिति समझनी चाहिए।

उपर्युक्त परीक्षा के लिए मूत्र स्वच्छ होना आवश्यक है। अतः यदि मूत्र मलिन हो, तो पहले उसे निस्यन्दन के द्वारा स्वच्छ कर लेना चाहिये।

(२) वृत्तपरीक्षा या हेलार की परीक्षा (Ring test or Hellar's test)—एक नलिका में एक इञ्च सान्द्र नत्रिकाम्ल (Strong Nitric acid) लो। उसके ऊपर १ इंच मूत्र पिपेट के द्वारा तिरछे डालो। अलब्यूमिन की उपस्थिति में दोनों द्रव्यों के सन्धिस्थान पर एक श्वेत, पारभासक वृत्त रेखा मिलेगी। यदि वह रेखा हरी या नीली हो, तो पित्त की उपस्थिति समझनी चाहिए। दूसरी रेखाओं का निदान में कोई महत्त्व नहीं।

(३) रोबर्ट की रूपान्तरित हेलार की परीक्षा :—इसमें केवल नत्रिकाम्ल न डाल कर ४ भाग मैगनीशियम सलफेट सान्द्र विलयन में १ भाग सान्द्र नत्रिकाम्ल मिला कर मूत्र में डालते हैं। अलब्यूमिन की उपस्थिति में दोनों के सन्धिस्थान पर श्वेतवर्ण उत्पन्न हो जाता है। यह अधिक विश्वसनीय है।

(४) सैलिसिल सलफोनिक अम्ल परीक्षा :—(Salicyl sulphonic acid test)—एक छोटी परीक्षण-नलिका में लगभग ३० बूँद मूत्र लो और उसमें सैलिसिल सलफोनिक अम्ल के सन्तृप्त विलयन की कुछ बूँदें डालो। अवक्षेप उत्पन्न होने पर अलब्यूमिन की उपस्थिति समझनी चाहिए। गरम करने पर भी यह अवक्षेप बना रहता है। यदि गरम करने पर नष्ट हो जाय तो मांसतत्त्वौज (Proteoses) की उपस्थिति समझनी चाहिये।

(५) एसबैक की परीक्षा (Esbach's test)—एक छोटी परीक्षण नलिका में थोड़ा मूत्र लो। इसमें एसबैक का द्रव मिलाओ। अलब्यूमिन रहने पर अवक्षेप उत्पन्न होगा।

अलब्यूमिन की मात्रिक परीक्षा

अलब्यूमिन की प्रतिशत मात्रा निश्चत करने के लिए दो बातों पर ध्यान देना अवश्यक है। पहली यह कि मूत्र की प्रतिक्रिया अम्ल होनी चाहिए और यदि अम्ल न हो तो सिरकाम्ल की कुछ बूँदें डाल कर उसे आम्लिक बना लेना चाहिए। दूसरी यह कि मूत्र का विशिष्ट गुरुत्व १००८ या इससे कम ही होना चाहिए अथवा उसमें जल मिला कर उसका गुरुत्व कम कर देना चाहिये, क्योंकि अधिक गुरुत्व रहने पर मूत्र में अलब्यूमिन का अवक्षेप ऊपर तैरने लगता है और परिणाम ठीक नहीं निकलता।
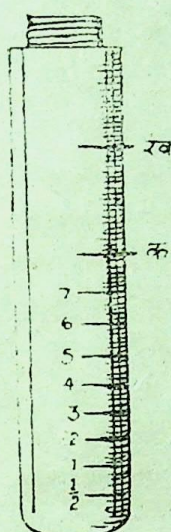
चित्र ४६
एसबैक का अलब्यू-
मिनोमीटर

इसके लिए जो यन्त्र प्रयुक्त होता है उसे 'एसबैक का अलब्यूमिनोमीटर' (Esbach's albuminometer) कहते हैं।

इसमें क चिह्न तक मूत्र डालो और ख चिह्न तक एसबैक का द्रव (Esbach's reagent) मिलाओ। काग बन्द करके उसको खूब मिलाओ और २४ घण्टों के लिए उसे शान्त स्थान में रख दो और जहाँ तक उसमें अवक्षेप बने, वह अंक नोट कर लो। यह १००० सी० सी० मूत्र में शुष्क अलब्यूमिन की मात्रा ग्रामों में बतलायेगा। उदाहरणतः यदि अवक्षेप ½ अंक तक हो, तो अलब्यूमिन की मात्रा ०.५ प्रतिशत होगी। केन्द्राकर्षण यन्त्र का प्रयोग करने से यह परीक्षा अधिक शीघ्रता से निष्पन्न होती है।

शर्करा (Glucose)

सामान्यतः वृक्क की मूत्रोत्सिकाओं से इसका निस्यन्दन होता है, किन्तु उपादेय द्रव्य होने के कारण पुनः मूत्रवह स्रोतों के द्वारा इनका रक्त में शोषण हो जाता है। प्राकृत मूत्र में भी यह मिलती है, किन्तु इसकी मात्रा इतनी कम (०.००२ प्रतिशत) होती है कि रासायनिक परीक्षाओं का कोई परिणाम नहीं होता।

निम्नांकित रोगों में यह पाई जाती है :—

१. मधुमेह (Diabetes Mellitus)
२. आहारजन्य इक्षुमेह (Alimentary Glycosuria)
३. अस्थायी इक्षुमेह (Temporary Glycosuria)
(क) मस्तिष्क के आघात, रक्तप्रवाह और शर्करा

(ख) मदात्यय

(ग) क्लोमरोग (Panereatic diseases)

(घ) संज्ञानाश के बाद

(ङ) गर्भावस्था

४. वृक्कविकारजन्य इक्षुमेह (Renal Glycosuria)

शर्करा की परीक्षा

(१) फेहलिंग की परीक्षा (Fehling's test)—एक नलिका में ½ इंच फेहलिंग विलयन नं. १ लो। उसमें उतना ही फेहलिंग विलयन नं.२ डालो। दूसरी नलिका में १½ इंच मूत्र लो। दोनों नलिकाओं को अलग-अलग गरम करो जब तक वह उबलनें न लगें। उबलने पर मूत्र को फेहलिंग विलयन वाली नलिका में डालो। यदि रक्तवर्ण अपक्षेप मिले तो शर्करा की उपस्थिति समझनी चाहिए। यदि वर्ण में कोई परिवर्तन न हो तो फिर गरम करो। अब यदि लाल अवक्षेप मिले तो शर्करा की उपस्थिति अल्प मात्रा में समझनी चाहिए। इस पर भी यदि कोई परिवर्तन न हो तो अनुपस्थिति समझनी चाहिए।

इस परीक्षा में सवधानी से काम लेना चाहिये, क्योंकि मूत्र न डालने पर भी गरम करने से फेहलिंग विलयन लाल हो जाता है। ऐसा तभी होता है जब विलयन बहुत पुराना हो। इस लिए पुराने विलयन का परीक्षा में प्रयोग नहीं होना चाहिए। साथ ही यह भी देखना चाहिए कि विलयन में मूत्र डालने पर जो लाली पैदा होती है वह लाल अवक्षेप के कारण है या विलयन ही लाल हो जाता है और अवक्षेप सफेद रहता है : पहली स्थिति तो शर्करा की उपस्थिति सूचित करती हैं, किन्तु दूसरी मूत्र का विशिष्ट गुरुत्व अधिक होने से होती है। मूत्र को सुरक्षित रखने के लिए जब फार्मेलिन का उपयोग अधिक मात्रा में होता है तब भी विलयन लाल हो जाता है।

(२) बेनेडिक्ट की परीक्षा (Benedict's test)—एक नलिका में बेनेडिक्ट का द्रव लो। उसमें ८ या १० बूँद मूत्र डालो। इसे गरम करो और फिर ठंढा होने दो। एक अवक्षेप मिलेगा जिसका वर्ष शर्करा की मात्रा के अनुसार हरा या लाल होगा।

(३) हेन की परीक्षा (Hain' test)—एक नलिका में ४ सी०सी० हेन का विलयन लो। उसमें ८ बूँद मूत्र मिलाओ और गरम करो जिसमें उबलने न पावे। पीला या रक्त अवक्षेप मिलेगा।

(४) फेनिल हाइड्रेजिन परीक्षा (Phenyl hydrazin's test)—८ सी. सी. मूत्र में थोड़ा फेनिल हाइड्रेजिन हाइड्रोक्लोराइड और उसका दूना

सोडियम एसिटेट मिलाओ। नलिका को जल में रख कर आध घण्टे तक उबालो। ठंडा करने पर ग्लुकोसेजोन (Glucosazone) तथा लैक्टोसेजोन (Lactosazone) के स्फटिक मिलेंगे।

शर्करा की मात्रिक परीक्षा

(१) कार्वरडाइन का सकारोमीटर (Carwardyne's saccha-

चित्र ४७—कार्वरडाइन का सकारोमीटर (शर्करामापक)
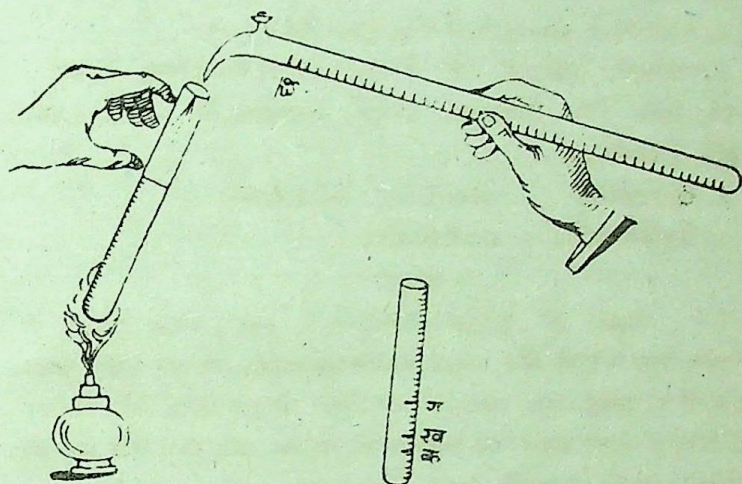
rometer)—शर्करा की प्रतिशत मात्रा नापने के लिए इस यन्त्र का प्रयोग किया जाता है। इसमें दो परिमापक पात्र तथा एक परीक्षण-नलिका होती है। छोटे पात्र में क चिह्न तक फेहलिंग विलयन नं० १ भरो और ख चिह्न तक फेहलिंग विलयन नं० २ भरो। ग चिह्न तक उसमें साधारण जल मिलाओ और सारे द्रव को परीक्षणनलिक में उड़ेल दो। अब बड़े पात्र के च चिह्न तक मूत्र भरो छ चिह्न तक जल डालो। पूरे द्रव को अच्छी तरह मिला लो। परीक्षणनलिका को गरम करो और उसमें बड़े पात्र के द्रव को धीरे-धीरे डालते जाओ जब तक कि उसमें नीला रङ्ग अच्छी तरह न आ जाय। अब बड़े पात्र में अङ्कित चिह्न को देख लो। यह शर्करा की प्रतिशत मात्रा बतलायगा।

(२) पेवी की विधि (Pavy's method)—पेवी का द्रव रङ्गीन होता है जो शर्करा के द्वारा रङ्गरहित हो जाता है। १० सी. सी. विलयन को रङ्गरहित बनाने के लिए ०.००५ ग्राम शर्करा की आवश्यकता होती है।

इसी रासायनिक परिवर्तन के आधार पर शर्करा की मात्रा निर्धारित की जाती है।

एसिटोन (Acetone)

यह स्नेह के अपूर्ण ओषजनीकरण से उत्पन्न होता है और मूत्र में पाया जाता है। यह निम्नाङ्कित विकारों में मूत्र में उपस्थित होता है :—

१. इक्षुमेह

२. शाकतत्व के सात्मीकरण में बाधाजनक विकार :—

आमाशयव्रण, आमाशय का कैन्सर, अन्ननलिका-संकोच, अन्त्ररोध, शोषक्षय, घातक रोग, विषमज्वर, उपदंश, गर्भावस्था का सन्तत वमन, बालछर्दि, शैशवातिसार।

३. मूत्रविषमयता (Uraemia) ४. अर्धावभेदक

५. प्रसूतिसन्निपात ६. क्लोरोफार्मविष

परीक्षा

(१) रोथरा की परीक्षा (Rothera's test)—एक नलिका में एक इन्च ताजा मूत्र लो और उसमें अमोनियम सलफेट का एक टुकड़ा डालो और दोनों को अच्छी तरह मिलाओ। यदि नली में कुछ भी न बैठे तो फिर थोड़ा मिलाओ। इस प्रकार उस विलयन को सन्तृप्त बना लो। यदि मूत्र की प्रतिक्रिया अम्ल हो तो उसमें १ या २ बूँद लाइकर अमोनिया फोर्ट मिलाओ। अब एक दूसरी नलिका लो और उसमें सोडियम नाइट्रोप्रुसाइड का विलयन बनाओ। १ इञ्च पानी में मटर के बराबर सोडियम नाइट्रोप्रुसाइड मिला कर विलयन बनाना चाहिए। इस विलयन को पहली नलिका में मिलाओ। एसिटोन रहने पर पोटाशियम परमैंगनेट की तरह गहरा बैंगनी रंग मिलेगा।

द्विसिरकाम्ल (Diacetic acid) होने पर निम्नांकित परीक्षा की जाती है :—

(२) गरहद की परीक्षा (Garhadt's test) :—एक नलिका में २ इञ्च ताजा मूत्र लो। इसमें बूँद-बूँद कर लाइकर फेरी परक्लोराइड डालो, जब तक अवक्षेप न आ जाय। थोड़ा और द्रव मिलाने पर अवक्षेप विलीन हो जाता है। द्विसिरकाम्ल की उपस्थिति में जम्बूसदृश वर्ण उत्पन्न होगा जो गरम करने पर नष्ट हो जायगा।

पित्त

यह निम्नांकित विकारों में पाया जाता है :—

१. अवरोधज तथा विषज कामला (Obstructive & Toxic Jaundice)

१. पीतज्वर (Yellow fever)

परीक्षा

(१) हे की परीक्षा (Hay's test)—पित्तलवणों के लिए एक नलिका में २ इञ्च मूत्र लो। उसमें थोड़ा गन्धक का चूर्ण डालो। यदि गन्धक के कण नीचे बैठने लगे तो पित्त की उपस्थिति समझनी चाहिये।

(२) मेलिन की परीक्षा (Gmelin's test)—पित्तरंजकों के लिए एक नलिका में सान्द्र नत्रिकाम्ल १–२ सी. सी. लो और उसमें बगल से समान मात्रा में मूत्र मिलाओ। दोनों के सन्धिस्थल पर हरी या नीली वृत्त-रेखा मिलेगी।

मूत्रगत प्रक्षेपद्रव्य (Urinary deposits or Sediments)

स्वभावतः मूत्र का कोई भी अवयव दृष्टिगोचर नहीं होता। अधिक सान्द्र मूत्र में केवल यूरेट दिखलाई पड़ते हैं। परीक्षा में सुविधा की दृष्टि से प्रक्षेपद्रव्य का निम्नांकित वर्गीकरण किया गया है :—

१. वर्ण की दृष्टि से :—

२. रचना की दृष्टि से :—

प्रक्षेपद्रव्य

स्फटिकाकार (Crystalline)

स्फटिकरहित (Amorphous)

३. संहनन की दृष्टि से :—

प्रक्षेपद्रव्य

सेन्द्रिय (Organised)

निरिन्द्रिय (Unorganised)
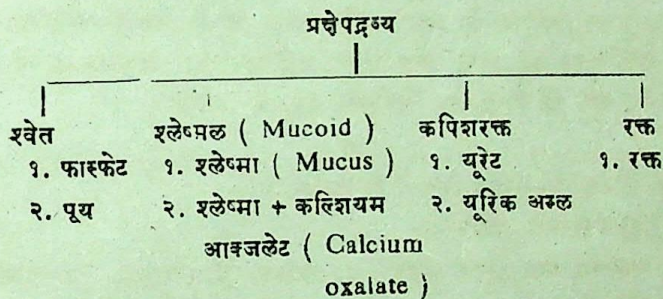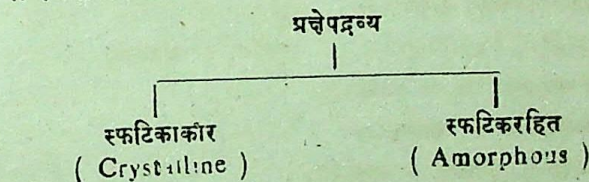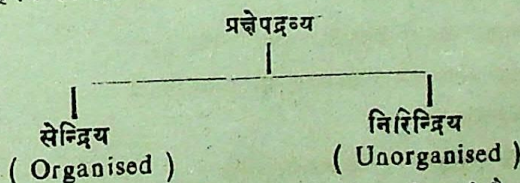
प्रक्षेपद्रव्यों की अणुवीक्षण-यन्त्र से जो परीक्षा की जाती है वह सर्वोत्तम।

होती है। तथापि सामान्यतः निम्नांकित परीक्षाओं से उनका निर्धारण किया जाता है :—

(१) मूत्र को उस पात्र से दूसरे पात्र में डाल दो, केवल प्रक्षेपद्रव्य को उसमें रहने दो। इस प्रक्षेपद्रव्य के तीन भाग करके तीनों को पृथक् पृथक् नलिका में रक्खो। इनमें से एक में सिरकाम्ल की कुछ बूँदें डालो। यदि प्रक्षेप-द्रव्य पूर्णतः नष्ट हो जाय तो फास्फेट (केवल) और यदि अंशतः नष्ट हो तो फास्फेट (कुछ अन्य वस्तुओं के साथ) समझना चाहिये।

(१) अब दूसरी परीक्षण-नलिका लो और उसमें थोड़ा लाइकर पोटाश डालो। यदि रज्जुसदृश अवक्षेप या जिलेटिनसदृश वस्तु मिले तो पूय और यदि प्रक्षेप घुल जाय तो श्लेष्मा की उपस्थिति समझनी चाहिये। तीसरी नलिका तुलना के लिए रक्खी जाती है।

(३) एक परीक्षणनलिका में उसके $\frac{3}{4}$ भाग तक मूत्र लो जिसमें कपिश-रक्त प्रक्षेप उपस्थित हों। मूत्र का ऊपरी भाग स्पिरिट लैम्प से गरम करो। यदि मलिनता दूर हो जाय तो यूरेट की उपस्थिति समझनी चाहिये।

(४) एक नलिका में थोड़ा प्रक्षेप लो। उसमें तीक्ष्ण उदहरिताम्ल डालो। यदि प्रक्षेप घुल जाय और उसमें अमोनिया का विलयन डालने पर स्फटिक बन जाय तो कैलशियम आक्जलेट समझना चाहिये।

रक्त

मूत्र में रक्त निम्नांङ्कित विकारों में मिलता है :—

(क) वृक्कसंवन्धी कारण :—

१. सामान्य तथा घातक अर्बुद, २. आघात, ३. अश्मरी, ४. यक्ष्मा, ५. तीव्र वृक्कशोथ।

(ख) मूत्राशयसम्बन्धी कारण :—

१. अंकुरार्बुद (Papilloma), २. आघात, ३. अश्मरी, ४. तीव्र मूत्राशयशोथ, ५. आघात।

(ग) मूत्रमार्गसम्बन्धी कारण :—

१. पूयमेह, २. आघात, ३. अश्मरी।

(घ) कुछ सामान्य रोग :—

१. कृष्णजल ज्वर (Black water fever)।

२. मूत्रगत रक्तरञ्जक (Haemoglobinuria)

३. विषमज्वर।

४. कुलज रक्तस्राव (Haemophilia)

५. नीलिमा (Purpura haemorrhagica)

६. स्कर्वी। ७. अत्यधिक दग्धव्रण।

८. शिलीन्ध्रविष (Mushroom poisoning)

९. सर्पविष और पोटाशियम क्लोरेट का विष।

परीक्षायें

(१) ग्वैकम परीक्षा (Guaicum test) :—यदि मूत्र क्षारीय हो तो पहले उसे सिरकाम्ल के द्वारा आम्लिक बना लो। इस मूत्र को नलिका में २ इञ्च तक लो। इसमें ताजे टिञ्चर ग्वैकम (Tincture Guaicum) की कुछ बूँदें डालो और दोनों को अच्छी तरह मिलाओ। एक दूसरी नलिका लो और उसमें ½ इंच तक हाइड्रोजन पेरोक्साइड डालो। उसके बराबर ही उसमें ईथर सल्फ (Ether Sulph) मिलाओ और खूब अच्छी तरह दोनों को मिला लो। इसको पहली नलिका में धीरे-धीरे डालो। यदि दोनों द्रवों के सन्धिस्थान पर हरा रङ्ग उत्पन्न हो जाय तो रक्त की उपस्थिति समझनी चाहिये।

(१) बेन्जिडिन परीक्षा (Benzidin test) :—एक नलिका में सान्द्र सिरकाम्ल में बेन्जिडिन का सन्तृप्त विलयन बनाओ। उसमें उसके बराबर हाइड्रोजन पेरोक्साइड मिलाओ। अब उतना ही मूत्र धीरे-धीरे उसमें मिलाओ। रक्त की उपस्थिति में उसका रङ्ग नीला हो जायगा।

पूय

निम्नाङ्कित विकारों में मूत्र में पूय आता है :—

(क) वृक्कसम्बन्धी कारण :—

१. वृक्कवस्तिशोथ, ऊर्ध्वग वृक्कवस्तिशोथ (Pyelitis & Ascending Pyelitis or Pyelo–Nephritis)

२. यक्ष्मा, ३. अश्मरी।

(ख) मूत्राशयसंबन्धी कारण :—

१. मूत्राशयशोथ, २. यक्ष्मा, ३. अश्मरी, ४. व्रण, ५. अर्बुद।

(ग) मूत्रमार्गसन्बन्धी कारण :—

१. पूयमेह।

२. सामान्य मूत्रमार्गशोथ (Urethritis)।

३. मूत्रमार्गसंकोच (Gleet)।

परीक्षायें

(१) नलिका में २ इंच मूत्र लो। उसमें टिंचर ग्वैकम की कुछ बूँदें डालो और दोनों को खूब मिलाओ। पूय की उपस्थिति में वह नीला हो जायगा, पर गरम करने से यह नीलापन नष्ट हो जायगा।

(१) नलिका में १ या २ इञ्च मूत्र लो जिसमें प्रक्षेपद्रव्य भी मिले हों। इसका आधा लाइकर पोटाश मिलाओ। यदि यह रज्जु या जिलेटिन की तरह हो जाय तो पूय की उपस्थिति समझनी चाहिए।

आयुर्वेदीय रोगि-परीक्षा के लिए निर्धारित अष्टस्थानपरीक्षा में मूत्रपरीक्षा का विशिष्ट स्थान है। इसमें दो प्रकार की परीक्षायें हैं :—वर्णपरीक्षा और तैलबिन्दुपरीक्षा। रात्रि के अन्तिम प्रहर में रोगी का मूत्र काचपात्र में रखे और सूर्योदय होने पर उसकी परीक्षा करे। मूत्र की पहली धारा छोड़ कर मध्य धारा लेनी चाहिए। तैलबिन्दु-परीक्षा के लिए मूत्र पर तृण से तैलबिन्दु डालते हैं और उसकी प्रसरणगति देख कर रोग की स्थिति एवं साध्यासाध्यता का निर्णय करते हैं (देखें, योगरत्नाकर का सबद्ध प्रकरण)।

पुरीष

शरीर के मलों में यह प्रमुख है। अन्न का त्याज्य अंश मुख्यतः पुरीष के रूप में ही बाहर निकलता है; पुरीष से बल का धारण भी होता है क्योंकि अधिक पुरीष निकलने पर शरीर दुर्बल हो जाता है। अतएव क्षयरोग में मल की रक्षा का उपदेश किया गया है। पुरीष के द्वारा वायु और अग्नि का धारण भी होता है (पुरीषमुपस्तम्भं वाय्वग्निधारणं च—सु० सू० २५)।

पुरीषधरा कला—कलाओं में पाँचवीं कला पुरीषधरा कहलाती है जो पक्वाशय में रहती है और कोष्ठ के भीतर मल का विभाजन करती है। यह कार्य विशेषतः उण्डुकभाग में होता है[1]।

पुरीषोत्सर्ग (Defaecation)

बृहदन्त्र के मल पदार्थों के मलाशय में प्रविष्ट होने के कारण उसका प्रसार होने से पुरीषोत्सर्ग का वेग आता है। जब मलाशय में मल का पर्याप्त संचय होने के कारण दबाव ४० मि० पारद के लगभग हो जाता है तब बृहदन्त्र में एक संकोचतरंग उठती है, जो गुदसंकोचक पेशियों के संकोच पर विजय प्राप्त करने पर पुरीषोत्सर्ग में परिणत हो जाती है[2]।

---

१. पञ्चमी पुरीषधरा नाम यान्तःकोष्ठे मलमभिविभजते पक्वाशयस्था।
'यकृत् समन्तात् कोष्ठं च तथान्त्राणि समाश्रिता।
उण्डुकस्थं विभजते मलं मलधरा कला॥—सु. शा. ४

२. आयुर्वेदिक दृष्टि से यह गतियाँ अपान वायु के कारण होती है। गुद में अपान वायु की स्थिति मानी गई है। गुद का कार्य वात और पुरीष का निःसारण है। (स्थूलान्त्रप्रतिबद्धं वातवर्चोनिरसनं गुदं नाम—सु० शा० ६)। स्थूलान्त्र से संबद्ध दो पुरीषनिरसनी धमनियाँ भी हैं

सामान्यतः पुरीषोत्सर्ग की क्रिया ऐच्छिक नियन्त्रण के अधीन रहती है। यह महाप्राचीरा एवं उदर की पेशियों के संकोच से उत्पन्न उदर के भीतर दबाव की वृद्धि के परिणामस्वरूप होती है। कभी-कभी बच्चों में तथा संज्ञाहीन अवस्था में युवा व्यक्तियों में भी अनैच्छिक रूप से पुरीषोत्सर्ग होता है। उसका कारण गुदसंकोचक पेशियों की क्रियाहीनता समझी जाती है।

पुरीष का संगठन

जल	७५%	घनभाग	२५%
		अशोषित आहारद्रव्य	
		अवशिष्ट अन्त्रीय स्राव	
		जीवाणु	

पाञ्चभौतिक दृष्टि से पुरीष पार्थिव होता है।

पुरीष का प्रमाण

यह प्रधानतः आहार के स्वरूप पर निर्भर करता है। शाकाहार से पुरीष का परिमाण अधिक निकलता है।

आम और पक्व पुरीष

आम पुरीष जल में डूब जाता है, उसमें अत्यन्त दुर्गन्ध होती है तथा बँधा नहीं होता। उसके कारण शरीर में भारीपन भी रहता है। इसके विपरीत, पक्व पुरीष जल में तैरता है, दुर्गन्ध नहीं होती तथा बँधा होता है। इससे शरीर में लघुता रहती है।[1]

स्वेद

स्वेद मेदोधातु का मल माना गया है (मलः स्वेदस्तु मेदसः—च. चि.१५)। पाञ्चभौतिक दृष्टि से इसका संगठन आप्य है और इसका कर्म है शरीरस्थ क्लेद (जलांश) का नियमन तथा त्वचा की मृदुता को बनाये रखना[2]। स्वेद तथा मूत्र जलांश के नियमन में परस्पर सहयोगिता के आधार पर भाव

(सु० शा० ९)। पुरीषवहस्रोत भी दो कहे गये हैं—'पुरीषवहे द्वे तयोर्मूलं पक्वाशयो गुदश्च'—सु० शा० ९

१. संसृष्टमेभिर्दोषैस्तु न्यस्तमप्स्ववसीदति।
पुरीषं भृशदुर्गन्धि पिच्छिलं चामसंज्ञितम्॥
एतान्येव तु लिंगानि विपरीतानि यस्य तु।
लाघवं च विशेषेण तस्य पक्वं विनिर्दिशेत्॥—सु० उ० ४०

२. स्वेदः क्लेदत्वक्सौकुमार्यकृत्—सु. सू. १५

लेते हैं। यह सर्वविदित है कि शीतकाल में जब मूत्र की मात्रा बढ़ जाती है, स्वेद कम आता है और गर्मियों में जब स्वेद अधिक आता है मूत्र की मात्रा कम हो जाती है। ऊष्मा से अनुबद्ध शरीर का उदकभाग जो रोमकूपों से निकलता है वही स्वेद है (च. वि. ७)। स्वेदवह स्रोतों का मूल मेद तथा रोमकूप कहे गये हैं[1]। इनकी स्थिति त्वचा में होती है अतः त्वचा का परिज्ञान आवश्यक है।

त्वचा

त्वचा सम्पूर्ण शरीर को आवृत करती है तथा स्पर्शनेन्द्रिय, स्वेदवहस्रोत
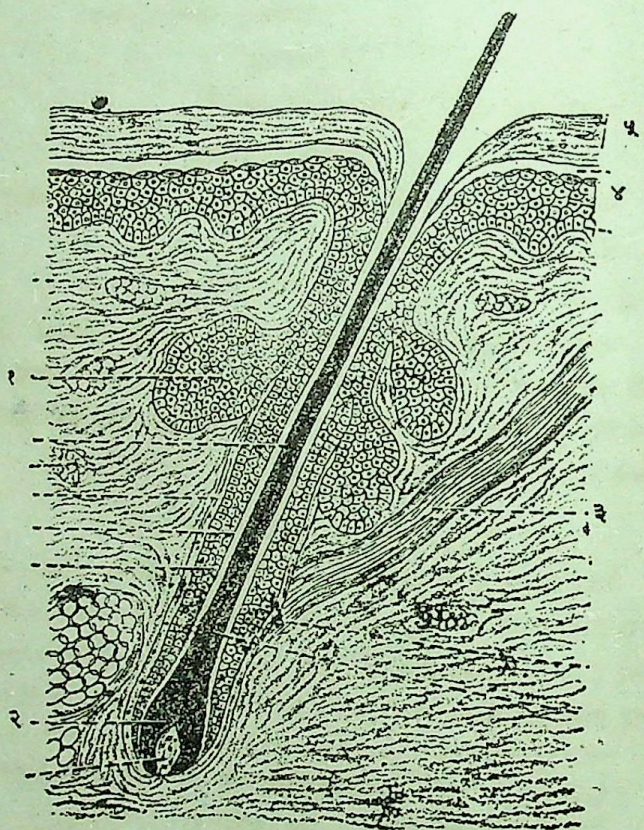
चित्र ६७—त्वचा

१-स्नेह-ग्रन्थि २-रोमपिण्ड ३-रोमाञ्चक पेशी ५-अन्तस्त्वक् ५-बहिस्त्वक्

और रोमकूपों का अधिष्ठान है। यह दो भागों में विभक्त है :—बहिस्त्वक् (Epidermis) तथा अन्तस्त्वक् (Dermis) जो अनेक स्तरों से बनी

1. स्वेदवहानां स्रोतसां मेदो मूलं रोमकूपाश्च—च. वि. ५

हुई हैं।[1] सम्पूर्ण शरीर की त्वचा का भार लगभग ४ किलोग्राम होता है और इस प्रकार यह शरीर का एक प्रमुख अङ्ग है।

बहिस्त्वक्

यह अत्यन्त पतली तथा सिरा, धमनी आदि से रहित है। यह चार स्तरों से बनी है जो बाहर से भीतर की ओर निम्नांकित क्रम से व्यवस्थित हैं :—

१. शार्ङ्गिणी (Stratum Corneum)

२. शल्किनी (Stratum lucidum)

३. कणिनी (Srratum Granulosum)

४. वर्णिनी (Stratum Malpighi or Rete mucosum)

बहिस्त्वक् हाथ और पैर के तल में मोटी होती है और उसमें स्वेदवह स्रोतों की बहुलता होती है। इसके विभिन्न स्तरों का पोषण सूक्ष्म लसीकावह स्रोतों के द्वारा होता है।

अन्तस्त्वक्

यह स्थूल स्तरों से बनी हुई है तथा स्पर्शनेन्द्रिय का मुख्य अधिष्ठान है। इसके द्वारा शरीर के ताप की रक्षा तथा स्नेह इत्यादि का शोषण होता है। इसमें केशिकाजालक तथा स्पर्शांकुरिकायें होती हैं और स्थितिस्थापक सूत्र और मेदस तन्तु भी पाये जाते हैं। शरीर के कुछ भागों यथा, चूचुक, शिश्न और वृषण में स्वतन्त्र पेशीसूत्र भी पाये जाते हैं। कुछ पेशीसूत्र रोमकूपों तथा स्वेदग्रन्थियों में भी पाये जाते हैं। अन्तस्त्वक् में रक्तवह स्रोत, रसायनियाँ तथा मेदस और अमेदस नाडीसूत्र सम्बद्ध रहते हैं।

सूक्ष्मदर्शक यन्त्र से देखने पर अन्तस्त्वक् दो स्तरों में विभक्त दिखलाई पड़ता है :—

---

१. तस्य खल्वेवंप्रवृत्तस्य शुक्रशोणितस्याभिपच्यमानस्य क्षीरस्येव सन्तानिकाः सप्त त्वचो भवन्ति। तासां प्रथमाऽवभासिनो नाम या सर्वान् वर्णानवभासयति पंचविधां च छायां प्रकाशयति सा व्रीहेरष्टादशभागप्रमाणा सिध्मपद्मकण्टकाधिष्ठाना। द्वितीया लोहिता नाम षोडशभागप्रमाणा तिलकालकन्यच्छव्यंगाधिष्ठाना। तृतीया श्वेता नाम द्वादशभागप्रमाणा चर्मदलाजगल्लीमषकाधिष्ठाना। चतुर्थी ताम्रा नाम अष्टभागप्रमाणा विविधकिलासकुष्ठाधिष्ठाना। पञ्चमी वेदिनी नाम पंचभागप्रमाणा कुष्ठविसर्पाधिष्ठाना, षष्ठी रोहिणी नाम व्रीहिप्रमाणा ग्रन्थ्यपच्यर्बुदश्लीपदगलगण्डाधिष्ठाना। सप्तमी मांसधरा नाम व्रीहिद्वयप्रमाणा भगन्दरविद्रध्यर्शोऽधिष्ठाना।'—सु. शा. ४

(१) अंकुरिणी (Papillary layer)

यह बाहरी स्तर है जिसमें सूक्ष्म अंकुर के समान भाग निकले रहते हैं। बहिस्त्वक् का चतुर्थ स्तर इसी के ऊपर होता है। इन अंकुरों में सिरा धमनी की शाखायें तथा श्रेणीनिबद्ध स्पर्शांकुरिकायें होती हैं।

(२) जालिनी (Reticular layer)—यह जाल के समान फैला हुआ अन्तस्त्वक् का भीतरी स्तर है जो त्वक्शय्या के ऊपर रहता है। इसमें शिथिल सौत्रिक तन्तु तथा स्नेहकोषाणु होते हैं। सिरा, धमनी और रसायनी की सूक्ष्म शाखायें तथा नाड़ियाँ भी फैली रहती हैं। इसके अतिरिक्त, रोमों के मूल और काण्डभाग, वसाग्रन्थियाँ स्वेदग्रन्थियों के स्रोत तथा रोमों से संबद्ध सूक्ष्म पेशीतन्तु पाये जाते हैं।

त्वचा के परिशिष्ट भाग (Appendages of the skin)—

नख, रोम, स्वेदग्रन्थियाँ, पिञ्जूषग्रन्थियाँ और वसाग्रन्थियाँ त्वचा के परिशिष्ट भाग कहलाते हैं। ये वस्तुतः बहिस्त्वक् के चतुर्थ स्तर के मोटा होने से बनते हैं।

नख—कुछ स्थानों में शार्ङ्गिणी स्तर विशेष रूप से मोटा हो जाता है और रूपान्तरित होकर नखक्षेत्र (Matrix or bud of the nail) में परिणत हो जाता है। इसमें अनेक नाड़ीसूत्र होते हैं। नखक्षेत्र के पश्चिम भाग में एक परिखा होती है जिसे नखपरिखा (Nail groove) कहते हैं। यहीं से नख आगे की ओर बढ़ता है।

रोम—ये बहिस्त्वक् के परिणाम हैं और इनकी रचना वर्णमय सौत्रिक तन्तु से होती है जिसके बाहर की ओर शल्की रोमावरण (Hair cutical) होता है। ये सूत्र त्वचा के भीतर रोमकूपों (Hair follicles) में सन्निविष्ट हैं और इनके मूलभाग (Hair bulbs) अन्तस्त्वक् के जालिनी-स्तर या त्वक्शय्या में लगे होते हैं। मूलांकुरों में सिरा, धमनी, रसायनी और नाड़ी की सूक्ष्म शाखायें प्रविष्ट होती हैं। रोमों के पार्श्वभाग में रोमाञ्चनी (Erector pili) नामक पेशियाँ लगी रहती हैं जिनके सङ्कोच से रोमाञ्च होता है।

वसाग्रन्थियाँ (Sebacious glands)—

ये अन्तस्त्वक् में प्रायः रोमों के पार्श्व में रहती हैं। इनसे एक प्रकार का तैल के समान स्राव होता है जिसे 'रोमस्नेह' (Sebum) कहते हैं। यह स्राव रोमों को स्निग्ध रखता है तथा त्वचा की रक्षा करता है। यह अंगूर के गुच्छे की तरह अन्तस्त्वक् में व्यवस्थित रहती हैं। यह ग्रन्थियाँ दो प्रकार की होती हैं :—

(१) सामान्य (Eccrine glands)—यह सम्पूर्ण शरीर में समान रूप से होती है और इनसे जल तथा लवण का स्राव होता है।

(२) विशिष्ट (Apocrine glands)—यह युवावस्था में विकसित होती हैं और केवल कक्षा, स्तन तथा जननेन्द्रियप्रदेश में पाई जाती हैं। इनसे जल, लवण, नत्रजनयुक्त तथा स्नेह पदार्थों का स्राव होता है। स्त्रियों में यह विशेष रूप से बिकसित होती हैं।

पिञ्जूषग्रन्थियाँ (Ceruminous glands)—

ये उपर्युक्त ग्रन्थियों के समान ही, किन्तु उनसे कुछ बड़ी होती हैं और कर्णकुहर में पाई जाती हैं। इनसे पिञ्जूष (कर्णमल) का स्राव होता है।

स्वेदग्रन्थियाँ (Sweat glands)—

लगभग २० लाख की संख्या में ये ग्रन्थियाँ सम्पूर्ण शरीर में स्थित हैं, किन्तु विशेषतः करतल, पादतल, ललाट तथा कक्षा में पाई जाती हैं। यह अन्तस्त्वक् या त्वक्शय्या में रहती हैं और इनकी नलिकायें (स्वेदवह स्रोत) टेढ़ी-मेढ़ी घूमती हुई समस्त त्वचा से होकर बाहर की ओर खुलती हैं। इनके मुख बाहर त्वचा में देखे जा सकते हैं। इन्हें स्वेदकूप (Openings of sudoriferous ducts) कहते हैं। इन ग्रन्थियो के मूल में रक्तवह स्रोतों की अधिकता होती है क्योंकि रक्त से स्वेद जल का स्राव होता है।

स्वेद :—

प्रतिक्रिया—उदासीन या क्षारीय (कभी-कभी एसिड सोडियम फास्फेट के कारण अम्ल)

गन्ध उड़नशील

विशिष्ट गुरुत्व—१·००३

रासायनिक संघटन—जल ९९%

कुल ठोस १%

सोडियम क्लोराइड

प्रोटीन

वसाम्ल

यूरिया

परिमाण—२ पौण्ड प्रतिदिन

स्वेद का परिमाण शरीर में ताप की उत्पत्ति तथा बाह्य तापक्रम पर निर्भर करता है। उष्णकाल में अत्यधिक व्यायाम से स्वेद का अधिक उत्सर्ग होता है। अधिक या कम जल पीने से इसमें कोई विशेष अन्तर नहीं आता।

कारण यह है कि अधिक जल लेने पर शरीर से उसका निर्हरण दो प्रकार से होता है :—

(१) दृश्य स्वेदन (Sensible perspiration)—जब स्वेद कणों के रूप में त्वचा पर संचित हो जाता है।

(२) अदृश्य स्वेदन (Insensible perspiration)—

जब निरन्तर स्वेद-ग्रन्थियों की क्रिया तथा प्रसरण के द्वारा जल त्वचा में आता है और शीघ्र वाष्पीभूत हो जाता है, अतः अदृश्य होता है। यह स्वेदन त्वचा में प्रवाहित रक्त की मात्रा पर निर्भर है न कि शरीर में लिये गये जल की राशि पर।

स्वेदस्राव का नाड़ीसम्बन्ध

संज्ञावह नाडी—यह शरीर की अनेक संज्ञावह नाड़ियों विशेषतः त्वचा से आनेवाली नाड़ियों में मिली रहती है।

केन्द्र (Adamkieewicz centre)—यह पिण्ड में स्थित है और प्रत्यावर्तित रूप से संज्ञावह नाड़ियों से आनेवाले वेगों के द्वारा उत्तेजित होता है। इसको साक्षात् रूप से उत्तेजित करनेवाले निम्नांकित कारण हैं :—

१. रक्त के रासायनिक संघटन में परिवर्तन यथा कार्बन द्विओषिद् की वृद्धि।

२. रक्त के तापक्रम में वृद्धि।

३. स्वेदल द्रव्यों का प्रभाव यथा पाइलोकार्पाइन।

४. मानस भाव यथा भय, हल्लासजन्य क्षोभ।

चेष्टावह नाड़ी—सुषुम्ना के द्वितीय वक्ष से चतुर्थ कटिप्रदेश तक से निकल कर सांवेदनिक संस्थान के पार्श्वगण्ड में समाप्त हो जाती है। वहाँ से नये सूत्र निकल कर सौषुम्निक नाडियों से मिलते हैं और शरीर की स्वेद-ग्रन्थियों तक पहुँचते हैं।

स्वेद का उपयोग

स्वेद का प्रधान उपयोग शारीर ताप को नियमित रखना है। जब कभी शरीर का तापक्रम बढ़ता है तो स्वेद का स्राव अधिक होने लगता है जिससे वाष्पीभवन के द्वारा शरीर से अधिक ताप का क्षय होता है। तापक्रम की वृद्धि का प्रभाव स्थानीय संज्ञावह नाड़ियों (स्थानीय) तथा केन्द्र (केन्द्रीय) दोनों पर होता है।

ऐसा प्रतीत होता है कि स्वेदस्राव की प्रक्रिया पूर्णतः भौतिक है, क्योंकि उस समय त्वचा की रक्तवाहिनियाँ प्रसारित हो जाती हैं और निस्यन्दन के द्वारा स्वेद का निर्गम होता है, किन्तु वस्तुतः ये दोनों क्रियायें बिलकुल स्वतंत्र

हैं और स्राव कोषाणुओं की धातवीय क्रिया से होता है। यह निम्नांकित प्रमाणों से प्रमाणित होता है :—

(१) ज्वर में त्वचा रक्तवर्ण (रक्तवाहिनियों के प्रसार से) होने पर भी स्वेद का स्राव नहीं होता।

(२) कुछ मानसिक अवस्थाओं यथा भय, हृत्यासजन्य क्षोभ आदि में रक्तवह स्रोतों का संकोच होने पर भी अत्यधिक स्वेदनिर्गम होता है।

(३) अचिर-विच्छिन्न अंग में गृध्रसी नाड़ी को उत्तेजित करने से स्वेद का स्राव होता है।

(४) गृध्रसी नाड़ी की उत्तेजना से रक्तवहस्रोतों का संकोच तथा अतिस्वेदागम होता है।

(५) ऐट्रोपीन के द्वारा स्वेद नाड़ियाँ निष्क्रिय हो जाती हैं।

स्पर्शांकुरिका (Sensitive papillae)

यह अन्तस्त्वक् में स्थित स्पर्श का ग्रहण करने वाला यन्त्र है। स्पर्शांकुरिकायें कुछ पतली और कुछ मोटी होती हैं। पतली स्पर्शांकुरिकाओं को अग्रांकुरिका (Tactile corpuscles) तथा मोटी को स्पर्शाण्डिका (Pacinian corpuscles) कहते हैं। स्पर्शांकुरिकाओं के मूलभाग में नाडी की शाखायें प्रविष्ट होती हैं जिनसे स्पर्श संज्ञा का मस्तिष्क तक संवहन होता है। स्पर्शांकुरिकाओं पर दबाव पड़ने से ये नाड़ियाँ उत्तेजित हो जाती हैं और यही उत्तेजना मस्तिष्क में पहुँचने पर स्पर्शज्ञान उत्पन्न करती है। आधुनिक विद्वानों का मत है कि उष्ण, शीत, स्पर्श तथा पीड़ा इन सब के ग्रहण के लिए पृथक्-पृथक् चार प्रकार की स्पर्शांकुरिकायें हैं।

त्वचा के कार्य

त्वचा के निम्नांकित मुख्य कार्य हैं :—

(१) अधोवर्ती धातुओं का रक्षण। (२) तापक्षय का नियमन।

(३) द्रव्यों का शोषण। (४) जीवाणुओं से शरीर की रक्षा।

(५) नीललोहितोत्तर किरणों से जीवनीय द्रव्य डी की उत्पत्ति में सहायता।

अन्य मल

मूत्र और पुरीष इन दो प्रमुख मलों के अतिरिक्त शरीर में अन्य मल भी होते हैं जिनका संबंध धातुओं से स्थापित किया गया है। मूत्र और पुरीष तो अन्न के मल हैं और शेष धातुओं के मल हैं यथा—

१. कफ—रसमल

२. पित्त—रक्तमल

३. बाह्य स्रोतों के मल—मांसमल

४. स्वेद—मेदोमल

५. केश-लोम—अस्थिमल

६. नेत्रमल, त्वक्स्नेह—मज्जामल[1]

शुक्र निर्मल होने से उसका कोई मल नही मानते किन्तु कुछ आचार्य यौवनपिटका, श्मश्रु आदि को शुक्रमल के रूप में ग्रहण करते हैं। इसके अतिरिक्त, कुछ लोग नख को अस्थि का मल मानते हैं।[2] (देखें, पृ० ७९)

---

१. किट्टमन्नस्य विण्मूत्रं, रसस्य तु कफोऽसृजः।
पित्तं, मांसस्य खमलाः, मलः स्वेदस्तु मेदसः॥
स्यात् किट्टं केशलोमास्थ्नां मज्ज्ञः स्नेहोऽक्षिविट् त्वचाम्।
—च. चि. १५।१८-१९

२. जिह्वानेत्रकपोलानां जलं पित्तं च रञ्जकम्।
कर्णविड्रसनादन्तकक्षामेढ्रादिजं मलम्॥
नखा नेत्रमलं वक्त्रे स्निग्धत्वं पिटिकास्तथा।
जायन्ते सप्तधातूनां मलान्येवमनुक्रमात्॥—शार्ङ्गधर, पूर्व० ५।१४-१५

अनुक्रमणिका

ख

ग

INDEX

T

U

V